: ओ३म् :—

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष ५१]　　वयं जयेम (ऋक्)　　[अङ्क १

—: वेदवाणी-स्वर्णजयन्ती :—

वेद-परिशीलन विशेषाङ्क

आद्य सम्पादक— श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु, द्वितीय सम्पादक— श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक

सम्पादक—विजयपाल विद्यावारिधि　　सहसम्पादक—प्रदीप कुमार शास्त्री

कार्तिक सं० २०५५ वि०

वार्षिक मूल्य भारत में　४०.००
,,　,, विदेशों में　१६०.००
आजीवन सदस्यता शुल्क　४००.००
इस अङ्क का　५०.००

१९७२९४९०९९

वेदवाणी कार्यालय,　　दूरभाष—(०१२६४) ८३१३८
हालगढ़, (सोनीपत-हरयाणा) १३१०२१

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास की प्रथम तारीख को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुंचे, तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—**भारत में**— वार्षिक शुल्क ४०/- द्विवार्षिक ७५/- त्रिवार्षिक १००/- आजीवन सदस्यता शुल्क ४००/- रुपये है। मनीआर्डर द्वारा अग्रिम भेजें। वी० पी० से नहीं भेजी जायेगी।

३—**विदेश में**—वेदवाणी का शुल्क (चन्दा) वार्षिक १६०/-, द्विवार्षिक ३००/-, त्रिवार्षिक ४००/- रुपये है। आजीवन सदस्यता शुल्क १५० अमेरिकन डॉलर है।

४—वार्षिक चन्दा **मनीआर्डर** से भेजें। कूपन पर ग्राहक संख्या लिखना न भूलें। आजीवन सदस्यता का शुल्क **मनीआर्डर** अथवा **ड्राफ्ट** से भेजें। **पोस्टल आर्डर तथा चैक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। ड्राफ्ट 'व्यवस्थापक वेदवाणी कार्यालय' के नाम से भेजें।**

५— लेख **'सम्पादक वेदवाणी'** के नाम आने चाहियें, लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें, और वे स्पष्ट और शुद्ध कागज पर, एक ओर साफ लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्त्तिक (नवम्बर) मास से होता है। प्रतिवर्ष एक या दो **विशेषाङ्क** दिये जाते हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सम्बन्धी धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र **'व्यवस्थापक** ...**णी'** के पते से भेजें, **किसी व्यक्ति के नाम से न भेजें।**

...वस्थापक-वेदवाणी कार्यालय, जी० टी० रोड, **बहालगढ़**—१३१०२१ (सोनीपत-हरयाणा)

रामलाल कपूर ट्रस्ट के नये प्रकाशन

...**नम्**–वैदिक वाङ्मय के अध्येताओं, शोधकर्ताओं को यह जानकर हर्ष होगा कि ...-निर्वचनम्' का नवीन संस्करण प्रकाशित हो गया है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ...र्ता और संशोधक श्री विजयपाल विद्यावारिधि ने अत्यन्त परिश्रम और ... मिलान कर मुद्रण-प्रति तैयार की। इस संस्करण में पिछले संस्क- ...। ग्रन्थ में वर्त्तमान शतशः उद्धरणों का मिलान मूलग्रन्थों से कर ...संकेतों का परिमार्जन किया है और अनेक नये स्थल-संकेत ...ों में पाठभेद-अपपाठ-नवीन सन्दर्भ-स्थल संकेत, स्पष्टी- ...र्शित किये गये हैं। अक्षरविन्यास कम्प्यूटर द्वारा ...आकार में सुन्दर छपाई कराई गई है। आरम्भ ...व्याख्यात शब्दों के सभी अर्थों के साथ पृष्ठ- ...य रुपये (इस पर छूट भी दी जा रही है)।

...वीं आवृत्ति छपकर विक्रय के लिए ...रिष्कृत रूप में मुद्रित कराई गई है ... में कराया गया है। उत्तम छपाइ... रुपये मात्र।

वेदवाणी-स्वर्णजयन्ती वेद-परिशीलन-विशेषाङ्क की विषय-सूची

भगवान् कृष्ण उवाच—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥

भगवान् कृष्ण बोले—

हे अर्जुन ! 'इदं विष्णवे, इदं न मम' यह वस्तु (अथवा कर्म) प्रभु के प्रीत्यर्थ है, यह मेरी नहीं है—यह यज्ञ-भावना है। इस भावना से दिया गया दान (अथवा किया गया कर्म) मनुष्य को सांसारिक बन्धन में नहीं डालता। इस भावना से रहित कर्म मनुष्य को संसार-बन्धन में डाल देता है। इसलिए आसक्ति (ममत्व) से मुक्त होकर यज्ञ-भावना से कर्म को सम्पन्न कर।

सम्पादकीय

वेदवाणी के 'स्वर्णजयन्ती वेद-परिशीलन विशेषाङ्क' को सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक हर्ष और सन्तोष का अनुभव हो रहा है। अपनी अल्पमति और सीमित क्षमता के अनुसार हमने इसे सामयिक तथा उपयोगी बनाने का पूर्ण प्रयास किया है। इसके स्तर और गुण-दोषों का निर्धारण आपके सद्विवेकाधीन है। इस विशेषाङ्क को प्रकाशित करने का सुझाव और सत्प्रेरणा देनेवाले ज्ञान-वयोवृद्ध, उदारधी, विद्वद्वर पं० चन्द्रकान्त बाली शास्त्री के प्रति हम कृतज्ञता से अवनत हैं। खेद है, उनके अस्वस्थ होने के कारण हम उनके लेख से लाभान्वित न हो सके।

इस अङ्क में हमने 'गङ्गा-वेदाङ्क' से प्रभूत सामग्री उद्धृत की है। एक लेख 'आर्य' से और तीन लेख विगत वर्षों की 'वेदवाणी' से भी उद्धृत किये गये हैं। हम उन पत्रिकाओं के सम्पादकों और उद्धृत लेखों के विद्वान् लेखकों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं। जो लेख यहां उद्धृत किये गये हैं, उनके लेखक अपने समय के प्रामाणिक एवं सम्मानित वेदज्ञ माने जाते थे। लेखों का क्रम हमने अपने सोच के अनुसार रखा है। हम ने वेद के प्रकाश या आविर्भाव से विषय का आरम्भ किया है। अपने मन्तव्य के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार के मतों प्रतिपादक लेखों को यहां संगृहीत किया गया है—किसी प्रकार के भेदभाव या मताग्रह को स्थान नहीं दिया गया है। इसके लिए हम अपने आर्य बन्धुओं से क्षमा चाहते हैं। वेदाविर्भाव के पश्चात् क्रमशः—वेद का परिचय, वेद की शाखाएं, वेद की व्याख्याएं, वेदाभ्यास की नवीन पद्धति, पाश्चात्त्य वैदिक विद्वानों का कार्य, उपनिषद् और वेदार्थ, पाश्चात्त्य वैदिक विद्वान्, विशिष्ट वैदिक संज्ञाएं—इन विषयों पर प्रकाश डालनेवाले लेखों को रखा गया है। इस प्रकार इस अङ्क के १३१ पृष्ठों में पूर्व प्रकाशित सामग्री को ही पुनः प्रकाशित किया गया है। इस अङ्क के १३२वें पृष्ठ से वर्त्तमान अङ्क के लिए प्राप्त नवीन लेखों का संग्रह आरम्भ होता है।

नवीन लेखों के लिए निर्धारित तिथि तक जो लेख उपलब्ध हुए, हमने उन्हें प्राप्ति क्रम के अनुसार ही छपवाया है। कहीं भी कोई भी टिप्पणी हमने अपनी ओर से नहीं दी है। यहां सामान्य दृष्टि से इन लेखों के प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है। प्रथम लेख में 'वेदों में पुनरुक्ति का समाधान' प्रस्तुत किया गया है। यह बड़ी जटिल समस्या है और हमारी दृष्टि से इसका सर्वाङ्गीण और सर्वग्राह्य समाधान आना अभी शेष है। हां आंशिक समाधान अवश्य होते रहते हैं, वे अंशतः ही ग्राह्य हैं। दूसरे लेख में आयुर्वेद के मन्त्र पर विचार करते समय व्यङ्ग्य अर्थ पर बल दिया गया है जो यास्क आदि प्राचीन आचार्यों को भी मान्य है। तीसरे लेख में पर्या-वरण को प्रदूषण से बचाने के लिए वैदिक उपायों की ओर संकेत है। इस विषय पर भारतीय वैज्ञानिकों का ध्यान विशेषरूप से आकृष्ट करने की आवश्यकता है। चौथे लेख में अघ्न्य-अघ्न्या के वैदिक प्रयोग और उनके अर्थों पर विचार किया गया है। पांचवें लेख में वैदिक शब्द 'हरियूपीया' का तात्पर्य समझाया गया है। छठा लेख यजुर्वेद को यज्ञार्थ निर्मित सिद्ध करता है। इस विषय में पर्याप्त ऊहापोह और मतभेद का अवकाश है। सातवें लेख में कर्मकाण्ड और जगद्रचना में समन्वय प्रदर्शित किया गया है। आठवां लेख यजुर्वेद के अट्ठारहवें अध्याय के वसोर्धारा मन्त्रों से निःसृत

यज्ञभावना का समन्वय गीता के कर्मयोग के साथ दर्शाता है। नवें लेख में अथर्ववेद में ज्योतिष के तत्त्वों की ओर संकेत किया गया है। दसवें लेख में ऋ० १।१०५ की व्याख्या के माध्यम से दिखाया गया है कि आदिमानव के लिए प्रकृति जडमात्र नहीं थी अपितु दिव्य चेतना से आप्लावित थी। ग्यारहवें लेख में सोम के वैदिक स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। बारहवें लेख में महर्षि दयानन्द कृत यजु० अ० १६-२० वेदभाष्य का अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। तेरहवें लेख में अथर्ववेद के सप्तर्षि पद के अर्थों की समीक्षा की गई है। चौदहवें लेख में ऋग्वेद में गत्यर्थक 'ऋ' धातु के प्रयोग और उनके अर्थों पर विमर्श प्रस्तुत किया गया है। पन्द्रहवें लेख में सिद्ध किया गया है कि ऋ० १०.५३ के अनुसार अग्नि का वाच्य अर्थ विद्वान् है। सोलहवें लेख में यज्ञ द्वारा कृषि को प्राप्त लाभों का निरूपण है। सत्रहवें लेख में वेदार्थ की मध्यकालीन और पाश्चात्त्य पद्धतियों का विवेचन है। अट्ठारहवां लेख उपनिषद् को वेद घोषित करता है—अत्यन्त विचारोत्तेजक एवं मननीय लेख है। उन्नीसवां लेख वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त स्त्री वाची शब्दों के निगूढ़ अर्थों को स्फुटित करता है। बीसवें लेख में सर्वमेध यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। इक्कीसवां लेख वेदोक्त सुरा के कल्याणकारी स्वरूप को अभिव्यक्ति देता है। बाईसवां लेख आर्य-द्रविड समस्या पर गम्भीर विचार की पूर्वपीठिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। विद्वान् लेखक इस लेख-माला का प्रारम्भ कर रहे हैं। तेईसवें लेख में वेदमन्त्रों में प्रतिपादित राष्ट्रिय-भावना को उद्भावित किया गया है। चौबीसवें लेख में यास्क द्वारा निर्दिष्ट वेद व्याख्या की विधाओं पर प्रकाश डाला गया है। पचीसवें लेख में ऋग्वेद के प्रसिद्ध नदीसूक्त (ऋ० ३।३३) का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

विद्वान् लेखकों से प्राप्त अप्रत्याशित स्नेह एवं सहयोग से हम अभिभूत हो गये हैं। ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न, अभिनव उद्भावनाओं से भरपूर, सुरुचिपूर्ण विविध पाठ्य सामग्री को उपहृत करने के लिए वे बधाई के अधिकारी हैं। हम उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं और आशा करते हैं कि भविष्य में भी हमें उनका स्नेहसिक्त सहयोग प्राप्त होता रहेगा। हमें खेद है कि कुछ मान्य विद्वानों के उत्तम लेखों को हम वर्त्तमान अङ्क में समाविष्ट नहीं कर सके क्योंकि लेख अति-विलम्ब से प्राप्त हुए (व्यक्तिशः हम उन विद्वानों से क्षमा-याचना कर चुके हैं)। हम आप से सविनय निवेदन करते हैं कि 'वेदवाणी' के साधारण अङ्कों के लिए भी आप ऐसी उच्च स्तरीय सामग्री भेज कर हमें उपकृत करते रहें।

पिछले पांच दशकों से हम अपने विद्वान् लेखकों और सुधी पाठकों के सत्सहयोग का सम्बल पाकर ही निर्विघ्न आगे बढ़ते रहे हैं। आप के सहयोग और प्रभु की असीम अनुकम्पा से 'वेदवाणी' सदा निश्चित तिथि पर प्रकाशित होती रही है, यह हमारे लिए गौरव और सन्तोष का विषय है। वेदवाणी की ग्राहक संख्या बहुत सीमित है। स्थिति यह है प्रतिवर्ष जितने नये ग्राहक बढ़ते हैं, उतने ही पुराने टूट जाते हैं। आजीवन सदस्य तो अत्यन्त सीमित हैं। पाठकों से निवेदन है कि यदि आप इस ओर भी ध्यान दें, तो हम आप की अधिक सेवा कर सकते हैं। दानी सज्जन भी अपने धन का सदुपयोग सामाजिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं के लिये निःशुल्क 'वेदवाणी' भिजवा कर कर सकते हैं।

—विजयपाल विद्यावारिधि

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि । अथर्व० १।१।४॥

वर्ष ५१ | कार्तिक सं० २०५५ वि०, १ नवम्बर १९९८ ई० | अङ्क १
बहालगढ़ (सोनीपत-हरियाणा)

स्वर्णजयन्ती वेद-परिशीलन-विशेषाङ्क

दिव्य गुणों से युक्त जनता राष्ट्र का सन्नमन करे

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उप सन्नमन्तु ॥ अथर्व० १९।४१।१॥

शब्दार्थः—(स्वर्विदः) आत्मसुख प्राप्त किये हुए (ऋषयः) ऋषियों ने (भद्रम् इच्छन्तः) लोक-कल्याण की इच्छा करते हुए (अग्रे) प्रारम्भ में (तप उपनिषेदुः) तप का अनुष्ठान किया और (दीक्षाम् उपनिषेदुः) दीक्षा को ग्रहण किया । (ततः) उस तप और दीक्षा से (राष्ट्रं जातम्) राष्ट्र उत्पन्न हुआ (बलम् ओजश्च जातम्) तथा बल और ओज भी उत्पन्न हुआ । (तत्) इसलिए (अस्मै) इस राष्ट्र के सामने (देवाः) देव भी (उपसन्नमन्तु) ठीक प्रकार झुकें, सत्कार करें ।

विनयः—हे राष्ट्रिय भाइयो, क्या तुम जानते हो कि यह राष्ट्र कैसे उत्पन्न हुआ है ? हम वैयक्तिक पुरुषों के समूहात्मक इस राष्ट्रपुरुष का कैसे जन्म हुआ ? यह हमारे पूर्व ऋषियों के तप (पिता) और दीक्षा (माता) का पुत्र है । प्रारम्भ में उन सत्यदर्शी ऋषियों ने, जिन्हें स्वयं आत्मसुख प्राप्त था, जो आप्त-काम थे, अत एव जिन्हें अपना कुछ भी स्वार्थ न था और इसलिए जो केवल लोक-कल्याण के लिए जी रहे थे, भद्र के लिए (लोक-कल्याण के लिए) तप का अनुष्ठान किया ।

उन्होंने देखा कि सर्वलोक हित के लिए यह आवश्यक है कि वैयक्तिक शक्ति (बल व ओज) से ऊपर एक ऊंची बड़ी उत्कृष्ट शक्ति (बल और ओज) व्यक्तियों के सामने होवे। अतः उन्होंने अपनी इस भद्र कामना का विस्तार किया; सब मनुष्य एक दूसरे का भला करें, मनुष्यों में एक सामुदायिक भले की भावना उत्पन्न हो, इस का उन्होंने घोर यत्न किया। चूंकि मनुष्यों के क्षुद्र स्वार्थ इस उच्च भावना के विरोधी हैं, अत एव उन ऋषियों को मनुष्यों में इस भावना के जमाने में बड़े कष्ट सहने पड़े, बड़ी-बड़ी तपस्याएं करनी पड़ीं। परन्तु वे दृढ़ संकल्प ऋषि तो व्रत ग्रहण किये हुए थे, दीक्षित थे, इसी प्रयोजन के लिए ही मानो जन्मे थे, अतः उन्होंने अपना व्रत पूर्ण किया और इस भावना को उत्पन्न कर दिया। उन व्यक्तियों में उत्पन्न हुई इस भावना की मूर्ति ही राष्ट्र है। इस प्रकार हे राष्ट्रिय भाइयो, यह हमारा राष्ट्र उत्पन्न हुआ है और इस राष्ट्र-पुरुष का वह अभीष्ट बल और ओज भी प्रकट हो गया है जिस से कि सब राष्ट्र का कार्य चलता है। अतः हे देवो! ऋषियों की तपस्याओं से उत्पन्न हुए इस बलवान् तेजस्वी राष्ट्र-देव के सामने तुम भी झुको। यह राष्ट्रात्मा महादेवता देवों का भी वन्दनीय है। राष्ट्र का एक व्यक्ति बड़े से बड़ा, विद्वान् से विद्वान् महात्मा से महात्मा, देव से देव होता हुआ भी राष्ट्र का एक व्यक्ति उस संघात्मक राष्ट्र के सामने तुच्छ है। हे राष्ट्र के व्यक्ति देवो! तुम इस राष्ट्र-देव की वन्दना करो। तुम्हारी सर्वकल्याण की दिव्य भावना से ही, तुम्हारे इस देवत्व से ही, यह महान् देव उत्पन्न हुआ है। अत एव अपने राष्ट्र को देव समझने वाले हे प्रजाजनो! तुम भी देव हो। तुम इस तरह तपस्या से उत्पन्न हुए इस अपने बलवान्, तेजस्वी, परम महान् देव के सामने झुको, अपनी वैयक्तिक इच्छाओं को इस राष्ट्र-देव के आगे सदा समर्पित किये रखो। इसकी आज्ञा व आदेश को अवनत शिर हो कर प्रेम वा आदरपूर्वक, पूरे हृदय से पालन करो। अपनी सम्मतियों को, अपने तुच्छ लाभों को अपने शारीरिक, मानसिक या रुपये-पैसे के स्वार्थों को तथा अपनी बड़ी से बड़ी, प्यारी से प्यारी, कामनाओं को भी राष्ट्रिय हित के सामने तुरन्त झुका देने के लिए तैयार रहो। यही राष्ट्र-देव की वन्दना है, उसका उपसन्नमन है। इस प्रकार अपने इस राष्ट्र के लिए सम्यक् प्रकार से नमन करने से हम सब का (हम सभी का) भद्र होगा, भला ही भला होगा।

[वैदिक विनय से]

※ पवित्र जीवन ही एक मात्र दुःख-निवृत्ति का साधन है, मन की शान्तिके लिये विचार, वाणी और व्यवहार की पवित्रता अनिवार्य है।

※ धर्म जानने की नहीं जीने की कला है। लोगों को धर्म मत सिखाओ धार्मिकता सिखाओ।

※ धनबल बाहुबल और ज्ञानबल का हमेशा सदुपयोग करो, क्योंकि यह चीजें किसी की शाश्वत सम्पत्ति नहीं हैं।

वेद का प्रकाश वा उत्पत्ति

[ले०—प्रो० राजाराम शास्त्री, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर]

वेद का प्रकाश वा उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इसके उत्तर में ये परस्पर विभिन्न विचार प्रकट किये गये हैं—(१) वेद अपौरुषेय है, (२) वेद ईश्वरीय है, (३) वेद आर्ष है, (४) वेद पौरुषेय है।

(१) वेद अपौरुषेय है।

मीमांसा का सिद्धान्त है कि 'शब्द नित्य है'। अ, आ इत्यादि जितने वर्ण हैं, उनकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु अभिव्यक्ति होती है। उत्पत्ति और अभिव्यक्ति में यह भेद है कि तलवार को जो लोहे से बनाना है, यह उसकी उत्पत्ति है और जो घर में पड़ी हुई, किन्तु अन्धेरे में न दीखती हुई, तलवार को दीपक जलाकर देखना है, वह उसकी अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति उसकी होती है, जो अभिव्यक्त होने से पूर्व विद्यमान हो। फिर वह चाहे उत्पन्न होकर विद्यमान हुआ हो, चाहे अनादि-सिद्ध होकर विद्यमान हो। इससे कोई भेद नहीं पड़ता। वर्ण स्वतःसिद्ध सारी दिशाओं में पहले से ही विद्यमान हैं, अत एव कण्ठ, तालु आदि के संयोग से उनकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। जिह्वा, तालु आदि का संयोग केवल उनका अभिव्यञ्जक होता है, उत्पादक नहीं। इस प्रकार वर्णात्मक शब्द किसी पुरुष के रचे हुए न होने से अपौरुषेय हैं।

अब यद्यपि वर्ण अपौरुषेय हैं तथापि उनको आगे-पीछे मेल करके उनसे शब्दों और शब्दों से वाक्यों की रचना के पुरुष-कृत होने से वह पौरुषेय होती है। इसी प्रकार शब्दों और वाक्यों का, जो अपने-अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध है, वह भी पुरुष का किया हुआ संकेत होने से पौरुषेय है। देश-भेद और जाति-भेद से संकेत भिन्न-भिन्न होते हैं और नई-नई वस्तुओं के लिये नये-नये संकेत होते रहते हैं। सो, वर्णों के अपौरुषेय होने पर भी रचना और अर्थ-सम्बन्ध के पौरुषेय होने से हम 'रघुवंश' आदि को पौरुषेय कहते हैं, पर वेद के जैसे वर्ण अपौरुषेय हैं, वैसे ही पद शब्द (शब्द),शब्दार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ, सभी अपौरुषेय हैं।

"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥" (ऋ० १।१।१)

इस मन्त्र को किसी पुरुष ने नहीं रचा, किन्तु इसी नियत रचना के रूप में इस विश्व के अन्दर अनादि काल से चला आ रहा है। ऋषि अपने तपोबल से इन अनादि-सिद्ध मन्त्रों को देख कर अभिव्यक्त-भर कर देते हैं, अतएव ऋषि इन मन्त्रों के द्रष्टा कहलाते हैं, कर्त्ता नहीं। वेद में आए शब्दों का जिन अग्नि, सूर्य आदि अर्थों के साथ सम्बन्ध है, वे भी अपौरुषेय हैं और सम्बन्ध भी अपौरुषेय है। ऋषि जैसे शब्दों के, वैसे शब्दार्थ-सम्बन्ध के भी द्रष्टा ही होते हैं। मन्त्रों का जो लौकिक वा पारलौकिक फलों के साथ सम्बन्ध है, वह भी स्वभाविक है। वर्षा के लिये जो कारीरी इष्टि की जाती है और उसमें जो मन्त्र पढ़े जाते हैं उनका वृष्टि की उत्पत्ति के साथ कोई नैसर्गिक या स्वाभाविक सम्बन्ध है। अत एव यथाविधि किये कर्म के अनन्तर वृष्टि होती है। इसी प्रकार पुत्रेष्टि के अनन्तर गर्भ-स्थिति होकर पुत्रोत्पत्ति होती है। मन्त्रों वा इष्टियों से ये फल किस प्रकार

मिलते हैं, इसका हम वर्णन कर सकें वा न कर सकें, इससे उनकी निज शक्तियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; द्रव्य की शक्ति ज्ञान की परवाह नहीं रखती। अंगुलि में टूटी सूई की नोक को निकालने के लिये पुरुष को इस बात के जानने की आवश्यकता होती है कि अंगुलि को कहां से छीले, पर अयस्कान्त (चुम्बक) इस बात को जाने विना ही उसे खींच लाता है, क्योंकि उसमें लोहे को खींचने की स्वाभाविक शक्ति है। इस प्रकार मन्त्रों और इष्टियों की शक्ति स्वाभाविक है। अत एव काम्य कर्मों में मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण और कर्म का यथाविधि पूरा होना आवश्यक है। वेद शब्दार्थ-सम्बन्ध से सर्वथा अनादि है। उसका प्रकाश ऋषियों द्वारा युग-युग में होता आया है।

(२) वेद ईश्वरीय है।

उत्तर-मीमांसा (वेदान्त) का सिद्धान्त है कि वेद दिव्यवाक् है, जो सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ने ब्रह्मा को दी और ब्रह्मा से ऋषियों ने पाई, जैसा कि श्रुति-स्मृति में कहा है—

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धि-प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥" (श्वेता० उप० ६।१८)

जो आदि में ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और जो उसके लिये वेदों को भेजता है, उस देव की मैं मुमुक्षु शरण लेता हूं जो आत्म-ज्ञान का प्रकाशक है।

"यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।" (ऋ० १०।७१।३)

'यज्ञ (पूर्व पुण्य) के द्वारा लोग जब वाक् (वेद) के ग्रहण की योग्यता को प्राप्त हुए, तब ऋषियों में प्रविष्ट हुई उस (वेदवाक्) को उन्होंने ढूंढ पाया।' इस मन्त्र में पूर्व विद्यमान ही वाक् को ऋषियों में प्रवेश और लोगों का उसे ढूंढ पाना बतलाया है। स्मृति में है—

"युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा।"

'युग के अन्त में छिपे हुए वेदों को महर्षियों ने ब्रह्मा से अनुज्ञा पाकर अपने तपोबल से, इतिहासों के समेत पाया।' वंश-ब्राह्मणों में जहां ऋषियों की परम्परा बतलायी है कि यह उपदेश अमुक ऋषि ने अमुक ऋषि से और उसने भी पहले अमुक ऋषि से पाया था, वहां अन्त में जाकर यह आता है कि उसने परमेष्ठी वा प्रजापति से और परमेष्ठी ने ब्रह्म से पाया। इस प्रकार सर्वत्र उसका आदि स्रोत ब्रह्म को बतलाया है। इस प्रकार वेद अनादि काल से एकरूप चला आ रहा है। जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र आदि पूर्व कल्प में परमेश्वर ने रचे थे, वैसे ही इस कल्प में रचे हैं। जैसा कि कहा है—

"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥" (ऋ० १०।१९०।३)

'धाता ने सूर्य, चन्द्र, द्यौ, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्लोक को वैसा रचा है, जैसा कि पूर्व कल्प में रचा था।' इसी प्रकार उसने वेद को पूर्व कल्प के अनुसार प्रकट किया है। वही वेद, वही यज्ञ, वही वर्णाश्रमों की मर्यादाएं, बल्कि ऋषियों के नाम आदि भी वही हैं, जो पूर्व कल्प में थे। जैसा कि स्मृति बतलाती है—

"ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥
यथर्तु ष्वृतुलिङ्गानि नाना रूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु॥
यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह। देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च॥"

'ऋषियों के नाम और वेदों में जो दृष्टियां (धर्म आदि के ज्ञान) हैं, वही प्रलय के अन्त में उत्पन्न हुए (ऋषियों) को ब्रह्मा देता है। जैसे ऋतुओं की अपनी-अपनी बारी पर उस-उस ऋतु के नाना प्रकार के चिह्न अपने आप आ प्रकट हुए देखे जाते हैं, उसी प्रकार युगों के आदि में सारे पदार्थ (पूर्ववत्) देखे जाते हैं। जो अभिमानी देवता पूर्व कल्प में थे, वे भी अपने नाम-रूप में वही थे, जो इस कल्प के हैं।'

सारांश यह है कि वेद ईश्वरीय है, नित्य है, उसका प्रकाश कल्प के आरम्भ में ऋषियों द्वारा हुआ। यही सिद्धान्त एक थोड़े से भेद के साथ श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती का है। भेद यह है कि वेद सृष्टि के आदि में साक्षात् परमात्मा से चार ऋषियों पर प्रकाशित हुए हैं। वे चार ऋषि हैं—अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा। वेद की चार संहिताएं हैं और उनमें इतिहास कहीं नहीं है।

(३) वेद आर्ष है।

निरुक्त आदि कई आर्ष ग्रन्थों से यह सिद्धान्त झलकता है कि, ईश्वर-परायण शुद्धात्मा विशाल-हृदय ऋषियों के निर्मल हृदयों में तपोबल से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष विषयों का जो प्रतिभान (साक्षात् दर्शन) हुआ, वह आर्ष ज्ञान कहलाता है। उस आर्ष ज्ञान को उन द्रष्टाओं ने अपनी भाषा में जिन वचनों द्वारा प्रकाशित किया, वही वेद है। वेद में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के जो अटल नियम वर्णित हैं, वे सदा एकरस रहते हैं। उनमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। कल्प-कल्पान्तरों में उन्हीं का प्रकाश होता है। वे ही मनुष्यों वा जातियों की उन्नति के साधन हैं। हां, जिस भाषा में, जिस ढंग से, जिन वचनों के द्वारा ऋषियों ने उनका उपदेश किया है, वह सब कुछ उनका अपना है। इस प्रकार ऋषियों की रचना होने से वेद आर्ष कहलाता है। आर्ष दृष्टि का पूरा स्पष्टीकरण सुनिये—

(१) वेद में जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति के नियम आते हैं, वे अपौरुषेय वा ईश्वरीय हैं। वंश-ब्राह्मणों में सर्वत्र उस-उस विद्या का आदि मूल ब्रह्म बतलाने का यही तात्पर्य है और यही उन वचनों का तात्पर्य है, जिनमें परमेश्वर से वेद की उत्पत्ति कही गई है।

(२) वेद के वाक्य उस समय की भाषा में ऋषियों के अपने रचे हुए हैं। इसमें प्रमाण है मन्त्र में **"स्तोमं जनयामि नव्यम्।"** 'मैं एक नये स्तोत्र को जन्म देता हूं '(ऋ० १।१०९।२)।' इस प्रकार के मन्त्र (२) राजाओं और ऋषियों के इतिहासों के बोधक वाक्य (देखिये निरुक्त २।१०,११ देवापि शन्तनु का इतिहास), (३) ब्राह्मणों में मन्त्रों का प्रमाण देते हुए **'तदुक्तमृषिणा'** ऋषि ने कहा है इत्यादि कथन, (४) बृहदारण्यक में **"अपि हि न ऋषिवचः श्रुतम्"** 'क्या तूने ऋषि का वचन नहीं सुना ?' कहकर **"द्वे स्रुती अशृणवम्"** (ऋ० १०।८८।१५) मन्त्र का प्रमाण देना, (५) निरुक्त (१०।४२)में **"प्रतद्वोचेय·····"** मन्त्र पर विचार करते समय मन्त्र में **'अवस्रवेत्'** पद के दो बार आने

का प्रयोजन कहकर कहा है "**तत्परुच्छेपस्य शीलम्**" 'यह परुच्छेप का शील है' अर्थात् परुच्छेप ऋषि का शील है कि वह अपनी रचना में एक बार कहे शब्द को दुबारा लाता है। १।१२७ से १३४ तक १३ सूक्तों का ऋषि परुच्छेप है। इन सूक्तों में यह विलक्षणता स्पष्ट है, इत्यादि कथन वेद-वाक्यों को ऋषियों की अपनी रचना बतलाते हैं, न कि अपौरुषेय ?

(३) मन्त्र-रचना का काल ऋषियों की कुछ पीढ़ियों तक बराबर चलता है। उसके अनन्तर ब्राह्मणों और ब्राह्मणों के अन्त में आरण्यकों और उपनिषदों का काल है। यहां तक ऋषियों का काल समाप्त हो जाता है।

(४) वेद में कल्पित आख्यायिकाएं भी हैं और सच्चे इतिहास भी हैं। तात्पर्य दोनों का प्रकृत कर्म, उपासना वा ज्ञान वा श्रद्धा उत्पन्न कराना है। फलतः वेद ऋषिकृत अत एव आर्ष है।

(४) वेद पौरुषेय है।

पश्चिमी विद्वान् और इस देश के भी कई विद्वान् वेद को पौरुषेय मानते हैं। उनकी दृष्टि में कोई भी धर्म-पुस्तक वा धर्म किसी निराले ढंग पर साक्षात् परमात्मा से नहीं मिला, किन्तु मनुष्य ने स्वयमेव उसमें उन्नति की, धर्म और परमात्मा के समझने का स्वयमेव यत्न किया। इस प्रकार यत्न करते हुए आर्यों ने जिस धर्म को साक्षात् किया और उपासना तथा ज्ञान का जो मार्ग देखा, उसका मन्त्रों द्वारा उपदेश दिया। मन्त्रों के पीछे ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदें बनीं। इस पक्ष-वाले वेद में आर्यजाति की धर्मोन्नति के साथ-साथ उनकी राजनैतिक उन्नति आदि का इतिहास भी देखते हैं तथा वेद की पूरी-पूरी खोज करने पर कई प्रकार के ऐतिहासिक तत्त्वों के मिलने की आशा भी रखते हैं। इन सभी पक्षों में वेद उपादेय और विचारणीय सिद्ध होता है।

[गङ्गा वेदाङ्क—जनवरी १९३२]

वेदाविर्भावपर मतवाद

[विद्यावाचस्पति पं० मधुसूदन ओझा, दरबार-जयपुर, राजपूताना]

मीमांसक कहते हैं कि वेद किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं हुआ है, क्योंकि वेद शब्दमय है और शब्द नित्य है। हां, ऋषियों ने इसे अवश्य देखा या पाया है, परन्तु बनाया नहीं। इस कारण वेद अकर्तृक अपौरुषेय और नित्य है। सांख्यकार का कथन है कि प्रकृति के नियमानुसार जैसे सूर्य चन्द्र, लता-गुल्म आदि उद्भूत हुए हैं, वैसे ही वेद भी हुआ है। इसके बनानेवाले नहीं ज्ञात होते, अतः यह अपौरुषेय है और स्वयमुत्पन्न है। हां, अनित्य अवश्य है। नवीन नैयायिक कहते हैं कि, जब वर्णों की ही नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती, तब सिलसिलेवार वर्णों के समूहरूप पदों को नित्य कैसे कहा जाय। वेद आदिपुरुष-निर्मित है; अतः पौरुषेय होकर भी अतुलनीय होने के कारण अपौरुषेय है। महर्षियों ने इसे केवल देखा है। किन्तु प्राचीन नैयायिकों को कहना है कि लौकिक शब्दों की तरह ही वैदिक शब्द हैं। यद्यपि वेद के ये

शब्द कूटस्थ नित्य नहीं हैं, तथापि प्रवाह-नित्य अवश्य हैं। आप्त का सर्वत्र प्रामाण्य होता है। जैसे आयुर्वेद आप्त है और उसका प्रत्यक्ष प्रामाण्य भी, वैसे ही वेद का भी, क्योंकि दोनों के रचयिता आप्त महर्षि हैं। इसी कारण इनके विचार में वेद पौरुषेय है। इसी मत से मिलता-जुलता वैशेषिक शास्त्र का सिद्धान्त है कि शब्दस्वरूप (जिसका पारायण होता है) वेद तो अनित्य और पौरुषेय है परन्तु अर्थरूप में जो विद्याएं निहित हैं, वे नित्य और अपौरुषेय हैं। वैयाकरण कैयट और पतञ्जलि को भी यही मत स्वीकार है। किन्तु नास्तिक और अंग्रेजी भाषा-भाषी लोग कहते हैं कि वेद साधारण मनुष्यों के द्वारा बनाया गया है। वह प्राचीन है सही पर साधारण-सा काव्य है। ब्राह्मण आदि जो उसे अपौरुषेय कहते हैं, वह केवल पूज्यता-बुद्धि से या प्राचीनता के खयाल से।

दार्शनिकों ये छ मत प्रधान हैं। इन्हीं के आधार पर और भी बहुत से मत हैं। उन्हें भी क्रमशः पढ़िये—नित्य-सिद्ध वेद ईश्वर से अभिन्न है, क्योंकि ईश्वर और वेद दोनों ब्रह्म हैं, दोनों का वाचक ॐकार है और दोनों से ही जगत् की सृष्टि मानी जाती है पर दूसरा सिद्धान्त है कि वेद नित्य है, परन्तु ईश्वर के समान है। एक शब्द-ब्रह्म है, दूसरा परब्रह्म। शब्द-ब्रह्म का विवर्त वेद है तथा पर-ब्रह्म का विवर्त अर्थ है, जो प्रतीयमान और प्रमेय है। दोनों अविनाशी हैं और अनादि भी। यह भी निर्द्धारित किया गया है कि वेद के अनुसार ही सृष्टि होती है।

किसी का कहना है कि वेद ईश्वर का निःश्वास है। मनुष्य जैसे सांस लेकर भी निःश्वास का निर्माता नहीं होता है वैसे ही वेद का निर्माता ईश्वर भी नहीं है। इसी से वेद अकर्तृक नित्य और स्वयम्प्रादुर्भूत है। कोई कहता है कि ईश्वरीय कृपा से सृष्टि करने के लिये नित्य-वेद को सर्व-प्रथम ब्रह्मा ने पाया था। इसके लिये ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ को कुछ प्रयास नहीं करना पड़ा था। वेद के अनुसार ही उन्होंने सृष्टि की। यहां दूसरा सिद्धान्त भी मिलता है कि सृष्टि के पहले ब्रह्मा ने भले ही असीम वेद रचा हो, परन्तु आज हमें जो वेद उपलब्ध है उसे ईश्वर के अनुग्रह से महर्षियों ने पाया है। यह ईश्वर-प्रदत्त होने के कारण अपौरुषेय है। लेकिन एकदूसरा पक्ष कहता है कि नित्य-सिद्ध वेद को सर्वप्रथम अजपृश्नि ऋषि ने तपस्या के द्वारा ईश्वर से प्रसादरूप में पाया है। कहीं यह भी मिलता है कि इसे सर्वप्रथम अथर्वाङ्गिरा ने पाया है। और इस मत की पुष्टि के लिये तो बहुत से प्रमाण हैं कि नित्य-सिद्ध वेद स्वयं ईश्वर का वाक्य है। ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में ही वेद को कहा है—"**नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।**"

ये विचार भी पुराणों में मिलते हैं कि नित्य-सिद्ध वेद ब्रह्मा का वाक्य है। जैसे पुराणों के सम्प्रदाय-प्रवर्तक वेदव्यास हैं, रचयिता नहीं, वैसे ही ब्रह्मा न केवल वैदिक सम्प्रदाय को स्थिर किया है, वेद को बनाया नहीं है। कहीं यह भी देखा जाता है कि नित्य वेद के सम्प्रदाय-प्रवर्तक ऋषिगण हैं। ऋषियों ने वेद को समझकर बखाना है, बनाया नहीं है। यह भी जनश्रुति प्रचलित है कि कोई भी खास ऋषि वेद-निर्माता नहीं है।

कई श्रुतियों में ऐसा वर्णन मिलता है कि नित्य वेद के तात्पर्यानुसार ईश्वर ने जगत् को बनाया है। प्रत्येक पदार्थ और जीव-जन्तु पूर्वकल्प के अनुकूल ही दूसरे कल्प में बनाये जाते हैं। और तो क्या, ऋषि आदि के नाम तथा उनके ज्ञान तक में पार्थक्य नहीं रहता। इसलिये वेद ईश्व-

रीय ज्ञान है, जो अविनाशी है। वेदान्तियों का कहना है कि नित्य-सिद्ध वेद के शब्दों से ईश्वर ने जगत् को बनाया है, यह सब कुछ शब्दों से ही बना है, शब्दों से ही अनेक रूपों में संनिविष्ट है, और शब्दों से ही इसका पृथक्-पृथक् विभाग किया गया है।

वेदान्त के आचार्यों का कथन है कि जैसे सोने के समय लोग पहले दिन की बातें भूल जाते हैं और जगने पर जैसे उनके वे ज्ञान फिर स्फुरित होने लगते हैं, वैसे ही कल्पान्त के बाद ईश्वर को भी तिरोहित वेद का ज्ञान हो जाता है, परन्तु वेद ईश्वर का बनाया हुआ नहीं है।

पुराणों में एक मत यह भी है कि वेद न ईश्वर है, न उसके समान है, क्योंकि ईश्वर नित्य, शरीरहीन और अनादि है और वेद प्रतिकल्प के आदि में उसी प्रकार ईश्वर के द्वारा बनाया जाता है, जैसे और-और वस्तुएं बनाई जाती हैं—"**प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते।**" एक श्रुति ऐसी भी है—"**स तया वाचा तेनात्मना इदं सर्वमसृज्यत।**" अर्थात् शब्द नित्य हैं और उन्हीं से ईश्वर ने वेद और जगत् को बनाया। जैसे परमाणुओं की नित्यता रहती हुई भी उनके संयोग से बने बाग-बगीचे अनित्य हैं, उसी प्रकार वेद के वाक्य-विश्लेषण भी हैं। उपनिषदों में ऐसा भी मिलता है कि वेद और जगत् को ईश्वर ने अपनी इच्छा के अनुसार बनाया है। इन्हें बनाते समय ईश्वर में सर्व-शक्तिमत्ता होने के कारण उसे न नित्य शक्ति की जरूरत पड़ी और न परमाणुओं की। ईश्वरकृत अपौरुषेय पर्वतों से और समुद्रों से बहुतेरे स्तूप तथा सरोवर जैसे बनते हैं, वैसे ही वैदिक शब्दों के संग्रह से बहुतेरे पौरुषेय ग्रन्थ बने हैं।

अब श्रीमद्भागवत की भी एक बात सुनिये—'**तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये।**' यानी ईश्वर ने वेद को बनाया और ब्रह्मा आदि ऋषियों के द्वारा उसे प्रकाशित कराया, क्योंकि ईश्वर तो निराकार है और किसी शरीरी विशेष के हृदय में आये बिना वेद लोक में नहीं आ सकता था। और भी सुनिये, ईश्वर दो प्रकार का है एक निर्गुण और दूसरा सगुण। इसी सगुण ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ ने वेद को बनाया है, यह मत महाभारतीय है। माननीय मणिकार का मत है कि वेद मत्स्य भगवान् का वाक्य है।

श्रुतियों में ऐसा भी मिला है कि प्रत्येक वस्तु के एक-एक अभिमानी देव होते हैं जो कि शरीरधारी और चेतन हैं। इन्हीं देवों में अग्नि, वायु और सूर्य देवता हैं, जो कि साक्षात् ईश्वर के अवतार या ईश्वरीय विभूतियां हैं, ये ही वेद के रचयिता हैं। किन्तु यास्क के निरुक्त परिशिष्ट में एक जगह लिखा है कि वेदों की उत्पत्ति खासकर सूर्यदेव से हुई है। वायु और अग्नि की उत्पत्ति भी पीछे इन्हीं से हुई है। ये देवता ईश्वर की प्रधान विभूतियां हैं, अतः इनके बनाये वेद को ईश्वर का ही बनाया मानना चाहिये।

छान्दोग्योपनिषत् और ऐतरेय ब्राह्मण के अग्नि, वायु और सूर्य के अभिमानी चेतन देवों को नहीं, बल्कि अधिष्ठात्री देवता से तीनों वेदों की उत्पत्ति हुई है। क्योंकि वेद में इन्हें तीनों लोकों का रस कहा गया है। यास्क-परिशिष्ट के वचन-प्रमाण से आकाश के देदीप्यमान सूर्य ही वेद के कारण हैं। अथर्व—संहिता की एक ऋचा से यह भी सिद्ध होता है कि अग्नि, वायु, सूर्य और वेद एक ही वस्तु है अर्थात् ये तीनों वेद-स्वरूप ही हैं। इनकी निन्दा से वेद की निन्दा और वेद की निन्दा से इनकी निन्दा होती है, किन्तु नारायणोपनिषत् बतलाती है कि सारे वेद में केवल एक सूर्य

का ही तत्त्व निर्दिष्ट है; अतः सूर्य को ही वेद समझना चाहिये। जब ब्रह्माण्डमय सौर जगत् की विद्या का नाम ही वेद है, तब वह सूर्य से कब पृथक् हो सकता है।

परन्तु पुरुषसूक्त के अनुसार वेद की उत्पत्ति यज्ञ भगवान् से हुई है। कहीं ऐसा भी है कि वेद में केवल यज्ञ की ही चर्चा है, अतः यज्ञ ही वेद है और वेद ही यज्ञ है। ऋग्वेदीय एक ऋचा के अनुसार हम यह भी कह सकते हैं कि यज्ञ ने ही वेद की उत्पत्ति हुई है, जिसे ऋषियों ने पाया और आम्नाय-भेद से संसार के कोने-कोने में प्रकट किया।

अथर्ववेद की एक ऋचा से यह भी प्रमाणित होता है कि काल-चक्र से प्रभावित होकर प्रजापति से लेकर सम्पूर्ण जगत्-प्रपञ्च और वेद की उत्पत्ति हुई है। शतपथ ब्राह्मण और कपिल का मत है कि सृष्टि के आदि में वेद स्वयं उत्पन्न हुआ है, क्योंकि जिस वेद में अलौकिक विद्याएं भरी पड़ी हैं, उसे कभी भी कोई मनुष्य नहीं बना सकता। जैसे समुद्र पर्वतादि पदार्थों का निर्माण मनुष्य-शक्ति के परे है, वैसे ही वेद की रचना भी है। ईश्वर तो क्लेश, कर्म और विपाकाशय से अपरामृष्ट (बे-लाग) है। सूर्य, चन्द्र, वेद आदि स्वयं उत्पन्न हुए हैं। संसार में तीन प्रकार के पदार्थ हैं, नित्य, प्रकृति-जात और पुरुष-जात। आकाश आदि नित्य, सूर्य आदि प्रकृतिजन्य और घट-पट आदि मनुष्य-निर्मित हैं। यदि विराट् बुद्धि से विचार किया जाए, तो सब प्रकृति-जन्य है, वेद भी निःसन्देह प्रकृति-सिद्ध पदार्थ है, जो सृष्टि के आदि में द्युलोक आदि के अनुसार स्वयं ही उत्पन्न हुआ है। जैसे तीन लोक हैं, वैसे ही तीन छन्दः, तीन स्तोम और तीन सवन भी हैं। प्रथम से ऋक्, द्वितीय से यजुः और तृतीय से साम की उत्पत्ति हुई है।

वेद महर्षियों की कृति है। इस विषय में माधवाचार्य कहते हैं कि अग्नि, वायु और सूर्य नाम के तीन ऋषि थे जिन्होंने वेद को बनाया है। श्रुति के अनुसार पृश्नि नामक ऋषि इसके रचयिता हैं अथवा कहीं अथर्वाङ्गिरा ऋषि हैं। महाभारत में एक जगह ऐसी कथा भी मिलती है कि वेद ऊर्ध्व-रेता ऋषियों का वाक्य है। पहले गृहस्थ-ऋषियों की संख्या पचास हजार और आबाल ब्रह्मचारियों की अट्ठासी हजार थी। ये सांसारिक सुख-सामग्री को छोड़कर तत्त्वानुसन्धान में ही अहर्निश व्यस्त रहते थे। इन्हींकी कृपा से आज हम अद्भुत ग्रन्थ वेद को पाते हैं। कहीं मत्स्य, वसिष्ठ, अगस्त्य, भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, कश्यप और विश्वामित्र के वाक्य वेद हैं, ऐसा भी मिलता है। इनमें मत्स्य को छोड़कर वास्तव में वेदों के प्रवर्तक ये ही सात वंश हैं। वेदों में इनकी चर्चा खास तरह से है। लोक परम्परा-व्यवहार से हम लोग यह भी जानते हैं कि वेद ऋषियों के भिन्न-भिन्न आम्नाय-वचनों से संगृहीत हैं। ये आम्नाय-वचन सत्य हैं; क्योंकि इनकी सत्यता के विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिलता। महाभारत से कुछ पूर्व समय तक ये वचन बड़ी सावधानी से संगृहीत हुए और संहिता-रूप में लाये गये। एक मत यह भी है कि वेद के नाम से इन दिनों संहिता और ब्राह्मण दोनों अभिहित हैं। परन्तु संहिता-भाग को ही वेद मानना चाहिये; क्योंकि यही ईश्वर-प्रोक्त है और ब्राह्मण-ग्रन्थ तत्-तत् ऋषियों के द्वारा बनाया गया है। यह मत शास्त्र-सिद्ध नहीं है; इसके पोषक कोई जबर्दस्त प्रमाण भी नहीं है।

एक मत यह भी है कि वेद पुरोहितों के वाक्यों का संग्रह है। सुप्रबन्ध करने के लिये कार्य-विभाग करने के लिये वेद बना है। इसी तरह और भी अनेकानेक मत हैं।

इन सब मतों के ऊपर श्रुति-स्मृति और पुराण-इतिहास आदि के पर्याप्त प्रमाण हैं, जो केवल विस्तारभय से ही छोड़ दिये गये हैं।

[गङ्गा-वेदाङ्क—जनवरी १९३२]

वेदों की नित्यता

[ले०—पं० सकलनारायण शर्मा, काव्य-सांख्य-व्याकरण-तीर्थ, प्रोफेसर, संस्कृत कालेज कलकत्ता]

नित्य पदार्थ दो प्रकार के होते हैं। एक अपरिणामी नित्य, जिसके स्वरूप अथवा गुण में कोई परिवर्तन नहीं होता और दूसरा प्रवाह नित्य, जो लाखों हेर-फेर होने पर भी सदा रहता है। पहले के उदाहरण परमात्मा हैं और दूसरे का उदाहरण प्रकृति अथवा जगत् है। जगत् किसी न किसी रूप में सर्वदा रहता है, चाहे उसमें लाखों हेर-फेर हुआ करें। सृष्टि के प्रारम्भ में भी वह प्रकृति अथवा परमाणु के रूप में विद्यमान रहता है, अत एव वह प्रवाह-नित्य है। पर उसे अनित्य इसलिये कहते हैं कि उसका परिणाम होता है अथवा वह प्रकृति वा परमाणु का कार्य है। पर कारणरूप से नित्य है।

वेद शब्दमय है। न्याय और वैशेषिक के मत में शब्द कार्य तथा अनित्य हैं, किन्तु वे भी मन्वन्तर अथवा युगान्तर में गुरु-शिष्य परम्परा से उनका पठन-पाठन स्वीकार कर उन्हें नित्य बना देते हैं। परमेश्वर प्रति कल्प में वेदों को स्मरण कर उन्हीं को प्रकटित करते हैं। वे वेद बनाते नहीं।

"ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।" (यजुर्वेद)।

इस मन्त्र ने वेदों को ईश्वर-कृत नहीं माना है, बल्कि उनको वेदों का प्रादुर्भाव-कर्त्ता माना है। वे उनके द्वारा प्रकटित हुए, इसी से पौरुषेय अथवा ईश्वर-कृत कहलाते हैं। जैसे ईश्वर नित्य हैं, वैसे ही उनके ज्ञान वेद भी नित्य हैं। वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है। जैसे माता-पिता अपनी सन्तान को शिक्षा देते हैं, वैसे ही जगत् के माता-पिता परमात्मा सृष्टि के आदि में मनुष्यों को वैदिक शिक्षा प्रदान करते हैं, जिससे वे भली-भांति अपनी जीवन-यात्रा का निर्वाह कर सकें।

मीमांसाकार जैमिनि तथा व्याकरण-तत्त्वाभिज्ञ पतञ्जलि ने शब्दों को नित्य सिद्ध करने के लिये कई युक्तियां लिखी हैं। उनसे शब्दमय वेदों की नित्यता प्रतिपादित होती है। हम उनकी चर्चा न कर विद्वानों का ध्यान फोनोग्राफ तथा रेडियो की ओर आकृष्ट करते हैं, जिनके द्वारा दूसरों के शब्द ज्यों के त्यों सुन लेने पर किसी को यह सन्देह नहीं हो सकता कि शब्द अनित्य हैं।

वेदों में स्थानों, मनुष्यों तथा नदियों के नाम मिलते हैं, जिनका वर्णन वर्तमान भूगोल तथा इतिहास में मिलता है। इससे वेद वर्तमान भूगोल स्थान तथा ऐतिहासिक पुरुषों के समय के

बाद रचित हैं। वे नित्य नहीं हो सकते, इसका उत्तर यह है कि वेदों में रूढ़िवाले शब्द नहीं, जिन के द्वारा स्थान, नदी तथा राज्य और ऋषि के नाम दिखाकर कोई उनकी नित्यता का खण्डन करे। वैदिक शब्द व्याकरण-निरुक्त के अनुसार सामान्य अर्थों को कहते हैं—

"परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ।" (जैमिनि-सूत्र)।

वेदों में लोक-प्रसिद्ध इतिहास अथवा भूगोल का वर्णन नहीं। वे त्रिकाल-सिद्ध पदार्थ-ज्ञान तथा शिक्षाओं के भण्डार हैं। उनसे लोक-परलोक, दोनों का बोध होता है। वेदों के वाच्य अर्थ तीनों कालों में एक से होते हैं। उनमें कुछ परिवर्तन नहीं होता। लोग उनके ध्वनि-रूप अर्थों से इतिहास अथवा भविष्यत्कथा के अस्तित्व की कल्पना करते है। उनसे नित्यता की हानि नहीं होती। वेदाङ्ग, निरुक्त और व्याकरण उनके वाच्य अर्थ बतलाते हैं। उनमें कहीं इतिहास आदि नहीं है। ध्वनि-बल से जो मन्त्रों के विविध अर्थ प्रकाशित होते हैं, उनकी चर्चा निरुक्तकार यास्क महर्षि ने "इति याज्ञिकाः, इति ऐतिह्यम्" इत्यादिरूप से की है। वे अर्थ सर्वमान्य नहीं। किन्तु यह ईश्वरीय ज्ञान का चमत्कार है कि एक शब्द में कितने अर्थ भरे हुए हैं कि समय पाकर उनसे इतिहास-भूगोल का तत्त्व भी ज्ञात होता रहता है। वेद महत्त्व के ग्रन्थ हैं। जो ईश्वर नहीं मानते, वे भी वेदों को नित्य मानते हैं। उनका कहना है कि कोई निरपेक्ष विद्वान् वेदों को किसी का बनाया नहीं कहते। वे पौरुषेय नहीं।

"न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् ।" (सांख्यसूत्र)।

उपनिषदों का सिद्धान्त है कि मनुष्य जिस प्रकार अपनी सांसों को उत्पन्न नहीं करता, पर उसका स्वामी कहलाता है, वैसे ही ब्रह्म भी वेदों की अध्यक्षता करते हैं क्योंकि उनमें एक ब्रह्म की ही विचारधारा है। **"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।"** (बृहदारण्यक)

इस पर कुछ लोग सन्देह करते हैं कि निराकार ब्रह्म शब्दरूप में अपनी विचारधारा कैसे प्रकट करते हैं। यह बात बड़ी तुच्छ है। जिन्होंने निराकार होकर साकार जगत् बनाया, वे क्या नहीं कर सकते ? योगवार्त्तिककार विज्ञानभिक्षु ने लिखा है कि परमात्मा कभी-कभी करुणामय शरीर धारण कर लेते हैं—**"अद्भुतशरीरो देवो भावग्राह्यः।"** (योगवार्त्तिक)।

यदि वेद नित्य हैं तो ब्रह्म तथा ऋषि-महर्षियों के नाम से उनकी प्रसिद्धि क्यों हुई ? इस प्रश्न का उत्तर निरुक्त तथा मीमांसादर्शन ने दिया है कि उन्होंने उनकी व्याख्या भी लोगों को समझाई है, उनका प्रवचन भी किया है। यही कारण है कि लोग उनके नाम से वेदों की प्रसिद्धि करते हैं—

"आख्या प्रवचनात्।" (जैमिनि)।
"ऋषयो मंत्रद्रष्टारः।" (यास्क)।

सृष्टि के आदि में परमेश्वर ने चारों वेद ब्रह्मा को एवं एक-एक वेद अग्नि, वायु, रवि तथा अथर्वा को सिखलाये—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं सर्वांश्च वेदान् प्रहिणोति तस्मै। (श्वेताश्वतर)।

"अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः।" (शतपथ)।
"अथर्वांगिरसः।" (गोपथ)।

यदि वे एक साथ चारों की शिक्षा ब्रह्मा को नहीं देते तो लोग कह सकते थे कि वेद को अग्नि आदि ने बनाया और भगवान् के नाम से प्रसिद्ध किया। जो वेद ब्रह्मा को प्राप्त थे, वे ही अग्नि आदि महर्षियों को मिले। इसी से किसी को यह कहने का अवसर नहीं मिल सकता कि उन्होंने ईश्वर के नाम से मनगढ़न्त बातें लोगों को समझाईं। किसी-किसी का यह कहना है कि वेदों के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा हैं, जिससे अनुमान करना पड़ता है कि वे विविध समयों पर बनाये गये हैं। किन्तु यह तर्क बड़ा तुच्छ है, क्योंकि एक ही सम्पादक अग्रलेख, टिप्पणी तथा समाचारों की भाषा भिन्न-भिन्न प्रकार की अपने समाचार-पत्र में रखता है। तब विद्यानिधि सर्वज्ञ ब्रह्म अपने ज्ञान को कठिन, सरल भाषा में क्यों नहीं प्रकाशित कर सकते! उस के लिये क्या दो-चार शैलियों की भाषाएं प्रकटित करनी कठिन कार्य है?

सृष्टि के आदि में कोई भाषा नहीं थी। इसलिये परमात्मा ने अपनी मनचाही बोली में शिक्षा दी, जो परमात्मा की भाषा देववाणी कहलाती है। उन्होंने उसी के द्वारा लोगों को बोलना सिखलाया। माता-पिता अपने लड़कों को पानी शब्द का उच्चारण करना बतलाते हैं। उन्होंने अशुद्ध उच्चारण के द्वारा अपभ्रंश भाषा उत्पन्न की। उसे शुद्ध कर जो बोलने लगे, वे अपनी भाषा को संस्कृत—सुधारी हुई—कहते थे। सुधारी हुई भाषा के लिए संस्कृत शब्द वाल्मीकिजी की रामायण से पहले किसी साहित्य में नहीं मिलता। प्राचीन साहित्य में वैदिक भाषा और विषय, दोनों के लिए वेद, छन्द तथा श्रुति शब्द व्यवहृत होते थे। लौकिक भाषा के लिये केवल भाषा [संस्कृत] शब्द प्रयुक्त होता था। लौकिक संस्कृत से वेद-वाणी की कई अंशों मे एकता है, पर उनके व्याकरण, नियम और कोष भिन्न हैं—यद्यपि संस्कृत की उत्पत्ति वेद-वाणी से हुई है।

कुछ लोगों की यह आपत्ति है कि वेद की नित्यता इसलिये सिद्ध नहीं होती वि वे त्रयी कहे जाते हैं पर हैं चार। आरम्भ में वे तीन थे, पीछे वे चार हो गये। उनमें एक अवश्य नवीन होगा। उनकी दृष्टि में अथर्ववेद नया ठहरता है क्योंकि ऋक्, यजुः साम इन्हीं के नाम संस्कृत साहित्य में बार-बार मिलते हैं, अथर्व के नहीं। जो छन्दोबद्ध हैं,उनका नाम ऋक् है,जो गाने योग्य हैं उन्हें साम कहते हैं और अवशिष्ट यजुः कहलाते हैं। अथर्व में ऋक्, यजुः दोनों मिलते हैं, उसमें साम भी है। इसलिये वह ऋक्, यजुः और सामरूप है। वह उक्त नामों से प्रसिद्ध नहीं हुआ कि उसमें तीनों का सामञ्जस्य होता है। कौन सी विशेष संज्ञा उसे दी जाय। ऋग्, यजुः और साम वेद अपने प्रसिद्ध नामों से व्यवहृत होते हैं क्योंकि उन नामों के योग्य उनमें एक गुण विशेषरूप से है—

'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पाद-व्यवस्था।' 'गीतिषु सामाख्या।' 'शेषे यजुःशब्दः।' (जैमिनिसूत्र)।

अर्थात् त्रयी कहने से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद चारों का बोध होता है, और चारों ही नित्य हैं। सन्देह का कोई अवसर नहीं है।

मनु जी ने कहा है कि वेदों से सब कार्य सिद्ध होते हैं—**"सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति।"**

ऐसे गौरवशाली लाभदायक वेदों पर जनता की श्रद्धा क्यों नहीं जो उनके नित्यानित्य के विचार में प्रवृत्त होती है ?

उक्त वेदों में परा और अपरा विद्याओं की चर्चा है। उनसे पदार्थविद्या और आत्मविद्या दोनों का ज्ञान होता है। उनके अर्थ समझने के प्रधान साधन व्याकरण और निरुक्त हैं। शाकपूणि तथा और्णनाभ आदि के निरुक्त अब नहीं मिलते। इस समय जो भाष्य मिलते हैं उन्होंने उपलब्ध यास्क-निरुक्त का भी पूरा आदर नहीं किया। उन्होंने गृह्यसूत्र तथा श्रौतसूत्र पर अपनी दृष्टि रखी। इससे उनके अर्थ केवल यज्ञपरक हो गये। वैदिक महत्त्व लुप्त हो गया। वेद सब विद्याओं की जड़ है। वर्तमान भाष्य इस बात को सिद्ध नहीं कर सके। यदि विद्वन्मण्डली वैदिक साहित्य की निरन्तर आलोचना करे तो अर्थों के बल उन्हें पूर्व प्रतिष्ठा दिला सकती है। विदेशी विद्वान् नहीं चाहते कि वेदों की मर्यादा अक्षुण्ण रहे। उसकी रक्षा भारतीयों को करनी चाहिये।

भारतीय यास्क महर्षि की यह सम्मति याद रखें कि ईश्वर की विद्या नित्य है, जो कर्तव्य-शिक्षा के लिये वेदों में विद्यमान हैं—

"पुरुषविद्यायानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मवो वेदे।"

आशा है पाठक यदि उपर्युक्त पंक्तियों पर ध्यान देंगे तो वे वेदों की नित्यता स्वीकार करेंगे।

[गङ्गा-वेदाङ्क—जनवरी १९३२]

वेद की अपौरुषेयता

[ले०—महामहोपाध्याय डा० गङ्गानाथ झा एम० ए०, डी० लिट्,
वायस-चान्सलर, विश्वविद्यालय, प्रयाग]

जब से वेद का अध्ययन और अध्यापन प्रवृत्त हुआ, तभी से 'वेद पौरुषेय है या अपौरुषेय' इसका विवाद चला आता है। ऐसी बात में तो विवाद की कोई जगह नहीं होनी चाहिये थी, क्यों कि ग्रन्थ 'पौरुषेय' है, उसका रचयिता 'पुरुष' अवश्य ही ज्ञात रहता है। वेद के रचयिता का नाम कोई नहीं जानता। इससे इसे 'पौरुषेय' कहने की युक्ति ठीक नहीं हो सकती। 'ऐसे वाक्य-सन्दर्भ अपौरुषेय नहीं हो सकते', यह भी नहीं कहा जा सकता। मुण्डन-उपनयन-विवाह आदि के अवसर पर जो गीत गाये जाते हैं, उनका रचयिता कौन है, कोई कह सकता है ? चिर काल से ये गीत चले आये हैं, इनका आरम्भ कब हुआ, कोई नहीं कह सकता। इसी तरह वेद में जो वाक्य-सन्दर्भ है, उसका रचयिता कोई नहीं है, चिरकाल से वह इसी रूप से चला आया है। जो स्थिति मिथिला में प्रसिद्ध भगवती के गीत—'आनन्दरूप भवानी' का है, ठीक वैसी ही स्थिति मन्त्र—'अम्बे-अम्बिके' का है। इन्हीं कारणों से वेद की नित्यता वा अपौरुषेयता में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये।

[गङ्गा-वेदाङ्क—जनवरी १९३२]

वेद-परिचय

[लि०—साहित्याचार्य पं० महेन्द्रमिश्र 'मग', छतहार, तारापुर, भागलपुर]

वेद अगाध ज्ञान का भण्डार है। प्राचीन काल की विद्वन्मण्डलियों में वेदों के ऊपर जितनी चर्चा थी, जितने ग्रन्थ रचे गये थे, उतने किसी विषय पर नहीं। इस छोटे से वेद-परिचायक निबन्ध द्वारा मैं उन्हीं का दिग्दर्शन कराना चाहता हूं।

वेद के त्रयी, श्रुति, आम्नाय, छन्द, स्वाध्याय और निगम आदि अनेक नाम हैं। कौनसा नाम किसके बाद पड़ा है, यह जरा विवाद-ग्रस्त विषय है, परन्तु ये नाम अर्वाचीन नहीं हैं, यह सर्व-सम्मत है। वेद परमात्मा का निःश्वास है अनादि और अपौरुषेय हैं। अनेकों के विचार से यदि पोरुषेय है भी तो शब्दमात्र, अर्थ नहीं। शङ्कर तो शब्द, अक्षर, स्वर और क्रम तक को अनादि-कल्प-कल्पान्त से आगत—मानते हैं। सायण तथा स्वामी दयानन्द का भी यही सिद्धान्त है। आधुनिक वैज्ञानिकों तथा ऐतिहासिकों का परस्पर विवाद तो अभी तक निपटा ही नहीं है। जो हो, किन्तु आधुनिकों के विचार से भी वेद प्राचीनतम और मनुष्य-निर्मित ग्रन्थ हैं। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद हुआ है। बहुतों का मत है कि ये अग्नि आदि तीनों देवता हैं, ऋषि नहीं। निरुक्तकार यास्क की भी यही राय है। देवता को कोई साकार और कोई तत्तत्पदार्थाधिष्ठित मानते हैं। ये यास्क आदि वैदिक देवताओं को एक ही मानते और कर्म-भेद से उनके नामों में विविधता मानते हैं। किन्हीं का कथन है कि समाधिस्थ सनातन ऋषियों के हृदय में ब्रह्म (वेद) स्वयं प्रकट हुए थे—"**ऋषिर्दर्शनात् मन्त्रान् ददर्श**"। यही कारण है कि ऋषि मन्त्र-द्रष्टा कहाते हैं—"**ऋषयो मंत्रद्रष्टार:**"। एक बात यह भी मानी जाती है कि गत कल्प में जो वेद नष्ट हो गया था, उसे ऋषियों ने ही तपस्या करके प्राप्त किया।

वेद का अर्थ लिखते समय वेदान्तकार ने लिखा है—"मीनशरीरावच्छिन्न-भगवद्वाक्यम्", न्यायशास्त्र बताता है—ब्रह्मा के मुखों से बहिर्भूत धर्म बतानेवाला शास्त्र, सायण आदि का विचार है जिसमें अभीष्ट का लाभ हो, अनिष्ट का परिहार, निरादर हो तथा अलौकिक युक्ति-उपाय मालूम पड़ें या जिसमे धर्मादि पुरुषार्थ जाना जाय, वही वेद है अथवा अपौरुषेय वाक्य ही वेद है।

वेदों की रचना गद्य, पद्य और गीति में हुई है। ऋक् पद्य में है, यजुः गद्य में और साम गीति में। इसी से वेद का एक नाम त्रयी भी है। ऋग्वेद से होतृकार्य, यजुर्वेद से अध्वर्युकार्य, सामवेद से उद्गातृकार्य और अथर्ववेद से ब्रह्मकार्य निष्पादित होते हैं। इन्हीं चारों का एक नाम संहिता भी है। परन्तु कुछ के मत से संहिता में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों सम्मिलित हैं। जिनका विनियोग होता है, वे मन्त्र हैं, जो विधि या स्तुतिपरक हैं, वे ब्राह्मण हैं। सायण, षड्गुरु आदि के मत में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद हैं। मन्त्र-भाग के प्रकाशन-समय में मन्त्रों की रचना-प्रणाली तीन तरह की थी। उस समय मन्त्र ही वेद या त्रयी थे। पीछे सूत्रकाल में ब्राह्मण भी वेद हो गये। संहिता का लक्षण वेदों में इस प्रकार है—"**पदप्रकृतिः संहिता**", "**वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता**", "**परः सन्निकर्षः संहिता**"। जिसमें गद्य न हो केवल पद्य हो, वह ऋक्-संहिता है। इसी प्रकार गद्य-प्रधान यजुवद-संहिता तथा गीति-प्रधान सामवेद-संहिता है। अथर्व ऋषि यज्ञ-प्रक्रिया के आदि

प्रकाशक हैं, अतः उन्हीं के नाम पर चौथे वेद का नाम अथर्व-संहिता पड़ा। जो वैदिक शाखाएं जिन ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे उन्हीं ऋषियों की बनाई हैं—यह किसी का कथन है,पर दूसरे कहते हैं-उन ऋषियों ने उन शाखाओं को बनाया नहीं किन्तु उनका अध्ययन कर उन्हें विभक्त या सङ्कलित किया है, अतः उन्हीं के नामों पर शाखाओं का भी नामकरण हुआ है। महाभाष्यकार तथा मीमांसकादिकों का भी यही मत है।

वेदों में मुख्यतया तीन देव हैं—अग्नि, वायु, सूर्य। कहीं-कहीं तैंतीस देवों का भी उल्लेख है—आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, प्रजापति और वषट्कार। इनमें भी सोमप और असोमप नामक दो भेद हैं। अग्नि के कई भेद हैं—लौकिक अग्नि, जठराग्नि, वैद्युतिक अग्नि, आकरज (खनिज) अग्नि आदि।

मन्त्र की व्याख्या करते हुए यास्क ने लिखा है—**"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामर्थापत्य-मिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद् दैवतं स मंत्रो भवति।"** अर्थात् किसी भी धन आदि की कामना से ऋषियों द्वारा देवता के निकट की गई स्तुतियां मन्त्र हैं। उव्वट ने तेरह तरह के मन्त्रों का उल्लेख किया है—विधिवाद, अर्थवाद, याच्ञा, आशीः, स्तुति, प्रैष, प्रवह्लिका, प्रश्न, व्याकरण, तर्क, पूर्ववृत्तानुकीर्तन, अवधारण और उपनिषत्। यास्क ने ऋकों को तीन भागों में विभक्त किया है—परोक्ष-कृत, प्रत्यक्ष-कृत और आध्यात्मिक।

पाठ-प्रणाली के भेद से संहिता दो प्रकार से पढ़ी जाती है। पहली प्रणाली को निर्भुज-संहिता कहते हैं और दूसरी को प्रतृण-संहिता। जहां मूल का अविकल पाठ होता है, वह निर्भुज-संहिता है। जैसे-"अग्निमीळे पुरोहितम्" का पाठ "अग्निमीळे पुरोहितम्"। परन्तु जहां मूल विकृत-रूप से पढ़ा जाता है, वह प्रतृण-संहिता है। प्रतृण-संहिता के कई भेद हैं, पद-संहिता, क्रम-संहिता आदि। पद-संहिता वह है, जहां तनिक सन्धि और विराम आदि का विचार किया जाता है। जैसे पद-पाठ में ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र **"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम"** को इस तरह पढ़ा जाता है—'अग्निम्, ईळे, पुरः, हितम्, यज्ञस्य, देवम्, ऋत्विजम्।' परन्तु क्रम-संहिता का पाठ जरा विचित्र है—'अग्निम् ईळे, ईळे पुरोहितम्, पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवम्, देवम् ऋत्विजम्।' जटा-पाठ और भी विचित्र है, "अग्निम् ईळे, ईळे अग्निम् अग्निम् ईळे, ईळे पुरोहितम्, पुरोहितम् ईळे, ईळे पुरोहितम्, पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य पुरोहितम्, पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवम्, देवं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवम्, देवम् ऋत्विजम्, ऋत्विजं देवम्, देवम् ऋत्विजम्।" घनपाठ तो और भी विचित्र है—"अग्निम् ईळे ईळे अग्निम् अग्निम् ईळे पुरोहितं पुरोहितम् ईळे अग्निम् अग्नि ईळे पुरोहितम् ईळे पुरोहितं पुरोहितम् ईळे, ईळे पुरोहितं यज्ञस्य यज्ञस्य पुरोहितं ईळे ईळे पुरोहितं यज्ञस्य पुरोहितं यज्ञस्य यज्ञस्य पुरोहितं पुरोहितं यज्ञस्य देवं देवं यज्ञस्य पुरोहितं पुरोहितं यज्ञस्य देवं यज्ञस्य देवं देवं यज्ञस्य यज्ञस्य देवं ऋत्विजं ऋत्विजं देवं यज्ञस्य यज्ञस्य देवं ऋत्विजम्।" ये आम्रेडन इसलिये किये जाते हैं कि वेद का मूलपाठ सदा शुद्ध रहे कहीं से भी कोई प्रक्षिप्त न घुसने पावे। इसी प्रकार ये पाठक्रम और भी कई प्रकार के हैं। जैसे माला, शिखा, लेखा, ध्वज, दण्ड और रथ। विस्तार-भय से माला, शिखा आदि के पाठ नहीं दिये गये। अवश्य ही इन पाठों को देखकर अपने पूर्वजों के दुर्द्धर्ष श्रम और अदम्य धैर्य पर हमेंविस्मित होना पड़ता है।

कालभेद, देशभेद, व्यक्तिभेद और उच्चारणभेद से इसी प्रकार पाठ में बहुत भेद हो गये हैं। आचार्यों के प्रकृति-वैषम्य के कारण अनुष्ठानभेद और प्रयोगभेद के कारण भी बहुत से भेद हुए हैं। इस क्रम से प्रत्येक संहिता अनेक शाखाओं में विभक्त हो गई है। ऋग्वेद की बीस या इक्कीस शाखाएं, यजुर्वेद की एक सौ एक शाखाएं, सामवेद की हजार शाखाएं और अथर्ववेद की नौ या पन्द्रह शाखाएं हैं। शौनकीय प्रातिशाख्य के मत से ऋग्वेद पांच शाखाओं में बंटा है—शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, सांख्यायन और माण्डूक। ऐतरेय, कौषीतकि, शैशिर, पैङ्ग आदि शाखाएं भी देखी जाती हैं। प्रातिशाख्य के मत से ये उपशाखाएं हैं।

यजुर्वेद के चरक नामक द्वादश भेद हैं। जैसे—चरक, आह्वरक, कठ, प्राच्यकठ, कपिष्ठल-कठ, आष्ठलकठ, चारायणीय, वारायणीय, वार्त्तान्तवेय, श्वेताश्वतर, औपमन्यव और मैत्रायणीय। मैत्रायणीय में ४ काण्ड, ५४ प्रपाठक और ६३४ मन्त्र हैं। यह सात हिस्सों में बंटा है, मानव, दुन्दुभ, चैकेय, वाराह, हारिद्रवेय, श्याम, शामायनीय। इसी प्रकार वाजसनेय के १७ भाग हैं—काण्व (४० अध्याय), जाबाल, गाधेय, माध्यन्दिन, शाषीय, तापनीय, कापाल, पौण्ड्रवत्स, आवटिक, परमा-वटिक, पराशयरी, वैं य, वैनेय, औधेय, गालव, वैजक और कात्यायनीय। इनके बाद लगभग ४४ उपग्रन्थ भी हैं।

मैत्रावरुणीय शाखा छः प्रकार की है—मानव, वाराह, दुन्दुभ, छागलेय, हारिद्रवीय और श्यामायनीय। चरक शाखा में दो श्रेणियां हैं—औखीय और खान्डकीय। खाण्डकीय के भी पांच हिस्से हैं—आपस्तम्ब, बौधायनी, सत्याषाढ़ी, हिरण्यकेशी और शाटचायनी। कहीं शुक्ल यजुर्वेद में १५ शाखाएं हैं—काण्व, माध्यन्दिन, जाबाल, बौधेय, शाकेय, तापनीय, कापिल, पौण्ड्रवत्स, आव-टिक, परमावटिक, पाराशरीय, वैनेय, बौधेय, औधेय और गालव। इन सब शाखाओं का दूसरा एक नाम वाजसनेयी शाखा भी है।

पुराणों में लिखा है—सामवेद की शाखाओं को इन्द्र ने वज्रप्रहार द्वारा विनष्ट कर दिया था। इसकी अब तीन शाखाएं मिलती हैं। गुर्जर प्रान्त में कौथुम, कर्णाटक में जैमिनीय और महा-राष्ट्र में राणायनीय।

अथर्ववेद नौ भागों में विभक्त है—पैप्पलाद, शौनकीय (२० काण्ड, ७५९ सूक्त और ५९७७ मंत्र) दामोद, तौत्तायन, जामल, ब्रह्मपालोम, कुनखा, देवदर्शी और चरण—विद्या। इसकी शाखाएं भी नौ हैं—पैप्पलाद, आन्ध्र, पुदात्त, स्नात, स्नौत, ब्रह्मदावन, शौनक, देवदंशति और चरण-विद्या। इनके परे तैत्तिरीय नामक दो भेद हैं—औख्य और काण्डिकेय। काण्डिकेय के पांच हिस्से हैं—आप-स्तम्ब, बौधायन, सत्यावाची, हिरण्यकेशी तथा औधेय।

इन सूत्ररूप शाखाओं की व्याख्या एक स्वतन्त्र स्थान रखती है, अतः इन्हें पल्लवित न कर मैं ब्राह्मग-ग्रन्थों की ओर आगे बढ़ता हूं।

हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परकृति, पुराकल्प, व्यवधारण, कल्पना और उपमान आदि दस विषयों से उपेत ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं। प्रत्येक शाखा के भिन्न-भिन्न ब्राह्मण हैं। ऋग्वेद की शैशिरीय, बाष्कल आदि शाखाओं का ऐतरेय (बह्वृच्) और कौषीतकि आदि सोलह शाखाओं

का शांख्यायन (कौषीतकि) ब्राह्मण है। यजुर्वेद की मैत्रायणी आदि उन्नीस चरकाध्वर्यु शाखाओं का ब्राह्मण मैत्रायणी है। यह अध्वर्यु-ब्राह्मण नाम से भी ख्यात है। वाजसनेयादि १७ शाखाओं का वाजसनेयक या शतपथ ब्राह्मण है। तैत्तिरीय आदि छः शाखाओं का तैत्तिरीय ब्राह्मण है। वल्लभी और सत्यायनी नामक इसके और भी दो ब्राह्मण हैं। सामवेद की जैमिनीय, कौथुम (प्रपाठक ६, १८२४ मन्त्र) और राणायनीय शाखाओं का ब्राह्मण छान्दोग्य है। इसके आठ ब्राह्मण और उपलब्ध हैं—साम-विधान, मन्त्र, आर्षेय, वंश, दैवताध्याय, संहितोपनिषत्, तलवकार और ताण्ड्य। अथर्ववेद के प्रायः और सब ब्राह्मण नष्ट हो चुके हैं, केवल एक गोपथ-ब्राह्मण ही बचा है।

एकान्त जन-शून्य विपिन में ब्रह्मचर्य में निमग्न रहकर गम्भीर भाव से आर्य ऋषिगण ने जो कुछ किया है वही आरण्यक नाम से प्रसिद्ध है। आरण्यक ग्रन्थों में उपनिषत् का अंश ही बहुतायत से मिलता है। ऋग्वेद के दो मुख्य आरण्यक हैं—एक ऐतरेय-आरण्यक दूसरा कौषीतकि आरण्यक। ऐतरेय आरण्यक के पांच ग्रन्थ हैं। सामवेद का आरण्यक संहिता के अभ्यन्तर ही है। आर्चिक और उसके अवलम्ब पर गाये गए गीत ही आरण्यक हैं। आरण्यक छान्दोग्यारण्यक नाम से कहे जाते हैं। यजुर्वेद-ब्राह्मण में तैत्तिरीय ब्राह्मण का शेषांश तैत्तिरीय आरण्यक है। माध्यन्दिन शाखा का चौदहवां काण्ड भी आरण्यक नाम से प्रसिद्ध है।

इसी प्रकार कर्मकाण्ड आदि के बोधक सूत्र होते हैं। ऋग्वेद के आश्वलायन और सांख्यायन श्रौतसूत्र हैं एवम् इन्हीं दोनों के गृह्यसूत्र भी हैं। शौनक का एक प्रातिशाख्य सूत्र भी है। सामवेद के पञ्चविंश ब्राह्मण का एक श्रौतसूत्र एवम् एक गृह्यसूत्र है। दूसरा लाटचायन श्रौतसूत्र (या मशक-सूत्र), तीसरा द्राह्यायण श्रौतसूत्र, चौथा अनुपदसूत्र, पांचवां गोभिलकृत पुष्पसूत्र और ताण्ड्य-लक्षण, उपग्रन्थ, कल्पानुपद, अनुस्तोत्र और क्षुद्रसूत्र है। इसके गृह्यसूत्रों में गोभिल-गृह्य-सूत्र, कात्यायन-कर्मदीप, खदिर-गृह्यसूत्र और पितृमेधसूत्र हैं। यजुर्वेद के कठ, मानव, लौगाक्षि, कात्यायन, बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बाधूल, वैखानस, मैत्रावरुणी और छागल श्रौतसूत्र हैं।

गृह्यसूत्र भी इतने ही हैं। शुक्ल यजुर्वेद के कात्यायन और वैजवाप श्रौतसूत्र हैं, पारस्कर और कातीय गृह्यसूत्र हैं। कात्यायन का एक प्रातिशाख्य भी है। अथर्ववेद के कौशिक, वैतान, नक्षत्रकल्प, आंगिरस और शान्तिकल्प—सूत्र हैं।

उपनिषदों में ब्रह्म-विद्या की पराकाष्ठा दर्शाई गई है और ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने के उपाय बताये गये हैं। ऋग्वेद की उपनिषदें हैं—कौषीतकि, ऐतरेय, शाकल और मैत्रायणी। वाष्कल उपनिषत् भी प्राप्त है। साम की उपनिषदें हैं छान्दोग्य और केन। यजुः की तैत्तिरीय उपनिषत् और ईशोपनिषत् है। अथर्व की मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्न और नृसिंह-तापिनी उपनिषदें हैं।

वेद के प्रधान भाष्यकार सायण हैं। ऋग्वेदार्थ प्रकाशक निघण्टु और यास्क के निरुक्त अति प्राचीन हैं। यास्क के भी पूर्ववर्ती कौत्स, शाकपूणि और और्णनाभ निरुक्तकार हैं (यास्क का समय

५वीं शताब्दी बी० सी० है) । निघण्टु की टीका देवराज यज्वा ने लिखी है तथा दुर्गाचार्य ने निरुक्त की वृत्ति प्रणयन की है। शङ्कराचार्य और उनके शिष्यों ने उपनिषदों का भाष्य किया है। आनन्द-तीर्थ ने ऋग्वेद के कुछ अंश का पद्यात्मक भाष्य लिखा है। सायग के भाष्य से पता चलता है कि भरतस्वामी और भट्टभास्कर मिश्र भी वेद के भाष्यकार थे। भट्टभास्कर का खण्डित ऋग्वेदभाष्य प्रकाशित भी हो चुका है। चण्डूपण्डित, चतुर्वेदस्वामी, युवराज, रावण और वरदराज आदि-कृत ऋग्वेदभाष्यों का भी कुछ अंश पाया जाता है। इनके अतिरिक्त मुद्गल, कपर्दी, आत्मानन्द तथा कौशिक आदि कुछ भाष्यकारों का भी नाम जहां-तहां सुनने में आता है। ऋग्वेद पर जो स्कन्द-स्वामी और वेङ्कटमाधव के भाष्य हैं उनकी अत्यधिक प्रतिष्ठा है। उद्गीथ भाष्य की भी कम प्रतिष्ठा नहीं। उव्वट ने शुक्ल यजुर्वेद का और ऋक्प्रातिशाख्य का भाष्य किया है। माधवपुत्र विनायक ने कौषतकि—ब्राह्मण का भाष्य किया है और कौषीतकि तथा ऐतरेय उपनिषदों का भाष्य शङ्कराचार्य ने किया है। इस (शङ्कर-कृत) भाष्य की टीका शङ्कर-शिष्य आनन्दज्ञान, आनन्दगिरि, आनन्दतीर्थ, अभिनव नारायण, नारायणेन्द्र सरस्वती, नृसिहाचार्य और बालकृष्णदास ने की है।

ऋग्वेद-संहिता में दस मण्डल, ८५ अनुवाक, १०१७ सूक्त तथा १०५८० ऋचाएं हैं। कुछ विद्वानों के मत से ऋग्वेद में इससे कम ऋचाएं हैं। पहले वेदों में माण्डलिक आदि विभाग नहीं थे। यह विभाग सर्वप्रथम गृह्यसूत्रों में दीखता है। अध्यायों का विभाग कहीं "दशति" नाम से भी ख्यात है पर कात्यायन की अनुक्रमणिका में ये विभागादि नहीं हैं। कहते हैं शाकल्य ने ही ऋक्-संहिता में पदपाठ चलाया है और क्रमपाठ के प्रचारक पञ्चाल तथा बाभ्रव्य हैं।

सामवेद दो भागों में विभक्त है—पूर्वार्द्ध और प्रपाठक। प्रपाठक में "दशत्" हैं और दशत् में नियमित मन्त्रों की समष्टि। किन्तु ये बातें सायण-भाष्य में कहीं भी नहीं हैं, बदले में अध्याय और खण्ड हैं। इसमें २९ अध्याय, ६ आर्चिक, ८९ साम और १८९३ मंत्र हैं।

इसमें अधिकता से ऋग्वेद के ही मन्त्र हैं, पर पदन्यास और उच्चारण-वैभिन्न्य से यह सङ्गीतमय है। इसके तीन आर्चिक हैं–छन्द, आरण्यक और उत्तर। आर्चिक का दूसरा नाम योनि-ग्रन्थ भी है। इस संहिता के ऊपर सायण, भरतस्वामी, महास्वामी और नारायणपुत्र माधव का भाष्य मिलता है। ताण्ड्य ब्राह्मण के ऊपर सायण का भाष्य है और हरिस्वामी की वृत्ति। मुख्यतः सायण ने सामवेदी ब्राह्मणों का भाष्य किया है। उपनिषदों के ऊपर शङ्कर का ही प्रधान भाष्य है। छान्दोग्योपनिषत् आनन्दतीर्थ, ज्ञानानन्द, नित्यानन्दाश्रम, बालकृष्णानन्द, भगवद्भावक, शङ्करानन्द, सायण, सुदर्श-नाचार्य तथा हरिभा्‌ शुक्ल की वृत्ति और संक्षिप्त भाष्य मिलता है। आनन्दतीर्थ के संक्षिप्त भाष्य के ऊपर विदेशभिक्षु, व्यासतीर्थ और आनन्दभिक्षु ने विस्तृत टीकाएं लिखी हैं। सामवेदीय केनोपनिषद [तलवकार] पर शङ्कर-कृत भाष्य है। इसकी टीका और एक स्वतन्त्र वृत्ति आनन्द-तीर्थ ने की है। इस वृत्ति का भाष्य दामोदराचार्य, बालकृष्णानन्द, भूसुरानन्द, मुकुन्द, नारायण और शङ्करानन्द ने की है। पञ्चविंश-ब्राह्मण का जो श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र है, उसका भाष्य वरद-राज ने किया है। लाटचायन श्रौतसूत्र पर सायण, रामकृष्ण दीक्षित तथा अग्निस्वामी ने एक-एक सुन्दर भाष्य लिखा है। द्राह्यायण का भाष्य माधवस्वामी ने किया है। इस भाष्य का संस्कार रुद्र स्कन्दस्वामी ने उद्गात्रसारसंग्रह में किया है। ध्वनिन ने भी छान्दोग्य सूत्रदीप नाम की एक वृत्ति

की रचना की है। पुष्पसूत्र के अवशिष्टांश का भाष्य अजातशत्रु ने किया है। रामकृष्ण ने इस सूत्र की एक वृत्ति भी रची है। गृह्यसूत्र में गोभिल की वृत्ति सायण, भट्टनारायण और शिव ने की है। खदिर गृह्यसूत्र की कारिका वामन ने बनाई है। पितृमेध-सूत्र नामक गृह्यसूत्र के प्रणेता गौतम हैं और टीकाकार अनन्तज्ञान हैं।

यजुर्वेद दो प्रकार का है। पहला कृष्ण-यजुर्वेद या तैत्तिरीय-संहिता, दूसरा शुक्ल-यजुर्वेद या वाजसनेय-संहिता। तैत्तिरीय-संहिता २७ शाखाओं में विभक्त है। कृष्ण-यजुः और शुक्ल-यजुः का आपस में मतभेद है। विशेषकर कृष्ण-यजुः होता और होता के कार्यों को बढ़ा-चढ़ा कर कहता है, किन्तु शुक्ल-यजुः वैसा नहीं कहता। तैत्तिरीय-संहिता के नामकरण के विषय में विष्णुपुराण का मत है—यजुर्वेद के प्रथम प्रवर्तक वैशम्पायन अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से क्रुद्ध हो गये। उन्होंने कहा—'मैंने जो वेद तुझे पढ़ाया है उसे लौटा दे।' योगी याज्ञवल्क्य ने विद्या को मूर्तिमती कर वमन कर दिया। गुरु की आज्ञा से अन्य शिष्यों ने उस वान्त को तित्तिर होकर चुग लिया, इसी से उसका नाम तैत्तिरीय-संहिता पड़ा। किन्तु पाणिनि का कहना है कि तित्तिरि ऋषि के नाम पर इस शब्द की उत्पत्ति हुई है। आत्रेय शाखा की अनुक्रमणिका में भी यही बात है। यह संहिता सात काण्डों में विभक्त है। प्रत्येक काण्ड फिर अनेक प्रपाठकों में विभक्त है। काण्ड विषम हैं, सम नहीं। इस यजुः-संहिता के ७ अष्टक हैं। अष्टकों में ४४ प्रश्न, ६५१ अनुवाक् और २१९८ कण्डिकाएं हैं। साधारणतया ५० शब्दों में कण्डिका गठित हुई है। इसमें की शब्दसंख्या ११०२९६ है। वेद के प्रधान भाष्यकार सायणाचार्य ने ही इस तैत्तिरीय-संहिता का भाष्य किया है। इसके अतिरिक्त बालकृष्ण दीक्षित और भट्टभास्कर मिश्र ने भी छोटे-छोटे भाष्य रचे हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में ३ काण्ड, २५ प्रपाठक और ३०८ अनुवाक् हैं। इसका जो शेषांश है, वही तैत्तिरीय आरण्यक है। इसमें १२ प्रपाठक हैं, जिनका भाष्य सायण, भट्टभास्कर मिश्र और वरदराज ने किया है।

इसी आरण्यक की सप्तम, अष्टम और नवम उपनिषदें हैं, जिसके तीन प्रपाठक तैत्तिरीय उपनिषद् कहलाते हैं। दशम प्रपाठक का याज्ञिकी या नारायणीय उपनिषद् नाम हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् का भाष्य शङ्कर ने किया है। आनन्दतीर्थ ने और रङ्ग रामानुज ने भाष्य के ऊपर टीका की है। इस उपनिषद् के ऊपर सायणाचार्य तथा आनन्दतीर्थ का भी भाष्य मिलता है। आनन्द-भाष्य के टीकाकार हैं अप्पणाचार्य, ज्ञानामृत, व्यासतीर्थ और श्रीनिवासाचार्य। इनके अतिरिक्त तैत्तिरीयोपनिषद् की दीपिका या वृत्ति के रचयिता कृष्णानन्द, गोविन्दराज, दामोदराचार्य, नारायण, बालकृष्ण, भट्टभास्कर, राघवेन्द्र यति, विज्ञानभिक्षु और शङ्करानन्द आदि हैं। श्वेताश्वतर और मैत्रायणीयोपनिषद भी यजुर्वेदीयोपनिषदें हैं। इन दोनों का भाष्य शङ्कराचार्य ने किया है और विज्ञानभिक्षु ने 'उपनिषदालोक' नाम की टीका लिखी है तथा नारायण, प्रकाशात्मा और रामतीर्थ ने 'दीपिका' लिखी है। श्वेताश्वतर के ऊपर रामानुज, वरदाचार्य, सायणाचार्य और शङ्करानन्दा के भाष्य हैं और शङ्करभाष्य की टीका के लेखक नृसिंहाचार्य, बालकृष्णदास तथा रङ्ग रामानुज हैं। इसी वेद के कल्पसूत्र के भाष्यकार महादेव, आपस्तम्ब के धूर्तस्वामी, कर्दिस्वामी, रुद्रदत्त, गुरुदेव स्वामी, करबिन्दस्वामी, अहोबल, गोपाल, रामाग्निज, कौशिकाराम, ब्रह्मानन्द इत्यादि हैं, मानव-श्रौतसूत्र के टीकाकार अग्निस्वामी, कुमारिलभट्ट, बालकृष्णमिश्र आदि हैं, बौधायन श्रौतसूत्र के केशव,

कपर्द्दिस्वामी, गोपाल, देवस्वामी, धूर्त्तस्वामी, भवस्वामी, महादेव वाजपेयी, सायण आदि हैं, हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र के टीकाकार गोपीनाथ भट्ट, महादेवदीक्षित, महादेव सोमयाजी, मातृदत्त आदि हैं; भारद्वाज श्रौतसूत्र के भाष्यकार गोपालभट्ट हैं। गृह्यसूत्र के ऊपर इन कथित महात्माओं के भाष्य तो हैं ही, इसके अलावा और भी बहुत से भाष्य हैं।

अभी जो वर्त्तमान शुक्ल यजुर्वेद है, वह माध्यन्दिनीय वाजसनेय संहिता के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें ४० अध्याय, ३०३ अनुवाक और १९७५ (दूसरे मत में १९७६) कण्डिकाएं (मन्त्र) हैं। इसके ऊपर जो कात्यायन की अनुक्रमणिका और महीधर का भाष्य है, उन्हें पढ़ने से मालूम पड़ता है कि २५-३५ अध्याय 'खिल' नाम से भी कथित हैं। इस संहिता के भाष्यकार उव्वट, माधव, अनन्तदेव, आनन्दभट्ट और महीधर हैं। अभी तो बाबा महीधर का ही बोलवाला है! इसके शतपथ-ब्राह्मण के तीन भाष्य हैं—हरिस्वामिकृत, सायणप्रणीत और कवीन्द्राचार्य सरस्वती-विरचित। बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्यकार द्विवेद गंग हैं। शंकर ने भी इस उपनिषद् का भाष्य किया है। शंकर के कई एक शिष्यों ने उस भाष्य की टीकाएं लिखी हैं। इसके सिवा गंगाधर की दीपिका, नित्यानन्दाश्रम की मिताक्षरावृत्ति, मथुरानाथ की लघुवृत्ति, राघवेन्द्र का खण्डार्थ तथा रंग रामानुज और सायण का भी भाष्य है। कात्यायनसूत्र के भी अनेक भाष्यकार हैं। उनमें यशोगोपी, पितृभूति, कर्क आदि प्रधान हैं। वाजपेय का भी एक श्रौतसूत्र है, जिसकी पद्धति का प्रणयण वासुदेव ने किया है। और टीका जयराम ने की है प्रातिशाख्य की अनुक्रमणी कात्यायनकृत समझी जाती है, जिसकी टीका उव्वटने लिखी है।

अथर्ववेद-संहिता में बीस काण्ड हैं। ये काण्ड ३४ प्रपाठकों में विभक्त हैं। इस में १११ अनुवाक, ७७३ वर्ग, ७६० सूक्त, ६००० (मतान्तर में ५८४७) मन्त्र और ७३८२६ शब्द हैं। इस वेद के पांच अंग हैं—सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद और पुराणवेद।

सायणाचार्य ने कौशिक-सूत्र की व्याख्या, 'संहिताविधि' नाम रखकर की है। इसके सिवा और चार सूत्र हैं, पर उनकी व्याख्या किसने की है, मुझे पता नहीं। इस वेद की बहुत सी उपनिषदें हैं और टीकाकार भी। प्रधानतया शंकर ही इनके भाष्यकार हैं। पूर्वकथित महात्माओं के भाष्य, टीकाएं तथा वृत्तियां भी प्रचुरता से इन पर मिलती हैं।

इस छोटे से निबन्ध में वैदिक साहित्य की, जो चर्चा की गयी है, वह सारी की सारी, वेद-भक्तों को सदा ध्यान देने योग्य है। जिन के लिये यह बात सम्भव न हो, उन्हें कम से कम इतनी बातें तो अवश्य कण्ठस्थ रखनी चाहिये—ऋग्वेद में ८ अष्टक, १० मण्डल, ६४ अध्याय, ८५ अनुवाक्, १०२८ (मतान्तर में १०१७) सूक्त, २०२४ वर्ग, १०५८९ (किसी मत में १०५८० और १०४६७) मन्त्र, १५३८३६ शब्द और ४३२००० अक्षर हैं। शुक्ल यजुर्वेद में ४० अध्याय, ३०३ अनुवाक, १९७६ (मतान्तर में १९७५) मन्त्र ८८८७५ अक्षर और शब्द-संख्या २९६२५ हैं। कृष्ण यजुर्वेद में ७ अष्टक या काण्ड, ४४ प्रश्न या प्रपाठक, ६५१ अनुवाक, २१९८ मन्त्र और ११०२९६ अक्षर हैं। सामवेद में २९ अध्याय, ६ आर्चिक, ८९ साम और १८९३, राणायनीय के अनुसार १५४९ मन्त्र हैं। अथर्ववेद में २० काण्ड, ३४ प्रपाठक, १११ अनुवाक, ७२३ वर्ग, ७६० सूक्त, ५८४७ मन्त्र और १२३८० शब्द हैं। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, शाखाएं २१ और उपनिषदें भी

२१ हैं। यह ज्ञानकाण्ड प्रधान है। इसके प्रधान आविष्कर्त्ता अग्नि ऋषि हैं। यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद, शाखाएं १०१ और उपनिषदें १०९ हैं। यह कर्मकाण्ड-प्रधान है। इसके प्रधान आविष्कर्त्ता वायु ऋषि हैं। सामवेद का उपवेद गन्धर्ववेद, शाखाएं १००० और उपनिषदें भी १००० हैं। चरण-व्यूह के मत से इसकी ७ शाखाएं हैं। यह उपासनाकाण्ड-प्रधान है। इसके प्रधान आविष्कर्त्ता आदित्य ऋषि हैं। अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद या स्थापत्यवेद, शाखाएं ९ और उपनिषदें ५० हैं। यह विज्ञान-काण्ड-प्रधान है। इसके प्रधान आविष्कर्त्ता आंगिरस अथर्वा ऋषि हैं।

इस छोटे से निबन्ध में, अपनी शक्ति के अनुसार, मैंने वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय देने की चेष्टा की है। सम्भव है और भी बहुत से नाम छूट गये हों। अथर्ववेद के विषय में तो जान-बूझकर संक्षेप किया है। वैदिक साहित्य में जो पाश्चात्य विद्वानों ने प्रशंसनीय कार्य किया है, उसे भी स्थानाभाव से छोड़ दिया गया है।
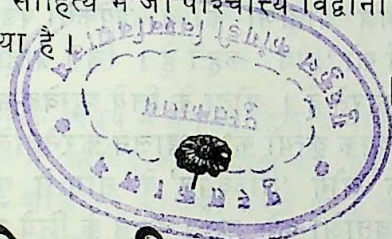
[गङ्गा-वेदाङ्क जनवरी १९३२]

वेद की शाखाएं

[ले० —साहित्याचार्य पं० बलदेव उपाध्याय एम०ए०, प्रोफेसर हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी]

इस भूमण्डल पर हमारे वेद ही सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। वेदों से बढ़कर पुराना ग्रन्थ न तो अभी तक उपलब्ध हुआ है और न भविष्य में ही उपलब्ध होगा। वेद भगवान् को हम हिन्दू लोग नित्य तथा अपौरुषेय मानते हैं। आर्य संस्कृति के मूल वेद ही हैं। **"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्"**—समग्र धर्मों का मूल वेद ही हैं। इस संसार में समय-समय पर जिन धर्मों का प्रवाह बहा है, उन सबका उद्गम स्थान हमारे वेद भगवान् हैं। वेद इस प्रकार हम हिन्दुओं के लिये तो गौरव रखते ही हैं, साथ ही यह संसार के अन्यान्य धर्मावलम्बियों के लिये भी उसी प्रकार महत्त्व धारण किये हुये हैं। जो कोई धर्म के रहस्य को जानना चाहता है, धार्मिक उलझनों को सुलझाना चाहता है उसे, वेद अवश्य पढ़ने चाहिये—वेदों से अवश्य परिचय प्राप्त करनी चाहिये। परन्तु बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि ऐसे आदरणीय धर्मग्रन्थों का आजकल प्रगाढ़ अध्ययन तो दूर रहा,हमें उनका साधारण परिचय तक प्राप्त नहीं है। साधारण जनता की बात कौन कहे, संस्कृत के बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् भी, जिन्होंने व्याकरणादि शास्त्रों के अध्ययन में अपने जीवन के अधिकांश अमूल्य भागों को व्यय किया है, ऐसे गौरवमय ग्रन्थों के आवश्यक परिचय से भी वञ्चित रहते हैं। परन्तु आजकल परिवर्तन के कुछ शुभ लक्षण दीख पड़ते हैं। भारतीय विद्वानों की दृष्टि वेदों तथा वैदिक साहित्य की ओर झुकी हुई दिखाई पड़ रही है। ऐसे समय में "वेदाङ्क" के द्वारा हिन्दी भाषा जाननेवाली जनता को वेद भगवान् से परिचित कराने के उद्योग को हम परम श्लाघनीय समझते हैं। इस लेख में वेद के शाखा-विभाग जैसे आवश्यक विषय से हिन्दी जनता को परिचित कराने का यथासाध्य प्रयत्न किया जायेगा।

वैदिक संहिताएं—

पुराणों में वेदों से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक विषयों का वर्णन मिलता है। वेदों के शाखा-विभाग का निरूपण भी साधारणतया पुराणों में—विशेष करके श्रीमद्भागवत पुराण में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इस विषय का संक्षिप्त वर्णन भागवत-प्रथम स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में मिलता है, परन्तु भागवत के द्वादश स्कन्ध के छठे अध्याय में इससे विस्तृत वर्णन की उपलब्धि होती है। लिखा है कि मुनि वेदव्यास ने याज्ञिक कृत्य को ध्यान में रखकर—यज्ञ सन्तान के लिये —वेद भगवान् की चार संहिताओं का निर्माण किया। कृत्य-विशेष के लिये जितने मन्त्रों की आवश्यकता थी, उन सब मन्त्रों का संग्रह एक विशेष संहिता में किया। यज्ञ में चार प्रधान कृत्य हुआ करते हैं, जिनके लिए चार भिन्न-भिन्न ब्राह्मणों की आवश्यकता पड़ा करती है। मन्त्रों को पढ़कर यज्ञीय देवताओं को बुलाने के कार्य को 'हौत्र' कहते हैं। जिस ब्राह्मग के हाथ में यह कार्य सौंपा जाता है, उसे 'होता' के नाम से पुकारते हैं। होता के लिये ऋग्वेद-संहिता का संकलन वेदव्यास जी ने किया। यज्ञों में होम आदि आवश्यक कृत्यों का सञ्चालन करनेवाले ब्राह्मण को 'अध्वर्यु' कहते हैं और उसके कार्य-विशेष को वैदिक लोग 'आध्वर्यव' के नाम से पुकारते हैं। यजुर्वेद-संहिता का सम्बन्ध 'अध्वर्यु' से है। यज्ञ में देवताओं को प्रसन्न करने के लिये गान, साम-गानवाले पुरोहित-विशेष को 'उद्गाता' कहते हैं और उसके कार्य को 'औद्गात्र'। 'उद्गाता' के लिये गीतिमय साम-वेद-संहिता का संग्रह वेदव्यास भगवान् ने किया। यज्ञ में एक अन्य विशिष्ट ब्राह्मण की आवश्यकता हुआ करती है, जो पूर्वोक्त प्रत्येक व्यक्ति के कार्य का निरीक्षण किया करे और उनकी त्रुटियों को उन्हें सूचित कर दूर कराया क`। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को करनेवाले ब्राह्मण को 'ब्रह्मा' कहते हैं। ब्रह्मा को तो चारों वेदों का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि विना इसके वे अपना कार्य, सुचारुरूप से सम्पन्न नहीं कर सकते। 'अथर्ववेद' का सम्बन्ध 'ब्रह्मा' से है। इस प्रकार यज्ञ के विस्तार के लिये परम कृपालु मुनिवर कृष्ण द्वैपायन ने वेद भगवान् की ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व नामक चार संहिताओं को तैयार किया—

"चातुर्होत्रं कर्मशुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्। व्यदधाद्यज्ञसंतत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्॥"

(भा०, १ स्क०, ४ अ०)

वेदों की संहिताओं के निर्माता होने के कारण से ही कृष्णमुनि को 'वेदव्यास' कहते हैं। 'वेदान् विव्यास यस्मात् स वेदव्यास इतीरितः', 'तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदान् महामतिः' (महाभारत)। इस प्रकार वेदव्यास ने संहिताओं का संकलन कर अपने चार शिष्यों को उन्हें पढ़ाया। 'पैल' ऋग्वेद-संहिता के ज्ञाता हुए, कवि 'जैमिनि' साम के, 'वैशम्पायन' यजुः के तथा दारुण 'सुमन्तु' मुनि अथर्व के—

"तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः। वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत।
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः॥" (भा०, १ स्क०, ४ अ०)

इन मुनियों ने अपनी संहिताओं का खूब अध्ययन किया—इनमें पारङ्गत हो गये। तब उन्होंने अपने शिष्यों को ये संहिताएं पढ़ाईं। ऋषियों की शिष्य-परम्परा बड़ी चढ़ी-बढ़ी थी। इन सब शिष्यों के नाम भागवत, द्वादश स्कन्ध, छठे अध्याय में विस्तार के साथ दिये गये हैं। इस छोटे

से लेख में सबके नामोल्लेख का स्थान नहीं, जिज्ञासु पाठक भागवत पढ़कर अपनी जिज्ञासा-वृत्ति को तृप्त करें। शिष्यों ने अपने-अपने शिष्य तैयार किये तथा संहिताओं का अध्यापन-क्रम अक्षुण्ण रखा। इस प्रकार वेदव्यास की बृहती शिष्य-परम्परा होने से कालान्तर में वेदों की अनेक शाखाएं हो गईं। यदि ये सब शाखाएं इस समय मिलतीं तो हम इनकी पृथक्-पृथक् विशेषताओं का सूक्ष्म परिचय पा सकते। परन्तु आजकल कतिपय शाखाएं ही उपलब्ध हैं, जिससे इनकी विशिष्टताओं का पूरा ज्ञान हमें नहीं हो सकता। उपलब्ध शाखाओं की परीक्षा से हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि इन शाखाओं में कहीं-कहीं उच्चारण के विषय में भेद था तो कहीं-कहीं किन्हीं मन्त्रों को संहिता में ग्रहण करने के विषय में। पहले यह शाखा-विभाग संख्या में अल्प ही होगा, परन्तु ज्यों-ज्यों इनका अध्ययन-अध्यापन बढ़ता गया, त्यों-त्यों शाखाओं की संख्या में वृद्धि होती गयी।

शाखाओं की संख्या—

वैदिक शाखाओं की संख्या के विषय में मतभेद दिखाई पड़ता है। महामुनि शौनक-कथित 'चरण-व्यूह' नामक परिशिष्ट-ग्रन्थ में ऋग्वेद की ५ शाखाओं का उल्लेख मिलता है, यजुर्वेद की ८६ शाखाओं का, साम की १००० शाखाओं का तथा अथर्व की ९ शाखाओं का। परन्तु महाभाष्य-कार भगवान् पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में ऋग् की २१ शाखाओं का, यजुर्वेदकी **१००** शाखाओं का, साम की १००० शाखाओं का तथा अथर्ववेद की ९ शाखाओं का उल्लेख, शब्द-प्रयोग का विस्तार दिखाने के लिये किया है—"**उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् शब्दस्य प्रयोग-विषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः, एकशतमध्वर्यु-शाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाथर्वणो वेदः।**" (पस्पशाह्निक, महा-भाष्य)। इस प्रकार पतञ्जलि के कथनानुसार वैदिक शाखाओं की संख्या एक हजार एक सौ तीस (२१+१००+१०००+९=११३०) है। महाभारत के शान्तिपर्व में भी शाखाओं की संख्या का उल्लेख है, जो अधिकतर महाभाष्य के वर्णन से मिलता है। पहले कहा जा चुका है कि धीरे-धीरे शाखाओं की वृद्धि हुई होगी, एक समय में ही तो इतनी शाखाओं की उत्पत्ति नहीं हो गयी होगी। संख्याओं की भिन्नता का यही कारण हो सकता है।

उपलब्ध शाखाएं—

पूर्वोक्त वर्णन से पाठक समझ सकते हैं कि वेदों का विस्तार कितना था, इनका अध्ययन और अध्यापन कितना होता था, इनके पढ़नेवालों की संख्या कितनी बढ़ी-चढ़ी थी, परन्तु आज-कल उपलब्ध शाखाओं की ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब अपनी दयनीय दशा का विचित्र चित्र सामने खड़ा हो जाता है। भगवन्! जिन वेदों की इतनी शाखाएं थीं—जिनका इतना सुचारु विस्तार था, उनकी वह गरिमा कहाँ लुप्त हो गयी, इतनी शाखाओं का विस्तार कहां चला गया, क्योंकर उच्छिन्न हो गयीं! समय के प्रवाह ने बहुतों को बहा डाला। आजकल बहुत ही कम शाखाएं उपलब्ध होती हैं।

ऋग्वेद की शाखाएं—

चरणव्यूह में ऋग्वेद की केवल ५ ही शाखाओं का नाम-निर्देश है—

(१) शाकल, (२) वाष्कल, (३) आश्वलायन, (४) शाङ्खायन, (५) माण्डूकायन। एक प्राचीन श्लोक में, इन पांचों का नाम, कुछ दूसरे ही प्रकार से मिलता है—

"शिशिरो वाष्कलः सांख्यो वात्स्याचैवाश्वलायनः ।
पञ्चैते शाकलाः शिष्याः शाखाभेदप्रवर्तकाः ॥"

इस पद्य में शिशिर, वाष्कल, सांख्य, वात्स्य तथा आश्वलायन शाकल के शिष्य बतलाये गये हैं, परन्तु चरणव्यूह में यह बात नहीं मिलती। जो कुछ भी हो, आजकल तो ऋग्वेदियों की केवल एक ही शाखा उपलब्ध होती है, वह है आश्वलायन शाखा। इस शाखा के माननेवालों में महाराष्ट्र-ब्राह्मणों की ही प्रधानता है। काशी में अधिकांश महाराष्ट्र-ब्राह्मण आश्वलायन शाखा के पाये जाते हैं। केवल उन्हीं लोगों में इस शाखा का अध्ययन-अध्यापन है। उत्तरीय भारत के अन्य प्रान्तों में, इस शाखा के ब्राह्मण नहीं के बराबर हैं।

सिद्धान्त तो यह है कि जितनी शाखाएं होंगी, उतनी ही होंगी संहिताएं, उतने होंगे ब्राह्मण, उतने ही आरण्यक और उतनी ही होंगी उपनिषदें। श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र भी उतने ही होंगे। शाखा के अध्येतृगण अपने सब वैदिक ग्रन्थ पृथक्-पृथक् रखते थे, प्रत्येक शाखा के ब्राह्मण अपने विशिष्ट श्रौतसूत्र से अपना श्रौतकार्य सम्पादन किया करते थे तथा इस समय भी करते हैं। वे अपने गृह्य-संस्कार, अपने विशिष्ट गृह्यसूत्रों के अनुसार किया करते थे तथा आज भी करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक शाखा में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र अपने खास-खास होने चाहिये, परन्तु आज बहुत सी शाखाएं ऐसी हैं, जिनमें पूर्वोक्त वैदिक साहित्य के कतिपय ही अंश उपलब्ध होते हैं। किसी शाखा की अपनी संहिता है, तो दूसरे का ब्राह्मण, किसी का अपना ब्राह्मण है, तो दूसरे का श्रौत। इस प्रकार आजकल शाखाओं के उच्छिन्न हो जाने से तथा वैदिक साहित्य के लुप्त हो जाने से ऐसी विषमावस्था दीख पड़ रही है।

इसी कारण आश्वलायनों की अपनी संहिता नहीं। ऋग्वेद की केवल एक ही संहिता उपलब्ध होती है और वह है शाकल-शाखा की शाकल-संहिता। उसी संहिता को आश्वलायन शाखा-वाले अपनी संहिता मानकर पढ़ते हैं।

उनके अपने ब्राह्मण नहीं हैं। ऐतरेय शाखियों के ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ही आजकल आश्वलायन शाखियों को मान्य हैं। उनके पास हैं केवल अपने श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र।

आश्वलायन शाखा से सम्बद्ध वैदिक ग्रन्थ नीचे दिये जाते हैं—

शाकल-संहिता (शाकल—शाखा)

ऐतरेय-ब्राह्मण
ऐतरेय-आरण्यक } ऐतरेय-शाखा
ऐतरेय-उपनिषद्

आश्वलायन-श्रौतसूत्र
आश्वलायन-गृह्यसूत्र } आश्वलायन-शाखा

प्राचीन काल में शाङ्खायन शाखा थी। परन्तु आजकल यह शाखा बिल्कुल ही नहीं मिलती। इस शाखा से सम्बद्ध ग्रन्थों की सूची यों है—

शाकल-संहिता, कौषीतकि-ब्राह्मण, कौषीतकि-आरण्यक, कौषीतकि-उपनिषद्, शाङ्खायन-श्रौतसूत्र, शाङ्खायन-गृह्यसूत्र।

यजुर्वेद की शाखाएं—

यजुर्वेद की शाखाओं की संख्या महाभाष्य में पूरी एक सौ है। शौनक के चरण-व्यूह में केवल ८६ है। शौनक ने समग्र शाखाओं का नामोल्लेख नहीं किया है, केवल प्रधान-प्रधान शाखाओं का नाम भर दे दिये हैं। 'चरक' नामक शाखा सबसे विशिष्ट बताई गई है। पतञ्जलि ने लिखा है कि गांव-गांव में चरक शाखा पढ़ी जाती है, जिससे उनके समय में—विक्रम से २०० वर्ष पूर्व—इस शाखा की उत्तर भारत में प्रधानता जानी जा सकती है, परन्तु इस समय में तो इस शाखा का नाम भी कहीं नहीं सुना जाता, शाखाध्यायी ब्राह्मणों की कथा क्या कही जाय ! इस समय यजुर्वेद की ही सबसे अधिक शाखाएं मिलती हैं, जिनका विवरण तत्सम्बद्ध ग्रन्थों के साथ यहां दिया जायेगा।

यजुर्वेद के दो प्रधान भेद हैं—कृष्ण यजुर्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद। इन दोनों में अलग-अलग शाखाएं उपलब्ध होती हैं। कृष्ण यजुर्वेद में शाखाओं की संख्या सबसे अधिक है।

(क) कृष्ण यजुर्वेद की शाखाएं

(१) **कठशाखा**—प्राचीन काल में इसका बड़ा प्रचलन था। पतञ्जलि ने महाभाष्य में इसका नामोल्लेख किया है—**"अध्यगात् कठकालापम्"**। परन्तु आजकल इस शाखावाले ब्राह्मण तो अभी तक सुनने में नहीं आये। इस शाखा से सम्बन्ध रखनेवाले ग्रन्थ मिलते हैं तथा प्रकाशित भी हो गये हैं। इस शाखा की अपनी संहिता—**काठक-संहिता**—है, जिससे जर्मन वैदिक विद्वान् डाक्टर श्रोदर (Dr. Schroeder) ने जर्मनी में छपाया है। सर्वप्रसिद्ध **कठोपनिषद्** इसी शाखा की है। इसका अपना गृह्य—काठक गृह्यसूत्र भी है, जो Punjab Sanskrit Series में इधर छापा गया है। इसके ग्रन्थ हैं—काठकसंहिता, कठोपनिषद्, काठक-गृह्यसूत्र।

(२) **कठ-कपिष्ठलशाखा**—चरणव्यूह में कपिष्ठल कठशाखा का नाम दिया है, जिसे चरक शाखा के अन्तर्गत बताया गया है। आजकल इस शाखा की केवल संहिता ही मिलती है, परन्तु जहां तक लेखक को मालूम है, कापिष्ठलसंहिता अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है।

(३) **मैत्रायणीशाखा**—इसे कलापशाखा भी कहते हैं। चरणव्यूह में यह एक प्रधान शाखा मानी गई है। पतञ्जलि के समय में इसका प्रचुर प्रचार था—यह बात उनके "अध्यगात् कठकालापम्" आदि उदाहरणों से स्पष्ट जान पड़ती है। इस शाखावाले ब्राह्मण संख्या में बहुत ही कम हैं। वे प्रायः गुजरात तथा दक्षिण प्रदेश में कहीं-कहीं पाये जाते हैं।

इस शाखा के ग्रन्थ ये हैं—मैत्रायणी संहिता—जर्मनी में डाक्टर श्रोदर ने इसे छपाया है। मैत्रायणी उपनिषद्, मानव श्रौतसूत्र, मानव गृह्यसूत्र—अष्टावक्र मुनि के भाष्य के साथ बड़ोदे की Gaekwad Oriental Series में इधर छपा है। चरणव्यूह में मैत्रायणी शाखा के छ भेद दिये गये हैं। इन्हीं में **मानवशाखा** भी एक थी। मनुस्मृति का आधारभूत मानव धर्मसूत्र इसी शाखा का था। वाराहशाखा भी इसके अन्तर्गत थी, जिसका वाराह गृह्यसूत्र बड़ोदे के Gaekwad Oreintal Series में प्रकाशित किया गया है।

(४) **तैत्तिरीयशाखा**—चरणव्यूह में इस शाखा के प्रधानतया ५ भेद दिये गये हैं, जिसमें आजकल आपस्तम्बशाखा मिलती है। इस शाखा का भारत के बिल्कुल दक्षिण में खूब प्रचार है। तैलङ्ग तथा द्रविड़ ब्राह्मणों की यही शाखा है। इसका अध्ययन-अध्यापन दक्षिण में खूब होता है। इस शाखा से सम्बद्ध ग्रन्थ भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। हिरण्यकेशी शाखा इसी शाखा के अन्तर्गत है। इसको संख्या आपस्तम्बों से बहुत ही कम है। दाक्षिणात्यों में भी आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशी शाखाध्यायी ब्राह्मण हैं। काशी में आपस्तम्ब ब्राह्मणों को अच्छी मण्डली है। इस शाखा के ग्रन्थ ये हैं—तैत्तिरीय-संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, तैत्तिरीय उपनिषत्, आपस्तम्ब कल्पसूत्र (जिसके आरम्भ के २४ अध्यायों में आपस्तम्ब श्रौतसूत्र है, शेष ६ अध्यायों में गृह्यसूत्र आदि हैं), बौधायन-श्रौतसूत्र, हिरण्यकेशी कल्पसूत्र (सत्याषाढ़ कल्पसूत्र), भारद्वाज श्रौतसूत्र। ऊपर के वर्णन से पता चलता है कि कृष्ण यजुर्वेद की सबमें परिपूर्ण तथा प्राचीन शाखा तैत्तिरीय है। जितने इस शाखा के अध्येता मिलेंगे उतने कृष्णयजुः की किसी भी अन्य शाखा के नहीं। सच तो यह है कि कृष्णयजुः की यही सबमे प्रधान शाखा है। इस शाखावालों का उच्चारण माध्यन्दिनों से कहीं-कहीं मिलता है और कहीं-कहीं बिल्कुल भिन्न सा प्रतीत होता है। इस शाखावाले कहीं तो माध्यन्दिनों की तरह मूर्धन्य 'ष' को 'ख' उच्चारण करते हैं और कहीं नहीं।

(ख) शुक्ल यजुर्वेद की शाखाएं

इस वेद की दो शाखाएं उपलब्ध होती हं। (१) **माध्यन्दिन शाखा**—इस वेद की यही सबसे प्रधान शाखा है। माध्यन्दिनों की संख्या भी खूब है। उत्तरीय भारत के ब्राह्मण प्रायः इसी शाखा के माननेवाले हैं। प्रान्त का प्रान्त माध्यन्दिन-शाखावालों का मिलेगा। मिथिला-मण्डल में इस शाखावाले ब्राह्मणों की ही प्रधानता है। दाक्षिणात्यों में भी यह शाखा है। काशी के बहुत से महाराष्ट्र ब्राह्मणों की शाखा यही है। इस प्रकार उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के कतिपय भागों में माध्यन्दिन शाखा मिलती है। इस शाखा का उच्चारण तो प्रसिद्ध ही है। ये लोग मूर्धन्य 'ष' का 'ख' उच्चारण करते हैं। यह इनके उच्चारण की बड़ी विशेषता है। प्रसिद्ध 'पुरुष-सूक्त' के प्रथम मन्त्र 'सहस्रशीर्षा पुरुषः······' को जहां आश्वलायन शाखावाले गम्भीर स्वर से 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' उच्चारण करेंगे, वहीं माध्यन्दिन लोग 'सहस्रशीर्खा पुरुखः' उच्चारण करेंगे।

इस शाखा के सम्पूर्ण ग्रन्थ मिलते हैं। वे ये हैं—वाजसनेयी-संहिता, शतपथ-ब्राह्मण, बृहदारण्यक-उपनिषद्, कात्यायन-श्रौतसूत्र, पारस्कर-गृह्यसूत्र।

(२) **काण्व-शाखा**— इस शाखा का प्रचार आजकल बहुत ही कम है। काशी जैसे स्थान में काण्वशाखावाले ब्राह्मणों के पन्द्रह या बीस से अधिक कुल नहीं हैं। ये सब-के-सब दाक्षिणात्य ब्राह्मण हैं। काण्व शाखा के वे ही सब ग्रन्थ हैं जो माध्यन्दिन के, परन्तु कहीं-कहीं पार्थक्य मिलेगा। शतपथ ब्राह्मण जिसे काण्व लोग अपना करके मानते हैं, माध्यन्दिनों से कई अंशों में भिन्न है।

(३) सामवेद की शाखाएं

आजकल सहस्र शाखावाले सामवेद की तीन शाखाएं मिलती हैं—कौथुम, राणायनीय तथा जैमिनीय।

(१) **कौथुम-शाखा**— यह शाखा गुजरात में पाई जाती है। इसके माननेवाले इसी वेद की अन्य दोनों शाखाओं से संख्या में कहीं अधिक बढ़कर हैं। काशी में गुजराती ब्राह्मणों में श्रीमाली तथा नागर ब्राह्मणों में इस शाखा का खूब अध्ययन-अध्यापन है। यों तो बङ्गाल में भी कौथुम-शाखावाले बङ्गाली ब्राह्मण हैं, परन्तु वे गृह्यपद्धतियों को छोड़कर सामवेद का ज्ञान बहुत ही कम रखते हैं। गुजराती ब्राह्मण ही आजकल सामवेद के संरक्षक हैं। काशी के अनेक गुजराती ब्राह्मण साम के आचार्य हैं। परन्तु दुःख है कि दिन प्रतिदिन सामवेदियों की संख्या कम होती जाती है। आजकल की परिस्थिति के कारण प्रसिद्ध सामवेदियों के भी लड़के वेदाध्ययन छोड़ कर जीविका के लिये व्यापार का आश्रय ले रहे हैं। यह तो सभी वैदिकों की दशा है, सामवेदियों की विशेष-रूप से।

इस शाखा के ग्रन्थ हैं-संहिता, ताण्डय-ब्राह्मण, षड्विंश-ब्राह्मण, सामविधान-ब्राह्मण आदि अनेक ब्राह्मण, छान्दोग्य-उपनिषद्, मशक-कल्पसूत्र, लाटचायन श्रौतसूत्र, गोभिल गृह्यसूत्र।

(२) **राणायनीय-शाखा**—इसका प्रचार महाराष्ट्र में है। सुना है कि दक्षिण में सेतुबन्ध रामेश्वर की ओर इस शाखा के अध्ययन करनेवाले ब्राह्मण अभी हैं। इसका प्रचार कम है। कौथुम शाखा की संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद् इस शाखावालों को भी मान्य हैं। केवल श्रौत तथा गृह्यसूत्र इनका अपना खास है। श्रौत का नाम है—द्राह्यायण श्रौतसूत्र तथा गृह्य का खदिर गृह्य-सूत्र।

(३) **जैमिनीय-शाखा**—इसका प्रचार कर्णाटक देश में है। इस शाखा के माननेवालों की संख्या बहुत कम है। इस शाखा के ग्रन्थ भी अभी हाल में मिले हैं। इस शाखा की संहिता—जैमिनि संहिता—को यूरोपीय वैदिक विद्वान् डाक्टर कैलेण्ड (Dr. Caland) ने सम्पादन कर प्रकाशित किया है। इस शाखा के ग्रन्थ हैं—जैमिनि संहिता, जैमिनि ब्राह्मण, केनोपनिषद्, जैमिनि उपनिषद् ब्राह्मण, जैमिनि श्रौतसूत्र, जैमिनि गृह्यसूत्र।

(४) अथर्ववेद की शाखाएं

यदि देखा जाय तो जान पड़ेगा कि इसी वेद की प्राचीन काल में तथा आज भी सबसे कम शाखाएं हैं। प्राचीन काल में इस वेद की नौ शाखाएं थीं, परन्तु आजकल दो ही शाखाएं मिलती हैं, जिनमें एक केवल नाम मात्र की अवस्थिति धारण किये हुई है। इस वेद के ब्राह्मण तो इतने

कम हैं कि अंगुली पर गिने जा सकते हैं। अथर्ववेदी गुट्ट के गुट्ट कहीं न मिलेंगे। एक आध इधर-उधर भले ही मिल जाए। महाराष्ट्र तथा गुजराती ब्राह्मणों में अथर्ववेदी कभी थे, परन्तु आजकल यह वेद उच्छिन्नप्राय: होता जा रहा है। काशी जैसे वेदप्रधान स्थान में अथर्ववेदी ब्राह्मणों के दो चार ही कुटुम्ब होंगे और उनमें भी एक ही अथर्ववेदी नागर ब्राह्मण अपने वेद का अध्ययन-अध्यापन कराते हैं। काशी में एक ऋग्वेदी वैदिक अग्निहोत्री ने इस वेद को जिला रखा है। उन्होंने ऋग्वेदी होने पर भी अथर्ववेद का स्वयं अध्ययन किया है और बहुत से विद्यार्थी तैयार किये हैं। इन उत्साही वैदिक जी का नाम रामशास्त्री रटाटे है। ये महाराष्ट्र ब्राह्मण हैं तथा अन्य वेदों का भी अध्यापन कराते हैं।

(१) **पिप्पलाद-शाखा**—इस शाखा की संहिता है जिसकी भूर्जपत्रों पर शारदा-लिपि में लिखी एक ही प्रति काश्मीर में डाक्टर बूलर को मिली थी। यह हस्तलिखित प्रति जर्मनी में है। डाक्टर राथ ने इस प्रति के प्रत्येक पृष्ठ का फोटो लेकर इसे छपवाया है। पतञ्जलि के समय में यह शाखा खूब प्रचलित होगी क्योंकि महाभाष्य में दिया गया अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र 'शन्नो देवी-रभिष्टय, आजकल प्रचलित शौनक शाखा में नहीं मिलता, प्रत्युत वह पिप्पलाद शाखा के आरम्भ में उपलब्ध होता है। प्रश्नोपनिषद् इस शाखा से सम्भवतः सम्बन्ध रखती है। इसके सिवा इस शाखा की और कोई पुस्तक नहीं मिलती।

(२) **शौनक-शाखा**—अथर्ववेद की यह प्रचलित शाखा है। जो कोई अथर्ववेदी मिलता है, वह इस शाखा का होता है। इसकी संहिता शौनक-संहिता सायणाचार्य के भाष्य के साथ एस० पी० पण्डित (जो वेद के अच्छे ज्ञाता थे) ने वम्बई से चार जिल्दों में प्रकाशित किया है। इस शाखा के ग्रन्थ ये हैं—शौनक-संहिता, गोपथ-ब्राह्मण, मुण्डक आदि उपनिषद्, वैतान-श्रौतसूत्र, कौशिक-गृह्य-सूत्र।

जहां इन विभिन्न-शाखावाले ब्राह्मणों की वसन्त पूजा होती है और जब वैदिकगण अपने-अपने सवनों में वेदमन्त्रों का पाठ करने लगते हैं तब एक विचित्र दृश्य दिखाई देता है—अजीब समा बंध जाता है। कहीं पर आश्वलायनों के शान्तिमय गाम्भीर्य के साथ पढ़े गये मन्त्रों को सुनकर मन गम्भीरता का अनुभव करने लगता है तो कहीं माध्यन्दिनों के हस्त-सञ्चालन से संवलित मन्त्र-पाठ को सुनकर चित्त कर्मठजन समुचित विचित्र चञ्चलता को धारण करने लगता है। कहीं कौथुमों के ललित-स्वरलहरी-विभूषित साम-गायन को सुनकर मन में आनन्द की तरङ्गें उठने लगती हैं तो कहीं आपस्तम्बों के प्रौढ़-मन्त्र-पाठ के सुनने से आकाश में गड़गड़ाहट की आवाज सी मालूम पड़ने लगती है। कहीं काण्वों के सुभग-मन्त्र-पाठ से चित्त रीझता है तो कहीं अथर्व-वेदियों की स्वरभङ्गी में एक अत्यन्त आह्लादमयी विचित्रता मालूम पड़ती है। ध्यान से मन्त्र-पाठ को सुननेवाले ही इसका पूरा मर्म समझ सकते हैं—आनन्द उठा सकते हैं। यह शब्दों के द्वारा ठीक-ठीक प्रकट नहीं किया जा सकता। जिन लोगों ने कभी वसन्त-पूजा में वैदिकों का मन्त्र-पाठ नहीं सुना है, उन्हें उस समय होनेवाले मानसोल्लास की बात कैसे बताई जा सकती है! मन्त्र-पाठ का प्रभाव श्रोताओं पर सद्यः होता है। पूरा वायुमण्डल परिवर्तित-सा जान पड़ता है। पाठक स्वयम् अनुभव कर इसकी सत्यता समझ सकते हैं।

संक्षेप में वैदिक शाखाओं का यह एक सामान्य विवरण है। विशिष्ट विवरण के लिये एक पूरी पुस्तक लिखी जा सकती है। वेद के प्रेमी सज्जनो! देखिये, वेद भगवान् से हम कैसे विमुख होते चले जाते हैं! जहां प्राचीन काल में ग्यारह सौ तीस शाखाएं थीं वहां आज केवल बारह शाखाएं हैं और वे भी बड़ी कठिनता से उपलब्ध हो रही हैं। समय की गति को देखते हुए हमें तो सन्देह हो रहा है कि निकट भविष्य में न जाने कितनी शाखाएं उच्छिन्न हो जायँगी। वेद भगवान् की हम शिक्षित कहलानेवाले हिन्दू जैसे अवहेलना कर रहे हैं, वेदाध्ययन करनेवाले वैदिकों को हम जिस अनास्था की दृष्टि से देखते हैं, वैदिक साहित्य की ओर जैसी हमारी अनादर-बुद्धि है, उसे देखते हुए तो वेदाध्ययन के लिये भविष्य बहुत ही अन्धकारमय मालूम पड़ता है। भगवान् हम हिन्दुओं को सुबुद्धि दें, हम अपने धर्म-ग्रन्थों का महत्त्व समझें, वेद भगवान् का परिचय प्राप्त करें, उनका प्रगाढ़ अध्ययन कर अपने को कृतकृत्य बनावें तथा अपनी सन्तान को सदाचार तथा सुधर्म के सुन्दर मार्ग पर चलने के लिये तैयार करें। ईश्वर करें—वह शुभ दिन शीघ्र ही आवे।

[गङ्गा-वेदाङ्क—जनवरी १९३२]

वेद की व्याख्या और उसकी परम्परा

[ले०— प्रिन्सिपल विधुशेखर भट्टाचार्य एम०ए०, आचार्य, शान्तिनिकेतन, बोलपुर, बीरभूम]

वेद-मन्त्रों की व्याख्याएं कहां तक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के भावों को स्पष्ट करने में समर्थ हुई हैं, इस बात को समझने के लिये एक जीवित कवि का ही उदाहरण लीजिये। विश्वविख्यात कवि रवीन्द्रनाथ की एक रहस्य-वाद की कविता को यदि भिन्न-भिन्न देश और भिन्न-भिन्न प्रकार की रुचि के विद्वानों को व्याख्या करने के लिये दिया जाय, तो नाना प्रकार के अर्थ प्राप्त होंगे। कोई भी अर्थ दूसरे अर्थ के साथ सम्पूर्णरूप से मेल नहीं खायेगा। यह सम्भव है कि एक व्याख्या का कुछ अंश अन्य व्याख्या के कुछ अंश से मिल जाय, परन्तु विभिन्नता कुछ न कुछ रहेगी ही। अब यदि कल्पना की जाय कि प्रत्येक व्याख्याकार अपने-अपने शिष्यों को अपनी-अपनी व्याख्या पढ़ावे और वे शिष्य भी उसी व्याख्या को अपने शिष्यों को पढ़ाते जायें, तो अन्त में जाकर एक ही कविता की अनेक व्याख्याएं, परम्परा-क्रम से, चल पड़ेंगी, जिन में कोई भी किसी से कम प्राचीन नहीं कहलायगी। परन्तु इसीलिये यह नहीं कहा जा सकता कि कवि का भाव वही है, जो अमुक व्याख्याकार ने लिखा है, या वे सभी हैं, जो सभी व्याख्याताओं ने बताये हैं।

यह जरूरी नहीं कि कोई कवि अपनी कविता की व्याख्या भी कर दे। कवि का काम कविता कर लेने के बाद समाप्त हो जाता है। परन्तु कल्पना कर भी ली जाय कि किसी कवि ने अपनी कविता का भाव अपने साथियों में प्रकट कर दिया, तो यह सम्भव नहीं कि सुननेवाले शब्दशः उसे समझ लें। और यदि समझ भी लिया, तो दूसरी बार उसी भाव को व्याख्या के रूप में, शिष्य को उपदेश करते समय, सम्भव है कि बहुत कुछ उसे भूल जाय। उसका शिष्य अपने शिष्य को उपदेश देते समय भी कितनी ही बातें भूल कर

अन्य कितनी ही नयी बातों का सम्मिश्रण कर सकता है। इस प्रकार कवि का प्रकट किया हुआ एक ही भाव नाना आकार धारण कर सकता है। पर क्या जोर देकर कहा जा सकता है कि अमुक व्यक्ति ने जो समझा है, वही कवि का ठीक तात्पर्य है, क्योंकि समझनेवाले के गुरु या दादा गुरु ने कवि के मुंह से उस व्याख्या को सुना है ? कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता के बारे में सचमुच ही ऐसी बात हुई है। कवि ने अपनी कविता का जो भाव बताया था, सुननेवालों ने उसे विभिन्नरूपों में ग्रहण करके विभिन्न व्याख्याएं की हैं।

कौन कह सकता है कि वेद के मन्त्रों के बारे में यही बात ठीक नहीं है ? जब एक जीवित कवि के बारे में उक्त प्रकार की घटनाएं घट सकती हैं, तब कैसे मान लिया जाय कि मन्त्र-द्रष्टाओं के भावों के विषय में हजारों वर्ष बाद की लिखी गयी व्याख्याएं ठीक ही हैं ?

बात को स्पष्ट करने के लिये हम कुछ मन्त्र उपस्थित करते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि (ऋग्वेद १०।७१।४) ने स्वयम् इस कठिनाई के बारे में कहा है—

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।"

"इस वाणी को देखकर भी कोई नहीं देखता, सुनकर भी नहीं सुनता।"

स्वयं यास्क (निरुक्त १।२०) की बातों से ही यह बात स्पष्ट होती है कि ऐसे ऋषि थे, जिन्होंने स्वयं धर्म का साक्षात्कार किया था, पर बाद के आचार्यों ने जिन्हें एक व्याख्याकार ने 'श्रुतर्षि' कहा है, परम्परागत व्याख्याओं को सुनकर व्याख्या की है। 'श्रुतर्षि' पद से जाना जाता है कि, ये ऋषि मन्त्रों का साक्षात्कार नहीं कर सके थे, बल्कि उनकी व्याख्याओं को पुराने आचार्यों के मुंह से सुना भर था। 'पुरुषविद्या' के अनित्य होने के कारण यह एक दम स्वाभाविक था, जैसा कि यास्क ने स्वयं प्रकट किया था।

ऋग्वेद के 'अस्यवामीय' सूक्त के एक मन्त्र को उदाहरणार्थ यहां दिया जाता है। यह सूक्त उक्त वेद के प्रथम मण्डल का १६४ वां सूक्त है। उसका ३२ वां मन्त्र इस प्रकार है—

"य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरिगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश॥"

वह, जिसने उसे बनाया, उसके बारे में कुछ नहीं जानता, जिसने उसे देखा, वह उसकी नजरों से बाहर है, वह माता के गर्भ में आकर बहुत सन्तान उत्पन्न करके "निर्ऋति" में प्रवेश कर गया।

इस मन्त्र के चतुर्थ चरण में जो 'निर्ऋति' शब्द है, उसके दो अर्थ हैं—दुःख और पृथ्वी। अब देखना है कि व्याख्याकार इसका क्या अर्थ करते हैं। कुछ के मत से मन्त्र का भाव है कि जिसकी अनेक सन्तानें हैं, वह दुःख में पड़ता है। पर अन्य लोगों का मत है कि यह मन्त्र वर्षा ऋतु को लक्ष्य करके कहा गया है। पहले प्रकार के व्याख्याकार हैं परिव्राजक-गण—यानी घूमनेवाले संन्यासी। और दूसरा मत है नैरुक्तों का (निरुक्त के जाननेवालों का)। यास्क ने दोनों के मतों को दिया है (निरुक्त २।८)।

एक दूसरा रहस्यवाद का मन्त्र है (ऋ० ४।५८।३)—

**"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यां आविवेश ॥"**

'चार इसकी सींगें हैं, तीन इसके चरण हैं, दो इसके सिर हैं और सात इसके हाथ हैं। तीन तरह से बंधा हुआ यह बलवान् (अर्थ की वर्षा करनेवाला) जोर से चिल्ला रहा है, महादेव ने मरणधर्मा (वस्तुओं) में प्रवेश किया।'

यह महादेव कौन है ? निरुक्त परिशिष्ट (१३।७) के अनुसार किसी का मत है कि वह यज्ञ है। चारों वेद उसकी चार सींगें हैं, तीन पैर तीनों 'सवन' (सोम का रस निकालने के तीन समय) हैं, दो सिर हैं, दो हवन और सात हाथ सातों छन्द हैं। 'तीन तरह से बंधा' का अर्थ है कि वह मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प से नियमित किया गया है।

दूसरों का मत है कि वह सूर्य है। चार सींगें चारों दिशाएं हैं, तीन पैर तीनों वेद हैं, क्योंकि तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।१२।९।१) के अनुसार सूर्य की गति का सम्बन्ध तीनों वेदों से है, दो सिर हैं, दिन और रात, सात हाथ हैं, सूर्य की सात किरणें, 'तीन तरह से बंधा है' का अर्थ या तो तीन प्रदेश (पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक) हैं या तीन ऋतु (ग्रीष्म, वर्षा और शीत) है।

यहां पर महर्षि पतञ्जलि के उस मत का उल्लेख कर देना भी हम उचित समझते हैं, जो उन्होंने पाणिनीय सूत्र (१।१।१) पर भाष्य लिखते समय, लिखा है। उनके मत से इस मन्त्र का महादेव 'शब्द' है। चार सींगें चार प्रकार के शब्द हैं (नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात), तीन पैर तीन काल हैं (वर्तमान, भूत, भविष्य), दो सिर हैं दो प्रकार की भाषाएं, नित्य और कार्य, सात हाथ हैं सात विभक्तियां और 'तीन तरह से बंधा है' का अर्थ है कि शब्द तीन अंगों से उच्चारित होता है—हृदय, गले और मुख से।

इसके सिवा यदि आप सायण की व्याख्या को देखेंगे, तो उसमें अन्य भी कई तरह की व्याख्याएं देखने को मिलेगीं। अवश्य ही सबके लेखक सायण ही नहीं हैं।

इस प्रसंग में एक और मन्त्र हम उद्धृत करना चाहते हैं—

**"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥** (ऋ० १।१६४।४५)

'वाणी को चार भागों में विभक्त किया गया है, मनीषी ब्राह्मण इसको जानते हैं। इनमें से तीन को तो गुहा में रखा गया है, केवल चौथे विभाग की वाणी को ही मनुष्य बोलते हैं।'

अब सवाल यह है कि ये चार विभाग कौन से हैं। अगर आप निरुक्त-परिशिष्ट (१३।९) तथा सायण को देखेंगे तो विभिन्न सम्प्रदायों की सात व्याख्याएं पायेंगे। एक व्याख्या स्वयं महाभाष्यकार पतञ्जलि (पा० १।१।१) ने की है।

यहीं तक नहीं, वेद के किसी भी शब्द तक पर इसी प्रकार की नाना व्याख्याएं हैं। उदाहरणार्थ 'अश्विनौ' को ही लीजिये। यास्क (१२।१) कहते हैं कि ये 'अश्विनौ' कौन हैं ? स्वः और

पृथ्वी, यह एक मत है, दिन और रात यह दूसरा मत है, सूर्य और चन्द्रमा यह तीसरा मत है और ऐतिहासिकों का कहना है कि ये दो धर्मात्मा राजा थे।

यास्क ने कम से कम ८, ९ मतों की चर्चा की है। इनमें वैयाकरण, नैदान, परिव्राजक, ऐतिहासिक आदि हैं। साथ ही कम से कम डेढ़ दर्जन विभिन्न पन्थों के समर्थक आचार्यों का नाम भी लिया है। कोई कारण नहीं है कि इन विभिन्न मतवादी आचार्यों में से किसी के मत को हम अप्रामाणिक कह सकें। उदाहरण के लिये 'अश्विनौ' शब्द के 'स्वर्ग और पृथिवी' अर्थ को लीजिये, यह मत शतपथ-ब्राह्मण (४।१।५) में पाया जाता है और इसी जगह उसके मत का समर्थन भी पाया जा सकता है, जिसे स्वयं यास्क ने लिखा है।

गलत हो या सही, काल्पनिक हो या यथार्थ, निरुक्त की बहुत सी व्याख्याएं ब्राह्मणों के आधार पर हैं। निरुक्त (२।१७) में 'वृत्र' शब्द की जो व्याख्या दी गई है, वह ब्राह्मणों में उसी प्रकार आयी है।

जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि ये सभी व्याख्याएं परम्परा-प्राप्त हैं। पर सवाल यह है कि क्या विना 'ननु नच' के स्वीकार कर लिया जाय कि ये सभी व्याख्याएं ठीक हैं क्योंकि परम्परा से प्राप्त हैं? ऋषि ने, जिन्होंने उक्त मन्त्रों को साक्षात् किया था; क्या ये सभी भाव समझे थे? निश्चय ही उनका मतलब किसी एक ही अर्थ से होगा। वादरायण के ब्रह्म-सूत्र की केवल एक ही व्याख्या उनको अभीष्ट होगी— वह द्वैतवाद की हो, अद्वैतवाद की हो, द्वैताद्वैत या विशिष्टाद्वैत की हो या अन्य किसी वाद की हो। पर यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने सभी वादों को प्रकट करना चाहा था और न यही कहा जा सकता है कि उन्होंने इन सभी मतवादों का समन्वय करना चाहा था। हमारा लक्ष्य सत्य अर्थ को प्राप्त करना है। पर ऐसी परिस्थिति में सत्य अर्थ को बाहर कर लेना कुछ हंसी-खेल नहीं है। अस्तु। हमें कोशिश करनी चाहिये कि जहां तक हम सत्य अर्थ के नजदीक जा सकें, जाएं।

इस प्रकार के प्रयत्न में निरुक्त कुछ दूर तक हमारी सहायता कर सकता है। उसी 'अस्य वामीय सूक्त' (ऋ० १।१६४।३९) पर तीन प्रकार की व्याख्याएं (देवता, यज्ञ और आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाली) देकर निरुक्त कहता है (१३।११)—

'अयं मन्त्राभ्यूहोऽभ्यूढ्होऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतः।'

'मन्त्र का यह विचार परम्परागत अर्थ के श्रवण और तर्क से निरूपित किया गया है।'

'न तु पृथक्त्वेन मंत्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः।'

'मन्त्रों की व्याख्या पृथक्-पृथक् करके न होनी चाहिये, बल्कि प्रकरण के अनुसार होनी चाहिये।'

'न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा।'

'जो मनुष्य ऋषि भी नहीं, तपस्वी भी नहीं, वह इन मन्त्रों से अर्थ का साक्षात्कार नहीं कर सकता।'

'पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति इत्युक्तं पुरस्तात्॥'

'यह पहले ही कहा गया है (निरुक्त १।१६) कि परम्परागत ज्ञान प्राप्त करनेवालों में वही प्रशस्त (श्रेष्ठ) है, जिसने ज्यादा अध्ययन किया है।'

इसके बाद निरुक्तकार ब्राह्मण से उद्धृत इस अंश को लेकर तर्क की आवश्यकता सिद्ध करते हैं—

"मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यति इति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढ्हम्॥ तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति॥"

'ऋषिगण के चले जाने पर मनुष्यों ने देवताओं से पूछा कि हम लोगों का ऋषि कौन होगा? उन्होंने उन्हें मन्त्रार्थ का विचार करने के लिये इस तर्क (रूप) ऋषि[1] को दिया, इसलिये वेदज्ञ मनुष्य जो कुछ निश्चय करता है वह आर्ष ही होता है।'

इस प्रकार तीन साधन हैं जिनके द्वारा वेदों का अर्थ जाना जा सकता है। (१) श्रुति— आचार्यों के मुख से परम्परा से सुना हुआ ज्ञान या इस प्रकार के ज्ञान के संग्रह-ग्रन्थ (ब्राह्मणादि), (२) तर्क और (३) तपः जिसका अर्थ हमारी समझ में Severe meditation (गम्भीर ध्यान)[2] करना चाहिये। मूरने पहले से ऐसा ही किया भी है।

अवश्य ही इन साधनों के लिये वेदाङ्गों (ज्योतिष, व्याकरण, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्दः) का आवश्यक ज्ञान जरूरी है।

यहां तक हमने वेद के विभिन्न व्याख्याताओं के मतभेद देखे। पर यह बात वेद को ही लेकर नहीं है। संसार के सभी देशों में और सभी कालों में ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा को लेकर ऐसा ही मतभेद पाया जाता है। इस प्रकार के विभिन्न व्याख्यानों से अर्थ अत्यन्त अस्पष्ट हो उठता है। पर क्या इससे ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की उन्नति नहीं होती? ज्ञान का विकास ही जीवन का चिह्न है और जीवन स्वयं परिवर्तन में रहता है। जहां परिवर्तन नहीं, वहां जीवन कैसा? इन भिन्न-भिन्न व्याख्याओं के सतत विकास से देखा जाता है कि 'ब्राह्मण' का मस्तिष्क, जिसने विद्या की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया था, सदैव सक्रिय है। हालांकि विद्या हर हालत में अपने

---

१. इस स्थान पर बुद्धदेव का एक वचन स्मरण हो आता है (महापरिनिब्बान सुत्त ६।१)—"भगवान् ने आयुष्मान् आनन्द से कहा—'आनन्द सम्भव है कि तुम लोगों में से कुछ को सन्देह हो सकता है कि भगवान् के उपदेश अब समाप्त हुए और अब हम लोगों को उपदेश देनेवाला कोई नहीं रह गया! .....सत्य और संघ के नियम ही जिन्हें मैंने तुम सब लोगों के लिये बनाया है, अब से तुम लोगों के उपदेशक रहेंगे। (भाषानुवाद)

सिक्खों के अन्तिम गुरु गुरुगोविन्द सिंह के मृत्युकालीन शब्दों को भी जिनके द्वारा उन्होंने अपनी मृत्यु के बाद 'ग्रन्थ साहब' को गुरु मानने का उपदेश किया था, यहां पर स्मरण किया जा सकता है।

२. इस अर्थ के समर्थन में माण्डूक्य उपनिषद् (१।१।९) का निम्नाङ्कित वाक्य उद्धृत किया जा सकता है—'यस्य ज्ञानमयं तपः।' (छान्दोग्य० ४।२।३) के 'ऐक्षत' पद को भी यहां तुलनार्थ उपस्थित किया जा सकता है।

मौलिकरूप में नहीं रह सकी है। वह सदा।जीवन-धर्म के अनुसार बाहर से परिवर्तित होती रहती है, पर उसका भीतरी रूप निःसन्देह ज्यों का त्यों है। हम लोगों को उसका मूल रूप प्राप्त करने के लिये कुछ कष्ट अवश्य सहना पड़ेगा। साथ ही हमको याद रखना चाहिये कि बहुत कम मन्त्रों के बारे में हमें तरद्दुद उठानी पड़ती है। अधिकांश के बारे में निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यास्क तक के सभी प्रकार के व्याख्यान मौलिकरूप में सुरक्षित हैं। यास्क के बाद की क्रमबद्ध व्याख्यानमाला भी हमको प्राप्त है।

परम्परा के बारे में एक और बात आपके सामने रखी जाती है। वेदान्तिकों के अनुसार तीन प्रस्थान हैं जिनके द्वारा अर्थ-निर्णय किया जाता है। वे हैं—श्रुति, स्मृति और सूत्र। जब कोई वेदान्त-वाक्य श्रुति (वेद) और सूत्र (बादरायण-वेदान्तसूत्र) से निश्चित नहीं किया जा सकता, तब स्मृति (परम्परा-प्राप्त अर्थ) की सहायता ली जाती है। यह कहने में कोई आपत्ति नहीं कि वेद-वाक्यों के अर्थ भी स्मृति की सहायता से किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिये वाजसनेय-संहिता की ईशोपनिषद् को ही लीजिये—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥"

'कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। इस प्रकार से ही तुम्हारी सिद्धि होगी, अन्यथा नहीं। कर्म मनुष्य में लिप्त नहीं होता।'

इस पद्य की व्याख्या कहां है? क्या यह समूचे कर्मतत्त्व के साथ स्मृति (भगवद्गीता) के निम्नाङ्कित श्लोक को याद नहीं दिला देता?

"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥"

"कर्म मुझे लिप्त नहीं करते और कर्म-फल में मेरी स्पृहा (इच्छा) भी नहीं रहती। मुझे ऐसा जो जानता है, वह कर्म-बन्धन में नहीं बंधता।'

बृहदारण्यक (४।४।७) और कठ उपनिषदों (४।१४) का एक अन्य वाक्य लीजिये—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यथ ब्रह्म समश्नुते॥"

'जब इसके हृदय में स्थित सभी कामनाएं छूट जाती हैं, तब मरण-धर्मा (यह मनुष्य) अमृत (अमर) होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है।'

यहां भी हमें श्रीमद्भगवद्गीता (२।७१) का निम्नाङ्कित श्लोक स्मरण हो आता है और इससे उक्त मन्त्र की व्याख्या में आसानी पड़ती है—

"विहाय कामान् यः सर्वान् पुमाँश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥"

'जो मनुष्य सभी कामनाओं को छोड़कर निस्पृह भाव से ममता और अहङ्कार छोड़कर आचरण करता है, वही शान्ति पाता है।'

दूसरी तरह से विचार करके भी अगर हम देखें तो देख सकते हैं कि एक ही सत्य 'एकमेवाद्वितीयम्' वेद और उपनिषदों से गुजरता हुआ 'दुर्गा-सप्तशती' (मार्कण्डेय पुराण) के निम्नलिखित श्लोक से प्रकट हुआ है—

"एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैतां दुष्ट ! मय्येव विशन्ति मद्विभूतयः ॥"

'इस संसार में एकमात्र मैं ही हूं। मुझसे भिन्न दूसरी कौन है ? रे दुष्ट, देख, ये सारी मेरी विभूतियां मुझमें ही प्रवेश कर रही हैं।'

इस स्थान पर स्मृति में या तो हम वेदों के भाव ही विकसितरूप में पाते हैं या वेदों के परम्परा-प्राप्त अर्थ ही यहां प्रकट हुए हैं।

वेद और उसके बाद के साहित्य के इस सम्बन्ध को लेकर विशेष तर्क बढ़ाना व्यर्थ है। मतलब कहने का यह है कि पुराण, धर्मशास्त्र आदि परम्परा-प्राप्त अर्थों के भण्डार हैं और उनसे वेद की व्याख्या के बारे में यथेष्ट सहायता ली जा सकती है। पर दुर्भाग्यवश भारत और विदेशों के कुछ विद्वान् इस सम्बन्ध की उपेक्षा करते हैं। स्मृति की सहायता वेदों के अर्थ जानने के लिये ठीक वैसी ही है, जैसी लौकिक संस्कृति की सहायता वेदों की भाषा समझने के लिये। जिस प्रकार हम वैदिक और अवैदिक आर्यभाषा का मूल स्थान एक ही मानते हैं, वैसे ही वेद और पीछे के साहित्य का एक ही मूल स्थान मानना पड़ेगा। एक उदाहरण से इसको समझा जाय।

संस्कृत पाठशाला के एक नितान्त आरम्भ करनेवाले विद्यार्थी से, जिसने अमरकोष पढ़ा है, आप पूछिये तो वह कितने ऐसे शब्द कह जायेगा जो केवल वेदों में ही प्रयुक्त हुए हैं। वह 'मरुत्वत् (मरुतों से युक्त), शक्र (शक्तिशाली), शचीपति (शक्ति का स्वामी), शतक्रतु (सौ शक्तियोंवाला), वृत्रहन् (वृत्र को मारनेवाला), पुरन्दर' जो 'पूर्भिद्' (दुर्ग-भञ्जक) से बना है और वज्रभृत् (वज्रधारी) शब्दों को इन्द्र के अर्थ में व्यवहृत बतायेगा। इसी तरह 'वैश्वानर', 'जातवेदस्', 'तनूनपात्' और 'आशुशुक्षणि' शब्दों को अग्नि के अर्थ में प्रयुक्त बतायेगा। वायु के अर्थ में 'मातरिश्वन्' शब्द को बतायेगा। अधिक उदाहरण बढ़ाने की आवश्यकता नहीं। सार यह है कि इस जगह हम आंशिकरूप में पाठशाला में वेदों के अर्थ का संरक्षण पाते हैं।

वेदों की व्याख्या में इण्डो-यूरोपियन भाषाओं के तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को न तो भूला जा सकता है, न गौण स्थान दिया जा सकता है। पर कभी-कभी भाषा-विज्ञान के झोंक में उस शास्त्र का विद्वान् जरूरत से ज्यादा आगे बढ़ जाता है। वह सम्भावनाओं के ऐसे दलदल में फंस जाता है कि उस प्रकार की अवस्था से प्रत्येक व्यक्ति को सावधान रहना चाहिये। मेरे विचार से भाषा-विज्ञान और परम्परा को एक दूसरे के शोधक के रूप में रखना चाहिये। पर दुर्भाग्यवश कभी-कभी दृढ़ तर्क से समर्थित परम्परा को भी भाषा-विज्ञान की वेदी पर बलि दे दिया जाता है। इस बात को एक उदाहरण देकर दिखाया जाता है। यह सवाल बहुत पुराना है और कई विद्वान् इस पर अपना विचार प्रकट कर चुके हैं कि वेद-काल में लिङ्ग-पूजा थी या नहीं। प्रश्न उठने का कारण है ऋग्वेद में दो जगह (७।२१।५, १०।१०।९९) आया हुआ 'शिश्नदेव' शब्द। इसका पर-

म्परागत अर्थ है अब्रह्मचारी। सायण और यास्क दोनों ने इसका अर्थ 'अब्रह्मचर्य' किया है। इस अर्थ को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं है। 'देव' शब्द यहां आलङ्कारिक अर्थ में (देव जैसा) व्यवहृत हुआ है। वेद के 'पितृदेव', 'मातृदेव' आदि अनेक शब्द इसी श्रेणी के हैं। पर क्या उनका अर्थ माता को पूजनेवाला या पिता को पूजनेवाला है? तैत्तिरीय उपनिषद् (१।२) में 'पितृदेवो भव' इस अर्थ में नहीं आया। वहां उसका मतलब है कि पिता को देवता की तरह मानो। अन्य शब्दों का भी ऐसा ही अर्थ होना चाहिये। भगवान् शङ्कर का कहना है कि "देवतावद् उपास्या एते इत्यर्थः।"

एक और शब्द है 'श्रद्धादेव' जो तैत्तिरीय उपनिषद् तथा कई ब्राह्मणों में पाया जाता है। "Sanskrit Worterbuch" के लेखक के मत से इसका अर्थ है देवताओं पर विश्वास करनेवाला। यह समझना कि यह शब्द 'भरद्-वाज' की श्रेणी के समय के अन्तर्गत आवेगा, आवश्यकता से अधिक आशा रखना है, क्योंकि 'भरद्-वाज' का प्रथम पद शतृप्रत्ययान्त का रूप है। हमारी समझ में यह भी नहीं आता कि Eggeling ने (S. B. 1.1.4.5) इसका God-fearing (देव-भीरु) अर्थ कैसे किया। भाष्यकारों ने इसका अर्थ प्रायः श्रद्धालु ही किया है। इसका ठीक अर्थ सायण ने तैत्तिरीय-संहिता (७।१।८।२) में किया है। उनके मत से इसका अर्थ है 'श्रद्धा है देवता जिसकी, वह।' इसके बाद वे इतना और जोड़ देते हैं कि 'मतलब यह कि जैसा देवता में आदर होना चाहिये, वैसा ही जिसका आदर श्रद्धा में हो।'

इस व्याख्या से 'शिश्न-देव' शब्द का अर्थ हुआ कि 'शिश्न' ही है देवता जिसका (अब्रह्मचर्य)। अर्थात् यास्क का अर्थ ही ठीक है।

विदेशी विद्वानों को इस शब्द से भ्रम हो सकता है पर भारतीय विद्वान् इस प्रकार के शब्दों से परिचित हैं। उदाहरणार्थ 'शिश्नोदर-परायण' शब्द को ही लीजिये। 'शिश्नोदरतृप', 'शिश्नोदरम्भर' शब्द इसी अर्थ के हैं। अब परायण शब्द को देखिये। इसका अर्थ है 'अन्तिम शरण।' अब 'नारायण-परायण' (नारायण का भक्त) और 'कामक्रोध-परायण' (काम, क्रोध में गर्क) शब्दों के साथ इसकी तुलना कीजिये।

भाषा-विज्ञान पर कभी-कभी अत्यधिक अवलम्बित रह कर परम्परा को भुला दिया जाता है। हम ऋग्वेद (१०।१२१) के तथाकथित अज्ञात देव को, जिसके लिये बार-बार आया है कि **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'** उदाहरणार्थ लेते हैं। विद्वानों ने नाना प्रकार से इस पर विचार किया है और 'कस्मै' का प्रश्नवाचक अर्थ (किसके लिये ?) किया है। पर हम पूछते हैं कि परम्परा-प्राप्त अर्थ, जो 'क' को प्रजापति का पर्याय बताता है, किस बुनियाद पर अस्वीकार किया जाता है? 'कस्मै' पद की पूर्ति के लिये 'तस्मै' पद का अध्याहार सायण की भांति क्यों न कर लिया जाय? जब कि ऋग्वेद के अनेक स्थलों (१,८५,१,४; ७,३६,४,६; ३६, ५; ८८, ७; ६१, ६; १०४, ८) पर (यत्) के लिये 'तत्' का अध्याहार किया गया है। संहिताओं और ब्राह्मणों में अनेक जगह 'क' शब्द प्रजापति और प्रश्न-वाचक दोनों रूपों में आया है और ब्राह्मण के ऋषियों के अनुसार दोनों ही 'अनिरुक्त' (जिनकी व्याख्या नहीं की गयी है) हैं। मतलब यह कि दोनों ही निश्चित रूप से नहीं जाने जाते हैं कि 'यह' ही (इदम्) है या 'इसके समान' (ईदृक्) है।

जिस प्रकार प्रश्नवाचक 'क' (किम्) की निरुक्ति नहीं हो सकती, वैसे ही प्रजापति के बारे में भी 'इदम्' या 'ईदृक्' नहीं कहा जा सकता। जब हम इस बात का विचार करते हैं कि वे किस प्रकार विचार प्रकट करते थे कि 'क' और 'प्रजापति' एक ही अर्थ में व्यवहृत हुए हैं, तब ये अर्थ बिलकुल ठीक जंचते हैं।

किसी शब्द की व्युत्पत्ति पर अधिक जोर देना बड़ी भारी भूल है. विशेषत: जब कि हम कितनी ही व्युत्पत्तियों के बारे में अनिश्चित से हैं। एकाध उदाहरण लेकर देखा जाय।

"**ब्रह्म व ऋत्विक् कुरूनश्वाभिरक्षति।**" (छान्दोग्य ४।१७।१०) यहां भाषा-विज्ञानियों के प्रसिद्ध आचार्य Bohtlings और Roth 'अ-श्वा' शब्द में 'न' (या 'अ') का अर्थ 'सादृश्य करके इस पद का अर्थ 'कुत्ते की तरह' (Wieein Hund) करने में जरा भी आगा-पीछा नहीं करते! हम भी कहते हैं कि इसका अर्थ और कुछ नहीं वल्कि सीधे 'अश्व' शब्द के तृतीया एकवचन 'अश्वा' (अश्वेन) का जो अर्थ है, वही है।

परम्परा-प्राप्त अर्थ या भाव को छोड़कर शाब्दिक अर्थ का अनुसरण करना खतरनाक है। उदाहरण लीजिये—Rahder जो न केवल संस्कृत के ही बल्कि तिब्बती, चीनी, मंगोलियन आदि भाषाओं के विद्वान् हैं 'दशभूमिक सुत्त' नामक बौद्ध ग्रन्थ (Introduction, Acta Orientalia, Vol IV, P. 218) में प्रसिद्ध बौद्धशब्द 'ब्रह्म-विहार' का अर्थ करते हैं Brahma-hall!, इस शब्द का अर्थ है मन की अत्युत्कृष्ट शान्त अवस्था जो कि मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना से होती है।

पर हम लोगों को विशुद्ध भाषा-विज्ञान की पद्धति की ओर से एकदम आंख नहीं मूंद लेनी चाहिये। हम यहां Dr. L. D Burnett के अनुवाद से गीता के दो शब्दों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। 'हृषीकेश' का अर्थ आपने किया है 'खड़े-खड़े बालोंवाले' और 'गुड़ाकेश' का अर्थ 'लटवाले बालोंवाले'। 'हृषीका' शब्द इन्द्रिय अर्थ में संस्कृत में आया है सही, पर खूब ही विरल, पर 'गुड़ाका' शब्द 'निद्रा' अर्थ में हमने तो कोश के अतिरिक्त कहीं नहीं देखा।

स्वीकृत और प्रचलित अर्थ धातु-प्रत्यय-योगजात अर्थ से कहीं अधिक आवश्यक है (**रूढ़ि-र्योगाद् बलीयसी**)। पर व्युत्पत्ति हमको उस भाव का स्मरण कराती है जो शब्द के पीछे लगी हुई है और प्रचलित अर्थ उसके व्यवहार का सूचक है। नदी (नदन=आवाज करनेवाली) और धुनी (ध्वनि से बना हुआ) का प्रथम प्रयोग इसके आवाज करने के कारण ही हुआ होगा, पर आज हम जब इस शब्द का व्यवहार करते हैं, तब मूल अर्थ पर बिलकुल ध्यान नहीं जाता।

जब शब्द सर्व-साधारण द्वारा स्वीकृत हो जाता है तब उसका मूल (यौगिक) अर्थ अप्रधान हो जाता है। 'अग्नि' शब्द का अर्थ हम लोग आग ही समझते हैं, चाहे वह अग्र+नी, अग्नि या अग्र (अज्)+नि से ही बना हो या लैटिन Ignis या लिथुएनियन Ugnis या स्लैव Ogry से सम्बद्ध हो। स्कूल कालेजों के ९० फीसदी लड़के 'पश्यति' को 'दृश' धातु का ही रूप बतलायेंगे हालांकि उसका सम्बन्ध 'स्पृश' से है। सभी देश और सभी साहित्य में शब्दों का इस प्रकार का उपयोग होता है, जिनके मूल अर्थ किसी के ध्यान में नहीं रहते। ऐसी अवस्था में यह क्या आवश्यक नहीं कि व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ को ग्रहण करने के लिये पद-पद पर सावधानी से काम लिया जाय?

[गङ्गा-वेदाङ्क—जनवरी १९३२]

वेद, वेदार्थ और वैदिक देवता

[ले०—आचार्य आनन्दशङ्कर बापूभाई ध्रुव एम० ए०, प्रो वाइस-चान्सलर हिन्दू वि० वि० काशी]

जो वेद 'विद्' धातु से बना है वह मूल में ज्ञानवाचक है शब्दवाचक नहीं अर्थात् उसका अर्थ ज्ञान होता है, अमुक 'शब्दानुपूर्वी' नहीं। वह 'शब्दानुपूर्वी' का वाचक तब हुआ, जब काल क्रम से हम वेद से इतने दूर हो गये कि सर्वज्ञान के भण्डाररूप से और ईश्वर के शब्दरूप से उसे पूजने लगे। ऐसी पूजा करना स्वाभाविक है। आर्य-प्रजा का ही नहीं, बल्कि मनुष्य-जाति का यह सबसे प्राचीन ग्रन्थ है और भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास के सभी तत्त्व इसमें बीजरूप से विद्यमान हैं।

आगे चलकर इसके लिये 'श्रुति' शब्द प्रयोग में आया। इस शब्द से यह सूचित होता है कि ऋषियों ने यह ज्ञान अपनी बुद्धि से नहीं उत्पन्न किया किन्तु साक्षात् परमात्मा से इसे 'श्रवण' किया, परन्तु परमात्मा सामने खड़े हुए मनुष्य की भांति हमसे संभाषण नहीं करता, वह तो परिदृश्यमान जगत् का और हमारे हृदय का अन्तर्यामी है तथा इस रूप से वह जो कुछ कहता है, वह अन्तर में रहकर ही कहता है। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट है कि यह आन्तरिक ध्वनि किसी भाषा-विशेष (संस्कृत, जन्द, अरबी आदि) में नहीं होती। भाषा तो ध्वनि के प्रकट करने की प्रणालीमात्र है। यह बात विचार और उपपत्ति से सिद्ध है और इसकी पुष्टि आर्य-भाषाओं के इतिहास से भी होती है। संस्कृत 'विद्' धातु जिससे वेद शब्द बना है, वह लैटिन भाषा का (Videre=to see) शब्द है और अंग्रेजी Idea शब्द भी उसी धातु से निकला है। इसलिये वेद शब्द के लिये यदि हम यथार्थ अंग्रेजी शब्द ढूढ़ें तो Vision=दर्शन, Idea ध्यान और ध्येय मिलता है। इसी कारण जिन महापुरुषों को यह महान् दर्शन हुआ उन्हें हम 'ऋषि' अर्थात् द्रष्टा कहते हैं।

जब उन साक्षात्कृतधर्मा द्रष्टाओं का युग व्यतीत हो गया, तब पीछे के पुरुषों ने उन पूर्वजों के वाक्यों का प्रेम और आदर से स्मरण करके समय-समय पर जो ग्रन्थ बनाये वे 'स्मृति' कहलाये। कई लोग वेद के मुखपाठ पर ऐसे मुग्ध हो गये कि शब्द की महिमा को भूल गये और वेद-मन्त्र अर्थबोध के लिये नहीं हैं, किन्तु यज्ञ में यथाविधि उच्चारण करने के लिये हैं, ऐसा मानने लगे। निरुक्तकार यास्क ने कौत्स नामक ऋषि का इस मत के आचार्यरूप से उल्लेख किया है। कौत्स कहते हैं—**'अनर्थका हि मन्त्राः।'** किन्तु पाश्चात्त्य और अत्रत्य विद्वान् समझते हैं कि इस उक्ति का तात्पर्य यह नहीं है कि वैदिक शब्दों से कुछ अर्थ का बोध ही नहीं होता। जिन शब्दों से कुछ अर्थ नहीं निकलता, उनका तो उन्होंने विशेषरूप से परिगणन किया ही है। कौत्स का तात्पर्य केवल इतना ही है कि वेद के मन्त्र अर्थबोध के लिये ही नहीं हैं, किन्तु यज्ञ में उच्चारण के निमित्त भी हैं। वेद के शब्दों से अर्थ-बोध होता है, इसका विरोध न कौत्स ही करते हैं और न अन्य कोई कर सकता है। कारण—कौत्स को उत्तर देते हुए यास्क कहते हैं—**'अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्'** अर्थात् जिन शब्दों का लौकिक संस्कृत में प्रयोग होता है, वे ही शब्द वेद में भी हैं। निःसन्देह कई शब्दों का अर्थ हमारी समझ में नहीं आता परन्तु उनको समझने के लिये हमें प्रयत्न करना चाहिये।

"नैष स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति।"

वेद में कई शब्द ऐसे हैं, जिनका अर्थ हम बिलकुल नहीं जानते, कई ऐसे हैं, जिनका अर्थ ढूंढ-ढांढ कर धात्वर्थ से वा विकृतरूप से, वा वाक्य में स्थान देखकर, अथवा जिन-जिन वाक्यों में उनका प्रयोग हुआ हो, उनकी तुलना करके निश्चित किया जा सकता है। परन्तु ऐसे शब्द छोड़कर वैदिक शब्दों का ऐसा बड़ा समूह रहता है, जिसका अर्थ यास्क के उक्त कथनानुसार, 'शब्दसामान्यात्', हम निश्चयपूर्वक जानते हैं अथवा उनका अर्थ निर्वचन द्वारा निर्णीत कर सकते हैं।

इसके पश्चात् यह भी स्मरण रखना चाहिये कि भारतवर्ष में बहुत-सा ज्ञान परम्परा से चला आता है। यदि इस परम्पराप्राप्त अर्थ के विरुद्ध यथेष्ट कारण मिलें, तो विरोध करना अनुचित नहीं है। परन्तु आधुनिक विद्या के दर्प में उन्मत्त होकर 'Los Von Sayana' ('सायण का बहिष्कार करो') पाश्चात्य विद्वानों का यह उद्गार सायणाचार्य जैसे बहुश्रुत और सम्प्रदायविद् के सामने सत्य के प्रति द्रोह न भी हो, तथापि मूर्खता तो अवश्य है। वस्तुतः मैक्समूलर ने सायण को 'अन्धे की लकड़ी' (Blind man's stick) बतलाया है। यह बिलकुल यथार्थ है। यह आक्षेप उचित नहीं है कि सयणाचार्य वेद के हजारों वर्ष पीछे हुए, इसलिये उनका किया हुआ अर्थ प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। सायणाचार्य से पूर्व वेद पर लिखी गयी टीका उपलब्ध है। इससे संभव है कि वेदार्थ का सम्प्रदाय अविच्छिन्नरूप से चला आया हो। सायणाचार्य उन यास्क आदि प्राचीन मुनियों के साम्प्रादायिक अर्थ का आश्रय लेते हैं, जो वेद-प्रणयन काल के बहुत वर्ष पीछे हुए थे। उनको वेद का मूल अर्थ सम्प्रदाय-प्राप्त था। यह इतने से ही सिद्ध हो जाता है कि वेद के कई ऐसे शब्दों का, जिनका लौकिक संस्कृत में स्पर्शलेश भी नहीं है, वैसा ही अर्थ किया गया है, जैसा प्राचीन समय की अन्य आर्य भाषाओं के शब्दानुसार होना चाहिये। उदाहरणार्थ, वैदिक 'दमः' शब्द का गृह अर्थ लौकिक संस्कृत से किसी को कभी न सूझेगा, परन्तु लैटिन (Domus) शब्द की सहायता से 'गृह' अर्थ सहज ही निश्चित हो जाता है।

वेद के सामान्य शब्दों का अर्थ करने में कुछ कठिनाई नहीं है, परन्तु वैदिक धर्म क्या है, वेद के देवताओं का क्या अर्थ है इत्यादि धर्म-सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देना कठिन है। इसका कारण यह है कि सामान्य शब्दों के अर्थ इतने शीघ्र नहीं बदलते, जितने शीघ्र जनता के धर्मसम्बन्धी विचार बदलते हैं। यास्क के पूर्व वेद के सामान्य शब्दों का अर्थ करने में ऐसी कठिनाई नहीं थी, जैसी यास्क के समय वेद का धर्म समझने में उत्पन्न हो गयी थी। देवों और उनकी आख्यायिका-सम्बन्धी पूर्वाचार्यों के जो विविध मत यास्क ने दिये हैं, उनसे यह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है।

याज्ञिकों के मतानुसार यज्ञ में जिन-जिन देवताओं का नाम लेकर बलि दी जाती है, वे पृथक्-पृथक् देवता माने जाते हैं। मन्त्र शब्द का मूल अर्थ 'मनन' भूलकर उन लोगों ने उसे जादू की शब्दावली बना डाला और वैसे ही यज्ञ में उसका उपयोग भी करने लगे। इस प्रकार याज्ञिकों का एक समुदाय बना और सम्प्रदान-वाचक चतुर्थी का प्रत्यय जिस में लगे, वही देवता (जैसे 'इन्द्राय स्वाहा' इसमें इन्द्र देवता) माना जाने लगा। धर्म की इस भावना से प्रायः शून्य शब्द-पूजा

तथा क्रिया-पूजा शुरू हुई। किन्तु पूर्वोक्त वेद और लोक-भाषा के शब्द एक ही होने के कारण उन शब्दों का अर्थ प्रतीत हुए विना रह ही नहीं सकता, इसलिये इन याज्ञिकों के साथ ही साथ और भी बहुत प्रकार के विचारक हुए जिन का मत वेद के देवताओं के विषय मे भिन्न था। ऐसा एक वर्ग ऐतिहासिकों का था। उनके मत में देव वेद के मन्त्रों के विनियोगार्थ कल्पित सत्त्व नहीं हैं, प्रत्युत ऐतिहासिक अर्थात् 'इति ह आस' यज्ञ से स्वतन्त्र, वास्तविक व्यक्ति है, दूसरा वर्ग नैरुक्तों का था। उनका कथन है कि प्रकृति के भिन्न-भिन्न दृश्यों में जहां-जहां चैतन्य के प्रकाश के (अर्थात् धात्वर्थ में 'देव') दर्शन हुए, उसे तत्-तत् दृश्य के अनुसार नाम दिया गया है। नैरुक्तों ने प्रकृति के दृश्यों के आधार पर स्थानभेद के अनुसार देवों के तीन वर्ग बनाये—(१) पृथ्वी-स्थान के, (२) अन्तरिक्ष-स्थान के, (३) द्यु स्थान के। वर्ग बनाने के बाद प्रत्येक स्थान में एक-एक तेजोरूप पदार्थ देखकर इन तीनों मण्डलों का तीन देवों में समावेश कर दिया गया। (१) पृथ्वी का तेजः पदार्थ अग्नि—इसलिये पृथ्वी का देव अग्नि, (२) अन्तरिक्ष का तेजः पदार्थ विद्युत्—अतः वृष्टि का अधिष्ठाता वायु वा इन्द्र—अन्तरिक्ष का देव इन्द्र, (३) द्युस्थान का तेजःपदार्थ सूर्य—अतः द्युस्थान का देव सूर्य। इस प्रकार नैरुक्तों ने देवत्रयी का सिद्धान्त बनाया। वस्तुतः जिस निर्वचन-पद्धति से वेद का अर्थ करने के कारण वे 'नैरुक्त' कहलाते थे, उनका देवत्रयी के सिद्धान्त के साथ कुछ तात्त्विक सम्बन्ध नहीं है। निर्वचन-पद्धति से वेदार्थ करते हुए भी हम एक देववाद मान सकते हैं। भेद इतना ही है कि निर्वचन करनेवाले प्राचीन नैरुक्तों ने सारे देवों का तीन देवों के रूपों में निरूपण किया है। यास्क मुनि ने एक प्रश्न यह उठाया है कि जब वेद में इतने अधिक देवताओं के नाम मिलते हैं, तब 'देवता तीन ही हैं' ऐसा हम कैसे मान सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर नैरुक्त पक्ष की ओर से दिया गया है कि—"**तासां माहाभाग्याद् एकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि भवन्ति**"—देव ऐसे महाभाग्य हैं कि वे एक होकर भी अनेक नामवाले होते हैं। जैसे कर्म-भेद से एक ही व्यक्ति कई यज्ञों में होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता बन जाता है, उसी प्रकार ही देव तत्तत्कर्मानुसार भिन्न-भिन्न नाम से पुकारा जाता है। परन्तु यह असंख्य देवों का तीन देवों में समावेश करने का उदाहरण है। और उसी दृष्टान्त के अनुसार सभी देवों का एक ही देव में समावेश हो सकता है। इस प्रकार की विचारश्रेणी में आगे बढ़ने पर देवों का भेदाभेद, एकानेक का सिद्धान्त निकलता है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु, परस्पर सम्बद्ध होने के कारण, जैसे एक ही हैं, वैसे ही देव भी तीन होते हुए भी एक ही हैं। इसका दूसरा उदाहरण यास्क देते हैं, "**नर-राष्ट्रमिव**"। जैसे असंख्य मनुष्य तत्-तत् व्यक्ति-रूप से भिन्न होते हुए भी राष्ट्र-रूप से एक ही हैं, वैसे ही प्रकृति के असंख्य दृश्यों में परमात्मा का विविध-रूप से प्रकाश हो रहा है, तथापि सभी दृश्य मिलकर एक ही प्रकृति-रूप हैं और इसमें एक ही परमात्मा का वास है। उपनिषद् में कहा है—'**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः**।'

इस भेदाभेद वा एकानेक के सिद्धान्त को स्पष्ट करने से यह फलित होता है कि भेद और अभेद—एक और अनेक इस प्रकार का द्वैत नहीं है, किन्तु भेद मे अभेद, एक में अनेक ऐसा अद्वैत है। इससे भी अधिक शुद्धरूप से कहें, तो भासमान भेद में वास्तविक अभेद और भासमान अनेकता में वास्तविक एकता है। यह सिद्धान्त अध्यात्मविदों का था। यह मायावाद जो भेदाभेद के सिद्धान्त में गर्भित है, यास्क मुनि को स्फुट रूप से अभिव्यक्त नहीं था। इसलिये सत्य-मिथ्या की परिभाषा

के स्थान में सामान्य भाषा में यास्क मुनि अध्यात्मविदों का सिद्धान्त प्रकट करते हुए कहते हैं—**'माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्य आत्मनोऽन्ये देवताः प्रत्यङ्गानि भवन्ति, अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्ति।'** अर्थात् परमात्मा के एक होते हुए भी अनेक रूपों में उनकी स्तुति की जाती है। एक ही आत्मा के अन्य देवता भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं, एक ही प्रकृति की तत्-तत् पदार्थ-रूप से अनेकता को लेकर ऋषि लोग इनका बहुरूप में स्तवन करते हैं, यद्यपि वस्तुतः यह एक अखण्ड है।

अब पूर्व की एक बात का स्मरण करें। हमने कहा था कि वेद के मन्त्र वस्तुतः ऋषियों के विश्वविषयक मनन के उद्गार हैं। इसके सिवा जो उनको केवल अर्थ-हीन सांप-बिच्छू के मन्त्रों की भांति, यज्ञ में केवल उच्चारण करने के निमित्त शब्दावलीमात्र मानते हैं, उनकी दृष्टि प्रायः धर्म के तत्त्व से रहित है। यहां 'प्रायः' कहने का हमारा आशय यह है—हमारा मानना है कि जो लोग देव में आस्तिक्य-बुद्धि रखकर यज्ञ करते हैं, वे धर्म की सीढ़ी के प्रथम सोपान पर भी तो नहीं पहुंचे हैं तथापि धर्म के आंगन में अवश्य खड़े हैं। जो लोग प्रभु के मन्दिर के अभिमुख खड़े हैं, वे किसी दिन उस मन्दिर में प्रवेश करेंगे और सीढ़ियों पर भी चढ़ेंगे, यह आशा की जा सकती है। याज्ञिकों ने ऐसी शङ्का की है कि 'अनादिष्ट देवता'-वाले मन्त्रों का देवता कौन है? तात्पर्य यह है कि जिस स्थल में देवता-विशेष का उल्लेख वा सम्बोधन उपलब्ध होता है, वहां उस देवता को मन्त्र का देवता मान सकते हैं किन्तु जहां ऐसा कुछ चिह्न उपलब्ध नहीं होता, वहां देवता का निर्णय किस तरह से हो? इतना उत्तर देना तो सरल है कि जिस देवता के यज्ञ वा यज्ञाङ्ग में उस मन्त्र का विनियोग हुआ हो वह उसका देवता है, किन्तु जिन मन्त्रों का यज्ञ में उपयोग नहीं होता, उन का देवता कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में याज्ञिक लोग कहते हैं कि ऐसे मन्त्रों का देवता 'प्रजापति' है। ऐसा मान लेने के कारण याज्ञिकों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रतिपादित एक विशिष्ट रूप का एकेश्वर वाद स्वीकृत किया है, जिसमें प्रजापति से उत्पन्न की हुई विशिष्ट शक्तियों के रूप से पूजे जाते हैं। इस कारण याज्ञिकों को हम सर्वथा धर्महीन नहीं कह सकते।

'अनादिष्ट देवता' के मन्त्रों के सम्बन्ध में नैरुक्तों का मत ऐसा है कि वे मन्त्र 'नाराशंस' हैं। 'नाराशंस' के विविध अर्थ किये गये हैं। एक अर्थ है—नरों (मनुष्यों) की स्तुति (प्रशंसा जिनमें की गई हो) वे मन्त्र, किन्तु इस प्रकृत स्थल में यह अर्थ नहीं लग सकता क्योंकि यदि अमुक मनुष्य की स्तुति की गई हो तो वहां उस मनुष्य को मन्त्र का देवता मान लिया जाय, किन्तु इसका यज्ञ में कुछ प्रयोजन नहीं। इस कारण अन्य टीकाकारों ने इस अर्थ को नापसन्द किया है परन्तु मनुष्यमात्र के विराट् स्वरूप को (Humanity) जाति के अर्थ में 'नर' वा 'नार' कहें तो 'नारा-शंस' का अर्थ मनुष्य-जाति, मनुष्य-समष्टि की पूजा इस मत में विवक्षित है यह कल्पना हो सकती है तथा ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त के अनुसार यह अर्थ करना अनुचित भी नहीं है। अन्य टीकाकार 'नाराशंस' का अर्थ 'अग्नि' वा 'यज्ञ' करते हैं। वहां यज्ञ अर्थात् विष्णु, यह विशेष अर्थ किया गया है। सारे देवों में मुख्य होने के कारण 'अनादिष्ट देवता' वाले सभी मन्त्र अग्नि के हैं यह कहा

जाता है। अग्नि 'नाराशंस' इस कारण से है कि मनुष्यमात्र अग्नि की स्तुति करते हैं। यज्ञ-पुरुष विष्णु हैं, इसलिये यज्ञ की पूजा ही विष्णु की पूजा है और विष्णु-पूजा सूर्य की पूजा है, क्योंकि सूर्य विष्णु का प्रतीक है। इस रीति से एक पक्ष अग्नि-पूजा का (Fireworship) और दूसरा सूर्य-पूजा का (Sun-worship) हुआ। वे दोनों अग्नि और सूर्य मनुष्यजाति के मूल 'देव' हैं, इसलिये उन्हें 'अनादिष्ट देवता' के मन्त्रों के देवता मानना युक्त है।

उक्त रीति से प्राचीन विद्वानों के वेद के देवता-सम्बन्धी मत को हमने दिखलाया। अब हमें जानना चाहिये कि अर्वाचीन विद्वान् इस मत से कहां तक सहमत हैं। हम पहले देख चुके हैं कि नैरुक्त निर्वचन-पद्धति से शब्दों का अर्थ करते हैं और वैदिक देवताओं के विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं। वे प्रकृति में (Nature) परमात्मा के दर्शन करते हैं। प्रकृति के तीन खण्ड हैं—पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ, तदनुसार वे तीन देवता मानते हैं। वेद में इन्द्र और वृत्र का जो युद्ध वर्णन है, वह अमुक वास्तविक असुर और इन्द्र के बीच में चला हुआ युद्ध है, ऐतिहासिकों के इस मत से भिन्न नैरुक्तों का मत है। नैरुक्त समझते हैं कि यह 'युद्ध' अन्तरिक्ष से होनेवाली वृष्टि का आलङ्कारिक वर्णन है। यास्क कहते हैं—"**तत् को वृत्रः ? मेघ' इति नैरुक्ताः, 'त्वाष्ट्रः असुर' इति ऐतिहासिकाः, अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणा वर्ष-कर्म जायते, तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णाः भवन्ति**। (यह वृत्र कौन ! 'मेघ', यह नैरुक्त कहते हैं। 'त्वष्टा का पुत्र एक असुर' यह ऐतिहासिकों का मत है। जल और तेज के मिश्रण से वृष्टि होती है, उसका ही उपमा-रूप से युद्ध का वर्णन किया गया है)।

इस पर टीकाकार ने लिखा है कि वायु से वेष्टित इन्द्ररूप विद्युत् की ज्योति से जब जल तप्त होता है, तब वह बहकर पृथ्वी पर गिरता है अथवा विद्युत्रूपी वज्र से वृष्टि के देव इन्द्र जब मेघ की देह चीरते हैं, तब वृष्टि होती है। अन्यत्र मेघरूपी दुर्ग में वृत्र द्वारा बांधी हुई गौ-रूपी जल धाराओं को इन्द्र ने छुड़ाया, ऐसी कल्पना भी की गई है। इसको पाश्चात्य विद्वान् 'Storm myth' कहते हैं। लोकमान्य तिलक महोदय इस युद्ध को 'Dawn Theory' से उषा के वर्णन-रूप से निर्वचन करते हैं। सविता, विष्णु, मित्र, वरुण आदि के सूर्य-वाचक होने के कारण वेद के वर्णनों को 'Solar myth' बतलाकर अन्य विद्वान् अर्थ करते हैं और पश्चात् तारक-पूजा (Star-worship), सूर्य-चन्द्र-पूजा (Sun & Moon worship), ऋतुपरिवर्तन (Change of sea-sons) इत्यादि से वैदिक कथाओं की व्याख्या की गई है। प्राचीन ऐतिहासिकों से मिलता हुआ एक 'Anthropological school' है, जो मानता है कि वीर मनुष्य तत्-तत् देवताओं के नाम से पूजे गये थे। वास्तव में अधिकांश मत आसीरिया, खाल्दिया आदि प्राचीन पाश्चात्य देशों के धर्म के इतिहास के विचारानुसार अर्वाचीन विद्वानों ने प्रतिपादित किये हैं, किन्तु वे इसमें दो-तीन बातें भूल जाते हैं। एक तो यह ध्यान नहीं रखा जाता कि धर्म के बीज एक नहीं अनेक हैं। दूसरी यह बात विस्मृत हो जाती है कि धर्म केवल मानस विकार नहीं है, किन्तु सत्य का प्रकाश है। इसलिये किन-किन पदार्थों को देखकर मनुष्य के चित्त में धर्म की वृत्ति का उदय हुआ, यह प्रश्न नहीं है किन्तु ठीक प्रश्न यह है कि किन-किन पदार्थों द्वारा मनुष्य ने सत्य के दर्शन किये। अतएव सूर्य-पूजा अग्नि-पूजा, तारक-पूजा और वीर-पूजा ये सब सूर्य आदि के तत्-तत् प्रतीकों द्वारा परमात्मा की

ही पूजा है, सूर्य अग्नि आदि केवल प्रतीकों की पूजा नहीं है। इतना ही है कि शब्द बचाने के लिये 'सूर्य के द्वारा परमात्मा की पूजा' कहने के बदले 'सूर्य-पूजा' इस संक्षिप्त शब्द का हम प्रयोग करते हैं।

(अनुवादक प्रोफेसर गङ्गाप्रसाद महता एम० ए०)

[गङ्गा-वेदाङ्क—जनवरी १६३२]

वेद-ग्रन्थों के नवीन अभ्यास की पद्धति

[ले०—डा० श्रीधर वेङ्कटेश केतकर एम० ए०, पी०एच० डी०, महाराष्ट्रीय और हिन्दीज्ञानकोश के प्रधान सम्पादक, पूना]

वेद-ग्रन्थों का अभ्यास, प्राचीन काल से आज तक, अनेक प्रकारों से चलता आ रहा है। मन्त्रों की संहिता बनाना, तदन्तर्गत कर्म, शब्दों के उच्चारण, व्याकरण आदि का नियम बनाना प्राचीन तरह का अभ्यास है। अर्वाचीन संशोधक इतिहास लिखने के लिये वैदिक साहित्य का उपयोग करते हैं। वैदिक शब्दों की तुलना ग्रीक, लैटिन इत्यादि भाषाओं के शब्दों से करके अति प्राचीन काल का (जिस समय ग्रीकों, ईरानियों और भारतीयों के पूर्वज एकत्र थे) इतिहास तैयार करते हैं। इस अभ्यास में अनेक तरह की अपूर्णताएं भी हैं।

यज्ञ, ब्राह्मण-जाति और वेद—इन सबका एकत्र अभ्यास करने का प्रारम्भ "महाराष्ट्रीयज्ञानकोश" में हुआ है और इस विषय पर खूब परिश्रम भी किया गया है। "महाराष्ट्रीयज्ञानकोश" में जो विषय अपेक्षित हुआ है, उस विषय पर अभ्यासकों का लक्ष्य खींचने के लिये ही यह लेख लिखा जाता है। सामान्य वाचकों को लेख का हेतु बताने के लिये प्रथम वेद की कुछ प्रास्ताविक बातें दी जाती हैं।

वेद शब्द के दो अर्थ हैं, प्रथम धन और द्वितीय ज्ञान। दोनों अर्थों से 'वेद' शब्द वेद-ग्रन्थों में व्यवहृत हुआ है। वैदिक वाङ्मय तैयार होने के कुछ समय बाद वेद "अपौरुषेय" अर्थात् ईश्वर-कृत एवं "अनादि" अर्थात् सृष्टि के आरम्भ-काल से ही चला आ रहा है—ऐसी भावना प्रस्तुत हुई। परन्तु वेद-ग्रन्थों के भीतर ऐसी भावना दृष्टिगोचर नहीं होती। प्राचीन लोगों का मत है कि वेद यज्ञ के लिये अवतरित हुए। उनकी इस कल्पना में सत्यांश भी है। वास्तव में यज्ञ व्यवस्थित रूप से कैसे सम्पन्न किया जाय, इसका पथ-प्रदर्शन कराने के लिये ही वेद-ग्रन्थ तैयार किये गये। तैयार किये जाने का अभिप्राय यह नहीं है कि उनमें सभी नवीन बातें ही अंकित की गयीं, वरन् अनेक प्राचीन सूक्तों को एकत्र कर लिपिबद्ध किया गया और उनमें से किस-किस का प्रयोग कब-कब और किस-किस क्रिया में किया जाय, इसका निश्चय किया गया। उन सूक्तों द्वारा कब-कब कौन-कौन सी क्रियाएं करायी जायें, यह बतलाने वाली पुस्तकें "ब्राह्मण" कहलाती हैं, और वे सूक्त, जिस संग्रह में संगृहीत हुए हैं, उसे वैदिक 'संहिता' कहते हैं। संहिताओं और ब्राह्मणों के संयोग के फल वेद हैं। उपनिषदें वेद के प्रत्यक्ष भाग नहीं हैं, परन्तु उन्होंने वेदों को संयुक्त किया

है—ऐसा समझा जाता है। उनमें आध्यात्मिक विचार अत्यधिक हैं और ईश्वर-विषयक विचार की दृष्टि से उन का बड़ा महत्त्व है। मन्त्र और ब्राह्मण मिल कर जो समुच्चय हुआ, उसे 'कर्मकाण्ड' कहते हैं। यज्ञ-याग करने की अपेक्षा ज्ञान प्राप्त करना अधिक महत्त्वपूर्ण है—जब ऐसा विचार लोगों के मन में उत्पन्न हुआ, सब यज्ञ बन्द होने लगा तथा मन्त्रों और ब्राह्मणों का अभ्यास कम होने लगा और वेदान्त का अभ्यास बढ़ने लगा।

वैदिक वाङ्मय के आज चार वेद हैं। वे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं। यज्ञ करने में चार प्रकार के ऋत्विक् लगते हैं। उन्हें होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा कहते हैं। 'होता' के अभ्यास का ग्रन्थ ऋग्वेद, अध्वर्यु का यजुर्वेद, उद्गाता का सामवेद और ब्रह्मा का अथर्ववेद है। 'होता' द्वारा उच्चरित होनेवाले मन्त्र ऋग्वेद-संहिता में हैं और उन मन्त्रों का कहां-कहां उच्चारण करके कौन-कौन सी क्रियाएं यज्ञ में करनी होती हैं—यह ऋग्वेद के ब्राह्मण (ग्रन्थ के नाम) में विवृत हैं। इस प्रकार दूसरे-दूसरे वेदों की संहिताओं और ब्राह्मणों में इनके ही उपयोग की बातें हैं।

ऋग्वेद संहिता ही सबसे पुराने मन्त्रों की संहिता है। ऋग्वेद के बहुत से सूक्तों एवं अन्यान्य कई सूक्तों के मेल से अथर्ववेद की सृष्टि हुई है। सामवेद में भी बहुत से सूक्त ऋग्वेद के हैं। साम के मानी गाने की लय है। ऋग्वेद के सूक्त, चूंकि भिन्न-भिन्न लय के हैं, इसलिये भिन्न-भिन्न साम हैं। यज्ञ में कौन-सा साम किस लय से और किस प्रसंग में उच्चारित किया जाय—इस ज्ञान को "सामवेद" अथवा "औद्गात्र" कहते हैं। यह कोई भिन्न वाङ्मय नहीं, किन्तु अध्वर्यु का यजुर्वेद एक भिन्न वाङ्मय अवश्य है।

यज्ञ में जो लोग 'होता' का काम करना सीखते हैं, वे ऋग्वेदी ब्राह्मण और जो 'अध्वर्यु' का काम करना सीखते हैं, वे यजुर्वेदी ब्राह्मण कहलाते हैं।†

यज्ञ कराने में सहायता देनेवाले ग्रन्थ मुख्यतः मन्त्र और ब्राह्मण हैं। परन्तु पीछे यज्ञ करने की पद्धति में बहुत सी बातें घुस आयीं और वेद-प्रमाण से होने वाली यज्ञ-पद्धति में हेर-फेर हो गया। इस प्रकार यज्ञ करने में सहायता देने वाली स्वतन्त्र पुस्तकें तैयार हुईं। वे "श्रौतसूत्र" कहलाती हैं। आज पर्यन्त "यज्ञ" अनेक कर्मों में अपने सरल शब्द के नाम से व्यवहार में आया। पर वेदान्त ने यज्ञ जैसे अनेक कर्मों की बातें बतलायी हैं। उनका वर्गीकरण "सप्त हविःसंस्था" और "सप्त सोमसंस्था" के नाम से किया गया है। जो यज्ञ आरम्भ के दिन से लेकर लगातार बारह दिनों तक चलते रहते हैं, उन्हें 'क्रतु' कहते हैं। बारह दिनों से भी अधिक दिनों तक (६ महीनों या कई वर्षों तक) जो यज्ञ चलते रहते हैं, उन्हें 'सत्र' कहते हैं। इन्हीं 'सत्रों' की

---

† ऋग्वेदी और यजुर्वेदी ब्राह्मणों के गृह-कार्यों में प्राचीन समय में भिन्नता न होगी, ऐसा अभिप्राय मैंने एक स्थान पर (महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश, हिन्दुस्तान-खण्ड, भाग २३) में व्यक्त किया है, लेकिन मैं आज उस मत की पुष्टि नहीं कर सकता। अत्यन्त प्राचीन काल में—श्रौत-धर्म की स्थापना के पूर्व काल में भी गृह-धर्म था और वह स्थान या जाति के अनुसार भिन्न था तथा उसके बाद उसमें एकरूपता लाने का प्रयत्न यज्ञ-विकास करने वाले आचार्यों ने किया, लेकिन उसकी एकरूपता अपूर्ण ही रही।

विवेचना वेदान्त है। 'सत्रों' के मध्य यजमान और ऋत्विक् में वैसा कुछ अन्तर नहीं, तब हां, उन में सभी यजमानों और सभी ऋत्विकों की कार्य-पद्धतियां हैं। 'सत्रों' की विवेचना करने में श्रौतसूत्रों में गोत्र-प्रवर-विवेचन आया है। यह वेदान्त उपर्युक्त सभी क्रियाओं में कर्म अथवा श्रौतकर्म कहलाता है। श्रौतकर्म तीन अग्नियों पर होनेवाला कर्म है। इस श्रौतकर्म का 'सप्त हविःसंस्था' और 'सप्त सोमसंस्था'—इस प्रकार वर्गीकरण किया गया है। सप्त हविःसंस्था में अग्न्याधान, अग्निहोत्र-होम, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास, आग्रयणेष्टि, निरूढ पशुयाग और सौत्रामणि—इतने प्रकार आये हैं। सप्त सोमसंस्था में अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अप्तोर्याम और वाजपेय—ये प्रकार हैं। वेदान्त ने सत्रों के जितने प्रकार बतलाये हैं, उनमें संवत्सर सत्र, गवामयन, स्वर्गसत्र, अश्वमेध—इतने प्रकार आये हैं। इनके अतिरिक्त और जो कर्म बतलाये गये हैं, उनमें बृहस्पतिसव, ब्राह्मणसव, वैश्यसव, पृथ्वीसव, सोमसव और ओदनसव ही मुख्य हैं। राज्याभिषेक भी उनके अन्दर का ही है। सबका अर्थ अभिषेक है। परन्तु उपर्युक्त क्रिया का अर्थ श्रौतधर्म होता है। जब श्रौतधर्म संक्षिप्त होने लगा, तब आरण्यकीय धर्म और स्मार्त-धर्म आगे आये। यज्ञोपवीत-धारण, ब्रह्मयज्ञ, स्नानविधि, त्रिसुपर्ण इत्यादि स्मार्त-धर्म की बातें आरण्यक में विवृत हैं।

इन कर्मों को प्रयोग में लाने के समय यज्ञ कराने वाले ऋत्विकों के मध्य अनेकवाद के प्रश्न उपस्थित हुए और उनके भिन्न-भिन्न पक्ष होते गये। उन पक्षों का परिणाम ऐसा हुआ कि प्रत्येक पक्ष ने अपनी-अपनी संहिता में थोड़ा-बहुत हेर-फेर कर भिन्न-भिन्न आवृत्तियां निकाल लीं। इस कारण यजुर्वेदी मंडली में "शुक्ल" और "कृष्ण"—ये प्रथम भेद हुए। अनन्तर उनमें और कलह बढ़ जाने के कारण उनके १०१ भेद हो गये। उन्हें १०१ 'आध्वर्यव' कहते हैं। इन भेदों में से कुछ तो रह गये और बाकी सब विलुप्त हो गये। प्रत्येक भिन्न-भिन्न भेद की मण्डली ने अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न संहिताएं बना लीं। वे सब आज 'वेद-शाखा' के नाम से ज्ञात हैं। इस विशिष्ट शाखा-समूह में फिर भेद उत्पन्न नहीं हुए, ऐसा नहीं है। पीछे जो भेद हुए, उनके परिणाम-स्वरूप भिन्न-भिन्न शाखाएं तो नहीं बढ़ीं, पर भिन्न-भिन्न पक्ष के लोगों ने तरह-तरह के सूत्रों की सृष्टि अवश्य कर डाली।

वेद कब बने—इस विषय में इतना ही कहना है कि वेदों की संहिता बनाने के लिये तीन भिन्न-भिन्न कालों में प्रयत्न किये गये। कुरु-युद्ध के बाद भी वैदिक वाङ्मय की वृद्धि हुई थी—यह बात वेदान्त में जो परीक्षित-जनमेजय का उल्लेख आया है, उससे स्पष्ट होती है। पीछे का संहितीकरण कुरु-युद्ध के अनन्तर, सौ-दो सौ वर्षों तक होता आया।

वैदिक वाङ्मय के प्रारम्भ काल का प्रश्न पूछे जाने पर इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में "दाशराज्ञयुद्ध" नामक एक प्रसिद्ध युद्ध के अनन्तर ऋग्वेद के बहुत से सूक्त बने हैं, कारण, उस युद्ध का या उस युद्ध से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों का किं वा, उन व्यक्तियों से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों का उल्लेख जिन सूक्तों में नहीं हो, ऐसे बहुत कम सूक्त ऋग्वेद में हैं। वह युद्ध कब हुआ—इसका ठीक-ठीक पता नहीं, तथापि इतना कहा जा सकता है कि उस युद्ध में एक पक्ष के सेनापति दिवोदास और उनके पुत्र किं वा पौत्र सुदास थे और दूसरे पक्ष में यदु, तुर्वश, अनु प्रभृति देशों के राजा थे। सुदास जिन लोगों के नेता थे, वे लोग 'भरत' थे। उन्होंने पृथु और

पर्शु (पार्थियन और पर्शियन) लोगों की सहायता से हिन्दुस्तान पर विजय प्राप्त की। पौराणिक राज-परम्परा सत्य मानी जाने पर ऐसा कहा जा सकता है कि दाशरथि रामचन्द्र के अवतार के सौ-दो सौ वर्ष पहले यह युद्ध हुआ होगा।

ऋग्वेद में आर्य और दास—इन दो वर्णों का वर्णन है और वे एक दूसरे के शत्रु थे—ऐसा कहा गया है। आर्य अर्थात् नेतृत्व करने वाले लोग और दास अर्थात् देश के लोग—ऐसा मत लोगों में प्रसृत किया गया, किन्तु यह गलत है। आर्य-दास-विरोध उपासना-पद्धति में विरोध था, यह सिर्फ अपने ग्रन्थों में ही नहीं, वरन् पारसी ग्रन्थों में भी है। आर्य गोरे थे और दास काले एवं उनके एकत्र हो जाने के कारण ही वर्ण अर्थात् रंग-मूलक वर्ग उत्पन्न हुआ—यह मत गलत है। समाज में गुणकर्मानुसार वर्ण ऋग्वेद-काल में ही थे, पर उन वर्गों की वर्ण-संज्ञा नहीं थी। वर्ण का अत्यन्त प्राचीन अर्थ सम्प्रदाय है। वेदों में काले आर्यन् लोगों की जय का वर्णन नहीं, वरन् नेतृत्व करने वाले 'भरत' के दूसरे आर्यन् लोगों का वर्णन है।

ऋग्वेद में अनेक देवताओं की स्तुतियां हैं। वरुण, अग्नि, इन्द्र, द्यौ, सोम, मित्र, विष्णु, आदित्य, सूर्य, सविता, पूषन्, मरुत्, रुद्र, अदिति, दिति, वायु, अश्विन्, उषा, पृथ्वी इत्यादि देवताओं की स्तुतियां हैं। इनके अतिरिक्त पुरुरवा और उर्वशी का संवाद, यम-यमी का संवाद इत्यादि आख्यान-सूक्त भी बहुत से हैं। कुछ संस्कार-सूक्त और कुछ लौकिक सूक्त भी हैं। अथर्ववेद में बहुत से विविध प्रकार के सूक्त हैं। राजा को युद्ध में जयप्राप्त्यर्थ, रोग निवारणार्थ, स्त्रियों की सौतिनियों के लिये एवं और भी अनेक प्रकार के मन्त्र हैं।

वैदिक ग्रन्थ स्वर के साथ छापे जाते हैं। वे स्वर प्रातिशाख्य के प्रमाण से नियमित होते हैं। प्रातिशाख्य में भी मन्त्र उच्चारण करने की अत्यन्त प्राचीन पद्धति नहीं दिखायी गयी है। आज भी मन्त्रोच्चारण की पद्धति प्रातिशाख्य का अनुसरण करने वाली नहीं। अत्यन्त प्राचीन काल में स्वर के साथ मन्त्र उच्चारित नहीं होते थे। ये स्वर बाद में शाखा के अनुसार नाना प्रकार की पद्धतियों में घुस आये हैं। हौत्रकों के उच्चारण करने के हौत्र को मन्त्रों को यज्ञ में कहते समय बिना स्वर के ही उच्चारण करना होता है।

ज्ञानकोश के लिये जो संशोधन हुआ उसमें एक विचार स्थिर हुआ। लोग समझते हैं कि पौराणिक देवता उत्तरकालीन हैं। मेरा मत ऐसा नहीं श्रौत धर्म, स्मार्त धर्म और पौराणिक धर्म—इन तीनों की प्राचीनता समान ही है। जो पौराणिक इन्हें उत्तरकालीन कहते हैं, उनका कहना ठीक नहीं। शैवादि सम्प्रदाय वेदकालीन ही हैं।

वेदकाल में शैवादि सम्प्रदाय का अस्तित्व—वेदकालीन यज्ञ-संस्था जिस समय नहीं नष्ट हो गयी थी, उसी समय उसमें शाखाभेद हो गया था, उस समय शैव, वैष्णव सम्प्रदाय का अस्तित्व था—दिखाने के लिये कुछ मन्त्र नीचे दिये जाते हैं। ये मैत्रायणीय संहिता (२।९।१) के अन्दर के हैं—

"तत्पुरुषाय विद्महे, महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्॥

तद्गांगौच्याय विद्महे, गिरिसुताय धीमहि। तन्नो गौरी प्रचोदयात्॥
तत्कुमाराय विद्महे, कार्त्तिकेयाय धीमहि। तन्नः स्कन्दः प्रचोदयात्॥
तत्कराटाय विद्महे, हस्तिमुखाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥"

इस प्रकार के मन्त्र काठक-संहिता (१७।११) में भी दीख पड़ते हैं। इसमें शैव, वैष्णव सम्प्रदायों के अधिष्ठानभूत देवता जो इस समय भौतिक स्वरूप में हैं, संहिताकारों को भी प्राप्त हुए थे और उन्होंने उन्हें अपनी यज्ञ-संस्थाओं में स्थान दिया था—यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। इन देवताओं का अस्तित्व केवल वेदोत्तरकाल में ही नहीं, वरन् वेद काल में भी श्रौतादि प्रचलित परमार्थ-साधन में था। इनका मन्त्रादि संस्कृति से श्रौत-संस्था में समावेश हुआ—ऐसा मालूम पड़ता है।

वैदिक वाङ्मय का इतिहास लिखना ब्राह्मण जाति के विस्तार का सम्पूर्ण अवलोकन किये विना नहीं हो सकता। चरणव्यूहादि ग्रन्थों में ब्राह्मणों की शाखा और सूत्र प्रायः २०० से भी अधिक हैं, परन्तु प्रत्येक शाखा या सूत्र का ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। कुछ शाखा के अनुयायी उनके ग्रन्थ उपलब्ध न होने पर भी दृष्टिगोचर होते हैं। विशिष्ट ब्राह्मण को कौन से सूत्र को मानते हैं—कौन से प्रदेश में कौन-कौन शाखा या सूत्र का प्रचार है, इसका पद्धति पूर्ण निरीक्षण किये विना ब्राह्मण-जाति का इतिहास या वैदिक वाङ्मय के विकास का इतिहास पूरा नहीं हो सकता। वैदिक इतिहास के अनेक प्रश्नों में गूढ़ता दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ एक प्रश्न मैं आपके समक्ष रखता हूँ—यजुर्वेद के 'शुक्ल' और 'कृष्ण'—इन दो भेदों में 'कृष्ण' प्राचीन है और 'शुक्ल' अर्वाचीन। यह बात सब प्राचीन और अर्वाचीन पद्धति के पण्डित स्वीकार करते हैं। उनकी धारणा है कि 'आर्यन्' लोग उत्तर से दक्षिण की ओर आये। यह मत यूरोपियन पण्डितों ने प्रस्तुत किया और इसे यूरोपियनों पर विश्वास रखनेवाले भारतीयों ने स्वीकार भी किया। आर्यन् लोगों का परिभ्रमण उत्तर से दक्षिण को हुआ—इस पक्ष को स्वीकार करने पर प्राचीनतर सम्प्रदाय उत्तर को होना चाहिये और अर्वाचीन सम्प्रदाय दक्षिण को। परन्तु कृष्ण यजुर्वेद दक्षिण में है उत्तर में नहीं। उत्तर के प्रायः सभी यजुर्वेदी शुक्ल—विशेषतः माध्यन्दिनीय हैं। ऐसी बात क्यों है—इसका शोध होना चाहिये ? मेरे शोध का परिणाम यह है कि यजुर्वेद दक्षिण से उत्तर को गया और उत्तर दिशा में उसका रूपान्तर होना शुरू हुआ। यजुर्वेद का उत्तरकालीन रूपान्तर शुक्ल यजुर्वेद है और उसकी प्रसिद्धि उत्तर दिशा में हुई, दक्षिण में नहीं। महाराष्ट्र में शुक्ल-यजुर्वेदियों की शाखा है लेकिन उन का अस्तित्व कर्णाटक, द्रविड़ या तैलङ्ग देशों में नहीं है। ब्राह्मण-जाति का सम्पूर्ण अवलोकन करने पर इतिहास के बहुत से प्रश्न उपस्थित होंगे। उत्तर हिन्दुस्तान या गुजरात के सारस्वत ब्राह्मणों में शुक्ल यजुर्वेद ही प्रचलित है, ऋग्वेद नहीं, लेकिन महाराष्ट्र के सब सारस्वत ऋग्वेदी हैं। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि सारस्वत आदि जाति स्थापना के अनन्तर भी वेदाध्ययन का स्वीकार स्वेच्छा से होता था। पहले वेदाध्ययन का स्वीकार और उसके अनन्तर विशिष्ट-जाति स्थापना, ऐसा ब्राह्मण जाति के विकास का क्रम है—यह निश्चयपूर्वक मैं नहीं कह सकता और यह भी नहीं कह सकता कि ब्राह्मण जाति चतुर्वेद-युक्त या वेदत्रयी-युक्त होने के पश्चात् अखिल भारत में फैली। अगर ऐसा होता तो सभी जगहों में सिर्फ चार ही वेद के ब्राह्मण नजर आते। लेकिन वस्तु-स्थिति

ऐसी है कि हर एक जगह सिर्फ एक या दो शाखाओं के ब्राह्मण देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ द्रविड़ ब्राह्मणों में सामवेदी या कृष्ण यजुर्वेदी मिलते हैं, ऋग्वेदी नहीं मिलते। महाराष्ट्र में सामवेदी य अथर्ववेदी नाम धारण करने वाले ब्राह्मण हैं परन्तु उनमें अपने वेद का प्रचार नहीं। सामवेदी ब्राह्मण बम्बई के पास वाले सोपारा ग्राम में (प्राचीन शूर्पारक क्षेत्र में) और उसके आस-पास दे पड़ते हैं। आज उनके सभी व्यवहार शुक्ल-यजुर्वेद से चलते हैं क्योंकि उनके उपाध्याय शुक्ल-यजुर्वेदी हैं। शुक्ल-यजुर्वेदी उपाध्याय के यजमान आज कृषक बने हैं और पान की खेती करते हैं!

उपर्युक्त विवेचन से मालूम पड़ता है कि ब्राह्मण जाति का विकास, उनका परिभ्रमण औ जातिभेद का सम्वर्द्धन—ये सब वेद-विकास के इतिहास से सम्बद्ध हैं। एक का अभ्यास दूसरे अभ्यास के बिना नहीं हो सकता। वेदाभ्यास के लिये अत्यन्त प्राचीन काल में जैसी चतुर्वेदयु स्थिति थी, वह अनेक भिन्न-जातीय या भिन्न-स्थानीय वेदों के एकीकरण से उत्पन्न हुई। यजुर्वे (याजुष मन्त्र और कर्म) एक भिन्न लोगों का धर्म था और ऋग्वेद भिन्न लोगों का। ऋग्वेद सो प्रधान धर्म था और यजुर्वेद पशुयाग-प्रधान। आज जो संहिताएं दीखती हैं, वे दोनों धर्मों का संयो होने के बाद के काल की हैं।

इस विवेचन के सुनने से आपको यह स्पष्ट विदित हो गया होगा कि अखिल भारत में जो ८० से अधिक ब्राह्मण-जातियां हैं, उनके गोत्र का, वेदाध्ययन का और प्रवर का सम्पूर्ण निरीक्षण हो चाहिये। गोत्र और प्रवर का मैंने भिन्नता से उल्लेख किया है, इसका कारण यह है कि वशिष्ठ गर्ग इत्यादि गोत्रियों का जो प्रवर महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों में वही प्रवर गिरनार ब्राह्मणों में नहीं औ एक जगह या एक जाति में जो गोत्र-समुच्चय दीखता है, वह गोत्र-समुच्चय अन्य प्रदेश में न दीखता। विशिष्ट जाति के अन्तर्भूत कुल में जो गोत्र-समुच्चय है, उसकी तुलना अन्य जातीय गो समुच्चय से करने पर जाति के विच्छिन्न होने के या परिभ्रमण के इतिहास के कुछ अंश स्प होंगे। इस प्रकार के वेदाभ्यास का प्रारम्भ होना चाहिये। ब्राह्मण जाति का इतिहास तैयार कर करते वैदिक इतिहास की भी कार्य-वाहिता हो जायगी। ऋग्वेद में गोत्र-संस्था का कुछ पता न चलता। गोत्र का अर्थ ऋग्वेद में केवल 'गायघर' है और उस शब्द से मराठी में 'गोठा' (गायघ शब्द प्रचलित है। गोत्र की संस्था ऋग्वेद में नहीं पर सूत्रकाल में प्रचुरता से दीखती है। गो प्रवराध्याय अनेक सूत्र-ग्रन्थों के परिशिष्टरूप में उपलब्ध होता है, लेकिन उसमें जो गोत्र-प्रवरों उल्लेख है वह सम्पूर्णता से नहीं। इस कारण सम्पूर्ण भारत के ब्राह्मणों में प्रचलित गोत्रों मिलाने का परिश्रम अवश्य करना चाहिये।

[गङ्गा वेदाङ्क—जनवरी १९३

★ निष्काम सेवा से दूसरे का भला हो चाहे न हो अपना भला जरूर होता है।

☀ जो कुछ तुम हो वह तुम को भगवान का उपहार है और जो कुछ तुम बन जाओ वह तुम्हारा भगवान को उपहार है।

वैदिक साहित्य में पाश्चात्त्य विद्वानों का कार्य

[ले० —डा० मङ्गलदेव शास्त्री एम० ए०, डी० फिल० (आक्सन),
सरस्वतीभवन-पुस्तकालय, बनारस छावनी]

उन्नत देशों की उन्नति के रहस्य का पता हमें उन देशों के लोगों की दशा को देखकर लगाना चाहिये। जिस देश के लोगों में अध्यवसाय मनोयोग और परिश्रम-परायणता आदि गुण पाये जाते हैं, वहां उन्नति सिर नवाकर उपस्थित हो जाती है। किसी उन्नति-शील देश को लीजिये। जिस-जिस विषय में जो देश बढ़ा हुआ है, उसकी वह उन्नति उस-उस विषय में स्वाभाविक रुचि रखनेवाले उद्यमशील साहसी लोगों के वर्षों तक अथक परिश्रम का फल है। इसी को तप कहना चाहिये। किसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर विघ्न-बाधाओं को सहते हुए और सुख की परवाह न करते हुए प्राणपन से उसकी सिद्धि में लगना ही सच्चा तप है। यूरोप और अमेरिका की उन्नत जातियों में यह सिद्धान्त कूट-कूट कर भरा है, भिन्न-भिन्न विषयों में नित्य नये आविष्कारों का मूल मन्त्र यही है। वे लोग जिस विषय को हाथ में लेते हैं जब तक उसकी तह तक नहीं पहुंच जाते, तब तक उसका पीछा नहीं छोड़ते।

इसके अनेकानेक उदाहरणों में से एक ज्वलन्त उदाहरण उनका हमारे प्राचीन साहित्य में काम है। प्रथम तो किसी दूसरे देश के भाव, भाषा आदि को ही पूर्णतया या गहराई से समझना बड़ा कठिन काम है, फिर उस देश के प्राचीन ही नहीं, किन्तु प्राचीनतम भाषा और साहित्य आदि का, जिनको उस देश के विद्वान् भी बहुत कुछ भुला चुके हों, अभ्यास, मन्थन तथा अनुशीलन करना और सफलतापूर्वक उनमें गति प्राप्त करना कितना कठिन है! इसका अनुमान वे ही लोग कर सकते हैं, जिन्होंने ऐसे विषयों में कुछ परिश्रम किया है।

पश्चिम के विद्वानों का ध्यान संस्कृत के प्रत्येक विषय की ओर रहा है। जबसे उन्हें संस्कृत भाषा और उसके साहित्य का पता लगा है, वे स्पर्धा के साथ उनके अनुशीलन में लगे हुए हैं। प्रतिदिन इस विषय में उनकी रुचि और परिश्रम बढ़ते ही जाते हैं। आज यूरोप और अमेरिका के प्रायः प्रत्येक बड़े विश्वविद्यालय में संस्कृत का पुस्तकालय है और पढ़ाने के लिए योग्य अध्यापक नियुक्त हैं। अनेक प्राचीन ग्रन्थ मूल और अनुवाद के रूप में छपते भी रहते हैं और तद्विषयक खोज और अनुसन्धान भी जारी है। परन्तु यूरोप और अमेरिका के विद्वानों ने जो काम वैदिक भाषा और साहित्य के विषय में किया है वह विशेष महत्त्व का है। उसी को यहां हम दिखाना चाहते हैं।

उनके काम से भारतवर्ष का लाभ—

वैदिक साहित्य में जो पाश्चात्त्य विद्वानों ने परिश्रम किया है, उसका महत्त्व उनकी प्रशंसा तक ही समाप्त नहीं हो जाता, न वह महत्त्व केवल उनकी स्वार्थ-दृष्टि से ही परिमित है। यह सत्य है कि उसके द्वारा उनके अपने ज्ञान की परिधि में काफी विस्तार हुआ है, परन्तु इसके साथ

ही इससे जो लाभ हमारे देश को हुआ है, वह भी बहुत बड़ा है। उन विद्वानों के द्वारा विदेशों में सैकड़ों अमुद्रित, अप्राप्य तथा विस्मृत वैदिक पुस्तकों के शुद्ध सम्पादन और संस्करणों में तथा तद्विषयक अनेकानेक महत्त्वशाली मौलिक ग्रन्थों की रचना और प्रकाशन में लाखों क्या, करोड़ों रुपयों का व्यय किया गया है। अनेकानेक प्रतिभाशाली महाविद्वानों और आचार्यों ने अपना जीवन ही वैदिक साहित्य के पुनरुद्धार में लगा दिया है। इससे हमारे देश की संस्कृति और सभ्यता के पुनरुत्थान में एक बड़ी सहायता मिली है। इसके लिये वस्तुतः हम भारतवासियों को उनका आभारी होना चाहिये।

आश्चर्य है कि हमारे यहां बड़े-बड़े पण्डित लोग भी यह ठीक-ठीक नहीं जानते कि वैदिक विषय में पाश्चात्त्य विद्वानों ने क्या-क्या कार्य किया है। हमारे इस लेख का मुख्य उद्देश्य है, इस अज्ञान को दूर करना। हमें आशा है कि जो लोग वैदिक साहित्य में रुचि रखते हैं, उन्हें इस लेख से अनेक नयी बातों का पता चलेगा।

इस सम्बन्ध का संक्षिप्त इतिहास—

पाश्चात्त्य विद्वानों की वैदिक-साहित्य में कैसे प्रवृत्ति हुई? प्रारम्भ में उसकी कैसी गति रही? यहां इसका संक्षिप्त इतिहास देना कदाचित् रुचिकर और उपयोगी होगा।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य भाग में, यूरोप में, संस्कृत साहित्य की कुछ-कुछ चर्चा शुरू हुई। फ्रांस देश के प्रख्यात लेखक वालटेयर (Voltaire) ने भारत से एक जेसइट मिशनरी[1] द्वारा ले जाये गये एक कल्पित Ezour Vedasn या यजुर्वेद की अपने एक लेख में जो अठारहवीं शताब्दी के मध्य भाग(लगभग १७५०) में प्रकाशित हुआ था, बड़ी प्रशंसा की थी। अन्त में जब यह पोल खुली कि यह ग्रन्थ वास्तव में एक कृत्रिम वेद था, तब लोगों में संस्कृत के विषय में बहुत कुछ अविश्वास और अश्रद्धा पैदा हो गयी।

सन् १७८४ ई० में सर विलियम जोंस (Sir William Jones) नामक एक अंग्रेज विद्वान् के प्रयत्न से कलकत्ते में 'बंगाल एशियाटिक सोसाइटी' की नींव रखी गयी। यथार्थ में इसी समय से भारतवर्षीय प्राचीन विद्याओं में पाश्चात्यों की रुचि और परिश्रम का इतिहास आरम्भ होता है। स्वभावतः प्रारम्भ में उनका ध्यान लौकिक संस्कृत के साहित्य की ओर ही अधिक गया, क्योंकि वही पण्डितों में अधिक प्रचलित था। अन्त को धीरे-धीरे उन्होंने पता लगाया कि अनेक दृष्टियों से प्राचीनतर वैदिक साहित्य, लौकिक संस्कृत से कहीं अधिक महत्त्व रखता है।

१८०५ ई० में कोलब्रुक (Henry Thomas Colebrooke) साहब ने "एशियाटिक रिसर्चेज" नामक पत्र में "हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थ—वेद" शीर्षक लेख छपवाया। वैदिक साहित्य के अनुशीलन में रुचि पैदा करने में इस निबन्ध ने बड़ा काम किया। इस निबन्ध में लेखक ने सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की समीक्षा की है। यूरोप के विद्वानों में संस्कृत ज्ञान की तात्कालिक दशा को देखते हुए इस निबन्ध के लेखक की प्रतिभा और समालोचना शक्ति की प्रशंसा किये विना हम नहीं

१. Father Robert de Noblie (सम्पादक—वेदवाणी)।

रह सकते। प्रारम्भ में यही लेखक महोदय भारतवर्षीय प्राचीन विद्या को बड़ी तुच्छ दृष्टि से देखते थे। उन दिनों इन्होंने एक विद्वान् को जिन्होंने 'भगवद्गीता' का अनुवाद अंग्रेजी में किया था, 'संस्कृतोन्मत्त' कहा था। परन्तु अन्त को आपकी सम्मति बदल गयी और आप स्वयं संस्कृत के प्रेमी ही नहीं, किन्तु उसके अच्छे ज्ञाता भी हो गये। वस्तुतः आपका उपर्युक्त निबन्ध वैदिक साहित्य की ओर यूरोप के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने में मुख्य साधन हुआ।

प्रायः पच्चीस वर्षों के पश्चात् फ्रेड्रिक रोजन (Friedtich Rasen) नामक जर्मन विद्वान् का ध्यान वैदिक साहित्य की ओर गया। आप वैदिक साहित्य के महत्त्व को मानने लगे। आपने उत्साह से ऋग्वेद के सम्पादन करने का संकल्प किया, परन्तु १८३७ ई० में आपकी असामयिक मृत्यु से इस कार्य में बाधा पड़ी। १८३८ में आपके द्वारा सम्पादित ऋग्वेद का प्रथम अष्टक ही प्रकाशित हुआ।

लगभग इन्हीं दिनों फ्रांस देश के निवासी और प्रसिद्ध प्राच्य-विद्याओं के विज्ञाता ईउजेन बर्नफ (Eugen Burnouf) पेरिस मे संस्कृत आदि पढ़ाते थे। इस समय इनकी शिष्य-मण्डली में ऐसे विद्यार्थी सम्मिलित थे, जो पीछे से बड़े प्रसिद्ध वेदज्ञ समझे गये। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यूरोप में वैदिक साहित्य के अनुशीलन की नींव डालनेवाले वस्तुतः यही फ्रेंच विद्वान् थे। रुडाल्फ रोठ (Rudolph Roth), मैक्स म्यूलर (Max Muller) आदि विद्वान्, जिन्होंने आगे चलकर वैदिक साहित्य के विषय में बहुत कुछ काम किया, इन्हीं के शिष्य थे।

यूरोप में वैदिक साहित्य के अनुशीलन के इतिहास मे १८४६ ईस्वी स्मरणीय रहेगी। इस वर्ष "वेद का साहित्य और इतिहास" नामक छोटी, परन्तु चिर-स्मरणीय, पुस्तिका रूडाल्फ रोठ (Rudolph Roth) ने लिखी। इस पुस्तिका से यूरोप में वैदिक साहित्य के अनुशीलन की ओर वास्तविक और गहरी प्रवृत्ति पैदा हुई।

यूरोप में वैदिक साहित्य के अनुशीलन के इतिहास में रोठ महोदय का स्थान अनोखा है। उनके समय तक उक्त अनुशीलन यूरोप में जिस दृष्टि से होता था, उसमें एक नया युग उपस्थित हो गया। आप को ऐतिहासिक दृष्टि से तथा स्वतन्त्र रीति से वैदिक साहित्य के अनुशीलन की पद्धति का मार्ग-दर्शक कहा जा सकता है। आपसे प्रथम विद्वानों का विचार था कि वेदों के अर्थ के लिये हमें भारतीय 'सायण' आदि के भाष्यों का ही अनुसरण करना चाहिये, क्योंकि वेदों का अर्थ हम स्वतन्त्र रीति से नहीं कर सकते। आपने दिखला दिया कि वेदों के अर्थ, वैदिक साहित्य से सैंकड़ों वर्षों के बाद के साहित्य की सहायता से नहीं, किन्तु वेदों की ही सहायता से करना चाहिये। आप के प्रकार के अनुसार सन्दिग्ध स्थलों में कठिन शब्दों के अर्थों को जानने के लिये हमें वेदों के ही वे सब वाक्य देखने चाहियें, जहां-जहां वह शब्द आया है। परन्तु हमारी सम्मति में आपका महत्त्व इसमे भी अधिक "सेंट पीटर्सवर्ग संस्कृत जर्मन महाकोश" के कारण है। वस्तुतः इस महाकोश के लिये तो, भारतवासियों को आपका तथा आपके इस कोश के काम में, साथी बेह्टलिंग्क् (Boeht-lingk) नामक दूसरे महोदय का आभारी होना चाहिये। इसका विशद रूप से वर्णन हम आगे करेंगे।

रोठ महाशय की उक्त पुस्तिका के निकलने के बाद ही यूरोप में वैदिक ग्रन्थों के संस्करणों और वेदों तथा अन्य वैदिक अनुवादों की ओर विद्वानों की जोरों से प्रवृत्ति हुई। वेबर, मैक्स मूलर, आउफ्रेक्ट, व्यन्के आदि विद्वान् प्रधानतया वेदों के संस्करण कराने में लगे और विल्सन, ग्रासमन, लुडबिग, ग्रिफिथ आदि ने वेदों का अनुवाद हाथ में लिया। इनमें से जो मुख्य नाम हैं, उन का कुछ विवरण सुनिये।

ए० वेबर (A. Weber) नामक जर्मन विद्वान् का नाम वैदिक साहित्य के आधुनिक अनुशीलन के साथ सदा सादर लिया जायगा। आपका विस्तृत, अगाध, सूक्ष्मदर्शी पाण्डित्य किस को आश्चर्य में न डालेगा? १८५२ में "भारतवर्षीय साहित्य के इतिहास पर यूनिवर्सिटी व्याख्यान" नामक पुस्तक में प्रथम बार आपने वैदिक साहित्य का सुसम्बद्ध और विस्तृत वर्णन किया। इसके अतिरिक्त आपने अनेकानेक वैदिक पुस्तकों का सम्पादन किया और "इण्डिश स्टुडियन" नामक रिसर्च जर्नल में बहुत कुछ वैदिक अनुसन्धान के विषय में लिखा।

आउफ्रेक्ट और व्यन्के नामक विद्वानों को भी हम नहीं भूल सकते। इन्होंने क्रम से ऋग्वेद-संहिता तथा सानुवाद सामवेद-संहिता का सम्पादन किया।

मैक्स मूलर महोदय का नाम तो भारतवर्ष में शिक्षित लोगों में काफी प्रसिद्ध है। यह अपने समय में भारतवर्षीय साहित्य के ज्ञाता तथा यूरोपीय विद्वानों के शिरोमणि थे। आपके विभिन्न विषयों के कार्यों को देखकर मनुष्य अवाक् हो रहता है। आपने अनेक प्रकार से वैदिक साहित्य के विषय में कार्य किया, परन्तु सबसे बड़ा काम इस विषय में आपका सायण-भाष्य के सहित ऋग्वेद का प्रथम बार विवेचना-पूर्वक सम्पादन करके संस्करण निकालने का था। इस विशाल ग्रन्थ के संस्करण से यूरोप में वैदिक-साहित्य-विषयक अध्ययन-अध्यापन की जड़ पक्की हो गई और तबसे उसकी खास तौर पर उन्नति हुई। आपने "प्राचीन संस्कृत-साहित्य" नामक पुस्तक में वैदिक साहित्य का बड़ी विद्वत्ता से विचार किया। इस पुस्तक का मूल्य विद्वानों की दृष्टि में अब भी काफी है और इससे पश्चिम में वैदिक अनुसन्धान में बहुत कुछ उत्तेजना मिली। आपने ऋग्वेद के कुछ अंशों का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया। आपने "सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ-माला में अनेक वैदिक ग्रन्थों का स्वयं तथा दूसरों के द्वारा अनुवाद निकाला। आपके अनेक निबन्ध ऐसे हैं, जिनमें आपने भाषा-विज्ञान तथा पुराण-विज्ञान आदि के विचारों में वेदों से काफी सहायता ली है।

इन उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त और भी अनेकानेक पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक साहित्य के विषय में पर्याप्त काम किया है। इस अवसर पर उन सबका विस्तृत वर्णन हम नहीं कर सकते, केवल संकेतमात्र ही किया जा सकता है। ऊपर जो नाम आ चुके हैं, उनके अतिरिक्त ओल्डेनबर्ग, ब्लूमफील्ड, ह्विटने, गेल्डनर, पिशेल, मैक्डानल, कीथ आदि-आदि जीवित या स्वर्गत विद्वानों के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ अब भी वैदिक साहित्य की ज्योति का प्रकाश पाश्चात्य देशों में फैला रहे हैं और तरह-तरह से वैदिक साहित्य की सेवा कर रहे हैं।

इस प्रकार थोड़े से काल में ही पाश्चात्य देशों में वैदिक-साहित्य-विषयक पाण्डित्य ने जो उन्नति की है, वह आश्चर्य में डालनेवाली है। जहां भारतवर्ष में आजकल के सब प्रकार के पुनर-

भ्युत्थान के दिनों में भी हम लोग वैदिक साहित्य के पुनरुज्जीवन के लिये नाममात्र को ही काम कर रहे हैं या कर पाते हैं, वहां यूरोप और अमेरिका के विद्वान् उससे सैकड़ों गुना अधिक काम कर चुके हैं और कर रहे हैं।

पाश्चात्त्य विद्वानों की वेदों के अर्थ करने की प्रक्रिया और उसके गुण-दोष—

वैदिक-साहित्य-विषयक पाश्चात्त्य विद्वानों के काम को ठीक-ठीक समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम उनकी वेदों के अर्थ करने की प्रक्रिया को समझ लें।

जब से वैदिक साहित्य के अनुशीलन की प्रवृत्ति का प्रारम्भ यूरोप में हुआ है, तब से पाश्चात्त्य विद्वानों की वेदों के अर्थ करने में सदा एक-सी दृष्टि नहीं रही है। वास्तव में इसका भी इतिहास लिखा जा सकता है। हम अति संक्षेप में ही इसका वर्णन करेंगे। साथ ही इसके गुण-दोष को भी दिखलाने की चेष्टा करेंगे।

एक समय ऐसा था जब कि पाश्चात्त्य विद्वानों की आस्था वेदों के महत्त्व के विषय में कुछ भी नहीं थी। इसके अनन्तर वह समय आया जब कि वेदों में रुचि दिन-प्रतिदिन अधिक बढ़ने लगी। इस समय प्रारम्भ में वे आखें मूंदकर भारतीय भाष्यकारों—सायण आदि—का अनुसरण करते थे। यह युग चिर काल तक नहीं रहा। एक नये युग का प्रारम्भ, जैसे हम ऊपर कह चुके हैं रोठ महाशय से हुआ। इसके बाद अनेक विद्वानों ने वेदार्थ करने की प्रक्रिया के विषय में थोड़े बहुत भेद के साथ अन्य मतों का भी प्रतिपादन किया। इन में से किसी का झुकाव भारतीय साम्प्रदायिक पद्धति की ओर अधिक था और किसी का नवीन पद्धति की ओर। यद्यपि आजकल अनेक विद्वान् इन दोनों के बीच का मार्ग ही पसन्द करते हैं तो भी यह कहना अनुचित न होगा कि पाश्चात्त्य विद्वान् अब भी रोठ के द्वारा प्रदर्शित पद्धति के अनुसरण में ही कुछ दबा हुआ स्वाभिमान अनुभव करते हैं। उनकी दृष्टि में प्राचीन भारतीय टीकाकारों का वेदों के अर्थों में प्रामाण्य बहुत परिमित है। इसका कारण वे यह दिखलाते हैं कि वैदिक काल में और सायण आदि टीकाकारों के काल में सहस्रों वर्षों का अन्तर है। इस अन्तर में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करनेवाला कोई अविच्छिन्न सम्प्रदाय भी उनकी सम्मति में नहीं प्रतीत होता। यह अन्तर की बात वे समझते हैं, जो वेदों और निरुक्तों के विषय में भी ठीक ही है। निरुक्त और अन्य पिछली टीकाओं में एक-एक शब्द के आपाततः स्वेच्छा से किये गये, विकल्पेन, अनेक अर्थ इसी बात की पुष्टि करते हैं। इस प्रक्रिया का मुख्य आधार तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन है।

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रक्रिया का महत्त्व अत्यन्त अधिक है। वास्तव में आजकल की वैज्ञानिक प्रक्रिया का मूलाधार तुलनात्मक और ऐतिहासिक प्रक्रिया पर ही अवलम्बित है। वैदिक भावों के समझने में इससे वास्तव में बड़ी सहायता मिलती है। अनेक वैदिक काल के रीति-रिवाजों को दूसरे देश के अति प्राचीन रीति-रिवाजों को समझे बिना और उनसे तुलना किये बिना हम ठीक-ठीक समझ ही नहीं सकते। यही बात अनेक वैदिक देवताओं के मौलिक स्वरूप को समझने के विषय में भी ठीक है। उदाहरणार्थ यह विवादास्पद है कि वैदिक देवता वरुण या अश्विनों का वास्तव में भौतिक आधार क्या था। ऐसे विषयों में प्राचीन आर्य-जातियों की पौराणिक गाथाओं आदि के जानने से बहुत कुछ सहायता मिलती है। इसी प्रकार अनेक वैदिक शब्दों के मूलार्थों को

रोठ महाशय की उक्त पुस्तिका के निकलने के बाद ही यूरोप में वैदिक ग्रन्थों के संस्करणों और वेदों तथा अन्य वैदिक अनुवादों की ओर विद्वानों की जोरों से प्रवृत्ति हुई। वेबर, मैक्स मूलर, आउफ्रेक्ट, व्यन्के आदि विद्वान् प्रधानतया वेदों के संस्करण कराने में लगे और विल्सन, ग्रासमन, लुडबिग, ग्रिफिथ आदि ने वेदों का अनुवाद हाथ में लिया। इनमें से जो मुख्य नाम हैं, उन का कुछ विवरण सुनिये।

ए० वेबर (A. Weber) नामक जर्मन विद्वान् का नाम वैदिक साहित्य के आधुनिक अनुशीलन के साथ सदा सादर लिया जायगा। आपका विस्तृत, अगाध, सूक्ष्मदर्शी पाण्डित्य किस को आश्चर्य में न डालेगा? १८५२ में "भारतवर्षीय साहित्य के इतिहास पर यूनिवर्सिटी व्याख्यान" नामक पुस्तक में प्रथम बार आपने वैदिक साहित्य का सुसम्बद्ध और विस्तृत वर्णन किया। इसके अतिरिक्त आपने अनेकानेक वैदिक पुस्तकों का सम्पादन किया और "इण्डिश स्टुडियन" नामक रिसर्च जर्नल में बहुत कुछ वैदिक अनुसन्धान के विषय में लिखा।

आउफ्रेक्ट और व्यन्के नामक विद्वानों को भी हम नहीं भूल सकते। इन्होंने क्रम से ऋग्वेद-संहिता तथा सानुवाद सामवेद-संहिता का सम्पादन किया।

मैक्स मूलर महोदय का नाम तो भारतवर्ष में शिक्षित लोगों में काफी प्रसिद्ध है। यह अपने समय में भारतवर्षीय साहित्य के ज्ञाता तथा यूरोपीय विद्वानों के शिरोमणि थे। आपके विभिन्न विषयों के कार्यों को देखकर मनुष्य अवाक् हो रहता है। आपने अनेक प्रकार से वैदिक साहित्य के विषय में कार्य किया, परन्तु सबसे बड़ा काम इस विषय में आपका सायण-भाष्य के सहित ऋग्वेद का प्रथम बार विवेचना-पूर्वक सम्पादन करके संस्करण निकालने का था। इस विशाल ग्रन्थ के संस्करण से यूरोप में वैदिक-साहित्य-विषयक अध्ययन-अध्यापन की जड़ पक्की हो गई और तबसे उसकी खास तौर पर उन्नति हुई। आपने "प्राचीन संस्कृत-साहित्य" नामक पुस्तक में वैदिक साहित्य का बड़ी विद्वत्ता से विचार किया। इस पुस्तक का मूल्य विद्वानों की दृष्टि में अब भी काफी है और इससे पश्चिम में वैदिक अनुसन्धान में बहुत कुछ उत्तेजना मिली। आपने ऋग्वेद के कुछ अंशों का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया। आपने "सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ-माला में अनेक वैदिक ग्रन्थों का स्वयं तथा दूसरों के द्वारा अनुवाद निकाला। आपके अनेक निबन्ध ऐसे हैं, जिनमें आपने भाषा-विज्ञान तथा पुराण-विज्ञान आदि के विचारों में वेदों से काफी सहायता ली है।

इन उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त और भी अनेकानेक पाश्चात्त्य विद्वानों ने वैदिक साहित्य के विषय में पर्याप्त काम किया है। इस अवसर पर उन सबका विस्तृत वर्णन हम नहीं कर सकते, केवल संकेतमात्र ही किया जा सकता है। ऊपर जो नाम आ चुके हैं, उनके अतिरिक्त ओल्डेनबर्ग, ब्लूमफील्ड, ह्विटने, गेल्डनर, पिशेल, मैक्डानल, कीथ आदि-आदि जीवित या स्वर्गत विद्वानों के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ अब भी वैदिक साहित्य की ज्योति का प्रकाश पाश्चात्त्य देशों में फैला रहे हैं और तरह-तरह से वैदिक साहित्य की सेवा कर रहे हैं।

इस प्रकार थोड़े से काल में ही पाश्चात्त्य देशों में वैदिक-साहित्य-विषयक पाण्डित्य ने जो उन्नति की है, वह आश्चर्य में डालनेवाली है। जहां भारतवर्ष में आजकल के सब प्रकार के पुनर-

भ्युत्थान के दिनों में भी हम लोग वैदिक साहित्य के पुनरुज्जीवन के लिये नाममात्र को ही काम कर रहे हैं या कर पाते हैं, वहां यूरोप और अमेरिका के विद्वान् उससे सैकड़ों गुना अधिक काम कर चुके हैं और कर रहे हैं।

पाश्चात्त्य विद्वानों की वेदों के अर्थ करने की प्रक्रिया और उसके गुण-दोष—

वैदिक-साहित्य-विषयक पाश्चात्त्य विद्वानों के काम को ठीक-ठीक समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम उनकी वेदों के अर्थ करने की प्रक्रिया को समझ लें।

जब से वैदिक साहित्य के अनुशीलन की प्रवृत्ति का प्रारम्भ यूरोप में हुआ है, तब से पाश्चात्त्य विद्वानों की वेदों के अर्थ करने में सदा एक-सी दृष्टि नहीं रही है। वास्तव में इसका भी इतिहास लिखा जा सकता है। हम अति संक्षेप में ही इसका वर्णन करेंगे। साथ ही इसके गुण-दोष को भी दिखलाने की चेष्टा करेंगे।

एक समय ऐसा था जब कि पाश्चात्त्य विद्वानों की आस्था वेदों के महत्त्व के विषय में कुछ भी नहीं थी। इसके अनन्तर वह समय आया जब कि वेदों में रुचि दिन-प्रतिदिन अधिक बढ़ने लगी। इस समय प्रारम्भ में वे आखें मूंदकर भारतीय भाष्यकारों—सायण आदि—का अनुसरण करते थे। यह युग चिर काल तक नहीं रहा। एक नये युग का प्रारम्भ, जैसे हम ऊपर कह चुके हैं रोठ महाशय से हुआ। इसके बाद अनेक विद्वानों ने वेदार्थ करने की प्रक्रिया के विषय में थोड़े बहुत भेद के साथ अन्य मतों का भी प्रतिपादन किया। इन में से किसी का झुकाव भारतीय साम्प्रदायिक पद्धति की ओर अधिक था और किसी का नवीन पद्धति की ओर। यद्यपि आजकल अनेक विद्वान् इन दोनों के बीच का मार्ग ही पसन्द करते हैं तो भी यह कहना अनुचित न होगा कि पाश्चात्त्य विद्वान् अब भी रोठ के द्वारा प्रदर्शित पद्धति के अनुसरण में ही कुछ दबा हुआ स्वाभिमान अनुभव करते हैं। उनकी दृष्टि में प्राचीन भारतीय टीकाकारों का वेदों के अर्थों में प्रामाण्य बहुत परिमित है। इसका कारण वे यह दिखलाते हैं कि वैदिक काल में और सायण आदि टीकाकारों के काल में सहस्रों वर्षों का अन्तर है। इस अन्तर में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करनेवाला कोई अविच्छिन्न सम्प्रदाय भी उनकी सम्मति में नहीं प्रतीत होता। यह अन्तर की बात वे समझते हैं, जो वेदों और निरुक्तों के विषय में भी ठीक ही है। निरुक्त और अन्य पिछली टीकाओं में एक-एक शब्द के आपाततः स्वेच्छा से किये गये, विकल्पेन, अनेक अर्थ इसी बात की पुष्टि करते हैं। इस प्रक्रिया का मुख्य आधार तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन है।

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रक्रिया का महत्त्व अत्यन्त अधिक है। वास्तव में आजकल की वैज्ञानिक प्रक्रिया का मूलाधार तुलनात्मक और ऐतिहासिक प्रक्रिया पर ही अवलम्बित है। वैदिक भावों के समझने में इससे वास्तव में बड़ी सहायता मिलती है। अनेक वैदिक काल के रीति-रिवाजों को दूसरे देश के अति प्राचीन रीति-रिवाजों को समझे बिना और उनसे तुलना किये बिना हम ठीक-ठीक समझ ही नहीं सकते। यही बात अनेक वैदिक देवताओं के मौलिक स्वरूप को समझने के विषय में भी ठीक है। उदाहरणार्थ यह विवादास्पद है कि वैदिक देवता वरुण या अश्विनों का वास्तव में भौतिक आधार क्या था। ऐसे विषयों में प्राचीन आर्य-जातियों की पौराणिक गाथाओं आदि के जानने से बहुत कुछ सहायता मिलती है। इसी प्रकार अनेक वैदिक शब्दों के मूलार्थों को

समझने में भी तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से विभिन्न सम्बद्ध प्राचीन भाषाओं के अध्ययन से बहुत कुछ सहायता मिलती है। इस दृष्टि से आधुनिक पाश्चात्य वैदिक विद्वान् निःसन्देह हमारे प्राचीन वैदिक टीकाकारों से अधिक अच्छी अवस्था में हैं। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान या तुलनात्मक पुराण-विज्ञान की उनके दिनों में उत्पत्ति ही नहीं हुई थी। ऐसी अवस्था में उनकी दृष्टि आधुनिक विद्वानों की तरह विस्तृत और असंकीर्ण हो ही नहीं सकती थी। इस प्रकार के विस्तृत ज्ञान की वेदार्थ करने में आवश्यकता को अपनी दृष्टि से हमारे प्राचीन आचार्यों ने भी स्वीकार किया ही है। कहा है—

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।"

दूसरे, यह नहीं समझना चाहिये कि यह 'आधुनिक' प्रक्रिया पाश्चात्यों की बिल्कुल अपनी ही सूझ है। निरुक्त के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि उन दिनों भी वेदों के अर्थों को अनेक दृष्टियों को लेकर अनेक प्रकार से किया जाता था। याज्ञिक, नैदान, नैरुक्त आदि अनेक दृष्टियों को यास्क ने दिखलाया है। आजकल की पाश्चात्त्य प्रक्रिया को हम बहुत कुछ नैरुक्त और ऐतिहासिक मत का एकत्रीकरण कह सकते है।

उक्त गुणों के रहने पर भी उक्त आधुनिक प्रक्रिया का ऐकान्तिक रूप से अनुसरण करने में मुख्य दोष यह आता है कि भारतीय सम्प्रदाय को उचित स्थान इस प्रक्रिया में नहीं दिया जाता। परन्तु वास्तव में सम्प्रदाय का महत्त्व किसी भी बात के ऐतिहासिक स्वरूप को समझने में काफी होता है। सम्प्रदाय इतिहासों का इतिहास होता है, क्योंकि इतिहासों के लिखने में और किसी ऐतिहासिक प्रवृत्ति के समझने में सम्प्रदाय से अत्यन्त सहायता मिलती है। सम्प्रदाय को हम अदृश्य अक्षरों में जाति के हृदय-प्रस्तर पर खुदा हुआ शिला-लेख कह सकते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उन अक्षरों को ठीक-ठीक पढ़ा जाय।

धीरे-धीरे अब भारतीय विद्वान् इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि वैदिक काल और वैदिक टीकाकारों को परस्पर सम्बद्ध करनेवाली एक साम्प्रदायिक अविच्छिन्न धारा सदा से चली आ रही है। पिछले वर्ष हमने ही एक लेख "आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस" के पटना के अधिवेशन में पढ़ा था। उसका महत्त्व इसी दृष्टि से था। उसमें ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार स्कन्द स्वामी तथा उनके शिष्य शतपथ-भाष्यकार हरिस्वामी के समय का निर्णय किया गया था। अब तक उनका समय ११वीं शताब्दी के लगभग बतलाया जाता था और इस प्रकार पाश्चात्त्य विद्वान् यह कहते हैं कि वेदार्थ करने का कोई प्राचीन परम्परागत सम्प्रदाय नहीं था इसलिए सायण आदि ने स्वमनःकल्पित पद्धति का ही अवलम्बन किया है। परन्तु एक अद्भुत खोज के आधार पर हमने दिखलाया है कि स्कन्द स्वामी छठी शताब्दी में हुए थे। इस प्रकार उनमें और सायण में कोई आठ शताब्दियों का अन्तर पड़ता है। फिर भी उनका और सायण का प्रकार एक ही है। स्कन्द स्वामी भी अपने से प्राचीनतर टीकाकारों का उल्लेख करते हैं। इन सबसे सम्प्रदाय की अविच्छिन्न धारा की बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है। इन कारणों से सम्प्रदाय को हम किसी दशा में उपेक्षणीय नहीं कह सकते।

पाश्चात्य विद्वानों का काम—

अब हम वैदिक साहित्य में पाश्चात्य विद्वानों के काम को लेते हैं। मोटे तौर पर उनका काम निम्न विभागों में बांटा जा सकता है—

(१) वैदिक ग्रन्थों का विवेचना-पूर्वक सम्पादन;
(२) वैदिक ग्रन्थों का अनुवाद और व्याख्यान;
(३) वैदिक कोशों का निर्माण;
(४) वैदिक-व्याकरण-विषयक कार्य;
(५) वैदिक-छन्दो-विषयक कार्य;
(६) वैदिक साहित्य की सूचियां;
(७) वैदिक-पुराण-विज्ञान-विषयक ग्रन्थ-निर्माण;
(८) वैदिकसाहित्य-विषयक सामान्य अनुसन्धान।

इन विभागों में से एक-एक को लेकर हम उनका संक्षिप्त और आवश्यक वर्णन ही नीचे देंगे।

(१) वैदिक ग्रन्थों का विवेचनात्मक सम्पादन और संस्करण—

पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक साहित्य के विषय में जितना काम किया है, उसमें ऊपर के शीर्षक में निर्दिष्ट काम का बड़ा ऊंचा स्थान है। उस समय जबकि वेदों की प्रतियां भारतवर्ष में भी देखने को मुश्किल से मिल सकती थीं और साधारण लोगों का यह ख्याल था कि वेद कभी पुराने समय में तो उपलब्ध थे, पर अब नष्ट हो चुके हैं तथा जब अच्छे-अच्छे पण्डित भी सम्पूर्ण वेदों के दर्शन नहीं कर सकते थे ऐसे समय में वेदों के सहस्रों वर्षों की पुरानी पुस्तकों के शुद्ध एवं प्रामाणिक संस्करण निकालना अनोखे पाण्डित्य और परिश्रम आदि की दृष्टि से ही एक परम प्रशंसनीय काम नहीं था परन्तु भारतवासियों के धर्म और सभ्यता की रक्षा की दृष्टि से भी उसकी जितनी सराहना की जाय थोड़ी है। यह भारत के साथ एक बड़ा उपकार था। यह किसने नहीं सुना है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने जर्मनी से ही वेदों की छपो प्रतियां मंगाकर उनको भारतवर्ष में छपवाया था ?

परन्तु पाश्चात्य विद्वानों द्वारा सम्पादित वैदिक ग्रन्थों का महत्त्व अब भी कुछ कम नहीं है। विवेचना-पुरःसर ग्रन्थ-सम्पादन का पाठ वस्तुतः भारतीयों ने पाश्चात्य विद्वानों से ही सीखा है। कुछ भारतीय विद्वान् तो उनसे प्रभावित होकर अब उन्हीं की तरह विवेचनात्मक संस्करण, सफलतापूर्वक निकालने लगे हैं। पर अब भी प्रायः करके यूरोप और अमेरिका में छपे संस्करण भारतीय संस्करणों से शुद्धता, सुन्दरता तथा उपयोगिता आदि की दृष्टि से कहीं अधिक अच्छे होते हैं। कुछ भी सही यूरोप और अमेरिका के विद्वानों के द्वारा किये गये अनुवादादि से चाहे मुख्यतया उन्हीं को लाभ हुआ हो, पर उनके ये संस्करण कुछ अधिक तेज होते हुए भी भारतीय और पश्चिमीय विद्वानों के लिये बड़े ही काम की चीजें हैं।

कुछ थोड़े से चुने हुए विद्वानों द्वारा किये गये सम्पादन को छोड़कर भारतवर्ष में साधारण-या प्रचलित सम्पादन में और पाश्चात्य देशों में प्रचलित विवेचनात्मक सम्पादन में महान् अन्तर

है। यहां बड़े-से-बड़े पण्डितों को भी यह पता नहीं कि ग्रन्थ-सम्पादन भी एक ऐसी कला है। इसके प्रतिकूल पाश्चात्य देशों में ग्रन्थ-सम्पादन का भी एक विशाल विज्ञान बन गया है।

विवेचनात्मक सम्पादन (Critical edition) में शुद्धता, सुन्दरता आदि के साथ-साथ यह आवश्यक होता है कि हस्त-लिखित ग्रन्थ-सामग्री (Ms. Material) का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन पूर्ण रूप से किया जाय। और इसके आधार पर प्राचीनतम या मौलिक पाठ का निर्णय किया जाय। यह बड़ा गूढ़ विषय है जिसका यहां संक्षेप से भी वर्णन नहीं किया जा सकता। ऐसे संस्करण में यह भी आवश्यक है कि उस ग्रन्थ में से सामान्य दृष्टि से जो-जो उपयोगी और रुचिकर सूचना मिल सके, उसे इकट्ठी करके दिखलाया जाय। ग्रन्थकार को समय आदि का निर्णय तथा अनेक प्रकार की सूचियां भी आवश्यक होती हैं। भारतवर्षीय साधारण संस्करणों में इन सबका प्रायः अभाव रहता है। प्रायः इन संस्करणों का महत्त्व इनके आधारीभूत हस्तलिखित ग्रन्थ से भी कम होता है। यह नहीं सम्पादक लोग अपनी ओर से भी तरह-तरह की अशुद्धियां और भ्रान्तियों का समावेश मुद्रित ग्रन्थों में कर दिया करते हैं। इन बातों के अनेकानेक उदाहरण हम दे सकते हैं पर ऐसा करना यहां उचित नहीं दीखता।

विवेचनात्मक सम्पादन के विषय में इतने आवश्यक प्राक्कथन के अनन्तर हम पाश्चात्य विद्वानों द्वारा सम्पादित ग्रन्थों को लेते हैं। यों तो पश्चिम में सैकड़ों वैदिक ग्रन्थों का सम्पादन हो चुका है और होता रहता है पर यहां हम कुछ मुख्य-मुख्य संस्करणों का ही वर्णन करेंगे।

वैदिक संहिताएं ऋग्वेद-संहिता—

हम वैदिक ग्रन्थों के पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गये सम्पादन में सबसे ऊंचा स्थान मैक्स मूलर महाशय द्वारा सम्पादित सायण-भाष्य के सहित ऋग्वेद-संहिता को देते हैं। इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसका प्रारम्भ १८४६ ई० में और समाप्ति १८७५ में हुई। ३००० से अधिक पृष्ठों की इस बृहत् पुस्तक का सम्पादन करना उन दिनों कुछ आसान बात न थी। सम्पादक के परिश्रम का अनुमान उनके कई सौ पृष्ठों के नोटों तथा भूमिका से ही हो सकता है। इसका सुधरा हुआ द्वितीय संस्करण बड़ी सावधानता के साथ १८९०—१८९२ में मुद्रित हुआ। ये दोनों संस्करण लन्दन में हुए थे। इन संस्करणों की तुलना यदि हम गणपत कृष्णाजी के सभाष्य ऋग्वेद संहिता के संस्करण से करें तो दोनों का भेद तत्काल प्रतीत हो जायेगा। बम्बई के संस्करण में और तो क्या, पदच्छेद भी ठीक-ठीक नहीं किया गया है। मैक्स मूलर महोदय ने १८७३ में मूल संहिता और पदपाठ को भी पृथक्-पृथक् छपवाया था। इसकी सुन्दरता देखते ही बनती है।

ऋग्वेद-संहिता के उक्त संस्करण देवनागरी अक्षरों में हैं। पर एक दूसरा संस्करण (मूल मात्र का), कुछ फुटनोटों के साथ रोमन अक्षरों में अत्यन्त योग्यता के साथ थ्यूडोर आउफ्रेक्ट (Theodor Aufrecht) नामक जर्मन विद्वान् ने १८६२—१८६३ में जर्मनी से निकाला। इसका दूसरा संस्करण १८७७ में निकाला गया। यूरोप के विद्वान् जिनको रोमन लिपि का अधिक अभ्यास होता है, इसी संस्करण को प्रायः अधिक उपयोग में लाते हैं। प्रो० मैक्डानल को यह संस्करण बड़ा प्रिय था। उनकी अपनी प्रति अनेकानेक नोटों से भरी थी।

इस संहिता के भारतीय संस्करण अशुद्ध और इसी कारण अनुसन्धान आदि के कार्य के लिये अविश्वसनीय हैं। अब भी भारतवर्ष में इन पाश्चात्त्य संस्करणों से अच्छा संस्करण प्राप्य नहीं है।

यजुर्वेद-संहिता—

शुक्ल-यजुर्वेदीय वाजसनेयि-संहिता (माध्यन्दिन तथा काण्व शाखाओं के पाठों के सहित और महीधर-भाष्य के साथ) सबसे प्रथम बर्लिन शहर में प्रो० वेबर द्वारा सम्पादित होकर अनेक तालिकाओं तथा देवनागरी अक्षरों में पाठान्तरों के साथ १८४९-१८५२ में छपायी गई।

इन्हीं विद्वान् ने अपने "इण्डिश स्टुडियन" नामक रिसर्च जर्नल (जिल्दें ११, १२) में तैत्तिरीय-संहिता को रोमन अक्षरों में सम्पादित कर १८७१-१८७२ में अनेकानेक उपयोगी नोटों के साथ निकाला।

इसी संहिता के पदपाठ का विस्तृत विचार इन्हीं विद्वान् ने इसी जर्नल की १३वीं जिल्द में किया है।

कृष्ण-यजुर्वेदीय मैत्रायणी-संहिता १८८१-१८८६ में प्रो० श्रेडर (L. V. Schroeder) द्वारा बड़ी योग्यता से सम्पादित होकर लाइब्जिग नगर से प्रकाशित की गयी।

कृष्ण-यजुर्वेदीय काठक-संहिता का भी उक्त प्रोफेसर महोदय ने सम्पादन किया और वह भी उक्त नगर से ही १९००-१९१० में प्रकाशित हुई।

यह स्मरण रखना चाहिये कि ये दोनों संहिताएं अभी तक भारतवर्ष में कहीं भी नहीं छपी हैं।

सामवेद-संहिता—

राणायणीय शाखा की सामवेद-संहिता का सबसे पहला संस्करण जे० स्टेवेन्सन (G. Stevenson) महोदय ने लन्दन से १८४२ में अंग्रेजी अनुवाद के साथ निकाला था। इसी प्रकार कौथुम शाखीय साम-संहिता का सम्पादन १८४८ में बेन्फे (Tho. Benfey) महोदय ने किया और जर्मन अनुवाद अनेक उपयोगी परिशिष्ट तथा शब्दकोश के साथ लाइब्जिग नगर से इसे प्रकाशित कराया।

अथर्व-संहिता—

शौनक-शाखीय अथर्व-संहिता का सबसे प्रथम सम्पादन रोठ और ह्विटने (W. D. Whitney) महोदयों ने किया। यह संस्करण १८५६ में बर्लिन से निकला था।

पैप्पलाद-शाखीय अथर्व-संहिता की संसार भर में केवल एक हस्तलिखित प्रति काश्मीर में मिली थी। प्रो० ब्लूम फील्ड और गार्बे (M. Bloomfield, R. Garbe) ने इस अतिजीर्ण प्रति का पूरा फोटो लेकर, उसी फोटो के रूप में तीन बड़ी-बड़ी जिल्दों में इसे १९०१ में जर्मनी में छपवाया। यह शारदा लिपि में है। यह एक दर्शनीय पुस्तक है और किसी भी पुस्तकालय के लिये गर्व और शोभा की वस्तु है। फोटो होने से यह उस हस्तलिखित प्रति की हूबहू नकल है। यहां तक कि

कागज का रङ्ग भी ज्यों का त्यों दिखलाई देता है। पुस्तक देखने से मालूम होता है, मानो मूल प्रति के पन्ने कागज पर चिपका दिये गये हैं! यदि यह संस्करण न होता, तो संसार भर में एक-मात्र उस अति जीर्ण प्रति के नष्ट होने पर संसार से यह शाखा ही अन्य शाखाओं को तरह सदा के लिये लुप्त हो जाती। इसी से प्रतीत हो जायेगा कि पाश्चात्त्य विद्वानों ने किस प्रेम और मनो-योग से व्यय और परिश्रम की परवाह न कर भारतीय विद्या की रक्षा में सहायता की है।

ऊपर हमने वैदिक संहिताओं के विषय में ही पाश्चात्त्य विद्वानों के काम को मोटे तौर पर दिखलाया है। अब प्रत्येक वेद के ब्राह्मणों को लीजिये। "मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस प्रमाण के अनुसार ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी वेद ही समझा जाता है। विस्तार के भय से आरण्यकों तथा उप-निषदों का वर्णन यहां हम नहीं करेंगे यद्यपि इनके विषय में भी पाश्चात्त्य विद्वानों ने बहुत काम किया है।

ऋग्वेदीय ब्राह्मण—

१८६३ में ऐतरेय-ब्राह्मण का सम्पादन अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रो० हाउग (M. Haug) ने किया। यह पुस्तक दो जिल्दों में बम्बई से प्रकाशित हुई थी, पर ब्राह्मण का सबसे अच्छा संस्करण आउफ्रेक्ट महोदय का है। इसमें सायण-भाष्य के उपयोगी अंश और अनेक सूचियां भी दी गई हैं। बान नगर से १८७९ में यह रोमन अक्षरों में प्रकाशित हुआ था।

प्रो० लिण्डनर (B. Lindner) ने कौषीतकि-ब्राह्मण का सम्पादन किया और यह जेना नगर में १८८७ में मुद्रित हुआ।

यजुर्वेदीय ब्राह्मण—

माध्यन्दिन-शाखीय शतपथ-ब्राह्मण का सबसे पहला संस्करण १८५५ में बर्लिन से निकला। इसका सम्पादन प्रसिद्ध विद्वान् वेबर महोदय ने किया था।

सामवेदीय ब्राह्मण—

अद्भुत-ब्राह्मण का सम्पादन प्रो० वेबर ने किया और यह संस्करण जर्मन अनुवाद के साथ १८५८ में बर्लिन से प्रकाशित हुआ। बर्नेल (A. C. Burnell) महोदय ने कई सामवेदीय ब्राह्मणों का सम्पादन किया। इनके द्वारा सम्पादित ब्राह्मणों में से साम-विधान ब्राह्मण लन्दन से १८७३ में, वंश-ब्राह्मण और देवताध्याय-ब्राह्मण १८७३ में, आर्षेय-ब्राह्मण १८७६ में और संहितोपनिषद्-ब्राह्मण १८७७ में मङ्गलोर से प्रकाशित हुए। वंश-ब्राह्मण का सम्पादन वेबर महोदय ने भी किया और अपने उपर्युल्लिखत जर्नल की चौथी जिल्द में उसे निकाला। जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण का सम्पादन एर्टल (K. Oertel) महोदय ने किया और इसे "अमेरिकन ओरिएण्टल जर्नल" की सोलहवीं जिल्द में अंग्रेजी अनुवाद और टिप्पणियों के साथ निकाला।

अथर्ववेदीय ब्राह्मण—

गोपथ-ब्राह्मण को बड़ी योग्यता से गास्ट्रा (D. Gaastra) महोदया ने सम्पादित किया है और यह लेडन नगर से १९१९ में प्रकाशित हुआ है।

श्रौतसूत्रादि अन्य वैदिक ग्रन्थ

इसी प्रकार प्रत्येक वेद के अनेक श्रौत और गृह्य सूत्रों का भी पाश्चात्त्य विद्वानों ने सम्पादन किया है। उनमें से अनेक अभी तक भारतवर्ष में नहीं मुद्रित हुए हैं। यहां उनका विशेष वर्णन विस्तार के भय से हम नहीं करेंगे। केवल विशिष्ट विद्वानों का नामोल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा। उक्त सूत्र-ग्रन्थों के सम्पादकों में आश्वलायन-गृह्यसूत्र, पारस्कर-गृह्यसूत्र आदि के सम्पादक स्टेन्सलर (A F. Stenzler), शाङ्खायन श्रौतसूत्र के सम्पादक हिलब्रान्ड्ट (A. Hillebrandt), बौधायन श्रौतसूत्र आदि के सम्पादक कैलेण्ड (W. Caland), आपस्तम्ब श्रौतसूत्र आदि के सम्पादक गार्बे (R. Garbe), मानव श्रौतसूत्र आदि के सम्पादक क्नाउएर (F Knauer), कात्यायन श्रौतसूत्र के सम्पादक वेबर, कौशिक-सूत्र के सम्पादक ब्लूमफील्ड आदि महोदयों के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

इसके अतिरिक्त और भी निरुक्त, प्रातिशाख्य आदि कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनका वेदों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके विषय में जितना काम अभी तक हुआ है वह ज्यादातर पाश्चात्त्य विद्वानों ने ही किया है। इस सम्बन्ध में निरुक्त के सम्पादक रोठ, ऋग्वेद-प्रातिशाख्य के सम्पादक मैक्स मूलर और रिजे (Regnier), तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य और अथर्व-प्रातिशाख्य के सम्पादक ह्विटने, वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के सम्पादक वेबर, षड्गुरुशिष्य की टीका के साथ ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी तथा शौनकीय बृहद्देवता के सम्पादक मैक्डानल (A.A. Macdonell) आदि विद्वानों के नाम सादर उल्लेखनीय हैं।

(२) वैदिक ग्रन्थों के अनुवाद और व्याख्यान

सम्पादन की तरह सैकड़ों वैदिक ग्रन्थों के अनुवाद और विवेचनात्मक व्याख्यान भी अब तक अंग्रेज, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओं में हो चुके हैं। ये अनुवाद आदि, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा गृह्यसूत्र आदि ऊपर दिखलाये हुए सब ही प्रकार के ग्रन्थों के हैं। लेख के बड़े हो जाने से उन सबका वर्णन हम यहां नहीं कर सकते, तो भी कुछ ग्रन्थों के अनुवादों का उल्लेख, ग्रन्थों के सम्पादन के प्रसङ्ग में ऊपर आ ही चुका है। यहां हम विशेषतया संहिताओं और ब्राह्मणों के ही पूरे अनुवाद आदि का वर्णन कर सकेंगे।

प्रथम हम ऋग्वेद के अनुवादों को लेते हैं। जहां तक हम समझते हैं अभी तक भारतवर्ष को किसी भी भाषा में चारों वेदों का तो क्या कहना, ऋग्वेद का भी कोई पूर्ण अनुवाद नहीं। परन्तु यूरोप की एक-एक भाषा में ऋग्वेद के कई-कई अनुवाद हो चुके हैं। ऋग्वेद का यूरोप में सबसे पहले अंग्रेजी में अनुवाद विलसन (H. H. Wilson) महोदय ने निकाला। १८५० में यह आरम्भ हुआ था। आप आक्सफोर्ड में सबसे पहले संस्कृत के प्रोफेसर थे। आपने हूबहू सायण का अनुसरण किया है। आपका खयाल था कि वेदों के अर्थों के लिये हमें परम्परागत भारतीय सम्प्रदाय के ही पीछे चलना चाहिये।[1]

---

१. भारतवर्ष की अनेक भाषाओं में चारों वेदों का अनुवाद हुआ है। मराठी में चित्राव शास्त्री द्वारा और बंगला में रमेशचन्द्र दत्त द्वारा सम्पूर्ण ऋग्वेद का अनुवाद भारत प्रसिद्ध है।—सम्पादक

इसके अनन्तर जर्मन भाषा में सम्पूर्ण ऋग्वेद के दो अनुवाद निकले। पहला अनुवाद ग्रासमन (H. Grassmann) महोदय का पद्य में है। यह दो जिल्दों में लाइब्जिग नगर से, १८७६-७७ में प्रकाशित हुआ था। आप रोठ महाशय के शिष्य थे, इसलिये यह अनुवाद उन्हीं की पद्धति के अनुसार भारतीय टीकाकारों की उपेक्षा करके स्वतन्त्र दृष्टि से ही किया गया है।

दूसरा अनुवाद जर्मन गद्य में लुडविग (A. Ludwig) महोदय ने किया। यह छः जिल्दों में प्राग से, १८७६-१८८८ में प्रकाशित हुआ था। अनुवाद के साथ इसमें अत्यन्त उपयोगी विस्तृत व्याख्या भी दी गयी है। इस अनुवाद में भारतीय सम्प्रदाय का भी उचित उपयोग किया गया है। इसीलिये उपर्युक्त अनुवाद जैसी स्वतन्त्रता इसमें नहीं है।

१८८९-१८९२ में ग्रिफिथ (R. T. H. Griffith) महोदय ने ऋग्वेद का अंग्रेजी पद्य में अनुवाद किया। यह बनारस से प्रकाशित हुआ था। अनेक उपयोगी सूचियां और टिप्पणियां भी इसमें दी हैं। अनुवादक महोदय ने उक्त अनुवादों का तथा सायण-भाष्य का भी उचित उपयोग किया है।

इन अनुवादों के अतिरिक्त ऋग्वेद के ऊपर बड़ी अच्छी विवेचनापूर्ण व्याख्या प्रो० ओल्डेनबर्ग (H. Oldenberg) ने लिखी है। यह दो जिल्दों में बर्लिन से १९०९-१९१२ में प्रकाशित हुई थी। ऋग्वेद के ऊपर इससे अच्छी गवेषणापूर्ण व्याख्या और कोई नहीं है। इससे व्याख्याता की अगाध विद्वत्ता का पता चलता है। इन्हीं महोदय ने एक बहुत बड़ी पुस्तक में जिस को उक्त व्याख्या की भूमिका समझना चाहिये, ऋग्वेद-सम्बन्धी छन्दः आदि का बड़ा विस्तृत विवेचन, ५०० से अधिक पृष्ठों में, किया है। यह पुस्तक १८८८ में बर्लिन से प्रकाशित हुई थी।

अब यजुर्वेद को लीजिये। कृष्ण-यजुर्वेदीय तैत्तिरीय-संहिता का अंग्रेजी अनुवाद प्रो० कीथ (A. B. Keith) ने किया है। यह अमेरिका की "हार्वर्ड ओरिएण्टल सीरीज" की १८ वीं और १९ वीं जिल्दों में, १९१४ में प्रकाशित हुआ था। अनुवाद के साथ लगभग २०० पृष्ठों की भूमिका दी गयी है, जो बड़े महत्त्व की है और अनुवाद की अद्वितीय विद्वत्ता का परिचय देती है।

शुक्ल-यजुर्वेद का अंग्रेजी पद्य में अनुवाद, सूचियों आदि के साथ उक्त ग्रिफिथ महोदय ने किया है। यह १८९९ में बनारस से प्रकाशित हुआ था।

सामवेद के दो अनुवादों का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। उनके अतिरिक्त इसका ग्रिफिथ साहब का अंग्रेजी अनुवाद १८९३ में बनारस से प्रकाशित हुआ था।

अथर्ववेद के दो अंग्रेजी अनुवाद मौजूद हैं। ग्रिफिथ का अनुवाद बनारस से १८९५—९८ में प्रकाशित हुआ था। दूसरा ले० ह्विटने का है। इसको लैनमैन (C. R. Lanman) महोदय ने पूरा करके और शोध करके उपर्युक्त अमेरिका की सीरीज में (जिल्दें ७, ८), १९०५ में निकाला था। इसमें बड़ी विद्वत्ता-पूर्ण टिप्पणियां और विविध सूचियां भी दी गयी हैं। १५० से अधिक पृष्ठों की भूमिका भी है। पुस्तक १००० से अधिक पृष्ठों में समाप्त हुई है।

ब्राह्मणों में ऐतरेय-ब्राह्मण के एक अनुवाद का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मणों का अंग्रेजी में अनुवाद प्रो० कीथ ने किया है। यह उक्त अमेकिन सीरीज

में (जिल्द २४), १६२० में निकला था। इसके साथ में १०० से अधिक पृष्ठों की एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी है।

शतपथ-ब्राह्मण का अनुवाद अंग्रेजी में प्रो० एगलिङ्ग (J. Eggeling) ने किया है। बृहद् भूमिका के साथ यह "सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट सीरीज" की ५ (१२, २६, ४१, ४३, ४४) जिल्दों में निकला था।

साम-विधान ब्राह्मण का अनुवाद प्रो० कोनो (konow) ने किया है। इसका प्रकाशन १८९३ में हाल नगर से हुआ था।

इसी तरह प्रातिशाख्यों, अनुक्रमणियों आदि के भी अनुवाद तथा व्याख्यान बड़ी योग्यता से पाश्चात्य विद्वानों ने किये हैं। यहां इतना स्थान और अवकाश नहीं कि उनका वर्णन किया जाय।

(३) वैदिक कोशों का निर्माण—

किसी भाषा और साहित्य के समुचित अध्ययन के लिये कोश और व्याकरण अत्यन्त आवश्यक होते हैं। पाश्चात्त्य विद्वानों ने इन विषयों में भी जो काम किया है, वह आश्चर्य में डालने वाला है। वैदिक व्याकरण का वर्णन नीचे किया जायगा। यहां हम वैदिक कोशों को लेते हैं।

इस विषय में सब से अधिक महत्त्व का काम, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, रोठ और बेह्टलिंग्क महोदयों द्वारा निर्मित "संस्कृत जर्मन महाकोश" है। यह कोई १०००० (दस हजार) पृष्ठों में, सात भागों में समाप्त हुआ है। इसका प्रकाशन सेंट पीटर्सबर्ग नगर से १८५५-१८७५ में हुआ था। इसमें प्रत्येक शब्द को लेकर उसके जो-जो अर्थ, वैदिक साहित्य से लेकर पिछले संस्कृत-साहित्य तक हो सकते हैं, उनको दिया है। साथ में प्रमाण-स्वरूप, उन-उन स्थलों का भी निर्देश किया है, जहां-जहां वह शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार वास्तव में प्रत्येक शब्द का पूरा इतिहास यहां मिल जाता है। इस पुस्तक की पुरानी प्रतियों का मूल्य हमने यूरोप में देखा था एक-एक सहस्र मांगा जाता था। इसमें वैदिक भाग का निर्माण रोठ महाशय ने और संस्कृत-साहित्य-विषयक भाग का दूसरे महोदय ने किया है। पुराना होने पर भी यह कोश संस्कृत-प्रेमियों के लिये एक गर्व की चीज है।

दूसरा वैदिक कोश ग्रासमन महोदय का है। इसका सम्बन्ध केवल ऋग्वेद से है। इसमें प्रत्येक शब्द के नीचे उन सब ऋग्वेद स्थलों का उल्लेख किया है, जहां-जहां वह शब्द आया है। वैदिक अध्ययन के लिये यह एक आवश्यक पुस्तक है। इसका प्रकाशन १८७३-७५ में हुआ था।

प्रो० मैक्डानल और कीथ का "वैदिक इण्डेक्स" इस विषय में सबसे नवीन पर अत्युपयोगी कोश है। इसमें चुने हुए वैदिक शब्दों के बड़ी गवेषणा के साथ अर्थों का निर्णय किया गया है।

इनके अतिरिक्त और भी कई अच्छे कोश पाश्चात्त्य विद्वानों ने निर्माण किये हैं। उनका वर्णन करना यहां हम आवश्यक नहीं समझते।

(४) वैदिक व्याकरण—

वैदिक व्याकरण के विषय में भी पाश्चात्त्य विद्वानों ने बहुत कुछ काम किया है। अनेकानेक

गवेषणापूर्ण लेख रिसर्च के पत्रों में प्रकाशित हुए हैं। छोटी-बड़ी पचासों पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से वैदिक भाषा पर विचार किया गया है। यहां हम दो तीन अत्यावश्यक पुस्तकों का ही वर्णन पर्याप्त समझते हैं।

प्रो० ह्विटने की संस्कृत व्याकरण की पुस्तक प्रथम बार १८७६ में अमेरिका से प्रकाशित हुई थी। इसमें आपने लौकिक संस्कृत के साथ-साथ गौणरूप से वैदिक भाषा का भी व्याकरण दिया है। आपने ऐतिहासिक दृष्टि से ही गौण रूप से वैदिक व्याकरण का निर्देश किया है।

वैदिक व्याकरण की सबसे महत्त्व की पुस्तक मॅक्डानल की बड़ी "वैदिक ग्रामर" है। जर्मनी की प्रसिद्ध "ग्रुण्डरिस सीरीज" में १९१० में यह निकली थी। हमारी सम्मति में अपने विषय की यह सर्वोत्तम पुस्तक है। भारतवर्ष में कभी किसी ने वैदिक भाषा का व्याकरण की दृष्टि से ऐसा अच्छा सर्वाङ्ग-पूर्ण विचार नहीं किया। जहां पाणिनि-व्याकरण में वैदिक प्रयोगों को "बहुलं छन्दसि" कहकर टाल दिया है, वहां उक्त व्याकरण में उनको भी नियम में बांधने का प्रयत्न किया गया है। प्रो० मॅक्डानल ने अपने इस व्याकरण का एक संक्षिप्त छात्रोपयोगी संस्करण भी आक्सफोर्ड से प्रकाशित कराया है।

वैदिक व्याकरण की दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक जर्मन भाषा में प्रो० वाकरनागेल (J. Wackernagel) की है। पर यह अभी तक सन्धि प्रकरण तक ही छपी है। तिस पर भी काफी बड़ी हो चुकी है। यदि यह पुस्तक कभी पूरी हो सकी तो अपने विषय में सर्वोत्कृष्ट समझी जायेगी।

(५) वैदिक छन्द—

वैदिक छन्दों के ऊपर भी पश्चिम में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इस विषय का बड़ा विस्तृत विचार प्रो० वेबर ने अपने "इण्डिश स्टुडियन" नामक जर्नल की आठवीं जिल्द में किया है।

प्रो० आर्नाल्ड (E. V. Arnold) की "वैदिक मीटर" नामक पुस्तक में जो १९०५ में प्रकाशित हुई थी, केवल ऋग्वेद के ही छन्दों का विचार किया गया है।

(६) वैदिक साहित्य की सूचियां

अनुसन्धान की दृष्टि से विविध प्रकार की सूचियों का महत्त्व बहुत अधिक होता है। इनके व्यावहारिक उपयोग भी होते ही हैं। हमारे देश के प्राचीन समय के विद्वान् इसको खूब समझते थे तभी तो इन्होंने वेदों के लिये अनेक प्रकार की अनुक्रमणियों का निर्माण किया था। परन्तु खेद है आज कल हमारे पण्डितगण इनकी उपेक्षा करते हैं। पश्चिम में ऐसी बात नहीं है। विवेचनात्मक सम्पादन में सूचियां आवश्यक होती हैं, यह हम ऊपर कह चुके हैं। इस प्रकार तत्तत्सम्पादकों के द्वारा वैदिक ग्रन्थों की तरह-तरह की सूचियां तैयार हो चुकी हैं। भिन्न-भिन्न वेदों आदि की शब्द सूचियां भी इन्हीं में सम्मिलित हैं। उनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसी सूचियां हैं जो स्वतन्त्रतया तैयार की गई हैं और अनेक दृष्टियों से अत्यधिक उपयोगी हैं। उनमें से कुछ का वर्णन यहां आवश्यक है।

ऐसी सूचियों में सबसे ऊंचा स्थान हम प्रो० ब्लूमफील्ड द्वारा निर्मित "वैदिक कान्कार्डन्स" या "मन्त्र महासूची" को देते हैं। यह 'हार्वर्ड ओरिएण्टल सीरीज" की १०वीं जिल्द में १९०६ है

प्रकाशित हुई थी। इसमें रायल क्वार्टो के ११०२ पृष्ठ हैं। ग्रन्थकार के शब्दों में "यह उस समय तक छपे हुए वैदिक साहित्य की प्रत्येक ऋचा के प्रत्येक पाद की अन्य यजुः, प्रैष आदि गद्यमय मन्त्रों की सूची है। साथ ही इसमें भिन्न-भिन्न वैदिक ग्रन्थों में पाये जानेवाले मन्त्रों के पाठ-भेदों का भी निर्देश किया गया है।" कुछ अमुद्रित पुस्तकों का भी उपयोग ग्रन्थकार ने किया था। यह महासूची ११९ पुस्तकों के आधार पर बनी है जिनमें वैदिक संहिताओं से लेकर १० प्रकार की पुस्तकें सम्मिलित हैं। ऐसी महासूची के उपयोग के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। यह रोमन अक्षरों में है।

दूसरी महासूची "ऋग्वेदिक रेपिटीशन्स" नाम की इन्हीं ग्रन्थकार की उक्त ग्रन्थ-माला की २०वीं और २४वीं जिल्दों में निकली है। इसका उपयोग खासकर विशेषज्ञों के लिये ही है। एक महासूची "उपनिषद्वाक्य-कोश" कर्नल जैकब (J. A. Jacob) महोदय-कृत १८९१ में बम्बई में छपी थी। ६६ उपनिषदों के आधार पर बनी हुई यह सूची भी अत्यन्त उपयोगी है।

(६) वैदिक पुराण-विज्ञान—

इस विषय में भी पाश्चात्य विद्वानों ने ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से बहुत काम किया है। यहां तक कि इसी के आधार पर पश्चिम में स्वतन्त्र तुलनात्मक पुराण-विज्ञान (Comparative Mythology) की सृष्टि हो चुकी है।

इस विषय पर लिखनेवाले विद्वानों में प्रो० मैक्स मूलर, मैक्डानल और हिलब्राण्ड्ट के नाम सादर उल्लेखनीय हैं। आप लोगों ने इस विषय पर स्वतन्त्र विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें लिखी हैं।

(८) वैदिक साहित्य-विषयक सामान्य अनुसन्धान—

यूरोप और अमेरिका के ऐसी अनेक अनुसन्धान-पत्रिकाएं निकलती हैं, जिनका मुख्य ध्येय यही है कि भारतीय और पूर्वीय विषयों में अनुसन्धान और खोज को उत्तेजना दी जाय। इन पत्रिकाओं में अत्यन्त उपयोगी सैकड़ों लेख, वैदिक खोज के विषय में निकल चुके हैं और निकलते रहते हैं। इन पत्रिकाओं में से उदाहरणार्थ कुछ के नाम ये हैं—"जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन" (इङ्गलैण्ड से)। "जर्नल आफ दी अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी" (अमेरिका से)। इसी तरह का Z. D. M. G. नाम की प्रसिद्ध पत्रिका बर्लिन से निकलती है।

यहां हम वैदिक साहित्य के इतिहास के विषय में जो पुस्तकें लिखी गयी गई हैं उनका तथा अनेक ग्रन्थ-मालाओं का जिनमें अनेकानेक वैदिक ग्रन्थ तथा उनके अनुवाद निकल चुके हैं, स्थानाभाव से वर्णन नहीं कर सकते।

उपसंहार—स्थानाभाव से जो कुछ ऊपर दिया गया है वह बहुत ही संक्षिप्त है परन्तु इससे स्पष्ट हो जाता है कि हमारे वैदिक साहित्य में पाश्चात्य विद्वानों ने कितना घोर परिश्रम किया है और उनके इस परिश्रम से हम भारतवासियों को कितना लाभ हुआ है। आशा है इससे हम लोग अवश्य कुछ शिक्षा लेंगे।

[गङ्गा वेदाङ्क—जनवरी १९३२]
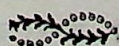
वेद और विदेशी विद्वान्

[ले०—डा० हरदत्त शर्मा एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर, सनातनधर्म कालेज, कानपुर]

सन् १८२३ में जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा संस्कृतभाषा के सबसे पहले जर्मन प्रोफेसर August Wilheim you Schelgel ने संस्कृत-साहित्य के विषय में जो कहा है, वह अक्षरशः ठीक उतरा है। उन्होंने लिखा है—"क्या अंग्रेज लोग भारतीय साहित्य पर अनन्य साधारण अधिकार का अभिमान कर सकते हैं ? अब यह सम्भव नहीं है। दालचीनी और लौंग भले ही वह रख लें, किन्तु भारतवर्ष के विचाररूपी रत्न समस्त शिक्षित संसार की पूंजी हैं।" क्या ही उच्च विचार हैं ! दुःख की बात तो यह है कि हम लोग न केवल दालचीनी तथा लौंग ही गंवा बैठे, अपितु इन विचार-रत्नों को भी ऐसे भूल बैठे कि पता ही नहीं चला कि कब हमारे रत्न हमारे हाथों से निकल गये। भारतवर्ष के गेहूं यहां से विदेश जाकर वहां से डब्बों में भर-भर कर फिर हमारे ही खाने के लिए जिस प्रकार आते हैं, उसी प्रकार हमारी विद्या, हमारा ज्ञान यहां से जाकर फिर विदेशी ग्रन्थों में भर-भर कर हमारे पाठ्यग्रन्थ तथा मान्य विचार होकर लौटते हैं। विश्वविद्यालयों में, कालेजों में तथा स्कूलों में, जहां देखिये, वहीं विदेशी ग्रन्थ ही पाठ्यक्रम में नियत मिलते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों से पाठकों को भली-भांति विदित हो जायगा कि विदेशियों ने कुल १२५ वर्ष के अन्दर एक ही विषय पर कितना विचार तथा सूक्ष्म विवेचन कर डाला है।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य काल में एक फ्रांसीसी ईसाई ने लैटिन में Ezour Veidam नामक ग्रन्थ लिखा, जो कि वाद में एक कपट सिद्ध हुआ। किन्तु इसी के आधार पर सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् Voltaire ने ब्राह्मणों के ज्ञान की प्रशंसा "Essai sur les Moers et e' Esport des Nations" नामक लेख में की। वेद के सम्बन्ध में सबसे पहला आभास Colebro-oke नामक अंग्रेज विद्वान् के "Religious Ceremonies of the Hindus" (7th Volume of the Asiatic Researches, 1801) लेख में पश्चिम को मिला है। इस लेख में Colebrooke ने प्रसङ्गतः वेदाङ्ग, ज्योतिष् तथा वैदिक-काल-निर्णय का उल्लेख किया है। किन्तु वेद-सम्बन्धी निश्चयात्मक विवरण Colebrooke के "Essay on the Vedas" (8th Volume of the Asiatic Researches, 1805) नामक लेख से पश्चिम को प्राप्त हुआ।

किन्तु उस लेख को पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि Colebrooke को वेद का महत्त्व नहीं समझ पड़ा। अपने लेख के अन्त में उसने लिखा है—"वेदों का इतना विस्तार है कि उनका सम्पूर्ण अनुवाद करने की चेष्टा व्यर्थ ही है और उनके अध्ययन से अनुवादक का क्या, पढ़नेवाले का भी परिश्रम सफल नहीं हो सकता। उनकी भाषा अत्यन्त प्राचीन तथा दुरूह है। तथापि प्रसङ्गवश उनका अवलोकन संस्कृत के विद्वानों को अवश्य करना चाहिये।" किन्तु इससे पाश्चात्त्य विद्वान् बिगतोत्साह नहीं हुए और जर्मन विद्वान् Friedrich Rosen ने, कुछ हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर, ऋग्वेद के प्रथम अष्टक को छापने का उद्यम किया। दुर्दैववश पुस्तक के छपने से पहले ही इसको कराल काल ने अपना क़वल बना डाला और यह पुस्तक उसकी मृत्यु के एक वर्ष बाद

१८३८ में लैटिन अनुवाद के सहित "Rigveda Samhita liber primus, Sanskrite it latine" नाम से छपी। छपते ही इस पुस्तक ने हलचल मचा दी। इस ग्रन्थ के आधार पर पश्चिम में जो चर्चा हुई, उसका परिणाम Max Muller कृत ऋग्वेद का संस्करण हुआ। इसकी कथा, मैं Max muller के ही शब्दों में उद्धृत करता हूं।

"सन् १८४५ में जब मैं College de France में प्रोफेसर Engene Burnouf के पास पढ़ता था, तब मेरे चित्त में विस्तृत भाष्य के सहित ऋग्वेद को छापने की इच्छा उत्पन्न हुई। मुझ को अब भी उन उत्सुक विद्यार्थियों के मुख-मण्डल का स्मरण हो आता है, जो उस मेज को घेर कर बैठा करते थे, जिस पर प्रोफेसर Burnouf अपनी अनुपम प्रतिभा, अगाध ज्ञान तथा अतुलनीय उत्साह से पढ़ाया करते थे। उन विद्यार्थियों में से बहुत से आज वेद के सुप्रसिद्ध विद्वान् हो गये हैं। मैं उनमें से कुछ के नाम उद्धृत करता हूं—Dr. Goldstucker और Abbate Bardelli—जो अब इस संसार में नहीं हैं—Gorresis, Neve तथा Rudolph Roth. उन विद्यार्थियों में सब से छोटा मैं ही था और यद्यपि मैं हितोपदेश का अनुवाद कर चुका था, तथापि मेरा संस्कृत-साहित्य का ज्ञान कालिदास, महाकाव्य, दर्शन तथा उपनिषदों तक ही परिमित था। मैंने Schelling के लिये कुछ उपनिषदों का अनुवाद किया था और मेरा विचार उपनिषदों पर ही विशेष कार्य करने का था। परन्तु जब मैंने Burnouf को यह कहते सुना कि वैदिक मन्त्रों तथा ब्राह्मणों की अपेक्षा उपनिषदों का महत्त्व बहुत थोड़ा है, तब मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। Burnouf उस समय Friedrich Rosen के लिखे हुए ऋग्वेद के प्रथमाष्टक को पढ़ा रहे थे। मेरे पास अब भी उनके लेक्चरों के नोट मौजूद हैं। मैंने उस समय सायणभाष्य के अंशों को भी उद्धृत किया तथा निरुक्त और उसकी टीका के कुछ भागों को भी लिख डाला। ये ग्रन्थ यूरोप में उस समय उपलब्ध न थे। कुछ समय के अनन्तर Burnouf ने वेद की अपनी प्रति मुझ को दी और उसको लिख डालने के लिये प्रोत्साहित किया। बहुत निराशा तथा हृदय-दौर्बल्य से कई बार आक्रान्त होने पर भी मैंने उद्यम को नहीं छोड़ा। इसलिये मैं इंग्लैण्ड गया और बहुत-सी कठिनाईयों के अनन्तर मैंने East India House के पुस्तकालय में प्रवेश किया। यहां मैंने न केवल ऋग्वेद की तथा सायण-भाष्य की हस्तलिपियां पायीं, अपितु और जो अत्यन्त आवश्यक ग्रन्थ थे, उनकी भी हस्तलिपियां यहां देखीं। यहां मैंने कार्य प्रारम्भ किया और East India Company का आश्रय पाकर पहला भाग १८४९ में छापा।" (Preface to the Sixth Volume of the first Edition of the Rigveda, Oxford 14 September, 1874) सन् १८७४ तक सम्पूर्ण ऋग्वेद, सायण-भाष्य-संहिता छपकर तैयार हो गया।

इस ऋग्वेद के संस्करण के समाप्त होने के पूर्व ही एक और जर्मन दिग्गज विद्वान् ने ऋग्वेद छापा। इनका नाम है Theodor Aufrecht यह ऋग्वेद रोमनलिपि में १८६१-१८६३ में पहली बार छपा और इसका दूसरा संस्करण १८७७ में Bonh से निकाला गया। इधर भारतवर्ष में भी बम्बई में Max Muller के संस्करण की एक प्रतिलिपि छापी गयी। इस पर Max Muller ने

अभियोग चलाया और तब उसके टाइटिल पेज पर Max Muller का नाम छापा गया। लगभग १८९१ में बम्बई के पं० राजाराम शास्त्री बोड़स तथा पं० शिवराम शास्त्री गोरे नामक दो प्रसिद्ध वेदज्ञों ने सायणभाष्य-सहित ऋग्वेद का संस्करण निकाला। Max Muller ने ऋग्वेद के द्वितीय संस्करण की भूमिका में उक्त शास्त्री महोदयों के संस्करण की प्रशंसा की है। इस संस्करण में Dr. M. Winternitz (अब प्रोफेसर) ने Max Muller की बड़ी सहायता की। बम्बई के संस्करण का तुलनात्मक समालोचना Dr. Winternitz Journal of the Reyal Asiatic Society (Vol XXIII, P. 173-182) में की है तथा सब पाठ भेदों की सूची Max Muller के संस्करण में दी है। Max Muller का द्वितीय सस्करण १८९२ में प्रकाशित हुआ। इस संस्करण में जो हस्तलिखित प्रतियां नयी मिलीं, उन सबका पाठभेद समाविष्ट है। द्वितीय संस्करण के छपने के समय Elphinstone College, बम्बई के संस्कृताध्यापक Peter Peterson ने भी "Hymns from the Rigveda' नामक कुछ सूक्तों का संग्रह सायणभाष्य, अंग्रेजी अनुवाद तथा अपनी व्याख्यासहित १८८८ में छपाया। इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण १८९७ में छपा। स्वर्गीय श्रीयुत एस० आर० भाण्डारकर ने इसी पुस्तक का संशोधित तथा संवर्द्धित संस्करण १९०५ में छापा। अस्मत्पूज्यपाद आचार्य आनन्दशङ्कर बापूभाई ध्रुव (Pro-Vice-Chancellor, Benares Hindu University) ने, जो उस समय गुजरात कालेज, अहमदाबाद में संस्कृत के अध्यापक थे, १९१७ में Peterson की पुस्तक का और भी संशोधित तथा संवर्द्धित संस्करण छापा। यह ग्रन्थ बहुत से विश्वविद्यालयों में एम० ए० के लिये पाठ्य-पुस्तक नियत है। यहां पर एक और भारतीय उद्योग का उल्लेख करना उचित है। स्वर्गीय पण्डितवर श्रीशङ्कर पाण्डुरङ्ग पण्डित ने आधुनिक रीति से वेद के ऊपर भाष्य करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने मराठी तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित अपनी वेदार्थयत्न' नामक ऋग्वेद व्याख्या का प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। परन्तु तीसरा मण्डल समाप्त होने पर कराल काल ने उन्हें धर दबाया और वे इस संसार से चल बसे। अभाग्यवश उनका यह ग्रन्थ अब तक भी अपूर्ण है और किसी भी विद्वान् ने अभी इस कार्य को अपने हाथ में नहीं लिया है।

ऋग्वेद के खिल सूक्तों का भी पृथक् संस्करण तथा प्रकाशन हो चुका है। इसके प्रकाशक जर्मन विद्वान् I Scheftelowitz है, जिन का ग्रन्थ Di Apokryphen des Rigveda, १९०७ में Bresla से प्रकाशित हुआ है।

ऋग्वेद का विदेशी भाषा में अनुवाद बहुत प्राचीन काल में प्रारम्भ हो चुका था। सन् १८५० से पूर्व ही Rev. Dr. Stevenson तथा Dr. Rosen ने प्रथम अष्टक के कुछ अंशों का अनुवाद कलकत्ते से छपाया। १८३८ में प्रथम अष्टक सम्पूर्णतया लैटिन अनुवाद सहित Dr. F. Rosen ने प्रकाशित किया। ऋग्वेद का फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद M Langlois ने किया। किन्तु अंग्रेजी में सम्पूर्ण ऋग्वेद का अनुवाद सबसे पहले Professer H, H. Wilson ने १८५० में प्रकाशित किया। Dr. Rosen का अनुवाद अक्षरशः वैदिक मन्त्रों का अनुसरण करता है। उसमें भाषार्थ तथा व्याख्या का अभाव है। M. Langlois का अनुवाद (Livre des hymnes 4 Vols, Paris, 1848-51) बिलकुल इसके विपरीत है। उन्होंने कठिन-कठिन वैदिक अंशों का

सरल तथा प्रसादगुणयुक्त भाषा में अनुवाद किया है। परन्तु उसमें दोष यह है कि उन्होंने स्थान-स्थान पर मूलपाठ का आश्रय छोड़ दिया है। M. Langlois ने वेद का अनुवाद, हस्तलिखित प्रतियों से किया है। उनके सामने छपी हुई वेद की पुस्तक न थी। अतः उनका कार्य निश्चय ही प्रशंसनीय है, किन्तु दोष उसमें जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मूलपाठ को अतिक्रमण करना है। प्रोफ़ेसर विलसन का अनुवाद बहुत कुछ सायणभाष्य का अनुसरण करता है। विलसन सायण के बड़े पक्षपाती थे और उनका यह सिद्धान्त था कि वेद जिनका ग्रन्थ है, वे ही भारतवासी उसका ठीक-ठीक अर्थ प्रतिपादित कर सकते हैं। किन्तु कुछ विद्वानों ने इस सिद्धान्त को नहीं माना। जर्मन विद्वान् Rudolf Roth तथा उनके अनुयायियों का यह कथन है कि सायण वेद निर्माण काल से कम-से-कम २००० वर्ष पीछे उत्पन्न हुआ था। तब वह वेदों के अर्थ को कैसे ठीक-ठीक समझ सकता है? उसकी अपेक्षा तो यूरोपीय विद्वान् ही ठीक अर्थ कर सकते हैं क्योंकि यूरोपीय विद्वानों को तुलनात्मक भाषा-शास्त्र का ज्ञान है। अतः ऐतिहासिक रीति से प्रत्येक शब्द का जहां-जहां वह ऋग्वेद में आया है वहां-वहां प्रसङ्गवश क्या-क्या अर्थ हो सकता है, इस प्रकार की विवेचनात्मक सरणि से वेद का जो अर्थ किया जायेगा, वह सायण की अपेक्षा अधिक मान्य होगा। इसी दृष्टिकोण को सामने रखते हुए H. Grassmann नामक Roth के शिष्य ने २ खण्डों में सम्पूर्ण ऋग्वेद का छन्दोबद्ध अनुवाद १८७६-७७ में Leipzig से प्रकाशित किया। सायण के ऊपर पक्षपात करनेवाले एक और भी फ्रांसीसी विद्वान् हो चुके हैं। इनका नाम M. Ad Regnier है। इन्होंने 'Etude sur Pidiome des Vedas et les origines de la Langue Sanscrite" नामक अपने ग्रन्थ में सायण से किस प्रकार की सहायता लेनी चाहिये इसका प्रतिपादन किया है तथा संस्कृत-भाषा का किस प्रकार उद्गम हुआ, इसका विवेचन किया है। इस ग्रन्थ का प्रथम भाग १८५५ में पेरिस से छपा है। इधर रॉथ के सिद्धान्तानुयायी Karl Geldner तथा Abolf Kaegi ने ७० सूक्तों का अनुवाद Tubingen से १८७५ में प्रकाशित किया (Siebenzig Lieder des Rigveda, uebersetzt von Karl Geldner and Adolf Kaegi. mit Beitragen von R. Roth)।

Roth की सरणि सर्वथा दोष-शून्य नहीं है। हम भारतवासियों की विचार-सरणि को बिलकुल ही हीन न समझना चाहिये। उनकी परम्परा-प्राप्त विचारधारा अविच्छिन्न है, अतः सायण इत्यादि के अर्थों को भी पूर्णतया देख लेना चाहिये। जहां हम उससे सहमत हों, वहां उसके अर्थों को अवश्य ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार की दृष्टि रखनेवाले विद्वानों का एक नया मार्ग चला। इस मध्यम मार्ग के सबसे बड़े प्रतिनिधि Alfred Ludwig नामक जर्मन विद्वान् हुए हैं। ये Prague की जर्मन यूनिवर्सिटी के संस्कृत के अध्यापक थे। इन्होंने सम्पूर्ण ऋग्वेद का जर्मन-भाषा में अनुवाद किया है तथा बड़ी विस्तृत व्याख्या भी लिखी है। यह अनुवाद तथा भाष्य ६ खण्डों में १८७६-१८८८ में Prague से छपा है। सम्पूर्ण ऋग्वेद का अंग्रेजी में छन्दोबद्ध अनुवाद, काशी के Govt. Sanskrit College के प्रोफेसर R. T. H Griffith ने भी १८८९-९२ में प्रकाशित किया है। ऋग्वेद के भागों का अनुवाद तो बहुत से विद्वानों ने किया है। नीचे उनके ग्रन्थों की सूची दी जाती है—

Vedic Hymns. By Max Muller, Sacred Books of the East Series, Vol 32. अंग्रेजी में।

Vedic Hymns. By H. Older.berg; Sacred Books of the East series, Vol 46. अंग्रेजी में।

Religionsgeschichtliches Lesebuch में Geldne। कृत जर्मनभाषा में अनुवाद। Tubrin gen, 1908.

Lieder des Rgveda by A. Hillebrandt. Gottinged. 1913 जर्मन में।

A Vedic Reader for Students by A. A. Macodenell; Oxford, 1917, अंग्रेजी में।

Hymns from the Rgveda (Heritage of India Series) by A. A. Macdonell अंग्रेजी में

Vedic Hymns (Wisdom of the East Series) by E. J. Thomas. London 1923. अंग्रेजी में।

प्रोफेसर Geldner ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का जर्मन भाषा में एक नया अनुवाद करना प्रारम्भ किया था। इसका पहला भाग Quellender Teligions geschichte नामक ग्रन्थावलि में १९२३ में Gottingen से प्रकाशित हुआ है। प्रोफेसर Geldner ने Vedismus und Brahmanismus (वैदिक धर्म तथा ब्राह्मण-धर्म) नाम का एक और ग्रन्थ लिखा था। यह ग्रन्थ प्रोफेसर Geldner की मृत्यु के कुछ ही महीने पहले प्रकाशित हुआ है। प्रोफेसर साहब ने ६ फरवरी १९२९ में माबुर्ग में इस नश्वर शरीर का त्याग कर दिया। शोक है कि उनका कार्य अधूरा ही रह गया।

संस्कृत-साहित्य विशेषकर वैदिक साहित्य के अध्ययन का फल एक यह भी हुआ कि Rudolph Roth तथा Otto Bohtlingk नामक जर्मन विद्वानों ने मिलकर संस्कृत तथा वैदिक साहित्य का एक बृहत्कोष तैयार किया। Sanskrit Worterbuch या St. Petersburg Dictionary नामक इस कोष का पहला भाग १८५२ में पीटर्सवर्ग में छपा और शेष ६ भाग भी १८७५ तक छपकर प्रकाशित हो गये। यह जर्मन परिश्रम तथा विद्वत्ता का एक अद्वितीय नमूना है। इसमें वेद से लेकर काव्य-साहित्य तक जितने भी शब्द आये हैं केवल उनका अर्थ ही नहीं दिया गया है अपितु उन स्थलों को भी उद्धृत किया गया है जहां उन शब्दों का प्रयोग हुआ है। Grassman नामक जर्मन विद्वान् ने ऋग्वेद का एक कोष तैयार किया। इस Worterbuch zum Rigveda (Leipzig 1873-1875) में ऋग्वेद के प्रत्येक शब्द का अर्थ तथा जिस-जिस मण्डल में उसका उपयोग हुआ है, उसका उल्लेख तथा ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में जहां-जहां भी वह शब्द प्रयुक्त हुआ है, उन सब स्थलों का भी उद्धरण किया है। A. kaegi नामक जर्मन विद्वान् ने भी ऋग्वेद के महत्त्वयुक्त प्रश्नों पर The Rigveda, the oldest literature of the Indians (अंग्रेजी अनुवादकर्ता Arowsmith, Boston, 1886) नामक ग्रन्थ में विचार किया है। Pischel और

Geldner दो जर्मन विद्वानों ने मिलकर ऋग्वेद की खूब छानबीन की है। प्रत्येक शब्द का अर्थ तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों से उसका इतिहास खोजकर निकाला है। इनका ग्रन्थ Vedische Studien जो कि जर्मन भाषा में लिखा है, तीन बड़े-बड़े खण्डों में प्रकाशित हुआ है (Stuttgart 1889 1901) किन्तु जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान् Hermann Oldenberg ने वैदिक समालोचना की पराकाष्ठा कर डाली है। इन्होंने Metrische und textgeschichtliche Prolegomena (Berline 1888) नामक ग्रन्थ में छन्द तथा मूलपाठ का इतिहास, इन दो विषयों का विस्तृत विवेचन किया है। इनका ऋग्वेद पर भाष्य अद्वितीय है तथा यूरोप में अब तक सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। यह भाष्य Rigveda Textkritisehe und exegetische Noten नाम से दो भागों में छपा है (I—VI. Berlin 1909; VII X Berlin 1912)। वैदिक विवेचन में इन का उतना ही मान है जितना कि वेदान्त में शङ्कराचार्य का।

ऋग्वेद के अंश-विशेष को लेकर उन पर व्याख्या करनेवाले बहुत से विद्वान् हो गये हैं। वेदों का अर्थ किस प्रकार करना चाहिये, इस प्रश्न का विवरण Geldner ने Der Rgveda in Auswahl, I Glossar, II kommentar, Stuttgart, 1907-1909 ग्रन्थ में तथा Zeitschrift der morgenlandische Gesellschaft नामक पत्रिका (Vol 71, 1917, पृष्ठ ३१५ इत्यादि) में किया है। इसी विषय को लेकर निम्नलिखित विद्वानों के लेख भी उल्लेख योग्य हैं—Bloomfield—Journal of the American Oriental Society, Vol. 27, 1906 पृष्ठ ७२ इत्यादि।

E. W. Eray—J A. O. S. Vol. 27, 1906, पृ० ४०३ इत्यादि।

A. B. Keith—Journal of the Royal Asiatic Society, 1910, पृष्ठ ६२१ इत्यादि।

एम. ब्लूमफील्ड नामक अमेरिकन विद्वान् ने ११०२ पृष्ठों की Vedic Concordance (Harvard Oriental Series, Vol. 10, Baltimore, 1906) नामक एक बृहत् वैदिक सूची तैयार की जिसमें चारों वेदों के प्रत्येक मन्त्र की प्रतीक दी है तथा उनके पाठ-भेद भी दिये हैं। इन्हीं महाशय ने एक और ग्रन्थ तैयार किया है। इसका नाम है Rigveda Repetitions (Vols. 20 and 24. Harvard Oriental Series, 1916)। इस ग्रन्थ में जितने वैदिक मन्त्र या मन्त्र-भाग एक बार से अधिक आये हैं उनकी सूची तथा उन पर तुलनात्मक टिप्पणी भी है।

ऋग्वेद-कालीन सामाजिक अवस्था पर H. Zimmer नामक जर्मन विद्वान् का Altindisches Leben (Berlin 1879) नामक ग्रन्थ-विशेष आदर के साथ उल्लेख करने योग्य है। H. Prunhofer नामक जर्मन विद्वान् तो वेद से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने Ueber den Geist der indischen Lyrik (Leipzig, 1882) नामक लेख में वैदिक कवियों की कविता की उपमा भारद्वाजपक्षी (Lark) के उषा-काल के गायन से दी है।

मैक्डानल तथा उनके शिष्य कीथ इन दोनों अंग्रेज विद्वानों ने "Vedic Index" (2 Vols. 1912) नामक एक बड़ी महत्त्वपूर्ण सूची बनायी है। इससे प्रत्येक कठिन शब्द का अर्थ दिया

दिया है और जितने देवताओं के अथवा स्थानों के नाम हैं उन सबका पूर्ण विवरण दिया है। वैदिक गवेषणा के लिये यह भी एक अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है।

किन्तु वैदिक साहित्य के अनुशीलन से जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है, वह दो नये शास्त्रों का आविष्कार—Comparative Philology अर्थात् तुलनात्मक भाषा-विज्ञान तथा Comparative mythology अर्थात् तुलनात्मक देवता-विज्ञान है। तुलनात्मक देवता-शास्त्र-विज्ञान पर सबसे मार्के का ग्रन्थ A. H llebrandt का "Vedische mytholagic" (3 Volumes, Breslan. 1891—1902) है। वैदिक ग्रन्थों से यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है कि किस प्रकार प्राकृतिक शक्तियां (अग्नि, जल, वायु इत्यादि) देवता-स्वरूप में परिणत हो गयीं। इस विषय पर फ्रेंच विद्वान् L. de la Vallec Poussin का La Vedisme (Paris. 1909) नामक ग्रन्थ है। कीथ ने भी इनके मत का जे. आर. ए. यस. (१९०९, पृष्ठ ४६९ इत्यादि) के एक लेख में समर्थन किया है। मैक्डानल ने देवताशास्त्र पर बहुत पहले ही अंग्रेजी में Vedic mythology (Strassburg. 1897) नामक ग्रन्थ लिख डाला है। निम्नलिखित विद्वानों के ग्रन्थ भी इसी विषय का या इसके किसी अंश-विशेष का प्रतिपादन करते हैं—

E. Arbmann—Rudrawntersuchungen zum altindischen Clauben und Kultus, Uppsala 1922. जर्मन में।

E. meyer का लेख जो Sitzungsberichte erd k. preussischen Akademie der Wissenshaften, 1908. जर्मन मे छपा है।

ओल्डेनबर्ग का लेख जो जे. आर. ए. एस. १९०९ में अंग्रेजी में छपा है।

S'en Konow—The Aryan Gods of the mitani People. Kristiana, 1921 अंग्रेजी में।

वैदिक धर्म पर लिखनेवाले विद्वानों की संख्या अधिक है। इन सबमें अत्यन्त उच्च कोटि का ग्रन्थ Hermann Oldenberg का Religion des Veda (बर्लिन, १८९४) जर्मन में है। कुछ लेखकों ने तो ऐतिहासिक तथा गवेषणात्मक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार किया है परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने ईसाई धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन ही अपना उद्देश्य रखा है। पहली श्रेणी में उपर्युक्त ओल्डेनबर्ग तथा निम्नलिखित विद्वान् हैं—

Abel Bergaigne—La religion vedique dapres les hymnes du Rigveda. 3 Vols. Paris, 1878-83 फ्रेंच में।

Bloomfield—The Religion of the Veda, Newyork, 1908 अंग्रेजी में।

Auguste Barth—The Religions of India (अंग्रेजी अनुवाद) Bostan, 1882, अंग्रेजी में।

Paul Deussen—Allgemeine Geschichte der Philosophie, Voel, pt. 1, Philosophie des Veda, Leipzig 1894. जर्मन में।

E. Hardy—Die Vedische-brahmaniche Periode der Religion des alten Indiens munster, i. w: 1893. जर्मन में।

E: W. Hobkins—The Religions of India, Boston 1895. अंग्रेजी में।

D. Von Schroeder mysterium und mimus in Rigveda, Leipzig, 1908. जर्मन में।

H. W. Wallis—Cosmology of the Rigveda, London 1887. अंग्रेजी में।

L. Schermann—Philosophische Hymnen aus der Big—und Atharva-Veda-Sanhita, Strassburg 1887. जर्मन में।

W. Caland—Die altindischen Totenund Bestattungsgebrauche, Amsterdam, 1806 जर्मन में।

प्रोफेसर कीथ ने १९२५ में Harvard Oriental series में The Religion and Philosophy of the Veda and Upanishads (2 Vols. 716 pages) नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ छपाया है। वैदिक धर्म पर अब तक जितनी गवेषणाएं हो चुकी हैं, उन सबका संग्रह तथा साधक-बाधक प्रमाणों सहित अपने पक्ष का समर्थन किया है। इसी विषय पर भारतीय विद्वान् V. K. Rajwade का लेख भी (Proceedings of the Indian Oriental Conference, II, pp. I ff) देखने योग्य है। सन् १९२६ की ओरिएण्टल कान्फ्रेंस की इलाहाबादवाली बैठक में श्री क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय जी ने Indra in the Rigveda and the Avesta and Before नामक जो लेख पढ़ा था, वह भी उपादेय है। लाहौरवाली १९२८ की बैठक में वैदिक विभाग में जो-जो लेख पढ़े गये हैं (देखिये प्रथम खण्ड—Proceedings of the Fifth Oriental Conference), वे भी यहां उल्लेख-योग्य हैं।

पक्षपातपूर्ण वैदिक धर्म का प्रतिपादन करनेवाले विद्वानों के नाम तथा उनके ग्रन्थों की सूची नीचे दी जाती है। इनमें वेबर तथा मैक्डानल के शिष्य H. D. Griswold ने जो The Religion of the Rigveda (Mangalore 1923) नामक अपने ग्रन्थ में अन्तिम वाक्य लिखे हैं, उनसे इन मिशनरियों के दृष्टिकोण का पता चल जाता है—

If the hymns to Varuna proclaim real truth then the teaching and the death of Jesus exhibit to the whole world the full truth on those mighty themes. In the light of the Cross, in the most touching scene in the whole world's history, we may repair the disaster of the tragedy of Varuna—can India, than afford to do without the crucified Jesus? (पृ० ३७४-५)

जिस समय विद्वत्तापूर्ण गवेषणा में पक्षपात की गन्ध आ जाती है, उस समय वह उपादेय के स्थान में हेय हो जाती है। Criswold महोदय का ग्रन्थ अत्यन्त परिश्रम तथा योग्यता का परिचायक है किन्तु 'स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।' इस श्रेणी के ग्रन्थ नीचे दिये जाते हैं—

J. N. Fatquhar—Crown of Hinduism, London, 1915.

,, Modern Religious Movements in india, Newyork, 1915.

,, Primer of Hinduism London, 1912.

,, Outline of the Religious Literature of India London, 1920.

Mrs. Sinclair Stevenson—Rites of the Twice-born, London, 1920.

R. V. Clayton—Rigveda and Vedic Riligion, Madras 1913.

Griswold—God Varuna in the Rigveda Ithaca, 1910.

ऋग्वेद में लगभग २० सूक्त ऐसे मिलते हैं जिनमें संवाद पाया जाताहै। ओल्डेनबर्ग ने इनका आख्यान-सूक्त नाम दिया है (देखिये Das altindische Akhyana Z. D. M. G. 37, 54 ff. तथा Akhyanahymnen in Rigveda Z D M. G. 39, 52 ff) इन महोदय का यह मत है कि ऋग्वेद में जो ये संवाद या आख्यान-सूक्त आते हैं, प्राचीन काल में गद्य-पद्य मिश्रित थे। संवाद-कर्तृगण अपने इच्छानुसार गद्य का समावेश कर सकते थे किन्तु पद्य निश्चित रहते थे। ऋग्वेद सब छन्दोबद्ध है, अतः गद्य भाग उसमें नहीं दिया गया है—इस सम्प्रदाय का बहुत दिनों तक बोलबाला रहा। किन्तु कुछ दिनों से ओल्डेनबर्ग के विरोधी भी उठ खड़े हुए हैं। Sylvain Levi नामक फ्रेंच विद्वान् इन सूक्तों में नाटक का पूर्वरूप मानते हैं (देखिये Le Theatre Indian Paris, 1890, पृष्ठ ३०१ इत्यादि। Joh. Hertel ने भी अपने Indische Marchen (Jena. 1921) नामक ग्रन्थ में इस मत का पोषण किया है, किन्तु कुछ विद्वान् इन सूक्तों को गेय काव्य मानते हैं। इस मत के प्रधान पोषकों में निम्नलिखित विद्वान् हैं—

Anguste Barth—Revue de Phistoire des Religious, Paris, 19, 1899. 130 f. फ्रेंच में।

Auguste Barth Oeuvres II 5 f.

J. Charpentier—Die Suparuasage Uppsala 1920 जर्मन में।

E. Sieg—Die Sageustoffe des Rigveda und die indische Itihasatradition. Stuttgart, 1902 जर्मन में।

K. F. Geldner Die indische Balladendichtung, Eestscheift der Universital, Marburg, 1913 जर्मन में।

M. Winternitz Ancient Indian Ballad Poetry—published in Some problems of Indian literature, Calcutta 1925 अंग्रेजी में।

यहां पर श्येनाख्यान तथा सोमरस के विषय में एक रूसी विद्वान् का ग्रन्थ भी उल्लेख योग्य है—D. Kulikovskij—Razdor Vedijskago Mila O. sokole Prinessem Cvetok somy, Moskau 1882. सोमरस तथा बल्ली पर भारतीय विद्वान् श्रीयुत व्रजलाल मुकर्जी का "The Somaplant" Calcutta, 1922) नामक ग्रन्थ में उपादेय है।

वैदिक छन्द तथा व्याकरण पर जो अब तक कार्य हुआ है उसमें विशेष उल्लेख के योग्य निम्नलिखित ग्रन्थ हैं—

E. V. Arnold—Vedic Metre Cambridge, 1905.

वैदिक छन्द तथा स्वर पर प्रो० मॅक्डानल ने भी कुछ कार्य किया है। इसको उन्होंने अपनी Vedic Grammar for Students (Oxford 1916) के पिछले भाग में दिया है। ऋग्वेदीय शाकल्यकृत पदपाठ का विवेचन Liebich नामक जर्मन विद्वान् ने अपने Zur Einfuhrung in die indischein-heimischa Sprachwissenshaft (H. Heidelberg 1919) नामक ग्रन्थ में किया है। मॅक्स मूलर ने ऋग्वेद-प्रातिशाख्य का जर्मन अनुवाद सहित संस्करण १८५६-६९ में Leipzig से छपाया। कात्यायन कृत सर्वानुक्रमणी जिसमें कि प्रत्येक सूक्त के देवता, ऋषि तथा छन्द दिये हुए हैं, १८८६ में मैक्डानल की अध्यक्षता में आक्सफोर्ड से छपी है। "बृहद्देवता" का सबसे पहला संस्करण स्वर्गीय राजेन्द्रलाल मित्र ने १८९२ में कलकत्ते से निकाला। इसका दूसरा संस्करण मैक्डानल ने (Harvard Oriental Series, Vols. 5 and 6) १९०४ में निकाला। इसमें अंग्रेजी अनुवाद भी है। प्रत्येक मन्त्र में क्या शक्ति है तथा उसके उच्चारण से क्या प्राप्त हो सकता है, इस विषय का विवेचन "ऋग्विधान" नामक ग्रन्थ में किया गया है। इसका संस्करण Rudolf Meyer ने Berolini से १८७८ में निकाला है। यास्क-विरचित निरुक्त का सबसे पहला संस्करण Roth की अध्यक्षता में १८५२ में Gottingen से प्रकाशित हुआ है। स्वर्गीय श्री सत्यव्रत सामश्रमी का संस्करण १८८२-९१ में कलकत्ते से छपा है। दुर्गाचार्य-कृत-भाष्य-सहित निरुक्त का संस्करण पूना के सुप्रसिद्ध वेदज्ञ राजवाड़े ने १९२१ में आनन्दाश्रम-संस्कृत-ग्रन्थावलि में छपाया है। पंजाब के डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप ने निरुक्त का अंग्रेजी अनुवाद तथा विस्तृत भूमिका का निर्माण किया है (The Nighantu and the Nirukta the oldest Indian Treatise on Etymology Philosophy and Semantics.' Oxford, 1920 etc.)।

व्याकरण पर आधुनिक विद्वानों की सूची नीचे दी जाती है—

J. Wackernagel—Altindische Grammatik, Gottingen. 1896 जर्मन में।

Whitney—Sanskrit Grammar, Leipzig, 1879 अंग्रेजी में।

Macdonell—Vedic Grammar, Strassburg, 1910 अंग्रेजी में।

R. N Albright—The Vedic declansion of the typy vrkis a contribution to the study of the feminine nound-eclension in Indo-European Philadelphia, 1927 अंग्रेजी में।

M. Bloomfield and F Edgerton—Vedic variants, a study of the variant readings in the repeated mantras of the Veda, Vol. I. The Verb. Philadelphia, 1930 अंग्रेजी में।

L. Renou—La Valeur du parfait dans les hymnes Vediques (वैदिक सूक्तों में परोक्ष भूत का स्थान), Paris, 1925 फ्रेंच में।

ऋग्वेद के किसी प्रश्न पर भी उतना अधिक विकार नहीं हुआ है, जितना कि निर्माण-काल पर। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से संसार के विद्वानों ने इस प्रश्न की गवेषणा की है और ईसा के पूर्व

२५००० वर्ष से लेकर ७०० ई० पूर्व तक अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार वैदिक समय का निर्णय किया है। यह अभी भी नहीं कहा जा सकता कि विद्वान् किसी चरम सिद्धान्त पर पहुंच गये हैं।

जैसा कि, ऊपर कहा जा चुका है, Colebrooke ने अपने लेख में वैदिक काल के निर्णय करने की भी चेष्टा की है। इस विद्वान् के मत में वैदिक समय ई० पूर्व १३९१ से प्रारम्भ होता है। Colebrooke के दिखाये हुए पथ पर अन्य विद्वान् भी अग्रसर हुए और उनमें से Bentley नामक अंग्रेज विद्वान् ने ज्योतिश्शास्त्र के आधार पर वेद का समय ई० पूर्व ११८१ नियत किया (Historical view of the Hindu Astronomy, Calcutta, 1823)। इसी समय विद्वानों में नक्षत्रों के विषय पर बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। Biot नामक फ्रांसीसी गणितज्ञ अपने समय के अत्यन्त धुरन्धर विद्वान् गिने जाते थे। यह ८८ वर्ष की अवस्था में, सन् १८६२ में, मृत्यु को प्राप्त हुए, किन्तु मरते दम तक विद्या का अभ्यास नहीं छोड़ा। इन्होंने Paris के Journal des Savants के सन् १८३९, १८४०, १८४५, १८५९, १८६० तथा १८६१ के अंकों में यह सिद्ध करके दिखाया कि भारतवर्ष में नक्षत्रों की विद्या तथा नाम चीन देश से आये हैं। वैदिक ऋषियों ने नक्षत्र-ज्ञान चीन-निवासियों से सीखा है। इस सिद्धान्त ने विचार-संसार में बड़ी खलबली मचा दी। Christian Lassen नामक जर्मन विद्वान् ने Indische Altertumskunde नामक अपने ग्रन्थ में यह प्रतिपादन किया कि चीन देश में ई० पूर्व ११०० के लगभग नक्षत्रों की संख्या २८ तक पहुंची। इससे पूर्व २४ तक ही संख्या थी। किन्तु इस प्रकार के सिद्धान्त से वैदिक काल बहुत निकट आ पड़ता है। जर्मन विद्वान् Weber ने नक्षत्र तथा ज्योतिष-पर दो भागों में, अपना Die Vedischen Nachrichten von den Naxatra (I Pt. 1860, II Pt. 1862) नामक ग्रन्थ रचा और उसमें–नक्षत्रों का ज्ञान चीन से आया है–इस मत का खण्डन किया। परन्तु Weber ने स्वयं अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में भी वैदिक काल का निश्चय नहीं किया। उपर्युक्त विद्वानों का विवाद तथा उसका उत्तर Max Muller ने अपने ऋग्वेद संस्करण के चतुर्थ खण्ड की भूमिका में बहुत विस्तृत रूप से दिया है। Max Muller ने संस्कृत-साहित्य का जो इतिहास लिखा। (History of Sanskrit literature 1859), उसमें उसने वैदिक साहित्य के आधार पर यह सिद्ध किया कि वेदों का छन्द.काल ई० पूर्व १००० से १२०० तक हो सकता है। इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही बड़ी हलचल मची। Professor Wilson ने १८६० के Edinburgh Review में इसकी समालोचना की और अपने मतानुसार ई०पूर्व १२ वीं शताब्दी से २०वीं शताब्दी तक वैदिक साहित्य के उद्भव को प्रतिपादित किया। फ्रेंच विद्वान् Barrhelemy Saint—Hilaire ने अपनी समालोचना में (देखिये—Journal des Savants, १८६० तथा १८६१) ई० पूर्व १४ वीं से १५ वीं शताब्दी तक वैदिक काल का निर्णय किया। इधर इस वेदाङ्ग ज्योतिष् के तथा नक्षत्रादिक के प्रश्नों पर विचार करने के लिये बड़े-बड़े विद्वान् जुट गये। जर्मन् विद्वान् Alfred Ludwig ने सन् १८७८ में तथा स्वर्गीय सर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर ने १८८३-८४ में कृत्तिका नक्षत्र के, सब नक्षत्रों की सूची में प्रथम होने का महत्त्व प्रतिपादित किया था। इस समय के कुछ ही अनन्तर विदेश में जर्मन विद्वान् Hermann Jacobi तथा भारतवर्ष में स्वर्गीय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने एक साथ ही किन्तु भिन्न-भिन्न मार्गों से, गणित तथा ज्योतिष् के आधार पर वैदिक काल ई० पूर्व ४००० वर्ष के लगभग है—यह सिद्ध किया। भारतवर्ष में भी वेदाङ्ग ज्योतिष् पर उस

समय बहुत कुछ कार्य हुआ। लोकमान्य का ग्रन्थ The Orion or Researches in to the Antiquity of the Vedas, Bombay, 1893 तथा श्रीयुत पण्डित शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित का मराठी में 'भारतीय ज्योतिश्शास्त्र' (१८९६). दोनों बड़े विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ हैं। Jacobi, जिनकी अवस्था इस समय ८१ वर्ष से ऊपर है, अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन कुछ लेखों में कर चुके हैं, जो कि १८९३ से १८९४ तक छपे हैं। "Festgruss an Rudolf von Roth" Stuttgart, 1893, Nadhrichten von der Kgl. Gesellschaft der Wissensechaften, Gottingen, Philolog.—histor. Klasse, 1894, pp 105—116, Transactions of Congresses of Orientalists, X. Geneva, 1894, 1. pp. 103—108) लोकमान्य के मत का सारांश यह है कि—

(१) ऋग्वेदीय कुछ सूक्तों का समय ई० पूर्व ४५०० वर्ष है, क्योंकि उनमें महाविषुव का मृगशीर्ष में उल्लेख है।

(२) शतपथ-ब्राह्मण (२।१।२) के अनुसार कृत्तिका नक्षत्रों की पूर्व में स्थिति बतलायी गयी है, अतः शंकर बालकृष्ण दीक्षित शतपथ का समय ई० पूर्व ३००० मानते हैं।

Jacobi तथा लोकमान्य के मत का घोर विरोध हुआ। प्रायः सभी वेदज्ञ अखाड़े में उतर पड़े। अन्त में बहुमत से विद्वान् इस परिणाम पर पहुंचे कि Jacobi तथा लोकमान्य जिस मन्त्र के आधार पर इस सिद्धान्त पर पहुंचे हैं, उस मन्त्र का अर्थ कुछ और ही है। अस्तु।

सन् १९०७ में जर्मन विद्वान् Hugo Winckler ने Asia Minor में जो गवेषणाएं की हैं, वह भी बड़े महत्त्व की हैं। उन्होंने वहां पुरानी ईंटों पर बॅबिलोनियन तथा हिटाइट देवताओं की सूची में मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्यौ नामक वैदिक देवताओं के नामों को भी पाया है। इसी आधार पर उन्होंने वैदिक मन्त्रों का काल ई० पूर्व १५०० से पूर्व होना सिद्ध किया है। इस पर भी जो विद्वानों का शास्त्रार्थ हुआ, वह बहुत से मासिक पत्रों तथा पुस्तकों में छपा है।

पंजाब विश्वविद्यालय के वायस चांसलर A C. Woolner, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर, वैदिक काल को ई० पूर्व २००० वर्ष बतलाते हैं (First Oriental Conference, 1920, Poona) किन्तु इन सब विद्वानों से डाक्टर अविनाश चन्द्र दास बहुत ही आगे बढ़ गये हैं। इन्होंने गणित तथा भूगर्भ-शास्त्र के आधार पर वैदिक काल को ई० पूर्व १६००० के लगभग समझा है। इनका "Rigvedic India" (Calcutta, 1921) नामक ग्रन्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण तथा पाण्डित्य-परिचायक है, किन्तु विद्वानों को यह ग्रन्थ विशेषरूप से ग्राह्य नहीं हुआ है। इसको विदेशीय विद्वान् उत्प्रेक्षा की पराकाष्ठा समझते हैं। लेख बहुत लम्बा हो चुका है, अतः मैं वैदिक इतिहास तथा विविध विषयों पर जो ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनकी सूची देकर लेख को समाप्त करता हूं—

1. R. Roth—Zur Litteratur und Geschechte des Weda, Stuttgast, 1846.
2. Max Muller—History of Ancient Sanskrit Literature. 1859.
3. J. Muir—Original Sanskrit Text, London, 1858 ff.
4. Christian Lassen—Indische Altertumskunde, 1843–1862 4 Volumes.
5 A. Weber—History of Indian Literature, 2nd Edn. London, 1882.

6. L. Von Schroeder—Indians Literatur und Cultur, Leipzig, 1887.

7. J. Lahor—History de lo litterature hindone, les grands poemes religieux et philosophiques, Paris 1888.

8. A. H. Sayce—The Primitive Home of the Aryans, Washington, 1891.

9. Ragozin—Vedic India, London, 1895.

10. R. W. Frazer—Literary History of India, London, 1898.

11. V. Henry—L antithese vedique it les ressources qu' elle offre al' exegese moderne par l' interpretation du Veda, Paris, 1898.

12. A. A. Macdonell—Sanskrit Literature, London, 1900.

13. V. Henry—Les Litteratures de l' Inde, Paris, 1904.

14. M. Winternitz—Geschichte der Indischen Litterature, Leipzig, 3 vols. 1904 etc.

15. R. Pischel—Die Indisch Literatur, Berlin, 1906.

16. A. B. Keith—article in the Camb-idge History of India, Vol I, Cambridge. 1922.

17. W Wust—Vom Gestaltwandel des rgvedischen Dichtstils, Leipzig, 1926.

18. M. Winternitz—A History of Indian Literature, Vol I, Calcutta, 1927.

19. A. A. Macdonell—India's Post, Oxford, 1927.

20. C. V. Vaidya—History of Sanskrit Literature, Vedic Period, Vol I Poona, 1930.

21. Louis Renou—Bibliographie Vedique, Paris 1931.

श्रीयुत Renou महोदय Paris के एक स्कूल के डाइरेक्टर हैं। यह ग्रन्थ जो इन्होंने तैयार किया है (किन्तु अभी तक भारतवर्ष में देखने को नहीं मिला है) बड़े महत्त्व का मालूम होता है। इसमें वेद अथवा वैदिक अंगों पर संसारभर की भाषाओं में जो ग्रन्थ अथवा जो लेख लिखे गये हैं, सबका पता दिया हुआ है। मुझ को इसका केवल एक पृष्ठ विज्ञापन, देखने को मिला है। इसका मूल्य सौ फ्रैंक है तथा Otto Harrassowitz, Verlag, Leipzig से १८ मार्क (१८ शिलिंग) में प्राप्त हो सकता है।

इस लेख को लिखने में यों तो मैंने कई ग्रन्थों से सहायता ली है, किन्तु विशेष उल्लेख-योग्य प्रोफेसर श्रीयुत डाक्टर M. Winternitz का निर्मित History of Indian Litarure (Vol. I) नामक ग्रन्थ है।

[गङ्गा वेदाङ्क—जनवरी १९३२]

वेद और विज्ञान

[ले०—साहित्याचार्य पं० कालीचरण झा चतुर्वेदोपाध्याय, जिला स्कूल, पूर्निया]

"विज्ञान" शब्द से परिचित व्यक्ति को वैदिक साहित्य के सिंहावलोकन से अच्छी तरह मालूम हो सकता है कि वेद, वैज्ञानिक विषयों से उसी प्रकार परिपूर्ण है जिस प्रकार समुद्र रत्नों से। जिस प्रकार समुद्र-स्थित अमूल्य रत्नों को गम्भीर गवेषक अपने असीम अध्यवसाय से निकाल लेते हैं, उसी प्रकार वेद-समुद्र से वैदिक ऋषिगण वैदिक विज्ञान-रत्नों को निकाल लेते थे। जिस प्रकार देवताओं ने समुद्र मन्थन कर चन्द्रमा, लक्ष्मी, अमृत आदि निकाले, उसी प्रकार प्राचीन आर्य ऋषियों ने वेद-समुद्र-मन्थन कर आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक विज्ञान निकाले।

"वेद" शब्द का अर्थ भी "विज्ञान" ही है। वह विज्ञान भी ऐसा-वैसा नहीं, ईश्वरीय विज्ञान! वह विज्ञान ऐसा अलौकिक विज्ञान है जिसमें प्रायः सब विषयों का विज्ञान-रहस्य निहित है। वस्तुतः वैदिक साहित्य विज्ञानमय है। वैदिक ऋचाओं की तो बात ही क्या प्रत्येक वैदिक शब्द में वैज्ञानिक रहस्य छिपा हुआ है।

चार रहने पर भी वेद का इसलिये "त्रयी" नाम पड़ा कि वैज्ञानिक संसार के मूलभूत अग्नि, वायु तथा सूर्य सम्बन्धी पूर्ण विज्ञान उसमें बतलाया गया है। पहले पहल वेद को देखकर वास्तविक अर्थ से अनभिज्ञ पाश्चात्य पण्डितों ने तो यह भी कह डाला कि वेद में तो अधिकाधिक मन्त्र अग्नि, वायु, सूर्य आदि प्राकृतिक विषयों के ही हैं! उन तीनों शक्तियों में से एक-एक शक्ति के विषय को प्रधान रखकर एक-एक वेद का आरम्भ किया गया है—

"अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः"

यहां यह भी कह देना अनुचित नहीं कि उक्त वाक्य का अथवा इस भाव के वाक्यों का जैसा ऊटपटाङ्ग अर्थ किया जाता है, इससे सर्वसाधारण व्यक्ति बड़े ही सन्देह-जाल में फंस जाते हैं।

अग्नि, वायु और सूर्य-रूपी शक्ति-त्रय में से एक-एक शक्ति का प्रधानतः एक-एक वेद में वर्णन रहने पर भी कार्य-भेद से उनके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अन्यान्य देवताओं (शक्तियों) का भी वर्णन कर दिया गया है अर्थात् जिन शक्तियों के साथ प्रधान शक्ति की वैज्ञानिक बातें सिद्ध होतीं, उन शक्तियों का भी उस प्रधान शक्ति के साथ वर्णन किया गया है जिसका उदाहरण हम आगे देंगे। यहां यह कह देना आवश्यक है कि जो कोई वेद में पुनरुक्ति-दोष देते हैं, उन्हें इन बातों पर ध्यान देना उचित है। साथ ही यह भी न भूलना चाहिये कि वेद में सर्वत्र यौगिक शब्द ही भरे पड़े हैं। एक जगह जो एक शब्द कहा गया है वही शब्द दूसरी जगह दूसरे अर्थ में प्रयुक्त किया गया है जैसे 'इन्द्र' शब्द। 'इन्द्र' का अर्थ कहीं सूर्य, कहीं वायु, कहीं आत्मा आदि किया गया है।

सर्वसाधारण में सबसे प्रसिद्ध "ऋषि" शब्द ही है। किन्तु "ऋषि" शब्द का प्रयोग वेद में प्राणों के अर्थ में भी किया गया है—

"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ।"

(यजुर्वेद अ० ३४, म० ५५)

यहां शरीर में ऋषियों का निवास बतलाया गया है। इस मन्त्र में जैसे ऋषि शब्द का लोक-प्रसिद्ध "ऋषि" अर्थ करना अनर्थ-कारक है, वैसे ही "सत्र" शब्द का लोकप्रसिद्ध "यज्ञ" अर्थ करना भी असङ्गत और अनर्थ-कारक है।

एक-आध उदाहरण और लीजिये। "मित्र" का अर्थ सामान्यतः सूर्य है। किन्तु जब वह "वरुण" नामक शक्ति के साथ व्यवहृत होता है तब उसका अर्थ वह शक्ति है, जिसके मिश्रण या सहायता से जल बनता है। वेद में जहां "मित्र" और "वरुण" का एक जगह (एक मन्त्र में) "मित्रावरुण" करके उल्लेख देखा जाता है, वहां विशेषतः जल-निर्माण आदि किसी न किसी रूप में जल-विषयक वर्णन ही पाया जाता है।[1]

"मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम् ।
धियं घृताची साधन्ता ॥" (ऋग्वेद १।२।७)

इस मन्त्र में भी "घृताची साधन्ता" से स्पष्टता से "जल-निर्माता" बतलाया गया है। यहां भी 'घृत' शब्द यौगिक है जिसका अर्थ जल है। अब यह देखना चाहिये कि उपर्युक्त तीनों देवताओं के विषय में वेद का विचार (विज्ञान) क्या है। हम यहां संक्षेप से उसका दिग्दर्शनमात्र कराने का यत्न करेंगे। वेद में तीन शक्तियों के विषय में यथाप्रसङ्ग जो अलौकिक विज्ञान-विषय बतलाये गये हैं, उनका उल्लेख न कर केवल तीनों वेदों के आरम्भिक मन्त्रों का ही भावार्थ लिखते हैं जो कि तीनों शक्तियों के विषय में अलग-अलग कहे गये हैं।

तेजःशक्ति होने के कारण वेद में अग्नि को प्रधान शक्ति माना गया है और उसी के विषय को लेकर ऋग्वेद (जिसका अर्थ 'अग्नि-विज्ञान' है) आरब्ध हुआ है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥ (ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र)

'हे अग्निशक्ति ! मैं तुम्हारी स्तुति—वैज्ञानिक गुण वर्णन करता हूं क्योंकि तुम 'पुरोहित'—वैश्वानररूप से शरीर में स्थापित हो। 'यज्ञस्य देवः'—तेजःशक्ति होने के कारण सूर्य और शरीर के प्रकाशक हो। 'ऋत्विक्'—ऋतुओं में अथवा समय-समय पर आकर्षक शक्ति द्वारा शरीर और सूर्य-मण्डल में रस पहुंचाते हो। 'होता'—शक्तियों और रसों के देने-लेनेवाले हो। 'रत्नधातमम्'—प्राण अथवा तेजःशक्ति-रूपी उत्कृष्ट धन देनेवाले हो।'

१: आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त भी यही है कि आक्सीजन (Oxygen) और हाइड्रोजन (Hydrogen) नाम की दो वाय्वात्मक शक्तियां हैं, जिनमें से एक शुद्ध वायु और दूसरी प्रकाश और प्राणों के लिए आवश्यक वायु है। इन दोनों के योग से पानी बनता है। सम्भवतः ये दोनो शक्तियां मित्र और वरुण ही हैं, क्योंकि वेद में कहे गये इन दो (मित्र, वरुण) शक्तियों के गुणों के अनुसार ही आधुनिक वैज्ञानिक आक्सीजन और हाइड्रोजन के पारिभाषिक लक्षण बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं।—लेखक

उक्त विषयों के प्रमाण, उदाहरण तथा समर्थन के विषय के वेद के बहुत से वाक्य दिये जा सकते हैं, जिनसे और अधिक वैज्ञानिक प्रकाश पड़ता है किन्तु स्थानाभाव में उनका उल्लेख नहीं किया गया।

सबसे पहले अग्नि का आविष्कार कैसे और किसने किया, यह बड़ी स्पष्टता से वेद बतलाता है—

"अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने।" (यजुर्वेद)

'हे अग्नि, अथर्वा नामक ऋषि (वैज्ञानिक) ने तुम्हें मन्थन कर (घिस कर) निकाला।' यहां यह कह देना आवश्यक है कि वेद-मन्त्रों का तीन प्रकार से (आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक) अर्थ किया जाता है। इस कारण आधिभौतिक पक्ष में उक्त मन्त्र का भावार्थ यह होगा कि 'अथर्वा नामक किसी वैदिक ऋषि[1] (वैज्ञानिक) ने कमल के पत्ते पर अरणि नामक लकड़ी को घिसकर अग्नि निकाली और अग्नि तत्त्व का आविष्कार किया, जैसा कि निम्नलिखित मन्त्र में भी कहा गया है—**"त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य बाघतः।"** (ऋ० ६।१६।१३) इस मन्त्र का अन्यान्य वैदिक वाक्यों से यह भी अर्थ निकलता है कि अथर्वा ने जल को मथकर उससे अग्नि को निकाला। वेदमन्त्रों में अनेक जगह जल में वडवाग्नि रूप से अग्नि का अस्तित्व बतलाया गया है। **"सोऽग्निः अपः प्रविश्य निलिल्ये।"** 'वह अग्नि जल में प्रवेश कर छिप गया।' वेद में 'पुष्कर' शब्द से जल लिया गया है—' **आपो व पुष्करम्"** अर्थात् 'पुष्कर जल ही है।' यह भी बतलाया गया है कि सूर्य-किरण से भी अग्नि को अथर्वा ने निकाला। अग्नि-तत्त्व को निकाला तो अथर्वा ने किन्तु अग्नि को प्रज्वलित करने का आविष्कार किया अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ऋषि ने। यह बात वेद से ही मालूम होती है--**"तमुत्वा दध्यङ् ऋषिः पुत्र ईधे अथर्वणः।"** (यजुर्वेद) 'हे अग्नि तुम्हे अथर्वा का पुत्र दध्यङ् ने प्रज्वलित किया।'

यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र को देखने पर विदित होता है कि वायु का वृष्टि करना, बल तथा आरोग्य देना, सबको शुद्ध करना, बड़े-बड़े भयानक रोगों को नष्ट करना, सूर्य से उत्पन्न होना, उसके साथ रहना, सर्व-व्यापक होना आदि अनेकानेक विज्ञान-विषय इसमें बतलाये गये हैं। वायु-सम्बन्धी अन्यान्य सैकड़ों मन्त्रों की क्या कथा, यदि एक इसी मन्त्र के एक-एक शब्द के ऊपर वैदिक विज्ञान का विशेष उल्लेख किया जाय और प्रमाण दिये जाएं तो वैदिक वायु ज्ञान की और भी अधिकाधिक विशेषताएं मालूम हो सकती हैं किन्तु इस छोटे से लेख में इस क्षुद्रज्ञानी लेखक से लिखे जाने योग्य थोड़े बहुत विषयों का भी समावेश होना कठिन है।[2]

---

१. 'ऋषि' शब्द का अर्थ 'वैज्ञानिक' ही है। वैदिक समय में वैज्ञानिक तत्त्व का आविष्कार करनेवालों को 'ऋषि' कहा जाता था। इन्हीं वैज्ञानिकों के आविष्कृत वैज्ञानिक तत्त्व को मन्त्ररूप में संगृहीत किया गया और उन आविष्कारकों के नाम पर ही मन्त्रों का नाम (ऋषियों का उल्लेख) किया गया।—लेखक

२. लेखक के लिखे हुए शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता के 'विज्ञान-भाष्य' (अमुद्रित और समाप्य) में उक्त मन्त्र के ऊपर यथासाध्य वैदिक विज्ञान का उल्लेख किया गया है, जिससे 'वायु-विज्ञान' का थोड़ा बहुत परिचय मिल जाता है।—लेखक

अब रहा सूर्य-विज्ञान। सूर्य-विज्ञान के विषयों से तो वेद भरा पड़ा है। उसका दिग्दर्शन मात्र कराना भी यहां असम्भव है। तो भी उसके सम्बन्ध में वैदिक भाव दिखलाने के लिये ही एक दो बातें लिख देना आवश्यक है। वेद में सूर्य के विषय में जितनी वैज्ञानिक बातें बतलाई गई हैं, वे सब वस्तुत: असाधारण और अद्भुत दैवी विज्ञान हैं।

वेद में सैंकड़ों मन्त्रों, रूपकों, उपाख्यानों द्वारा सूर्य-विज्ञान-सम्बन्धी सैंकड़ों रहस्यमयी बातें बतलायी गयी हैं। वेद कहता है कि सूर्य ही सब मुख्य शक्तियों का केन्द्र (उद्गम-स्थान) और सर्व-प्रधान शक्ति है। उसी से अग्नि (साधारण दृश्य अग्नि), वायु तथा प्रकाशक तेज:शक्ति का उद्भव होता है। उसी से ग्रह-नक्षत्रों की उत्पत्ति हुई है और उसी की शक्ति से सृष्टि-सम्बन्धी सब काम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से चलते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण सूर्य ही है।

वेद कहता है—"**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**।" 'सूर्य ही वृक्ष आदि जड़ तथा मनुष्य आदि चलनशील प्राणियों की आत्मा है।' इस सिद्धान्त के समर्थन में वेद में बहुत ही युक्तियां दी गयी हैं। वेद बतलाता है—(ऋ०।१०।१२१।५) "**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा**", "**स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्**"—जिस सूर्य के द्वारा द्यौ [ग्रह-नक्षत्र-लोक] और पृथिवी आकाश में टिकी हुई है, उसका निम्नलिखित मन्त्र में कैसी वैज्ञानिक युक्ति देकर स्पष्ट किया गया है—

"**व्यस्कम्ना रोदसी विष्णवे ते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखै:**।" (ऋग्वेद) 'हे व्यापक सूर्य! तुम मयूखै:—अपनी किरणों से—विस्तीर्ण ग्रह-लोक और पृथिवी को धारण किये हुए हो।' सूर्य-किरणों में वैद्युतिक शक्ति रहने के कारण ही आकर्षक शक्ति है। इसी भाव को वेद में प्रकाशित किया गया है। इतना ही नहीं वेद का कहना है कि—

"**तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरद: शतं जीवेम शरद: शतं, शृणुयाम शरद: शतं, प्रब्रवाम शरद: शतमदीना: स्याम शरद: शतं, भूयश्च शरद. शतात्**।" (यजु:)

'पूर्व की ओर सूर्यरूपी जो तेज:-शक्ति उदित हुई है उसी के द्वारा हम बहुत दिनों तक सुख-पूर्वक जियें, सुनें, बोलें तथा अदीन (रोग आदि दु:ख-रहित) हों।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि वेद में किसी देवता-शक्ति के विषय में जो कुछ कहा जाता या उससे प्रार्थना-रूप में निवेदन किया जाता है वह उसकी शक्ति के अनुकूल ही। लोक-व्यवहार भी यही है। धन मांगने के लिए धनी के पास ही, विद्या प्राप्त करने के लिये विद्वान् के पास ही आदमी जाते हैं। फलत: वेद-वाक्य का भी यही स्पष्ट भाव है कि बोलने, सुनने रोग-रहित रहने आदि के कार्य जिन इन्द्रिय-शक्तियों के द्वारा होते हैं उनका मूल सूर्य शक्ति है। उसी सूर्य—शक्ति द्वारा परिचालित होकर वे सब अपने-अपने कार्यों को कर रही हैं। इसी प्रकार बल, शम्बर, दास पणि आदि का वध, हड्डियों से वृत्र का और जल-फेन से नमुचिका-हनन, नाचिकेतोपाख्यान, यम-यमी-संवाद आदि अनेकानेक रूपक उपाख्यानों द्वारा आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक विज्ञान-सम्बन्धी कितनी ही बातें बतलायी गयी हैं।

वेद के सूर्य-रश्मि-विज्ञान, जल-विज्ञान, अग्नि-विज्ञान, वायु-विज्ञान, इन्द्रिय-विज्ञान आदि के द्वारा ही ऋषियों ने प्रलयाग्नि के समान अग्नि-वर्षा करनेवाला आग्नेयास्त्र, बादलों से भी अधिक

तेजी से वर्षा करनेवाला वारुणास्त्र सबको सुला देनेवाला जृम्भकास्त्र, सबको उड़ा देनेवाला वायव्यास्त्र, पाशुपतास्त्र लक्ष्य को सर्वथा विनष्ट कर देनेवाला अनिवार्य और अमोघ ब्रह्मास्त्र आदि अनेकानेक अद्‌भुत अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया था। बड़े-बड़े आसन्न-मरण वृद्ध को नवयुवक बनाने की वैज्ञानिक प्रक्रिया एक के सिर को काटकर या कटे हुए सिरवाले शरीर पर दूसरा सिर जोड़ देना, एक बालक को चार टुकड़े कर देनेवाला शस्त्र टूटी हुई हड्डी की जगह लोहा देकर जोड़ना, अन्धे को फिर दृष्टिवान् बनाना आदि की अद्‌भुत जल-चिकित्सा, बड़े-बड़े असाधारण राजयक्ष्मा, कुष्ठ आदि भयङ्कर रोगों को एकाएक छुड़ा देनेवाली सूर्य-रश्मि-चिकित्सा, मृतप्राय घायलों को एक क्षण में चङ्गा कर देनेवाली चिकित्सा ओषधि-विज्ञान, भूत-प्रेतों का पूरा पता लगाना उनसे बातचीत करना, अग्नि, वायु, सूर्य की सैकड़ों शक्तियों का विश्लेषण, उनकी अलग-अलग शक्तियों का वैज्ञानिक वर्णन, चतुःषष्टिकला-विज्ञान, सृष्टि-विज्ञान आदि सैकड़ों विज्ञानों और कलाओं की शिक्षा किस शास्त्र से वैदिक आर्य ऋषि पाते थे? और किस शिक्षा के फल से पूर्वोक्त वैज्ञानिक आविष्कार और पुष्पक विमान सरीखे अनेक प्रकार के आकाश-यान, आकाश-वाणी [Wireless telephone] आदि अनेकानेक यन्त्र बनाते थे? किस शिक्षा के द्वारा वे खेचरी (आकाश में चलने की) विद्या, दूसरे के मन की बात जानना, भूत, भविष्य, वर्तमान विषय जानना आदि का यौगिक 'विज्ञान'—ज्ञान रखकर संसार को चकित करते थे? कहने की आवश्यकता नहीं कि सबका उत्तर "वैदिक विज्ञान" में आ जाता है।

अब यहां यह सवाल है कि ऐसे अलौकिक विज्ञानमय वेद के रहते हुए भी हम उतना लाभ क्यों नहीं उठा रहे हैं, जितना हमारे प्राचीन पूर्वज उठाते थे? इसके उत्तर में बहुत से कारण दिखलाये जा सकते हैं—

(१) वेदरूपी वैज्ञानिक परिभाषा के उपवेद-रूपी भाष्यों का जिनमें क्रियात्मक विज्ञान है, वेद से निकाले गये अन्यान्य वैदिक पुस्तकों का जिनसे हमें उन वैज्ञानिक शब्दों और रहस्यों का अर्थ स्पष्ट मालूम हो सकता था, जिनका अर्थ अभी ठीक-ठीक मालूम नहीं हो रहा है उनका सर्वथा अभाव। अभाव के कारण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं—

(क) देवासुर-संग्राम महाभारत आदि प्राचीन लड़ाइयों में अच्छे-अच्छे वैदिक वैज्ञानिकों का मारा जाना और असुरों द्वारा वैदिक पुस्तकों का नष्ट-भ्रष्ट किया जाना।[1]

(ख) उसके बाद भी बराबर विदेशियों द्वारा अच्छी-अच्छी वैज्ञानिक पुस्तकों का विदेशों में जाना।[2]

---

१ पुराणों में कहा गया है कि असुरों से विद्रोह होने के कारण देवता लोग वेद भूल गये थे। बड़े प्रयत्न से फिर वेद लाभ किया गया।—लेखक

२. संस्कृत-पुस्तकों की सूची देखने से ज्ञात होता है कि केवल जर्मनी की बर्लिन लाइब्रेरी में ही ४० हजार हस्तलिखित संस्कृत पुस्तकें हैं और लन्दन के इण्डिया हाउस के पुस्तकालय में ३० हजार। हम आशा करते हैं

(ग) मुसलमान शासकों के समय वैज्ञानिक पुस्तकों का जलाया जाना या अन्यान्य प्रकार से नष्ट-भ्रष्ट किया जाना।

(घ) कहीं कुछ बची और छिपायी हुई पुस्तकों का मूर्ख मालिकों के कारण कीड़ों-मकोड़ों और अग्नि के द्वारा चौपट होना।

उपर्युक्त कारणों से वैज्ञानिक पुस्तकों का अभाव होने पर अभाव होने पर बड़े-बड़े ऋषियों, महर्षियों और रावण सरीखे अनेकानेक प्रकाण्ड वेद-वेत्ताओं के बनाये वैदिक भाष्यों का सर्वथा अभाव हो गया। वेद का एक भी पूर्ण वैज्ञानिक भाष्य न रहा! उस समय सायण सरीखे प्रकाण्ड विद्वान् ने सर्वसाधारण में प्रचलित यज्ञ-प्रथा के कारण व्याकरण के बल से याज्ञिक अर्थ करके किसी तरह लोगों को वेदार्थ समझाने और वेदोद्धार तथा वेद-प्रचार करने का प्रबल प्रयत्न किया। वैदिक-विज्ञान-सम्बन्धी विशद व्याख्यान न रहते हुए भी उनका यह प्रयत्न स्तुत्य है, जिसके कारण थोड़ा बहुत भी वेदार्थ ज्ञान हो रहा है। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि सायणाचार्य के याज्ञिक अर्थ से वैदिक विज्ञान पर उतना पर्दा नहीं पड़ा, जितना उव्वट, महीधर सरीखे वैयाकरण भाष्यकारों के भाष्यों से पढ़ा। इन लोगों ने तो लौकिक व्याकरण के बल से वैदिक शब्दों को इतना तोड़ा-मरोड़ा कि वैदिक विज्ञान "निहितं गुहायाम्" हो गया है!

कहने का सारांश यह है कि उपर्युक्त भाष्यकारों के भाष्यों से हमें वैदिक-विज्ञान-रहस्यों का पूरा पता नहीं लगता, प्रत्युत हमें कई जगह उलझनों और सन्देहों में पड़ जाना पड़ता हैं। जहां **"गणानान्त्वा गणपतिं हवामहे"** आदि अतिशय प्रसिद्ध और विज्ञान-महत्त्व-प्रतिपादक मन्त्रों का अतिशय असङ्गत अर्थ किया जाता है वहां लौकिक व्याकरण-साहित्य से सर्वथा अप्रसिद्ध और अज्ञेय मन्त्रों के समुचित अर्थ होने की आशा कैसे की जा सकती है? यहां उदाहरणार्थ और पाठकों के मनोरञ्जनार्थ एक ही मन्त्र दिया जाता है—

"सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु" ॥ (ऋग्वेद १०।१०६।६)

ऐसे-ऐसे अनेक वेद-मन्त्र हैं जिनके प्रचलित अर्थ से पूरा सन्तोष नहीं होता। तो भी हम उन आचार्यों के भी अतिशय कृतज्ञ हैं, जिन्होंने हमें अतिशय कठिन वेद-मन्त्रों को समझाने के लिये प्रबल प्रयास किया है।

[गङ्गा वेदाङ्क—जनवरी १९३२]

कि हमारे वैदिक-विज्ञान-सम्बन्धी कुछ पुस्तकें भी वहां जरूर होंगी, जिनमें मय आदि वैज्ञानिकों की बनायी 'विमान-चन्द्रिका' 'आकाश-यान-रहस्य' आदि प्रसिद्ध पुस्तकें भी हो सकती हैं। बहुत से विद्वानों का कहना है कि जर्मनी में इतनी वैज्ञानिक उन्नति का बहुत कुछ कारण वैदिक विज्ञान भी है। इसी कारण वहां संस्कृत का इतना प्रचार तथा सम्मान है। वहां वैदिक साहित्य का जितना प्रचार है वह भी सर्व-विदित ही है। अभी सुना जाता है कि तन्त्र की वैज्ञानिक गवेषणा वहां सफलता से साथ हो रही है।—लेखक

उपनिषद् और वेदार्थ

[ले०—पं० चन्द्रकान्त जी, वेदवाचस्पति आचार्य गुरुकुल सोनगढ़ (काठिवाड़)]

उपनिषद् शब्द के विभिन्न अर्थ—

वेद का उपनिषदों से कैसा सम्वन्ध है ? इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए हमें सर्वप्रथम 'उपनिषद्' शब्द के अर्थ पर ध्यान देना चाहिये। जैसे उपनिषदों का अर्थ सुलभ नहीं, वैसे 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ भी सुलभ नहीं। उपनिषद् का मौलिक वाच्यार्थ "गुरु और शिष्य की गुप्त मण्डली" (i) A confidential secret sitting (congregation) है। लक्ष्यार्थ "गुरु के चरणों में बैठकर सीखने योग्य शब्द"—"ब्रह्मात्मिका अपरा गुह्यविद्या" "Secret teaching" है। (उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मविद्याऽनया इत्युपनिषद्)। (ii) शंकराचार्य की सम्मति में भी उपनिषद् का अर्थ "उपनितरां सादयति अविद्यां नाशयत्युपनिषत्" इस निरुक्ति के अनुसार भी ब्रह्मविद्या-गुह्यविद्या ही उपनिषद् है। किन्तु परिषत् यदि समुदाय की सभा का नाम है तो उपनिषद् अल्प समुदाय का मन्त्र चिन्तन है। दूसरे शब्दों में उपनिषद् गुह्यविद्या है। Secret वा Esoteric science ही नहीं, परन्तु Mystic science भी है। इसीलिये उपनिषदों का 'इति रहस्यम्' (नृसिंहिङ), 'गुह्य आदेशः' (छान्दोग्य० ३-५-२), 'परमं गुह्यम्' (कठो० ३-१७) आदि नामों से वर्णन किया गया है। अतः उपनिषद् शब्द का मुख्य अर्थ गुह्यविद्या-ब्रह्मविद्या ही है। (iii) इसके अतिरिक्त उपनिषद् ग्रन्थों में ज्ञानगर्भित सूत्ररूप वाक्यों को भी उपनिषद् संज्ञा दी गई प्रतीत होती है।

१. यथा—"**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन, य एवं वेद इत्युनिषत्**। (तै० उ०)

जहां से मन के साथ वाणी पीछे लौट जाती है ऐसे ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला किसी से डरता नहीं। जो इस प्रकार जानता है वह यह उपनिषद् है।

२. उपनिषद् का अर्थ—**रहस्य 'तस्योपनिषद् सत्यस्य' सत्यम्, प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्।** वृ० आ० उ० ३-४-१०।

उसका उपनिषद् अर्थात् रहस्य वाक्य 'सत्य का सत्य' है 'प्राण निश्चय से सत्य है' इस प्रतीक में 'सत्यस्य सत्यम्' यह वाक्य उपनिषद् है।

३. तज्जलान् (छा० ३।१४।१), तद्वनं (केन ४-८), संयद्वामः वामती (छा० ४-१५-२४) इत्यादि गुह्य अर्थ वाले वाक्यांशों को उपनिषद् कहा गया है।

इस प्रकार उपनिषद् शब्द 'रहस्य विद्या' अर्थ में योगरूढ़ प्रतीत होता है। इसी कारण 'वात्स्यायन कामसूत्र' तथा 'कौटिल्य अर्थ शास्त्र' में गुप्त रूप से समझाने योग्य प्रकरण के अधिकरण को 'उपनिषद्' नाम दिया गया है। अस्तु—

वेद ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करते हैं—

इसी प्रकार उपनिषद् शब्द के अर्थ के निर्णय हो जाने पर उपनिषदों का वेदों के साथ

सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। यह सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि वेद और उपनिषद् एक दूसरे के विना रह ही नहीं सकते। उपनिषदों के विना वेद निर्जीव हैं और वेदों के आश्रय के विना उपनिषदों की सत्ता नहीं है। उपनिषदें जिस ब्रह्मविद्या को पुकार रही हैं, वेद भी उसी ब्रह्मविद्या की घोषणा करते हैं। यह विषय उपनिषद् की निम्न श्रुति से प्रमाणित हो सकता है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्। (क० ५-१५)

सारे वेद जिस पद का बार-बार वर्णन करते हैं, तपस्वियों के समस्त तप जिस को दर्शाते हैं, जिसको पाने के लिये ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य करते हैं उस पद को संक्षेप से कहता हूं – यह 'ओ३म्' अक्षर है।

इस श्रुति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि समस्त वेद ईश्वर का वर्णन करते हैं, सम्पूर्ण वेद-मन्त्रों की ध्वनि उसी ब्रह्म में लीन हुआ करती है। यह बात[1] वेद मन्त्र से भी प्रमाणित है। इसी बात को महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार कहा है कि समस्त वेद मन्त्र ईश्वरपरक हैं। यदि वेदों की इस ब्रह्म-विद्यारूपी आत्मा को वेदों से दूर कर दिया जाये तो वेद भौतिक अग्नि, वायु, सूर्य और चांद आदि के वर्णनमात्र ही रह जायेंगे।

वेद की इस वास्तविक spirit को न समझने के कारण ही पौराणिक काल के पण्डितों ने वेदों को शुष्क काण्ड का विषय बना दिया। जिसके परिणामस्वरूप वेदों का मनमाना विनियोग होने लगा, यज्ञों के अनर्थ प्रारम्भ हो गये और वेदों का वास्तविक वैज्ञानिक अर्थ हमारे सामने से ओझल हो गया। अस्तु—

एवं हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि वेदों और उपनिषदों का एक ही प्रतिपाद्य विषय है। वेदों में यदि अधिदैव तथा अधिभूत वर्णन आते हैं तो अध्यात्म के वर्णन भी अवश्य होने चाहियें। इस विषय पर विशेष प्रकाश डालने के लिये ही ये 'उपनिषद् ग्रन्थ' बने हैं। वेदों के ज्ञानविषयक मन्त्रों की उपनिषदों में व्याख्या है। बहुत से विद्वानों[2] की तो यहां तक धारणा है कि यजुर्वेद के ४० वें अध्याय या ईशावास्योपनिषद् को ही आधार मान कर सब उपनिषदें लिखी गई हैं।

---

१. ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद स किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

२. देखो—'उपनिषदों की भूमिका' पं० इन्द्रश्री कृत (पृ० ५७)।—केन उपनिषद् में 'केनेषितं पतति' इत्यादि श्रुति से मन प्राण आदि के प्रेरक के विषय में प्रश्न उठा कर 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' आदि श्रुति से उत्तर दिया है कि ब्रह्म ही प्रेरक है। आगे 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' श्रुति द्वारा उस ब्रह्म का वर्णन किया गया है। केन उपनिषद के उपरिलिखित आशय को 'अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनदेवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्' इस ईशोपनिषत् श्रुति ने सूत्र-रूप में प्रकट कर दिया है। इसी प्रकार कठ प्रश्न आदि उपनिषदों के अन्तर्निहित गूढ़ाशय को समझ कर ईश की श्रुतियों से तुलना की जा सकती है।

उपनिषदें वेदाश्रित हैं—

इस धारणा का यदि उपेक्षा भी की जाये तो भी हमारे पास कतिपय प्रमाण इस बात को सिद्ध करने के लिये हैं कि उपनिषद् वेदाश्रित हैं। इससे विपरीत जिन लोगों का यह कहना है कि उपनिषदों के ऊंचे-ऊंचे विचार संहिताओं में अंकुररूप में भी विद्यमान नहीं हैं, उनको इस बात का (१) ध्यान रख कर कि प्रसिद्ध उपनिषदों के तत्त्वों के आधार में ऋग्वेदादि के मन्त्र हैं अपना मन्तव्य परिवर्तित कर देना चाहिये। मैत्रेयी उपनिषद् (२) और कौषीतकी आदि उपनिषदों में तो पद-पद पर ऋग्वेद के मन्त्र औपनिषदिक विचारों की पुष्टि में दिये गये हैं। इस के सिवाय अन्य समस्त उपनिषदों में···(३) पुरुष सूक्त, नासदीय सूक्त (ऋ० १०।१३०), केन पार्ष्णी सूक्त (अथर्व० १०।२) स्कंभ सूक्त (अथ० १०।७।२), ब्रह्मणस्पति सूक्त (ऋ० १०।७२), वाक् सूक्त (ऋ० १०।१२६), हिरण्यगर्भ सूक्त (ऋ० १०।१२१) वैश्वानर सूक्त तथा अघमर्षण आदि सूक्तों में प्रदर्शित दार्शनिक विचारों के प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होते हैं। साथ ही (४) शुक्ल यजुर्वेद-संहिता का शिव-संकल्प अध्याय (वा० स० ३४), रुद्राध्याय (१६) अश्वमेध—उपनिषदध्याय (२६) तथा पुरुष सूक्त केवल कर्म-काण्ड परक ही नहीं है प्रत्युत उपासनापरक होने से उपनिषदों के तुल्य कोटि के ही हैं। इसलिये भी उपनिषद् की अध्यात्म भावनाओं का स्रोत वेदों को ही मानना उचित है। हम इस प्रकरण में पाठकों के सामने यह रखना चाहते हैं कि जिस प्रकार वेदों के जानने में ब्राह्मण ग्रन्थों की शैली अत्युत्तम साधन है वैसे ही उपनिषदों की शैली भी एक उत्तम साधन है। उपनिषदें वेदों की किस प्रकार की व्याख्यायें हैं ? इस विषय के स्पष्टीकरण के लिये हमें निम्न विषयों पर विशेष विचार कर लेना चाहिये।

मुख्य प्रश्न—

(i) क्या उपनिषदें वास्तव में वेदों के आश्रित हैं ? (ii) यदि हैं तो उनकी वर्णन शैली क्या है ?

इन दो प्रश्नों के समाधान के अनन्तर ही 'उपनिषद्' किस प्रकार के भाष्य हैं ? उपनिषत्कारों के मन्त्रार्थ करने की नीति किस प्रकार की है ? इन सब प्रश्नों का उत्तर प्राप्त कर सकते हैं। अतः हम क्रम-पूर्वक दोनों प्रश्नों पर विचार करते हैं।

उपनिषदें वेदों के आश्रित हैं

(१) ऐतिहासिक दृष्टि से हमें यह ज्ञात है कि प्रधान दसों उपनिषदें किसी न किसी वेद पर साक्षात् या परम्परा-सम्बन्ध से आश्रित हैं। जैसे ईशावास्य, कठ तथा तैत्तिरीय, यजुर्वेद पर आश्रित हैं अर्थात् ये यजुर्वेद की उपनिषदें हैं। इसी प्रकार अन्य उपनिषदें भी अपने-अपने वेद पर आश्रित हैं। ईशावास्योपनिषद् तो उपनिषद् तथा वेद में तादात्म्य को भी प्रमाणित करती है।

(२) उपनिषदों के 'वेद रहस्य' 'वेदान्त' [वेदांतो नामोपनिषत्प्रमाणम् वेदान्तसार] आदि नाम भी सिद्ध करते हैं कि उपनिषदें वेदों के रहस्य को प्रकट करती हैं, अत एव ये वेदों पर आश्रित हैं।

(३) उपनिषदों में अनेक स्थानों पर ब्रह्म आदि के वर्णन के अनन्तर "एषा वेदोपनिषत्"

'एषा संहितोपनिषत्' अर्थात् 'यह वेद की उपनिषद् है', 'यह संहिता की उपनिषद् है' यह लिखा होता है। उदाहरण (१) के लिये तै० उ० ११।६ 'एष आदेशः, एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम् एवमु चैतदुपास्यम्।'

"यह जो मैंने तुम्हें शिक्षा दी है यही मेरी आज्ञा है। यही मेरा उपदेश है। यही वेद का सार तथा रहस्य है। यही वेद शास्त्र का आदेश है। ऐसा ही तुझे करना चाहिये। इसी प्रकार यह उपदेश तुझे आचरण में बसाना चाहिये।" एक और उदाहरण लीजिये—(२)तै० उ० ३।१ '**अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः।**'

अब हम संहितासम्बन्धी रहस्य को खोलें।

इन दोनों उदाहरणों में 'वेदोपनिषत्' तथा 'संहिता उपनिषत्' ये दो शब्द आये हैं। जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपनिषद् स्वयं अपने आपको वेद पर आश्रित बताती हैं। वेद के होने का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि उपनिषदें वेद की व्याख्या करती हैं। शङ्कर स्वामी ने वेदोपनिषत् का अर्थ 'वेद रहस्य' किया है। टीकाकार आनन्दगिरि वेदरहस्य का अभिप्राय वेदार्थ करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपनिषदें वेद को अपने व्याख्येय ग्रन्थ के रूप में—स्वीकार करती हैं।

(४) उपनिषदों में ब्रह्मविषयक वर्णन किया गया है कि वह (ब्रह्म) सत्य है, त्रिकालाबाधित है, संसार का रचयिता, धर्ता तथा संहर्ता है, ज्ञानस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप है, व्यापक है इत्यादि।

इस प्रकार के समस्त वर्णन वेद के मन्त्रों से मिलते हैं। बल्कि बहुत स्थानों में उपनिषद् की अनेक श्रुतियां वेद मन्त्रों से मिलती हैं। अथवा यूं कह सकते हैं कि उपनिषदों में ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक मन्त्रों का भी उद्धरण दिया गया है। जिससे यह सिद्ध होता है कि स्वयं उपनिषत्कार वेदों को आश्रय मानते हैं और वेदों से उपनिषदों का सम्बन्ध अध्यात्मव्याख्या की दृष्टि से स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ—

(i) छां० ३।१२।६ 'तावनस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति'।

श्रुति का अर्थ अनावश्यक है। देखना यह है कि उपर्युक्त उपनिषद् की श्रुति ही अन्यत्र ऋक् यजुः (३१।३) तथा अथर्व तीनों वेदों के पुरुषसूक्त में मन्त्ररूप से आई है। अथवा इस प्रकार कह सकते हैं कि छां० ३।१२ खण्ड में वर्णित गायत्रीरूप ब्रह्म की महिमा की पुष्टि के लिए वेदमन्त्र को उपनिषत्कार ने उद्धृत किया है। दोनों अवस्थाओं में हमारी मूल धारणा ही पुष्ट होती है। और प्रमाण लीजिये—

(ii) क—श्वेताश्वतर उपनिषद् ३ अ० ।३। की '**विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः**' यह श्रुति यजुः १७।१९, ऋ० १०।८१।३ स्थान से उद्धृत किया गया मन्त्र प्रतीत होता है।

(iii) ख—श्वे० उ० ३।८ '**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्**' श्वे० उ० ३।१४ '**सहस्रशीर्षा पुरुषः**' क्रमशः ये श्रुतियां यजु० ३१।१८, अथ० १९।६।१ स्थानों से से उद्धृत किये गये मन्त्र प्रतीत होते हैं।

(iv) ग—श्वे० ख० उ० ३४।२-३ श्रुतियां स्पष्ट ही वेदमन्त्रों के उद्धरण हैं।

(v) घ—'**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते**' इत्यादि मन्त्र (३ य मुंडक) तथा श्वे० उ० ४।६ में है। (यह मन्त्र ऋक् १।१६४।२० तथा अथ० ६।६।२० का है।

(vi) ङ—श्वे० उ० ४।१६ में '**नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्च न मध्ये परिजग्रभत्**' दी गई मन्त्र संहिता के क्रम से विपरीत करके उद्धृत की गई प्रतीत होती है। यह मन्त्र यजुः ३२।२ स्थल पर आया है।

(vii) च—कठोपनिषद् ५ वल्ली। २ श्रुति '**हंसः शुचिषत् वसुरन्तरिक्षसत्**' आदि श्रुति यजुर्वेद १२वें अध्याय का १४वां मन्त्र ही है। इस श्रुति में ब्रह्म का ही वर्णन किया गया है। यहां इनकी व्याख्या निष्प्रयोजन है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपनिषदों में आते हैं। इनसे यह प्रतीत होता है कि उपनिषदें घोषणा कर रही हैं वे कि स्वतः वेद के गुह्य अर्थों का प्रकाश करने वाली हैं—ब्रह्मविद्या की गायिकायें हैं।

साथ ही उपनिषदों में जगह-जगह पर उद्धृत किये जानेवाले 'तदेषा ह्युक्ता' इत्यादि शब्दों से वेदमन्त्र भी यह प्रमाणित करते हैं कि वेदों की अध्यात्म व्याख्या होती है और उपनिषदों की प्रवृत्ति विशेषकर इसी प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर हुई है।

(५) स्वयं उपनिषदें इस बात को स्वीकार करती हैं कि वे[1] ईश्वरीय ज्ञान वेद के ही सार हैं वेद ही उनका अवलम्बन है। उदाहरण के लिए—

(क श्वेताश्वतर उपनिषद् ५।६—'**तद्वेद गुह्योपनिषत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेद ते ब्रह्मयोनिम्। ये पूर्वंदेवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः॥**

वेदों के रहस्यरूप उपनिषदों में गूढ़ उस ब्रह्म को और उस वेद के कारण ब्रह्म को वेदवेत्ता जानते हैं। जो पूर्वज देव और ऋषि उसे पहचान गये वे उसमें लीन होकर मुक्त हो चुके।'

उपनिषद् की इस श्रुति में स्पष्ट तौर पर उपनिषदों को वेद की गुह्य विद्या या आश्रय कहा है।

(ख) छा० ३।५।४ **ते वा एते रसानां रसाः वेदा हि रसास्तेषामेते रसाः। तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि, वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि।**

'वे ही यश, तेज, ऐश्वर्य और शुक्लादि दिव्यस्वरूप रसों के रस है। वे ही ये उपनिषद् अमृतों के अमृत हैं। वेद अमृत हैं, ये उनके भी अमृत हैं।'

(ग) केन ४।७८ **उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति।**

'तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा, वेदाः सर्वाङ्गाणि सत्यमायतनम्'

'शिष्य ने कहा कि हे गुरो! उपनिषद् मुझे कहिये। उसने कहा तुझे कह दी है, निश्चय से

---

१. ईश्वरीय ज्ञान वेद है—(!) मुं० २।१।४ 'वाग्विवृताश्च वेदाः' मुं० २।१।६ 'तस्मादृचः सामयजूंषि ......" इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि उपनिषद् भी वेदों को ईश्वरीय ज्ञान कहती है।

तुझे ब्राह्मी उपनिषद् कह दी है। उपनिषद् की प्रतिष्ठा, तप, इन्द्रियसंयम और कर्म करना है। वेद उसके सारे अङ्ग हैं। सत्य उसका स्थान है।'

इस सन्दर्भ में 'वेदाः सर्वाङ्गाणि' वेद ही उपनिषदों के सर्वाङ्ग हैं यह वाक्य ध्यान देने योग्य है।

इस प्रकार उपनिषदों में (एक आध[1] स्थल को छोड़कर) तथा अन्य ग्रन्थों में अनेक उद्धरण आते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उपनिषदों के आधार-ग्रन्थ वेद ही हैं। अस्तु—

वेद और उपनिषदों के परस्पर के उपर्युक्त सम्बन्ध को दृष्टि में रख कर अब हमें यह सोचना चाहिये कि उपनिषदें वेदों की किस प्रकार की व्याख्या करती हैं।

उपनिषदें किस प्रकार की व्याख्या हैं

उपनिषदों से वेदार्थ में किस प्रकार की सहायता ली जा सकती है, उपनिषदों की सात्त्विक दृष्टि से व्याख्या-शैली क्या है? आइये इस प्रमुख प्रश्न पर विशेष विचार कर लेवें।

(१) उपनिषद् ग्रन्थ वेद के ज्ञान-काण्ड के व्याख्या-ग्रन्थ हैं। अध्यात्म वेदों अर्थात् उपनिषदों में वेदों की अध्यात्म व्याख्या की गई है। इस विषय के स्पष्टीकरण की और अधिक आवश्यकता है।

हमने यह देखा है कि उपनिषद् ग्रन्थ वेदों को आधार ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। अब उपनिषदों से ही पूछना चाहिये कि वे किस रूप में वेदों को आधार मानती हैं? अर्थात् उपनिषदों की सम्मति में वेदों का मुख्य तात्पर्य क्या होना चाहिये? इन प्रश्नों का उत्तर हम पहले ही दे चुके हैं कि उपनिषदों की सम्मति में वेदों का तात्पर्य 'ब्रह्म विद्या' का प्रतिपादन है। इसलिये उपनिषदें वेदों की अध्यात्म व्याख्यायें हैं। इस विषय में उपनिषदों की कतिपय अन्तःसाक्षी भी दी जा सकती है।

(i) तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षा वल्ली चतुर्थ अनुवाक प्रथम श्रुति में निम्न प्रतीक ध्यान देने योग्य है। **'यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु।'**

'जो भगवान् श्रुतियों में श्रेष्ठ वर्णन किया गया है जो सर्वत्र विद्यमान है, जो श्रुतियों से तथा अमृत से प्रकाशित है वह ईश्वर मुझे बुद्धि से युक्त करे।'

अर्थ—यहां पर एक बात तो यह कही गई है कि श्रुतियों में भगवान् का वर्णन किया गया अर्थात् वेदों में ब्रह्म विद्या है। फिर यह कहा गया है 'जो भगवान् श्रुतियों से तथा अमृत से प्रकाशित है' इस से भी यही प्रतीत होता है कि वेदों में ब्रह्मविद्या है। उपर्युक्त प्रतीकों के **'छन्द'** शब्द का अर्थ शङ्कर स्वामी ने भी वेद किया है।

---

[1]. मु० १।१।४-५ द्वे विद्ये वेदितव्ये……परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः ……। इत्यादि स्थल में वेद अपरा विद्या के अन्तर्गत माने गये हैं। और 'परा' वेद से बढ़ कर कोई अन्य विद्या। कई 'परा' से 'उपनिषद्' ग्रहण करते हैं और वेदों से उपनिषदों को विशेष महत्त्व की बताते हैं परन्तु 'परा' 'उपनिषद्' नहीं अपितु 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना मतेन। यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यस्तस्यैवात्मा वृणुते तनूं स्वाम्' में कही गई 'ब्रह्म' के 'स्वयं वरण' की विद्या पराविद्या है।

(ii) केनोपनिषद् ४ खण्ड ७-८।

'उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता य उपनिषत्, ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति।'

'तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गाणि सत्यमायतनम्।'

इसका अर्थ पहले किया गया है। यहां निम्न आये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

'वेद ब्रह्मविद्यारूपी स्त्री के सम्पूर्ण अङ्ग हैं' इसका यह अभिप्राय है कि वेद ब्रह्मविद्या के प्रकाश करनेवाले हैं। क्योंकि अङ्गों से ही अङ्गी (मनुष्य) का ज्ञान हुआ करता है।

(iii) तै० उपनिषद् शिक्षावल्ली ५ अनुवाक की तृतीय श्रुति निम्न है—

'भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूंषि। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा: महीयन्ते।'

'भूः' ऋचायें ऋग्वेद हैं। 'भुवः' साममन्त्र हैं, 'सुवः' यजुर्वेद हैं और 'मह' ब्रह्म है। ब्रह्म से ही सारे वेद महिमा को पाते हैं।' अन्तिम वाक्य पर शङ्कर स्वामी लिखते हैं **'ब्रह्मोंकारः, ब्रह्मकोषत्वात्तेनैव सर्वे ऋगादयः पूज्यमानाः दृष्टाः'** अर्थात् ब्रह्म कहते हैं ओंकार को। और 'ओंकार' ब्रह्म म्यान है इसलिये 'ब्रह्म' तलवाररूप हुआ। ये रूपक 'ब्रह्म तथा ओंकार' में आधार-आधेय भाव को सूचित करने के लिये दिखाया गया है। योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि ने **'तस्य वाचकः प्रणवः'** १।१०।२७ इस सूत्र में ओंकार को ईश्वर का वाचक कहा भी है। ब्रह्म के निज नाम ओंकार से सब वेदों की महिमा है, अर्थात् सब वेदों की महिमा यदि है तो वह इसलिये कि वे ओंकार का प्रतिपादन करते हैं, जो ईश्वर का निजनाम है। इससे भी सिद्ध होता है कि वेदों में ब्रह्मविद्या है।

(iv) छन्दोग्योपनिषद् द्वियीय प्रपाठक २३ खंड २-३ गद्य निम्न है—

'प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्, तेभ्योऽभितप्तेभ्यः त्रयी विद्या संप्रासुवत् तामभ्यतपत् तस्या अभितप्तायाः एतान्यक्षराणि संप्रासुवन्त भूर्भुवःस्वरिति।'

इसका भावार्थ यह है कि प्रजापति जब लोकों का निर्माण कर चुका तब उसने त्रयी विद्या का प्रकाश किया है। जिसका सार 'भूः, भुवः, स्वः' महाव्याहृतियां हैं। यहां पर भी त्रयी शब्द का अर्थ ऋक्, यजुः तथा सामवेद हैं। ऐसा ही शङ्करस्वामी ने छान्दोग्य के सप्तमाध्याय चतुर्थ खण्ड के भाष्य में लिखा है—'त्रयी शब्दस्य ऋग्यजुःसामसमाख्या' अर्थात् 'त्रयी' यह शब्द ऋगादिक चारों वेदों का नाम है। अस्तु।

उपनिषद् इससे आगे कहती है **'तानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः संप्रासुवत्।...... ओंकार एवेदं सर्वम्, ओंकार एवेदं सर्वम्।**

अर्थात् फिर प्रभु ने उन तीन अक्षरों का मन्थन किया। उन मन्थन किये हुये अक्षरों से ओंकार प्रकट हुआ।......और सब वेदवाणी में ओंकार ही व्याप्त है। एवं छान्दोग्योपनिषद भी स्पष्टरूप से इसी भाव को व्यक्त करती है।

(v) कठोपनिषद् १ आ० वल्ली २, १५वां मन्त्र।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यादि श्रुति में 'सारे वेद जिस ब्रह्म का वर्णन करते हैं' इ प्रकार लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि वेदों में ब्रह्मविद्या है।

(vi) ईशावास्योपनिषद् में ब्रह्म तथा उसकी प्राप्ति के उपायों का विशद वर्णन है। इ उपनिषद् अन्य उपनिषदों का स्रोत है। फिर यह सर्वविदित ही है कि यह उपनिषद् यजुर्वेद क ४० वां अध्याय है। इस से भी प्रतीत होता है कि वेदों में ब्रह्म-विद्या का अभाव बताना निता भूल है।

इस प्रकार हमने उपनिषदों की अन्तःसाक्षियों के आधार पर यह देख लिया है कि वेदों क सार ब्रह्म-विद्या है। वेदों में विद्यमान ब्रह्म-विद्या के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण ही उपनिषदों क उद्देश्य है। इस विषय में महर्षि दयानन्द[1] जी तथा अन्य विद्वानों की भी सहमति है।

व्याख्या-शैली—

अब हम दूसरे प्रश्न पर विचार करते हैं। उपनिषदों की वर्णन शैली क्या है? यह प्र प्रथम प्रश्न के साथ सङ्गत है। प्रथम प्रश्न पर विचार करने से हम इस परिणाम तक पहुंच गये कि वेदों का उपनिषदों से बहुत गहरा सम्बन्ध है। उपनिषदें वेदों की अध्यात्म भावनाओं प्रदर्शक ग्रन्थ हैं। इस द्वितीय प्रश्न के ऊपर विचार करते हुये हम 'उपनिषदों की भाष्य-शैली' क समझना चाहते हैं। यदि उपनिषदें वेदों की अध्यात्म-व्याख्या करती हैं तो वे किस शैली से कर हैं? इस विषय को यहां देखना है। इस के लिये एक मन्त्र पर किये गये उपनिषद् के भाष्य देखिये। मन्त्र निम्न है। उदाहरण—

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम्॥ ऋ० १०।२७।४॥

मन्त्र का सामान्य अर्थ यह है—'गर्भ में होते हुए ही (गार्हस्थ्य में रहते हुये ही) मैंने अ सब जन्मों को इन देवों की कृपा से जाना है। इन अनेक लोहे के किलों ने (शरीरों ने) चिरका

(.) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका 'अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषा लंकारादिना सप्रमाणः संभवोऽस्ति तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते। परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्या मर्वा..। पृ० २२५, पं० २६।

(क) १।१८ निरुक्त, यास्कभूमिका 'उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु' इस मन्त्र भाष्य करते हुए निरुक्तकार कहते हैं "वाचोऽर्थं पुष्पंफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा" यहां पर इ विकल्प में देवताज्ञान को पुष्प तथा आध्यात्मिक ज्ञान को वेद का फल कहा है। एवं निरुक्तकार भी उसी बात पोषक हैं कि वेद पढ़ने का अन्तिम फल यही है कि ब्रह्मविद्या का पूरा परिचय हो।

(ख) बौधायन धर्मसूत्र द्वितीय प्रश्न, दशमाध्याय, ६९ 'प्रणवात्मको वेदः' अर्थात् वेद का सार आत्मा प्रणव है। यह प्रणव कौन है? इसके लिये स्वतः ७० सूत्र में लिखते हैं 'प्रणवो ब्रह्म' अर्थात् प्रणव का ब्रह्म है। इस प्रकार प्रथम सूत्र का अर्थ यह हुआ कि वेद का आत्मा ब्रह्म है।

तक मुझे अपने में बन्द रखा। अब मैं वेग से बाज की तरह (ज्ञान द्वारा) इन सब को छिन्न-भिन्न कर के निकल आया हूं'।

उपर्युक्त अर्थ से मन्त्र का अन्तर्निगूढ़ गुप्त रहस्य स्पष्ट नहीं होता है। आइये, इस मन्त्र के तत्त्व को समझने के लिये उपनिषदों से पूछें। इस विषय में हमें ऐतरेयोपनिषद् द्वितीय अध्याय का प्रथम खण्ड देखना चाहिये। वह निम्न प्रकार से है।

ऐतरेयोपनिषद् में किया गया स्पष्टीकरण—

'पुरुषे ह वायमादितो गर्भो भवति, यदेतद्रेतस्तदेतद् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतम्। आत्मन्येवात्मानं बिभर्ति, तद्यदा स्त्रियां सिंचत्यथैनञ्जनयति, तदस्य प्रथमं जन्म ॥१॥

अर्थ—'पुरुष में (पिता के शरीर में) निश्चयपूर्वक यह आत्मा पहले गर्भ होता है (गर्भरूप से होता है) जो यह वीर्यरूप से स्थित है। उसके इन सब अङ्गों से साररूप से एकत्रित आत्मा सहित वीर्य को निश्चय से पुरुष (पिता) अपने शरीर में गर्भरूप से धारण करता है। उसको जब स्त्री में सींचता है तब इस को जन्म देता है। वह (पुरुष के शरीर से निकलना) इस आत्मा का प्रथम जन्म है।

'तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमंगं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति। सा अस्यैतम् आत्मानम् अत्र गतं भावयति।'

अर्थ—यह वीर्य स्त्री का सचमुच आत्मा (शरीर) बन जाता है। जैसे उसका अपना अङ्ग होता है वैसे। अतः वह इस स्त्री को पीड़ित नहीं करता है। वह स्त्री अपने शरीर में प्रविष्ट इस पुरुष के वीर्यस्थ आत्मा को पालती पोषती है।

'सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति, सो अग्रे एव कुमारे जन्मनोऽधिभावयति। स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति आत्मानमेव तद् भावयति एषां लोकानां सन्तत्यै एवं संतता हीमे लोकाः। तदस्य द्वितीयं जन्म ॥३॥

अर्थ—'वह पालन पोषण करनेवाली पालन-पोषण करने योग्य है। स्त्री उस गर्भ को धारण करती है। पुरुष अपना और अपनी स्त्री का पोषण करता हुआ निश्चय से जन्म से पहले और पीछे बच्चे का पालन-पोषण करता है। वह जो यह कार्य करता है उससे वह अपना ही पालन पोषण करता है। इन मनुष्य-वंशों के (लोकों) निरन्तर फैलाने के लिये। क्योंकि इस प्रकार ही ये मनुष्य-वंश फैले हुए हैं। वह (स्त्री के शरीर से निकलना) इस आत्मा का दूसरा जन्म है।'

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते, अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते। तदस्य तृतीयं जन्म ॥४॥

अर्थ—वह इस पुरुष का पुत्ररूप आत्मा पुण्य-कर्मों के लिये प्रतिनिधि होता है। अब इस पुत्र रूप आत्मा का दूसरा पितारूप आत्मा कर्तव्यों को पूर्ण कर के पूर्ण आयु भोग कर चल देता है। वह यहां से चलता हुआ निश्चय से फिर जन्म लेता है। वह इस आत्मा का तीसरा जन्म है।

'तदुक्तमृषिणा। गर्भे नु सन्वेषामिति……' ॥५॥

'वह अनेक जन्मों का होना ऋषि ने कहा है 'गर्भे नु सन्……' इत्यादि—इस मन्त्र का अर्थ दिया जा चुका है।

'गर्भे एवैतच्छयानो वामदेवः एवमुवाच। स एवंविद्वानस्मात् शरीरभेदाद् ऊर्ध्वम् आक्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतस्समभवत् समभवत्' ॥६।

अर्थ—'यह गार्हस्थ्य में सुख से रहते हुए ही वामदेव ने कहा है। वह इस प्रकार आत्मा को जानता हुआ इस शरीर को छोड़ने के पीछे जन्म मरण के चक्र से बाहर निकल कर उस सुखरूप परलोक में सब कामनाओं को पाकर मुक्त हो गया, मुक्त हो गया।'

उपर्युक्त उपनिषदों की प्रतीकें ऋग्वेद के मन्त्र को बहुत अधिक विशद कर रही हैं। उपनिषद् ने वेदमन्त्र के अध्यात्मभाव को साफ-साफ खोलकर हमारे सामने उपस्थित कर दिया है।

मन्त्र की इस प्रकार की अध्यात्म-व्याख्या के समझने के पश्चात् वेद के ऐसे अनेक स्थल सरलता से खोले जा सकते हैं। कहां उपनिषद् की रसवती व्याख्या और कहां[1] भाष्यकारों की व्याख्यायें।

इस प्रकार मन्त्र पर किये गये उपनिषद् के भाष्य को देख कर यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि उपनिषदें वेदों के अध्यात्म-भाष्य हैं। एवम् उदाहरण से इस बात का स्पष्टीकरण हो गया। अब अन्य रीतियों से भाष्यशैली की विशेषता का प्रदर्शन करते हैं।

(२) उपनिषदों में किसी विषय की आध्यात्मिक वा आधिदैविक व्याख्या के अनन्तर 'इत्यध्यात्मम्' 'इत्याधिदैवतम्' आदि लिखने की शैली भी देखी जाती है। ऐसी ही शैली ब्राह्मणग्रन्थों में भी हमने देखी है। इससे भी हमारी धारणा को ही पुष्टि मिलती है।

उदाहरण के लिये देखिये—

(१) तै० उ० शिक्षावल्ली ७वां अनुवाक १ श्रुति **'पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्। चर्म मांसं स्नाय्वस्थि मज्जा।**

उपर्युक्त सन्दर्भ की व्याख्या निष्प्रयोजन है। इस में ध्यान देने योग्य 'अध्यात्मम्' शब्द है। इस शब्द के द्वारा उपनिषत्कार स्पष्टरूप सें अध्यात्म-व्याख्या की घोषणा करते हैं।

(ii) छा० उ० ३ प्र० ३ खंड

'वायुर्वाव संवर्गो यदा वाग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति। यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति'' …इत्यधिदैवतम्'। १।२।

'अथाध्यात्मम्। प्राणो वाव संवर्गः, स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति…'

---

१. आचार्य सायण का भाष्य कोई विशेष प्रकाश नहीं डालता है, मन्त्र के अध्यात्मभाव उसमें खुले नहीं हैं, उपनिषद् ने गर्भ के तत्व के साथ-साथ अनेक जन्म (जनिता) तथा आयसी पुरः के रहस्य को पाठकों के सामने खूब स्पष्ट कर दिया है।

उपर्युक्त स्थलों में 'संवर्ग' का वर्णन करते हुए पहले अधिदेव-व्याख्या दिखाई गई है, फिर उसी के Corresponding (समानान्तर) अध्यातम व्याख्या दिखाई गई।

(iii) छा० उ० १ प्र० ६ खंड तक उद्गीथ के प्रकरण में 'ऋक्' और 'साम' की अधिदेव व्याख्या की है। फिर छा० उ० १ प्र० ७ खंड में अध्यात्म-वर्णन भी दिखाया गया है।

'तस्यर्क च साम चगेष्णौतस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गीतैतस्य हि गाता स एष ये चामुष्माद् प्राञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदंवतम्' । १।६।।

'अथाध्यात्मम् । वागेवर्क् प्राणः साम ..... ।' अस्तु।

उपर्युक्त उदाहरणों से भी यह स्पष्ट है कि उपनिषत्कारों की शैली अध्यातम व्याख्या की है।

(३) उपनिषदों की अनेक प्रकार की अन्तःसाक्षियों से विषय के पुष्ट होने पर भी हम अन्य रीति से यह बताना उचित समझते हैं कि उपनिषद् ग्रन्थ वेद के व्याख्याता हैं या वेदार्थ में उपनिषदों की सहायता ली जा सकती है। वह प्रकार 'निरुक्तियों से सहायता प्राप्त करने का है। जिस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थ भी अपने अन्तर्गत निर्ववनों के द्वारा वेदार्थ में सहायक होते हैं ठीक इसी प्रकार उपनिषद् भी। उदाहरण के लिए—

(I) ऐतरेयोपनिषद् प्रथम अध्याय तृतीयखण्ड १३वीं तथा १४वीं श्रुति में 'इन्द्र' की निरुक्ति दी गई है।

'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यदिदमदर्शमिति।'

'तस्मादिन्द्रो हवै नाम, तमिन्दद्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः।'

'उसने इस पुरुष (आत्मा) को ही जो सबसे बढ़ कर फैला हुआ परला ब्रह्म है—देखा और कहा इस को मैंने देखा। इस लिये इस देखनेवाले का नाम 'इदन्द्र' हुआ।'

'इदन्द्र ही निश्चय नाम है। विद्वान् उस इदन्द्र वाले को ही 'इन्द्र' इस गुह्य नाम से कहते हैं।'

उपनिषद् के उपर्युक्त स्थल में 'इन्द्र' का निर्वचन दिया गया है। निरुक्तकार ने भी इन्द्र के अनेक निर्वचन देते हुए एक निर्वचन 'इदं दर्शनात्' किया है।

(II) छा०=उ० प्रथम प्रपाठक चतुर्थ खण्ड की प्रथम श्रुति में 'छन्द' शब्द की निरुक्ति दी है। निरुक्तकार भी इस निरुक्ति से सहमत प्रतीत होता है।

"देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन्। ते छन्दोभिरच्छादयन्। यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्।"

यहां छन्द शब्द छादनार्थक 'छद' धातु से व्युत्पन्न किया गया है।

(III) छा० उ० १ प्रपाठक २ खण्ड १०, १२ श्रुतियों में क्रमशः प्राणवाचक 'अंगिरा' तथा 'अपास्य' शब्दों की निरुक्तियां की गई हैं।

'एतमु एवांगिरसं मन्यन्ते अङ्गानां यद्रसः'।

'इस प्राण को ही ज्ञानी अंगिरा कहते हैं क्योंकि वह अंगों का रस है।'

'एतमु एवायास्य मन्यन्ते आस्याद्यदयते'।

'इस प्राण को ही उपासक अपास्य कहते हैं, क्योंकि यह प्राण मुख से जाता है।'

इसी प्रकार छा० उ० ३० प्र० १२ खण्ड में प्रथम श्रुति 'गायत्री' शब्द की, छा० उ० ४ प्र० १५ खण्ड की २, ३, ४ श्रुतियां तथा छान्दोग्य ८ प्र० ३।२ में क्रमशः परमात्मा-वाचक 'संयद्वाम' 'वामनी' 'गायत्री' तथा हृदय आदि शब्द की निरुक्तियां दी गई हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक शब्दों की निरुक्तियां उपनिषदों से जानी जा सकती हैं, जिनमें वेदार्थ में पर्याप्त सहायता ली जा सकती है।

(४) उपनिषदों से एक ऐसे कोष का भी निर्माण किया जा सकता है जिससे वेदमन्त्रों की अध्यात्म-व्याख्या में पर्याप्त सहायता ली जा सकती है। उदाहरणार्थ—याज्ञिक शब्दों की अध्यात्म-व्याख्या—

(I) श्वेताश्वतर ४ अध्याय १० श्लोक को देखिये—

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' 'अर्थात् माया को तो प्रकृति जाने और महेश्वर को माया जाने।'

यदि वेद में कहीं 'माया' शब्द आवे तो हमें वेदान्तियों की माया न लेकर 'प्रकृति' ही लेनी चाहिये। चारों वेदों के दार्शनिक मन्त्रों में बहुधा 'माया' शब्द आया करता है, ऐसे स्थलों की व्याख्या करते हुए वेदान्तियों की माया नहीं लेनी चाहिये। 'प्रत्युत' उपनिषद् के आधार पर 'माया' का अर्थ 'प्रकृति' ही करना चाहिये। ऐसा करने से अनेकों वेदमन्त्रों के रहस्य खुल जाते हैं और व्याख्या रुचिकर तथा सङ्गत प्रतीत होने लगती है। विस्तार-भय से उदाहरण नहीं दिये गये।

(II) वेदों में कहीं-कहीं 'अरणि' शब्द दृष्टिगोचर होता है। ऐसे स्थानों में 'अरणी' शब्द 'अधियज्ञ अर्थ' यज्ञ की लकड़ी का किया जाये तो बहुधा मन्त्र का स्वारस्य मारा जाता है। ऐसी अवस्था में हमारी शरण उपनिषद् होती है। देखिये—

श्वेताश्वतर प्रथम अध्याय की १४वीं श्रुति—

'स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्।'

'उपासक अपने शरीर को नीचे की अरणि समझ कर और प्रणव को ऊपर की अरणि समझ कर ध्यानरूप निर्मथनाभ्यास से लकड़ी में छिपे अग्नि के समान परमेश्वर को देखे।'

यहां पर उपनिषद् ने 'देह तथा प्रणव' को ही अरणि बताया है। यह स्पष्ट आध्यात्मिक अर्थ है। उपनिषद् के इस अर्थ को चरितार्थ करने के लिये हम एक मन्त्र उपस्थित करते हैं अथर्ववेद १० काण्ड के ८वें स्कम्भ सूक्त का २०वां मन्त्र इस प्रकार है—

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु। स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत्

अर्थ—'जो पुरुष निश्चय से उन दो लकड़ियों को जानता है। जिनसे ब्रह्मरूपी अग्नि मथ

कर निकाली जाती है। वह जाननेवाला सबसे बड़े ब्रह्म को समझता है वह महान् ब्रह्म को जानता है।'

मन्त्र का अर्थ अरणि शब्द ने रोक रक्खा है। ऐसे समय में ये (अरणियां) लकड़ियां आड़े आकर बाधा पैदा कर रहे हैं। इस बाधा को कैसे दूर करें ? एक ही तरीका है कि उपनिषद् की बांह पकड़ लें अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

मन्त्र में दोनों अरणियां 'स्वदेही तथा 'प्रणव' (ओंकार) की है। इन दोनों (स्वदेह तथा प्रणव की) अरणियों को ध्यानरूपी मन्थन दण्ड से रगड़ने पर वसु (ब्रह्म) का प्रकट होना स्वाभाविक है। मन्त्र में इसी विषय का निर्देश किया गया है। अब मन्त्र का अर्थ निम्न हो जाता है। 'जो पुरुष निश्चय से स्वदेह तथा ओंकाररूप दो लकड़ियों को जानता है जिनसे ब्रह्मरूपी अग्नि मथ कर निकाली जाती है वह जाननेवाला सबसे बड़े ब्रह्म को समझता है वह महान् ब्रह्म को जानता है। इस प्रकार मन्त्र में कहा है कि ओंकार के जाप से शरीर जितना पवित्र होता जायगा उतना ही तेज स्वरूप परमात्मा हममें प्रकट होता जायेगा। जो इस सचाई को जान लेता है वेद उसके विषय में कहते हैं कि वह महान् ब्रह्म को जानता है।

(III) वेदों में 'अजा'‡ शब्द स्थान-स्थान पर आता है। इस 'अजा' शब्द में पाश्चात्त्य तथा कुछ पौरस्त्य भाष्यकारों को बकरा की बें बें ही सुनाई देती है। परन्तु उपनिषद् का अध्यात्म कोष 'अजा' से प्रकृति की रागिणी सुनवाता है। देखिये—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।' श्वे० उ० ४।५।

यहां 'अजा' स्पष्ट प्रकृति ही है। इस अर्थ के द्वारा मन्त्रों में आध्यात्मिक अर्थ करने में बड़ी सरलता होती है।

इसी प्रकार 'शर' शब्द है।

(iv) इस शब्द का आध्यात्मिक अर्थ 'आत्मा' है। एतदर्थ मुण्डकोपनिषद् २।४ देखिये—

'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेद् ॥'

'भगवान् का नाम धनुष है। भक्त का आत्मा बाण है। और ब्रह्म वह लक्ष्य कहा है। प्रमाद को छोड़ कर सावधानी से उसे बींधना चाहिये।'

कहां शर को आत्मा कहा है। इस अर्थ के स्वीकार करने पर अथर्ववेद का निम्न[1] मन्त्र कितना सुन्दर तथा सङ्गत प्रतीत होने लगता है।

---

‡ **अजारे पिशंगिला, श्वावित् कुरु पिशंगिला शश। आस्कन्दमर्षति अहिःपन्थां विसर्पति।** यजु० २३।५६॥
अर्थ—हे विद्वान्! जन्मरहित प्रकृति (अजा) रूपों को प्रलय काल में निगलनेवाली है वह श्वावित् (संसारावस्थापन्न होकर कामों के रूपों को प्रकट करनेवाली होती है (शशः) चतुर ज्ञानी प्रकृति के बन्धनों को कूद जाता है (अहिः) सर्पवत् कुटिल मनुष्य जन्म-मरण के मार्ग पर विविध रीतियों से चलता है।

१. अ० १।२।३ 'वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाता अनुस्फुरं शरमर्चन्त्युभुम्।'

(v) 'ओदन'‡ शब्द का साधारणतया 'भात' अर्थ होता है और उपसेचन चटनी। उपनिषद् का ओदन और उपसेचन कुछ भिन्न ही है। यहां ब्रह्म तथा क्षत्र के प्रतिनिधित्व को 'ओदन' शब्द से कहा गया है।

'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः'।

कठ० २ वल्ली। २४ श्रु

जिसका ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ओदन-(भात)-रूप है। सबका मारनेवाला यम जिसकी चटनी है, उसे कौन इस रूप में जानता है जिस रूप में वह है। इस प्रकार उपनिषद् ने संसार को ओदन तथा मृत्यु को चटनी बताया है।

(vi) वेद में रथ, रथी, सारथि, अश्व आदि शब्द आते हैं। उनके आध्यात्मिक अर्थ क्या होने चाहिएं? एतदर्थं उपनिषदों की निम्न श्रुतियां द्रष्टव्य हैं—

'आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्' क० ३ वल्ली ३।

'हे नचिकेता! आत्मा को रथवाला और शरीर को निश्चय रथ जान, बुद्धि को निश्चय सारथि और मन को केवल लगाम जान। इन्द्रियों को घोड़े और उनके विषयों को सड़क कहते हैं।'

इस अद्भुत अलङ्कार में रथी आत्मा है। रथ शरीर है, सारथि बुद्धि है, घोड़े इन्द्रियां हैं। इन अर्थों के स्वीकार कर लेने पर वेद के अनेकों मन्त्र सुन्दर आध्यात्मिक अर्थ का प्रतिपादन करने लगते हैं।

(vii) 'भारद्वाज, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ आदि शब्दों को बहुत से विद्वान् ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं। परन्तु उपनिषद् की श्रुतियां इन शब्दों की अध्यात्मपरक व्याख्या करती हैं। इसके लिये देखिये बृ० उ० २। अ. ।२ ब्रा० ।४ श्रुति······

"इमावेव गोतम भरद्वांजावयमेव गोतमोऽरं भरद्वाजः। इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निः। इमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपः। वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्ति ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति, सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद।"

ये दोनों कान ही गोतम, भरद्वाज हैं, उन में यह ही दक्षिण श्रोत्र गोतम है और वह वाम भरद्वाज है। ये ही दोनों नेत्र विश्वामित्र और जमदग्नि हैं, यह ही दक्षिण नयन विश्वामित्र है, यह वाम नयन जमदग्नि है। ये ही दोनों नासिकायें वसिष्ठ और कश्यप हैं, यह ही दक्षिण नासिका

गुरु-शिष्य के आध्यात्मिक संवाद के प्रसङ्ग में 'शर' शब्द का 'आत्मा' अर्थ करने पर प्रकरण-सङ्गत अर्थ हो जाता है।

‡ विशेष विचारार्थ अ. १२।३ देखो, अ. ११।१।६ ब्रह्मौदन का वर्णन द्रष्टव्य है ११।३ का प्रथम सूक्त बार्हस्पत्य ओदनरूप से विराट् प्रजापति का वर्णन करता है।

तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्ममुखम्।'

'ओदन एवौदन प्राशीत' इसमें 'ओदन' विराट् प्रभु ही है।

वसिष्ठ हैं, यह वाम नासिका कश्यप है। वाणी ही अत्रि ऋषि है क्योंकि वाणी से ही अन्न खाया जाता है। इस कारण वाणी का अत्रि ही नाम है, इसलिये यह वह अत्रि है। जो उपासक इन देहस्थ सात ऋषियों को ऐसे जानता है वह सब भोजनों का भोक्ता हो जाता है, इसका सारा भोग्य पदार्थ अन्न हो जाता है।

यहां पर गोतम, भारद्वाज क्रमशः दायें बायें दोनों कानों के वाचक हैं। दायें बायें नेत्र विश्वामित्र, जमदग्नि हैं। दाईं बाईं नासिकायें वसिष्ठ और कश्यप हैं, तथा वाणी अत्रि है। उपनिषद् में स्थान-स्थान पर इन शब्दों की निरुक्तियां भी की गईं हैं। यहां पर इतना ही संकेत पर्याप्त है।

इसी प्रकार छा. उ. प्रथम प्रपाठक ५ अनुवाक में भूः भुवः, स्वः इन महाव्याहृतियों के अधिदैव तथा अध्यात्म अनेक अर्थ बताये गये हैं। बृ. उ. ६ अध्याय प्रथम ब्राह्मण मे वसिष्ठ प्रतिष्ठा तथा सम्पत् आदि शब्दों के क्रमशः 'वाक्' 'चक्षु' तथा 'श्रोत्र' अर्थ दिये हैं। इसी प्रकार वेद में स्थान-स्थान पर आनेवाले वसु, रुद्र, आदित्य आदि देवसमूह-(Group)-वाचक शब्दों को (बृ० ३।९।३-९) उपनिषदों ने विस्पष्ट किया है। इनसे वेदों के आध्यात्मिक अर्थों में बड़ी सहायता मिलती है।

संक्षेप में कहें तो उपनिषदों में वेदों में आनेवाले अनेकों देवताओं ऊपर से प्रतीयमान ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा अन्य अनेक याज्ञिक पारिभाषिक[1] शब्दों के आध्यात्मिक अर्थ दिये गए हैं। उपनिषदों के इस कोष से वेद की वास्तविक रहस्यभूत विद्या के समझने में बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है।

(५) वेदों की सबसे बड़ी पहेली देवता-निर्णय की है। उपनिषदों से इन देवताओं के आध्यात्मिक भावों पर पर्याप्त प्रकाश मिल सकता है। देवों के अंशावतार का वर्णन उपनिषदों में स्थान-स्थान पर आता है जिससे कि 'अथर्ववेद' के देवता-सम्बन्धी विचारों को पर्याप्त पुष्टि मिलती है।

उदाहरणार्थ देखिऐ—(१) ऐतरेय—१।४......"**यथाण्डं मुखात् वाक् वाचो अग्निः। नासिकाभ्यां प्राणः प्राणात् वायुः**" इत्यादि उदाहरण में देवों की आध्यात्मिक सत्ता को अधिदैव में विकसित होता हुआ प्रदर्शित किया गया है।

(२) मुण्डक २।१ खण्ड। ४ श्रुति

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवीत्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥

द्यु इस पुरुष का शिर है, चांद सूर्य नेत्र हैं दिशायें कान और वाणी विस्तृत वेद हैं वायु इस का प्राण है, और इसका हृदय विश्व है। दोनों पैर भूमि हैं, यह पुरुष सब भूतों का अन्तरात्मा है—

यहां पुरुष के विराट् स्वरूप का वर्णन है। प्रायः सब वेदों में आनेवाले पुरुषसूक्तों के भावों से इसकी तुलना की जा सकती है।

---

१. क० ६।११ में योग शब्द तथा क० ६।१० में परमा गतिः शब्द के पारिभाषिक अर्थ किये गये हैं।

प्रथम अध्याय, प्रथम ब्राह्मण की प्रथम श्रुति से भी देवों के अंशावतार-सम्बन्धी विषय पर प्रकाश पड़ सकता है।

(३) ऐ० उ० २ खण्ड ४ श्रुति में देखिए—

"अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्। दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्॥"

"ओषधि वनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्, चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्, आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशत्॥"

अग्नि ने वाणी होकर मुख में प्रवेश किया। वायु ने प्राण (घ्राण) होकर नाक के दोनों छेदों में प्रवेश किया। सूर्य ने दृष्टि होकर आंख के दोनों छेदों में प्रवेश किया। दिशाओं ने सुनने की शक्ति होकर कान के दोनों छेदों में प्रवेश किया। ओषधियों और वनस्पतियों ने बाल और रोम होकर त्वचा में प्रवेश किया। चन्द्र ने मन होकर हृदय में प्रवेश किया। मृत्यु ने अपान होकर गुदा में प्रवेश किया और प्रजापति ने वीर्य होकर प्रजननेन्द्रिय में प्रवेश किया।"

उपर्युक्त उपनिषद् की प्रतीकें देवों के अंशावतार के स्वरूप को स्पष्ट कर रही हैं। इस प्रकार के विचार ऋग्वेद तथा विशेषतः अथर्ववेद में भी प्रायः आया करते हैं। इन अध्यात्म भावनाओं की सहायता से हम अथर्ववेद के गुह्य रहस्य को भलीभांति समझ सकते हैं। देखिये अथर्ववेद में एक मन्त्र आता है—

'तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते॥' अथर्व० ११।८।३२॥

इसीलिये इस पुरुष को तत्त्वज्ञानी साक्षात् ब्रह्म कर के जानता है क्योंकि समस्त पृथिवी आदि दिव्य तत्त्व इस पुरुष देह में उसी प्रकार आ विराजे हैं जिस प्रकार बाड़े में गौवें आ बैठती हैं।

मन्त्र स्पष्ट है। इसमें पृथिवी, वायु आदि आधिभौतिक देवों का अध्यात्म से सम्बन्ध सूचित किया गया है। इसी भाव को उपर्युक्त उपनिषद् की प्रतीकें भी खोल रही हैं। इस विषय में वेदों के अनेक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं। परन्तु विस्तारभय से इतना ही लिखना उचित समझते हैं।

एवं हम उपनिषदों में एक विशेष प्रकार के कोष को प्राप्त करते हैं जिसकी सहायता से याज्ञिक, ऐतिहासिक तथा देवतावाद-सम्बन्धी शब्दों के वास्तविक अर्थों पर प्रकाश डाला जा सकता है। ये शब्द किन आध्यात्मिक भावों के सूचक हैं यह उपनिषदों से सीखा जा सकता है। इतना ही नहीं वेदों के नाना सूक्तों में आनेवाले प्राण, आत्मा, प्रकृति, परमेश्वर-सम्बन्धी नाना विचारों का उपनिषदों ने विशद स्पष्टीकरण किया है। चतुष्पाद ब्रह्म क्या है? सोलह कलायें क्या हैं? प्राण का स्वरूप क्या है? इत्यादि अनेक गुह्य रहस्यों का समाधान उपनिषदों में देखा जा सकता है। निस्सन्देह उपनिषदें वेदों की आध्यात्मिक व्याख्यायें हैं—वेद की मानो जान हैं।

उपर्युक्त लेख के आधार पर वेदों से उपनिषदों का घनिष्ठ सम्बन्ध ज्ञात होने पर निम्न परिणाम सहज में ही समझे जा सकते हैं—

परिणाम—

(१) पाश्चात्त्य विचारकों की यह धारणा कि उपनिषदों तथा वेदों में मतभेद है, वेद से उपनिषदें निचली कोटि की हैं—सर्वथा अशुद्ध है।

(२) उपनिषदों के सिद्धान्तों के विषय में बड़ा भारी मतभेद है। कोई उपनिषदों पर द्वैत मढ़ता है तो कोई अद्वैत। यह पता ही नहीं चलता कि उपनिषदों का वास्तविक शिक्षण क्या है? परन्तु यह ज्ञान होने पर कि वेद उपनिषदों के ही स्रोत हैं, इस प्रश्न का सहज में ही निर्णय किया जा सकता है। हमें यह मानना होगा कि यदि वेदों में द्वैत है तो उपनिषदों में भी द्वैत होना चाहिये यदि नहीं तो नहीं। एवं हमें उपनिषदों के सिद्धान्तों की सचाई वेदों से प्रमाणित करनी होगी। परन्तु वेद[1] के गहरे अध्ययन से हमें यह प्रतीत होता है कि वेद जीव, ईश्वर, प्रकृति इन तीनों सत्ताओं को पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं। इसलिये उपनिषदों में अद्वैत का विचार युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

(३) उपनिषदें वेदों पर आश्रित हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उपनिषदों से वेदों की पृथक् सत्ता भी है। इस लिये 'वेद' शब्द से उपनिषदों का ग्रहण नहीं हो सकता है। उपनिषद् 'श्रुति' तो कही जा सकती है पर 'वेद' नहीं। इसलिये जो लोग श्रुति तथा वेद शब्द को पर्यायवाचक मान कर श्रुति शब्द से वाच्य ब्राह्मण, उपनिषदों को भी वेद की तरह स्वतःप्रमाण उद्घोषित करते हैं वे सर्वथा भूल करते हैं।

(४) उपर्युक्त स्थापना के कर लेने पर हमें यह समझ में आ जाता है कि भारतीय तथा पाश्चात्त्य दोनों प्रकार के विद्वान् उपनिषदों पर क्यों मोहित हैं? हम भारतीय दर्शनों पर विशेषतः वेदान्त पर उपनिषदों का विशेष प्रभाव देखते हैं। भारत की अनेक धार्मिक पुस्तकों पर उपनिषदों का सिक्का जमा हुआ है, क्योंकि उपनिषदें वेदाश्रित हैं, आध्यात्मिकता के रङ्ग में रंगी हुई हैं और वेदों में प्रायः सब को श्रद्धा है। भगवान् कृष्ण की सर्वगुणसम्पन्न गीता के भक्त तो यहां तक कह उठे हैं—

> **'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।**
> **पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।**

अर्थात् 'सारी उपनिषदें गायें हैं और कृष्ण ने ग्वाला बनकर गीतारूप दूध को उनसे दुहा है।' ये कितने प्रशंसापरक शब्द हैं?

---

१. वेदों में 'त्रित्व' के प्रतिपादक अनेक मन्त्र हैं—

(क) **त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्। विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥** अ० ६।१०।२६॥

(ख) **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥** अ० ६।६।२०॥

(ग) **अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठोऽस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्।** अ० ६।६।१॥ देखो—अ० १।१६४।२२, १०।५।७, ४।३५।८, १।५०।१०। ६।६६।३॥

आध्यात्मिकता की खान उपनिषदों पर पाश्चात्य विद्वानों की निम्न सम्मति है—

(क) उपनिषद् के अभ्यासी डा० ड्यूसन कहते हैं—

अर्थात् 'संसार के साहित्य में उपनिषदों के आध्यात्मिक विचार अनुपम हैं।'

(ख) यूरोप का तत्त्वज्ञानी शोपनहार उपनिषदों को भारतीय रहस्य विज्ञान तथा product of highest wisdom के स्रोतरूप में स्वीकार करता है और अन्त में पुकार उठता है—'संसार में उपनिषदों से अधिक हितकर तथा ऊंचा बनानेवाली शिक्षा किसी ग्रन्थ की नहीं है। यह मेरे जीवन का शान्तिसदन बना हुआ है और मृत्युपर्यन्त बना रहेगा।'

इस प्रकार जो उपनिषदें पाश्चात्य विद्वानों को जीवन के विश्रमघाट और मृत्यु के आरामगाह लगी हैं वे आर्यमुमुक्षुओं को मुक्ति के सेतु और ब्रह्मलोक के विमान जैसे लगें इसमें क्या आश्चर्य है ?

(५) उपनिषदें वेदों की अध्यात्म व्याख्यायें हैं, इस बात को भली-भांति हृदयङ्गम न करने के कारण ही सायणाचार्य बहुत स्थानों पर नीरस हो गये हैं। विशेष कर 'सामवेद' जैसे भक्ति-प्रधान वेद पर आचार्य सायण की व्याख्या अरुचिकर प्रतीत होती है। इस विषय के स्पष्टीकरण के लिये हम एक उदाहरण उपस्थित करते हैं—

'अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। निहोता सत्सि बर्हिषि।'

'हे प्रकाशमय परमात्मन् ! तू हमारे हृदय में व्याप्ति के लिये आजा। दातव्य वस्तुओं को देने के लिये तू हमें उपदेश कर इस होत्र को करनेवाला तू हृदय के आसन पर सर्वदा स्थिर हो।'

मन्त्र का सरल अर्थ कर दिया है। इस पर आचार्य सायण का भाष्य निम्न है—

'हे अग्ने ! अङ्गनादिगुणविशिष्ट ! त्वम् आयाहि, अस्मद्यज्ञं प्रत्यागच्छ। किमर्थम्? वीतये हविषा चरुषो, पुरोडाशादीनां भक्षणाय' अर्थात्—'चमकीली अग्नि ! तू आ, हमारे यज्ञ में आ। क्यों ? चरु पुरोडाश आदि को खाने के लिये।'

सायण-भाष्य का अग्नि भौतिक व याज्ञिक है और सामवेद भक्तिप्रधान है। उस के प्रथम ही मन्त्र में भौतिक देवता का आराधन खटकता है। यहां—'अग्नि' शब्द का आध्यात्मिक अर्थ ही होना चाहिये। इस विषय में हमें उपनिषदों से पर्याप्त सहायता मिलती है। देखिये—

(i) क० २।१८ में 'अग्नि' का आध्यात्मिक स्वरूप बताते हुए लिखा है—

'अरण्योर्निहितो जातवेदाः, गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः। दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिः, हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः। एतद्वै तत्।'

'जो सब धनों का स्वामी द्यु और पृथिवीरूपी अरणियों में विद्यमान है और गर्भवती स्त्रियों से गर्भ की भांति सुरक्षित है, जो सब को आगे ले जानेवाला प्रतिदिन उन मनुष्यों से स्तुति के योग्य है जो जागते हैं और श्रद्धाभक्तिपूर्वक हविर्यज्ञोंवाले हैं, यह है निश्चय वह।'

यहां 'अग्नि' आत्मशक्ति है। यज्ञ का अग्नि भी आत्मा का ही प्रतिनिधि होता है।

(ii) **'स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।**

ध्याननिर्मथनाभ्यास द्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥ श्वेताश्वतर

इसका अर्थ पहले किया गया है। यहां पर 'स्वदेह' तथा 'प्रणव' रूप अरणियों को रगड़कर परमात्मारूप अग्नि को ही पैदा करने का वर्णन है।

(iii) प्रश्नोपनिषद् प्रथम प्रश्न की ७वीं श्रुति में लिखा है—

'स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम्' १।७

यहां परब्रह्म की सूर्य (अग्नि) रूप से उपासना है।

(iv) मं० उ० ५।२ **'अथ य एषोऽन्तरे हृत्पुष्करे एवाश्रितोऽन्नमत्ति स एषोऽग्निर्दिविश्रितः सोऽयं कालाख्याऽदृश्यः सर्वभूतान्नमत्ति।'**

'हृदय कमल में रहनेवाला यह अग्नि आत्मा है, जो भोजन खाता है और द्यु में स्थित कालाग्नि नाम अग्नि परमात्मा है जो प्रलय काल में समस्त भूतों को खा जाता है, लीन कर लेता है।

इस प्रकार उपनिषदों के अन्दर 'अग्नि' शब्द 'आत्मा तथा परमात्मावाचक' आया है। आचार्य सायण तथा उनके पीछे चलनेवाले पाश्चात्यों ने इस बात की उपेक्षा की है, इसलिये भी उनके वेदभाष्यों में वेद की आत्मा वेद का रस सूख गया है।

एवं हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि उपनिषद् वेदों पर आश्रित हैं, उनकी आध्यात्मिक व्याख्या करनेवाले ग्रन्थ हैं। इस बात को उपनिषदों की व्याख्याशैली भी स्पष्ट कर रही है। इस विषय में एक-दो विचार रखकर हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

उपनिषदों की महिमा—उपनिषद ज्ञान और भक्ति के ग्रन्थ हैं। इसलिए इनकी भाषा सरल और कर्णप्रिय है। रीति विलक्षण तथा सुन्दर है। ब्रह्मज्ञान को कविता की भाषा में रख देना उपनिषत्कारों का चमत्कार है। इन में पेचीले विचार बहुत कम स्थानों पर हैं। उपनिषदों में—स्थान-स्थान पर "ह" "वा" आदि निपातों का प्रयोग किया है, जिससे इनके सौन्दर्य में और भी अधिक वृद्धि हुई है। उपनिषदों की भाषा जहां सरल है वहां पर इसमें बड़े-बड़े समासवाले तथा अप्रसिद्ध शब्दों की भी कमी है। उपनिषद् छोटे-छोटे वाक्यों में बड़े गहरे-गहरे भावों को हमारे सामने रख देती हैं। एक उदाहरण लीजिए—

(१) कठोपनिषद् ३।१४ **"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।"**

इसका आशय यह है—"उस आत्मा को जानने के लिये उठो, जागो और सन्तों को पाकर उनके सत्संग से प्रभु-भक्ति को समझो। ज्ञानी लोग उस्तरे की तीखी धार के समान इस मार्ग को लांघने में कठिन कहते हैं।"

उपनिषत्कारों ने कितने तुले हुए, असमस्त तथा मधुर शब्दों में कैसे उच्च साहसपूर्ण भावों को रखा है। सोनेवाले के लिये कैसी डंके की चोट है।

(२) कठ २।१७—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

"यह नाम का सहारा उत्तम है, यह नाम का आश्रय परम है। इस नाममय सहारे को जान कर तथा धारण करके ब्रह्मलोक में मनुष्य महिमा को पाता है।"

सचमुच गागर में सागर भर दिया है, अन्धे को आंख, निहत्थे को हाथ और निरवलम्ब को अवलम्ब दे दिया है। भगवान् को जिसने अपना शरण समझ लिया, वह निहाल हो गया है।

उपनिषदों के वृत्त (छन्द)—

उपनिषदों के वृत्त, वैदिक वृत्तों की तुलना में कम नियमित नहीं हैं। पिङ्गलशास्त्र के पर वर्ती छन्दों की अपेक्षा भले ही कम नियमित हों। मैक्समूलर उपनिषदों को Archaic वृत्त कहे हैं, परन्तु उपनिषद् के छन्दों की अनियमितताओं में भी वन-घोष के समान एक भव्य धीर गम्भी नाद गूंज उठता है, जो काल की तरंगावली पर तैयार हुआ आज हजारों बरसों से सुनाई दे रह है। यह तो हुई उपनिषदों की शब्दघोषणा की कथा। और उपनिषदों की कविता? हेमच सरकार कहते हैं कि उपनिषदें "भावों में महान् और भाषा में सुन्दर हैं।" उपनिषद् परमसत और परमकविता के संगमस्थल हैं। सर्वमेध यज्ञ करनेवालों का महाव्रत होता है कि वे अपन सर्वस्व परमात्मा के चरणों में अर्पण करते हैं वैसे ही महाव्रती, उपनिषत्कार, महर्षि अपनी स श्रेष्ठ आत्म-सामग्री परमात्मा के चरणों में समर्पित कर रहे हैं। उपनिषद् के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ब्रह्मविद्या के महासत्य कविता की धारा में मानवकुल के सामने बखेरे हैं। कुरानशरीफ का श घोष अर्थघोष के समान भव्य है। Bible का Sermon on the mount (गिरि-प्रवचन) गि शिखर के समान उच्च है। परन्तु जगत् को ब्रह्मविद्या की परमकविता तो उपनिषदों में है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुयायी अपने Miner Upanishads के उपोद्घात में लिखते हैं- "The Upanishads preach to us the sublime in the most exqusite peotry i the whole world of Literature." उपनिषद् संसार के इतिहास में ऊंची से ऊंची चीज नपी-तुली कविता में रख रही हैं बाइबल की जगद्विख्यात Parables (बोध-गाथा) तथा Plato Dialogues की शैली में उपनिषदों का ब्रह्म ज्ञान समझाया गया है। आत्मा, शरीर, बुद्धि औ मन आदि के सम्बन्धों को रथी, रथ, सारथी और लगाम के दृष्टान्तों से समझा कर उपनिषत्का ने अलङ्कारों को सार्थक किया है। ज्ञान और भक्ति के भावों को दृष्टान्तों तथा कथाओं से समझ की यह शैली कितनी आदर्श तथा रसवती है? उपनिषदें अगम्य को गम्य बनातीं, वाणी से अवर्णनी का वर्णन करतीं, इन्द्रिय से ओझल वस्तु को उपमा द्वारा हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष करातीं-कविताओं छलक रही हैं। डाक्टर मार्टिनो ने स्पेन्सर के unknowable के सम्प्रदाय को एक ही वाक्य से छिन्न-भिन्न कर दिया है "It is like silence, one breaks it as soon as he asser it" ऐसे कवितामय सत्य के सूत्र हजारों वर्षों से विश्व को प्रकाशित करते, हृदयान्धकार को धो आकाश के टिमटिमाते तारकाओं के समान उपनिषदों के आकाश में चमक रहे हैं। कविता औ ब्रह्म-विद्या दोनों के महास्रोत एक ही सरोवर में से निकले हैं और यह सरोवर वेद का महास वर है।

उपनिषदें अर्थात् परमसत्य और परमकविता का सङ्ग-तीर्थ इन उपनिषदों की व[illegible]

में "द्वा सुपर्णा सयुजा" की सखियों के समान दर्शन और कविता की सखियां विहार करती हैं। इस लिये उपनिषद् अमर हैं। उपनिषदों के इस सङ्गम-तीर्थ को जगत् ने नहीं देखा, यह नहीं ! जगत् ने देखा है—मान किया है। अस्तु—

इस प्रकार इस प्रकरण में वेदार्थ में उपनिषदों की सहायता, उपनिषदों का वेदों पर आश्रय, उपनिषदों का गौरव आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। वेदों पर किये व्याख्यान-ग्रन्थों में उपनिषदों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, इतना इस प्रकरण में स्पष्ट किया गया है।

[आर्य—अप्रेल-दिसम्बर १९३७]

वैदिक साहित्य के पाश्चात्त्य लेखक

[लि०—पं० वीरेन्द्र शास्त्री एम० ए० साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ, फतेहगढ़ उ० प्र०]

गत १५० वर्षों में यूरोप और अमेरिका के पाश्चात्त्य विद्वानों ने वैदिक साहित्य पर भी अद्भुत तथा प्रशंसनीय कार्य किया है। इसका विस्तृत वर्णन करने से एक बृहत्काय ग्रन्थ बन जावेगा। यहां पर अति संक्षेप से उसका दिग्दर्शन कराया जाता है। वैदिक साहित्य पर कार्य करने वाले विद्वानों की संख्या १०० से ऊपर है। इनमें कुछ विद्वान् तो ऐसे हैं कि जिन्होंने अपनी सम्पूर्ण आयु ही वेदों के अनुशीलन तथा वैदिक साहित्य की रचना में लगा दी थी।

यूरोप में वेदों के अध्ययन का मुख्य कार्य १८०० ई० से प्रारम्भ हुआ। उससे ५० वर्ष पूर्व भी कुछ-कुछ चर्चा चल पड़ी थी। यदि उसे भी सम्मिलित कर लिया जावे तो यह २०० वर्षों का मनोरंजक इतिहास हो जाता है। इन पाश्चात्त्य वैदिक लेखकों में मुख्यत: जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेज और तत्पश्चात् अमेरिकन लेखक हैं। इटली और रूस के भी कतिपय विद्वान् हैं। नीचे यथासम्भव ऐतिहासिक क्रम से ऐसे विद्वानों की नामावली तथा उनके कार्य का अत्यन्त संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

इस लेख के लिखने में अनेक इतिहासों से सहायता ली गई है जिनका कि लेखक आभारी है। इन विद्वानों की रचनाओं में कुछ अप्राप्य, कुछ दुष्प्राप्य और कुछ प्राप्य हैं। भारतवर्ष में ऐसे पुस्तकालय बहुत कम हैं, जिनमें ये समस्त पुस्तकें उपलब्ध हों। अधिकांश में ये पुस्तकें काशी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, गुरुकुल कांगड़ी, डी० ए० वी० कालेज पंजाब आदि में संगृहीत हैं, किन्तु खेद से कहना पड़ता है कि भारत का कोई भी ऐसा "वैदिक पुस्तकालय" नहीं जिसमें वैदिक साहित्य की समस्त भारतीय तथा पाश्चात्त्य पुस्तकें संगृहीत हों।

कुछ पाठकों की जिज्ञासा इनके प्राप्ति स्थान तथा मूल्य के सम्बन्ध में हो सकती है, जिसे शान्त करने के लिये मूल्य यथासम्भव पुस्तकों के नामों के साथ ही लिखने की चेष्टा की जावेगी। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि यह मूल्य उस समय का है जिस समय कि इनका प्रकाशन हुआ

था। आजकल तो प्रकाशक तथा विक्रेतागण दुष्प्राप्य पुस्तक का मनमाना मूल्य प्राप्त करने के यत्न में रहते हैं। निम्नलिखित पुस्तक विक्रेताओं से इन पाश्चात्य रचनाओं का मिलना कदाचित् सम्भव है—

१—मोतीलाल बनारसीदास चौक बनारस।
२—खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, कचौड़ी गली, बनारस।
३—चौखम्भा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस।
४—ओरियण्टल बुक एजेंसी, १५ शुक्रवारपेठ, पूना।
५—गवर्नमेंट सेन्ट्रल बुक डिपो, कलकत्ता।
6—Otto Harrassowitz, Leipzig Germany.
7—B. H. Blackwell Ltd. 50/5. Broad street, oxford, England.
8—W. Heffer and sons Ltd. Cambridge, England.
9—Truhner and co, Oriental Booksellers, London.

१८वीं शताब्दी

१—फादर पौन्स। १७४० ई० में इस फ्रेंच ईसाई मिशनरी ने स्वदेशियों को अपने लेख द्वारा वेद का कुछ परिचय दिया।

२—राबर्टो डि नोबिली। १७५० ई० के लगभग इस फ्रेंच मिशनरी ने एक नया नकली यजुर्वेद 'Ezour veidam' बनाया जिसमें पुराणों और ईसाई मत को गप्पें भरी हुई थीं। इसका फ्रेंच में अनुवाद हुआ। १७७८ में इस पर बड़े-बड़े लेख निकले। अन्त में मैक्समूलर ने इसका भण्डाफोड़ किया।

३—बालटायर। इस फ्रांसीसी विद्वान् ने भी उक्त यजुर्वेदम् की "Essai sur les moeurs et e' esport des nations" नामक अपने लेख में बड़ी प्रशंसा कर स्वदेशियों की उत्सुकता वेदों की ओर प्रवृत्त की।

४—पादरी कालमेट। १८वीं शताब्दी में ही वेद का कुछ अंश लेकर इसने—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

इस मन्त्र के आधार पर स्वदेशियों को बतलाया कि वेदों में एक परमात्मा का वर्णन है।

१९वीं शताब्दी

५—हेनरी टामस कोलब्रुक। इंग्लैण्ड में सर्वप्रथम इस अंग्रेज विद्वान् ने १८०१ में 'हिन्दुओं के धार्मिक संस्कार' (Religious ceremonies of the Hindus) और १८०५ में 'वेदों पर निबन्ध' (essay on the vedas) नामक ग्रन्थ लिखकर पश्चिम को वेदों और वैदिक साहित्य का विस्तृत परिचय दिया। किन्तु उसके ये लेख अधिक उत्साहित करनेवाले न थे। उसकी इस पुस्तक "ऐसे आन द वेदाज" ९ भागों का मूल्य ५०)।

६—**फ्रीड्रिक रोजेस।** यूरोप में सर्वप्रथम इस जर्मन वैदिक महारथी ने १८३० में वेद के कुछ अंश का लैटिन अनुवाद प्रकाशित किया। ७ वर्ष परिश्रम करके १८३७ में ऋग्वेद के प्रथम अष्टक (१२१ सूक्तों) का लैटिन में शब्दशः अनुवाद रचा। उसकी मृत्यु के एक वर्ष पश्चात् १८३८ में यह पुस्तक Rigveda samhita liber primus, Sanskrite it latine. नाम से छपी। मूल्य ३।=)।

इसी पुस्तक से उस समय तुलनात्मक-भाषा-व्याकरण के लिये बौप, लैसेन, बेनफे, कुहन आदि ने सहायता ली।

७—**इडजेन बर्नफ।** इन्होंने सर्वप्रथम फ्रेंच में वेदों का व्याख्यान किया। ये फ्रांस के कालेज डि फ्रांस में वेदों के व्याख्याता थे। १८४५ में यह मैक्समूलर, राथ आदि को रोजेन की ऋग्वेद संहिता के आधार पर बड़े उत्साह से वेद पढ़ाया करते थे। गोरेशियो, नेबी, गोल्डस्टकर, सेंट हिलेयर, बार्डेली आदि ने भी इनसे वेदों का अध्ययन किया।

८—**एच. एच. विल्सन।** इन्होंने ऋग्वेद के सायण-भाष्य का सबसे पहला अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया जिसका प्रथम भाग १८५० में छपा और सम्पूर्ण भाष्य १८८८ तक ६ भागों में १२५) रु० मूल्य में प्रकाशित हुआ। यह सायण के समर्थक थे।

९—**प्रो. बेसन।** यह विल्सन के सहायक थे।

१०—११ **डा० स्टीवेन्सन और डा० रोर।** १८५० से पूर्व ही ऋग्वेद के प्रथम अष्टक के कुछ अंशों का अंग्रेजी अनुवाद कलकत्ते से छपाया।

१२—**एस० ए० लाँगलोआ।** इस फ्रेंच विद्वान् ने ४ भागों में १८४८ से १८५१ तक फ्रांसीसी भाषा में सम्पूर्ण ऋग्वेद की व्याख्या की। मूल्य २०)

१३—**मैक्समूलर।** वेदों के प्रसिद्ध विद्वान् यह बर्नफ के सब से छोटे किन्तु मुख्य शिष्य थे। इन्होंने सायण को 'अन्धे की लाठी' "Blindman's stick" मानकर समर्थन किया। इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन लगभग ५० वर्ष से अधिक लगाकर निम्नलिखित ग्रन्थों का सम्पादन तथा निर्माण किया—

(१) ऋग्वेद के सायण-भाष्य का सम्पादन प्रथम संस्करण १८४९ से १८७५ तक (२६ वर्ष-पर्यन्त) ५ भागों में ३००० से अधिक पृष्ठ हैं। द्वितीय संस्करण १८९०-९२, ४ भाग लन्दन से। मूल्य ३००)

(२) ऋग्वेद मूल संहिता (१८७३)।

(३) ऋग्वेद प्रातिशाख्य (१८५६-६९) जर्मन अनुवाद सहित। मूल्य ३९)

(४) वैदिक पुराण विज्ञान (Vedic mythology)

(५) वैदिक हिम्स। (S. B. E. 32 अंग्रेजी में)

(६) कात्यायन-कृत सर्वानुक्रमणी, आक्सफोर्ड से १८८६ में।

(७) बृहद्देवता (अंग्रेजी अनुवाद) १९०४ में।

(८) हिस्ट्री आफ एन्श्येंट संस्कृत लिट्रेचर (१८५९) मूल्य १०)।

१४—**रुडाल्फ राथ**। मैक्समूलर के सहपाठी होते हुए भी सायण के सम्बन्ध में इनकी विचारधारा मैक्समूलर से भिन्न थी। इन्होंने समालोचनात्मक व्याख्याशैली को प्रचलित करते हुए बताया कि ऋग्वेद स्वयं अपनी व्याख्या है। 'Les von sayana' (सायण का बहिष्कार करो) इनका मुख्य सूत्र था। इनका कहना था कि सायण एक राज्य का मुख्यमन्त्री होने से इतना कार्य-व्यस्त रहता होगा कि हम लोगों की अपेक्षा वेदाध्ययन में अधिक परिश्रमी और योग्य नहीं हो सकता तथा उसके पास आधुनिक तुलनात्मक भाषाशास्त्र, पुराणविज्ञान आदि साधन भी नहीं थे। अतः हमारा भाष्य उसके भाष्य से कहीं अधिक प्रामाणिक हो सकता है। इनकी अर्थ प्रक्रिया विलसन और मैक्समूलर की अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त और महर्षि यास्क तथा दयानन्द के अधिक अनुकूल है। इन जर्मन वैदिक महारथी ने भी अपनी समस्त आयु वैदिक साहित्य में लगा दी।

(१) सन् १८५२ से सन् १८७५ तक, लगभग २६ वर्षों में इन्होंने वैदिक शब्दों का एक संस्कृत जर्मन महाकोष Samiskrit worter buch (सेंट पीटर्स बर्ग डिक्शनरी) का निर्माण किया, जो ७ भागों में है और जिस में १०००० दस हजार से अधिक पृष्ठ हैं। यह एक महान् और अद्भुत ग्रन्थ है, जिसमें यह बताने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है कि प्रत्येक शब्द सम्पूर्ण साहित्य में कहां-कहां किस-किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मूल्य १०००) इसकी पुरानी प्रतियों का भी मूल्य एक-एक हजार से अधिक लिख जाता रहा है। वेद-प्रेमियों को यह ग्रन्थ गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस अथवा गुरुकुल वृन्दावन के पुस्तकालयों में अथवा जहां कहीं प्राप्य हो अवश्य देखना चाहिए।

(२) निरुक्त (१८५२) गाटिंगन से, मूल्य १७)

(३) वैदिक साहित्य का इतिहास (१८४६)

(४) व्हिटने के साथ मिलाकर शौनकीय अथर्ववेद संहिता का सर्वप्रथम सम्पादन, १८५६ ई० बर्लिन। मूल्य २५)।

१५—**ओटो बेह्ट्लिंक**। यह जर्मन वैदिक विद्वान् रुडाल्फ राथ के परम सहायक तथा सहयोगी थे। उपरिलिखित महाकोष के सम्पादन में इनका भी बराबर का भाग है। वैदिक कोष के निर्माण में ही जीवन का बहुमूल्य अंश अर्पित कर दिया। सन् १८८९ ई० में इनके प्रकाशित छान्दोग्योपनिषद् ब्राह्मण का मूल्य २०) है।

१६—**बारथेलिमी**। बर्नफ के यह भी एक शिष्य थे। इन्होंने अपने साथी—

१७—**सेंट हिलेयर** के साथ मिलकर सन् १८६०-६१ में जर्नल डेड सवैन्टस में वैदिककाल-विषयक समालोचना प्रकाशित की।

१८—**म्योर**। १८५८ ई० में लन्दन से 'ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स' में वेदों के कुछ सूक्तों की व्याख्या प्रकाशित की। मूथ्य २१)

१९. **ए० वेबर**। यह भी जर्मनी के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् थे। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों का सम्पादन तथा निर्माण किया—

(१) यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता। सन् १८४७ ई० में सम्पादित। मूल्य ६५)

(२) यजुर्वेद महीधर-भाष्य-सहित सन् १८४६-१८५२ में, बर्लिन से। मूल्य ३५)

(३) शतपथ ब्राह्मण (१८५५) बर्लिन से। सायण, हरिस्वामी और द्विवेद गंग की टीकाओं के संक्षेप के साथ सन् १९२४ में प्रकाशित संस्करण का मूल्य २४) है।

(४) अद्भुत ब्राह्मण (१८५८) जर्मन-अनुवाद सहित बर्लिन से।

(५) यजुर्वेद काण्वसंहिता, सन् १८५२ ई० में सम्पादित। मूल्य ३०)

(६) तैत्तिरीय संहिता (१८७१-७२)। (७) वंश ब्राह्मण।

(८) कात्यायन श्रौत-सूत्र, सन् १८५६ में सम्पादित; मूल्य ३०)।

(९) वाजसनेयि प्रातिशाख्य (१०) वैदिक छन्द (इंडिश स्टुडियन की ८वें भाग में)।

(११) वैदिक नक्षत्र और ज्यौतिष, सन् १८६२ में।

(१२) हिस्ट्री आफ इंडियन लिट्रेचर—दो संस्करण (द्वितीय संस्करण १८८२ ई० में जर्मन भाषा में, मूल्य १०॥)

२०—थ्यूडोर आफ्रेक्ट। ये जर्मन दिग्गज विद्वान् थे। मैक्समूलर से पहले ही इन्होंने लगभग १२ वर्ष काम करके रोमन लिपि में १८६१—१८७२ में पहली बार (१) ऋग्वेद छापा। इसका दूसरा संस्करण १८७७ में 'जान' नगर से निकला। मूल्य ३५)

(२)ऐतरेय ब्राह्मण—सायण-भाष्य के उपयोगि-अंश-सहित १८७९ ई० में प्रकाशित किया। मूल्य १०)।

२१—हाग। सन् १८६३ में ऐतरेय ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। दो भाग, मूल्य ९)।

२२—जी. स्टेवेंन्सन। सन् १८४२ में लन्दन से राणायनीय शाखा की सामवेद संहिता का सर्वप्रथम संस्करण अंग्रेजी-अनुवाद-सहित निकाला, मूल्य १०)

२३—थ्यूडोर बेन्फे। कौथुमशाखीय साम-संहिता का जर्मन-अनुवाद-सहित सन् १८४८ में लाइबजिग नगर से प्रकाशन किया। मूल्य २५)

२४—डब्ल्यू० डी० ह्विटनी। (१) अथर्ववेद संहिता १८५६ ई० में बर्लिन से रुडाल्फ राथ के साथ जर्मनी में प्रकाशित। मूल्य २५)

(२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य। १८७१-७२ मूल्य ३०)

(३) अथर्व प्रातिशाख्य, जर्मन में, मूल्य ३०)

(४) १८७९ ई० में लाइबजिग से 'संस्कृत व्याकरण' 'samskrit Grammar)'।

(५) अथर्ववेद का अंग्रेजो अनुवाद ग्रिफिथ के अनुवाद से पहले कर लिया था किन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् १९०५ में लैनमैन द्वारा प्रकाशित हुआ। मूल्य ४२)

२५—ए० रिजे। (ए० रेग्नियर) (Regnier)। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के सम्पादन में मैक्समूलर की सहायता की। सन् १८५६ में पैरिस से Etude sur L' idiome des vedas et les

origines de la langue sanscrite प्रकाशित किया। यह सायण के पक्षपाती फ्रेंच विद्वान् थे। सन् १८५७ से १८५९ तक 'प्रातिशाख्य ड्यू ऋग्वेद' प्रकाशित हुई। ३ भाग, मूल्य २१)

२६—**एच० ग्रासमैन**। विल्सन के अंग्रेजी अनुवाद और लांगलोआ के फ्रेंच अनुवाद के पश्चात् इस जर्मन विद्वान् ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का जर्मन पद्य में रोमन लिपि में अनुवाद दो भागों में सन् १८७६-७७ ई० में लाइबजिग नगर से प्रकाशित किया। मूल्य ३०) है। यह राथ के शिष्य थे अतः सायण के पक्षपाती न थे। इन्होंने १८७३-७५ में ऋग्वेद का वैदिक कोष भी प्रकाशित किया। मूल्य ५०)

२७—**एल्फ्रेड लुड्विग**। सन् १८७६ से १८८८ तक लगभग १२ वर्षों में सम्पूर्ण ऋग्वेद की जर्मन गद्य में विस्तृत व्याख्या ६ खण्डों में प्राग नगर से प्रकाशित की। मूल्य २००) है। यह प्राग की जर्मन यूनीवर्सिटी के संस्कृत प्रोफेसर थे। इन्होंने भारतीय शैली का भी उपयोग कर मध्यम मार्ग ग्रहण किया। सन् १८७८ में वैदिक-काल-विषयक समालोचनात्मक लेख भी लिखे।

२८-२९—**कार्ल एफ० गेल्डनर और ऐडाल्फ काएजी**। ये राथ के सिद्धान्तानुयायी थे। काएजी ने The Rigveda the oldest literature of the Indians नामक ग्रन्थ १८८६ ई० में जर्मन में लिखा। दोनों ने सन् १८७५ में ट्यूबिंगन से ऋग्वेद के ७० सूक्तों का अनुवाद प्रकाशित किया। गेल्डनर ने कुछ सूक्तों का अनुवाद १९०८ ई० में किया। (३) वैदिकधर्म और ब्राह्मण-धर्म नामक ग्रन्थ लिखा। (५) जर्मन भाषा में १९१३ ई० में Die Indische Balladendichtung लिखा। ऋग्वेद का नया महत्त्वपूर्ण अनुवाद पूर्ण प्रकाशित होने से पूर्व ही १९२६ में मृत्यु हो गई। १९२३ ई० में ४ मण्डलों का जर्मन अनुवाद प्रकाशित हुआ। मूल्य ८)

३०—**आर० टी० एच० ग्रिफिथ**। इस प्रसिद्ध अंग्रेज वैदिक विद्वान् ने बनारस के गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल का पद ग्रहण कर अपना १०-१५ वर्षों का समय चारों वेदों के अंग्रेजी पद्य में अनुवाद करने में व्यतीत किये। ये बनारस से प्रकाशित हुए।

(१) ऋग्वेद अंग्रेजी पद्यानुवाद, १८८९—१८९२ ई०, दो भाग। मूल्य १४)
(२) सामवेद अंग्रेजी पद्यानुवाद, १८९३ ई०, मूल्य ४)
(३) अथर्ववेद अंग्रेजी पद्यानुवाद, १८९५—१८९८ ई०, दो भाग। मूल्य १२)
(४) शुक्लयजुर्वेद अंग्रेजी पद्यानुवाद, १८९९ ई० मूल्य ४)

३१—**ए० मैक्डानल**—इस प्रसिद्ध अंग्रेज वैदिक विद्वान् ने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन तथा निर्माण किया—

(१) कात्यायन-कृत सर्वानुक्रमणी षड्गुरुशिष्य की टीका, वेदार्थदीपिकासहित सन् १८८६ में आक्सफर्ड से। मूल्य १८)

(२) शौनक-कृत बृहद्देवता का द्वितीय संस्करण अंग्रेजी-अनुवाद-सहित, १९०४ में। मूल्य २५) (३) वैदिक रिलीजन।

(४) वैदिक इण्डेक्स। कीथ के साथ मिलकर निर्मित किया, १९१२ ई०। मूल्य ५०)
(५) वैदिक ग्रामर, जर्मनी से सन् १९१० ई० मूल्य ६)

यह सर्वोत्तम वैदिक व्याकरण है। १९१६ ई० में आक्सफोर्ड से इसका छात्रोपयोगी संस्करण भी प्रकाशित हुआ।

(६) वैदिक-पुराण-विज्ञान vedic mythology स्ट्रासबर्ग से १८९७ ई० में।

(७) ए वैदिक रीडर (सूक्त संग्रह) १९१७ ई० में (आक्सफोर्ड से, अंग्रेजी में) मूल्य ५॥)

(८) संस्कृत साहित्य का इतिहास (१९०० ई०) लन्दन से (Sanskrit literature) मूल्य ७॥)

(९) इंडियाज पास्ट, १९२७ ई० में (आक्सफोर्ड से)

(१०) हिम्स फ्राम दि ऋग्वेद, अंग्रेजी में।

३२—**मारिस फिलिप्स**। दि टीचिंग्स आफ दि वेदाज और रिलीजन आफ इंडिया नामक ग्रन्थ लिखे।

३३—**जे० वाकरनागेल**। गाटिंगन नगर से, जर्मन भाषा में, सन् १८९६ ई० में वैदिक व्याकरण का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा।

३४—**एल. वान श्रोडर**। इस जर्मन विद्वान् ने लाइबजिग नगर से (१) १८८१-८६ ई० में मत्रायणी संहिता। चार भागों में, मूल्य ६०)

(२) १८८७ ई० में 'इंडियन्स लिट्रेचर ऐंड कल्चर,'

(३) १९००-१९१० में काठक संहिता, चार भागों में, मूल्य ४०)

(४) १९०८ ई० में 'मिस्टीरियम अंड दि माइम्स इन ऋग्वेद' प्रकाशित की। मूल्य १५)

३५—**आर. पिशेल**। गेल्डनर के साथ मिलकर इस जर्मन विद्वान् ने ऋग्वेद की अच्छी छानबीन की। दोनों ने सन् १८७९ ई० से १८९१ ई० तक—लगभग १३ वर्षों में जर्मन भाषा में स्टूटगार्ट नगर से तीन बड़े-बड़े खण्ड़ों में वैदिक स्टडी Vedische studien नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया है। मूल्य २४) है। सन् १९०६ में वर्लिन से 'डी इन्डिश्च लिट्रेचर' प्रकाशित किया।

३६—**हरमन ओल्डेन बर्ग**। जैसे नवीन वेदान्त में शंकराचार्य का नाम प्रसिद्ध है इसी प्रकार वैदिक साहित्य में जर्मनी में इस विद्वान् का कार्य प्रशंसनीय है। इन्होंने बर्लिन से (१) सन् १८८८ ई० में ५०० पृष्ठों में वैदिक छन्द आदि का विवेचन,

(२) १८९४ ई० में Religion des veda (वैदिक धर्म) बर्लिन से।

(३) वैदिक हिम्मस् (अंग्रेजी में S. B. E. 46)

(४) आख्यान-सूक्त (ऋग्वेद-सम्बन्धी) २० सूक्त और

(५) सन् १९०९ से १९१२ तक बर्लिन से, ऋग्वेद पर अद्वितीय भाष्य जर्मन भाषा में दो भागों में प्रकाशित किया जो ऋग्वेद की सर्वोत्कृष्ट विद्वत्ता गवेषणा तथा विवेचना से पूर्ण व्याख्या मानी जाती है। मूल्य ३५)

(६) "वर्ल्ड व्यू आफ ब्राहान्स" जर्मन में, मूल्य २०)

३७. ए. हिलेब्रान्त। इस जर्मन वैदिक विद्वान् ने वैदिक-पुराण-विज्ञान पर विशेष कार्य किया, निम्न ग्रन्थ लिखे हैं—

(१) शांखायन श्रौतसूत्र (सम्पादित)

(२) Vedische mythologie तुलनात्मक वैदिक-पुराण-विज्ञान, ३ बड़े-बड़े खण्डों में ब्रेसला से जर्मन में लगभग १३ वर्षों में सन् १८९१ से १९०२ ई० तक। मूल्य १८)

(३) वैदिक सूक्तों का जर्मन अनुवाद सन् १९१३ ई० में, गाटिंगन से प्रकाशित "सम हाइम्स फ्राम दि ऋग्वेद" मूल्य १०)

इन्होंने परकालिक कर्मकाण्ड अत्यन्त आवश्यक बताया।

(४) वैदिक डिक्शनरी, ३ भाग, मूल्य ६०)

३८. रैंगोजिन। इन्होंने सन् १८९५ ई० में लन्दन में 'वैदिक इंडिया' नामक ग्रन्थ लिखा है। मूल्य ५॥=)

३९. बार्थ। फ्रेंच में पैरिस से सन् १८९९ ई० में वैदिक धर्म का इतिहास नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसका अंग्रेजी अनुवाद The religions of India नाम से बोस्टन से प्रकाशित हुआ।

४०. बी. लिण्डनर। इनका सम्पादित कौषीतकि ब्राह्मण जेना नगर में सन् १८८७ ई० में मुद्रित हुआ। मूल्य ८)

४१—ए० सी० बर्नेल। निम्नलिखित सामवेदी ब्राह्मणों का सम्पादन किया—

(१) सामविधान, सन् १८७२ में लन्दन से, सायण-भाष्य-सहित, मूल्य १२॥)

(२) वंश, देवताध्याय, १८७३ में,

(३) आर्षय (जैमिनी). १८७६ में, मूल्य १०)

(४) संहितोपनिषद् १८७७ में मैंगलोर से।

४२—डब्ल्यू० कैलेण्ड। (१) जैमिनीय शाखा के सामवेद का सम्पादन किया। मूल्य १३)

(२) आर्षेय ब्राह्मण, मूल्य १०)

(३) सन् १८९६ में वैदिक धर्म विषय पर जर्मन भाषा में ग्रन्थ लिखा,

(४) बौधायन श्रौतसूत्र का सम्पादन किया। मूल्य ९) इनके सम्पादित।

(५) काठक गृह्यसूत्र का मूल्य ७॥) है।

(६) काण्व शाखा के शतपथ के अंग्रेजी अनुवाद का मूल्य १०) है।

(७) वैतान सूत्र, मूल्य १०)।

(८) १९२२ में सम्पादित जैमिनीय गृह्यसूत्र का मूल्य ६) है।

(९) हालैंड में प्रकाशित अथर्ववेद का मूल्य ६०) है।

४३—स्टेन कोनो। (१) हाल नगर से सन् १८९३ ई० में सामविधान ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद।

(२) १९२१ में 'The Aryan gods of Mitani people' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। मूल्य ८)

४४—पीटर पीटर्सन। यह एलफिंस्टन कालेज बम्बई में प्रोफेसर थे। इन्होंने छात्रों के लिए

सन् १८८८ ई० में सायण-भाष्य तथा अग्रेजी-अनुवाद-सहित एक सूक्त-संग्रह Hymns from Rgveda प्रकाशित किया जिसका दूसरा संस्करण १८९७ में प्रकाशित हुआ। भारतीय विश्व-विद्यालयों में यह संग्रह अनेक वर्षों तक संस्कृत एम० ए० के पाठ्यग्रन्थों में पढ़ाया जाता रहा। दो भाग, मूल्य १२।=)

४५—**जे० लाहोर**। इस फ्रेंच विद्वान् ने सन् १८८८ ई० में पैरिस से, फ्रेंच भाषा में 'हिस्ट्री दि ला लिट्रेचर' नामक वैदिक-कालीन इतिहास प्रकाशित किया।

४६—**एच० जिमर**। इस जर्मन विद्वान् ने ऋग्वेद कालीन सामाजिक अवस्था पर बर्लिन से सन् १८७९ ई० में Altin dishes leben नामक ग्रन्थ लिखा।

४७—**एच० व्रुनहोफर**। इस जर्मन विद्वान् ने सन् १८८२ तथा अगले वर्षों में वैदिक विषयों पर पत्रिकाओं में अनेक लेख लिखे। वैदिक कविता की उपमा इसने उषाकालीन भारद्वाज पक्षी (लार्क) के गाने से दी है।

४८—**एबेल बर्गेन**। इस फ्रेंच विद्वान् ने वैदिक धर्म विषय पर फ्रेंच भाषा में सन् १८७८ से १८८३ ई० तक ३ खण्डों में अपना 'La religion vedique dapres les hymns du Rig-veda' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया। जर्मन में 'रिसर्चेज अबाउट ऋग्वेद' २ भाग, मूल्य १२)।

४९—**पाल ड्यूसन**। सन् १८९४ ई० में, जर्मन भाषा में, लाइबजिग से वैदिक-दर्शन-सम्बन्धी 'फिलासफी डेस वेद' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया।

५०—**ई० हार्डी**। सन् १८९३ ई० में जर्मन भाषा में वैदिक धर्म पर 'Die vedische Brahmanische periode der religion des alten Indiens' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। मूल्य १०)

५१—**ई० डब्ल्यू. हापकिन्स**। बोस्टन नगर से अंग्रेजी में सन् १८९५ में 'दि रिलीजन्स आफ इण्डिया' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रकाशित किया। मूल्य ३५)

५२—**एच० डब्ल्यू. वालिस**। इस विद्वान् ने सन् १८८७ ई० में अंग्रेजी में लन्दन से प्रकाशित अपने 'कास्मोलाजी आफ दि ऋग्वेद' नामक ग्रन्थ में ऋग्वेद-वर्णित सृष्टि-मीमांसा पर विचार किया है।

५३—**एल० शेरमैन**। इस जर्मन विद्वान् ने स्ट्रासबर्ग से सन् १८८७ ई० में जर्मन भाषा में में ऋग् और अथर्ववेदों के दार्शनिक सूक्तों की विवेचना 'फिलासफिश्चे हिमेन आण्डस डेर ऋग् ऊंड अथर्व वेद संहिता' नामक ग्रन्थ में की है।

५४—**सिलबेन लेवी**। इन फ्रेंच विद्वान् ने ऋग्वेद के २० आख्यान-सूक्तों के सम्बन्ध में आल्डेनबर्ग के सिद्धान्त [कि पहले यह सूक्त गद्य-पद्य-मिश्रित थे] का खण्डन करते हुए इन सूक्तों को नाटक का पूर्वरूप बताया। इनका 'ले थ्येटर इंडियन' नामक ग्रन्थ पैरिस से १८९० ई० में प्रकाशित हुआ।

५५—रुडाल्फ मेयर। सन् १८७८ ई० में बेरोलिवी नगर से 'ऋग्विधान' नामक ग्रन्थ का सम्पादन किया। इस ग्रन्थ में मन्त्रों के उच्चारण से प्राप्त होनेवाली शक्ति का वर्णन किया गया है। अनेक वेदसम्बन्धी लेख भी लिखे।

५६—डी० क्यूली कोव्सकिज। इसी रूसी विद्वान् ने सन् १८८२ ई० में सोम रस और श्येना- ख्यान पर 'राजबोर वेदिज्सकागो मीफी ओ स्कोले प्रिमे सेम इभटोक सोनी' नामक रूसी भाषा में एक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है। मूल्य १५)

५७—पी० रेनो। 'ले ऋग्वेद ऐट् लेस् आरिजिस् डेला मैथालाजी, इंडो यूरोपियन' नामक ग्रन्थ फ्रेंच में सन् १८९२ से १९०० ई० तक प्रकाशित किया। मूल्य २०)

५८—वेन्टले। इस विद्वान् ने वैदिक कालनिर्णय पर सन् १८२३ ई० में 'हिस्टारिकल व्यू आफ दि ऐस्ट्रोनामी' नामक ग्रन्थ लिखा।

५९—हर्मन जेकोबी। सन् १८९३-९४ ई० में अनेक लेखों द्वारा ज्यौतिष के आधार पर वैदिक-काल निर्णय किया।

६०—क्रिश्चियन लैसेन। इस जर्मन विद्वान् ने सन् १८४३ से १८६२ ई० तक लगभग २० वर्षों में ४ बड़े-बड़े भागों में 'Indische altertumskunde' नामक वैदिक साहित्य का इतिहास लिखा।

६१—एफ० सेण्डर। इन्होंने 'ऋग्वेद 'ऋग्वेद यण्ड एड्डा' नामक ग्रन्थ सन् १८९३ ई० में लिखा है। मूल्य ३।=)

६२—ए. एच. सायसे। इस विद्वान् ने वाशिंगटन से सन् १८९१ ई० में 'प्रिमिटिव होम आफ दि आर्यन्स' नामक ग्रन्थ लिखा।

६३—के० क्लेम। इस विद्वान् द्वारा सम्पादित 'षड्विंश ब्राह्मण' (सन् १८९४) का मूल्य ८) है।

६४—आर. डब्ल्यू फ्रेजर। लन्दन से 'लिट्रैरी हिस्ट्री आफ इंडिया' सन् १८९८ ई० में प्रकाशित कर वैदिक साहित्य का परिचय दिया। मूल्य १०)

६५—वी० हेनरी। इस फ्रेंच विद्वान् ने पेरिस से फ्रेंच भाषा में सन् १८९८ ई० में वेद सम्बन्धी विशिष्ट ग्रन्थ और १९०४ ई० में वैदिक साहित्य का इतिहास फ्रेंच भाषा में प्रकाशित किया। डब्ल्यू० कैलेण्ड के साथ मिलकर जर्मन में लिखित 'अग्निस्तोम' का, मूल्य २०) साधारण संस्करण का है।

२०वीं शताब्दी—

जिन विद्वानों के ग्रन्थ १९वीं शताब्दी में प्रकाशित हुए या प्रकाशित होने आरम्भ हो गये थे, उनका वर्णन ऊपर किया गया है। अब उन विद्वानों का उल्लेख किया जायेगा जिनके ग्रन्थ २० वीं शताब्दी में प्रकाशित हुए हैं—

६६—एस० विन्टरनीज। इस प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ने मैक्समूलर के ऋग्वेद के द्विती-

संस्करण में उनकी पर्याप्त सहायता की। जर्मन भाषा में इनका वैदिक साहित्य का इतिहास लाइ-बजिग से सन् १९०४ ई० में ३ खण्डों में प्रकाशित हुआ। मूल्य ३५)

उसका अंग्रेजी अनुवाद भी 'हिस्ट्री आफ इंडियन लिट्रेचर' नाम से भारत में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और कई विश्वविद्यालयों के एम० ए० के पाठ्यक्रम में नियत किया गया है। सन् १९२५ में इनका 'एन्श्यंट इंडियन वेलेड प्वेट्री नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। आपके सम्पादित आपस्तम्ब गृह्यसूत्र का मूल्य १२॥) है।

६७—ए० बी० कीथ। यह अंग्रेज विद्वान् मैकडानल का शिष्य था।

(१) सन् १९१४ ई० में इन्होंने कृष्ण-यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता का अंग्रेजी अनुवाद और उसकी २०० पृष्ठों की महत्त्वपूर्ण भूमिका लिखी। मूल्य दो भाग २५)

(२-३) सन् १९२० ई० में अमेरिकन सीरीज में १०० पृष्ठों की भूमिका सहित ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मणों को अंग्रेजी-अनुवाद सहित प्रकाशित किया। भाग १०, मूल्य ३४)

(४) १९२२ ई० में "कैम्बिज हिस्ट्री आफ इण्डिया" निकला।

(५) सन् १९२५ ई० में, २ खण्डों में, ७१६ बड़े पृष्ठों में इन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ "रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ दि वेदाज एण्ड उपनिषद्स" प्रकाशित किया। मूल्य २५)

(६) मैक्डानल के साथ मिलकर "वैदिक इण्डेक्स" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ रचा। मूल्य ५०)

(७) शांखायन आरण्यक, अंग्रेजी अनुवाद, मूल्य ९)

(८) हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर। मूल्य १८॥)।

६८—आर. गार्बे। सन् १८८१ से १९०२ तक आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का सम्पादन किया। दो भाग, मूल्य २५)

ब्लूमफील्ड के साथ अथर्व पैप्पलादीय शाखा का प्रकाशन किया।

६९—डी० गास्ट्रा। सन् १९१९ ई० में लेडन नगर से गोपथ ब्राह्मण प्रकाशित किया। मूल्य २०)

इन्होंने जैमिनीय गृह्यसूत्र का डच (हालैण्ड की) भाषा में १९०६ ई० में अनुवाद किया। मूल्य १०)

७०. एस० (मारिस) ब्लूमफील्ड। इस प्रसिद्ध वैदिक विद्वान ने अनेक महत्त्वपूर्ण वैदिक ग्रन्थों का प्रणयन किया। यथा—

(१) सन् १९०१ ई० में 'जर्मनी से, गार्बे के साथ मिलकर शारदा लिपि में वर्तमान काश्मीर से प्राप्य पैप्पलादशाखीय अथर्ववेद की हस्तलिखित प्रति का ५४० फोटो प्लेटों में, चार बड़े खण्डों में प्रकाशन किया मूल्य २५०)।

(२) पिप्पलाद शाखा का १९०१ ई० में अंग्रेजी अनुवाद, मूल्य २२)

(३) अथर्ववेदीय कौशिक सूत्र सन् १८९० ई०, मू० ३८)

(४) वैदिक कान्कार्डेन्स (मन्त्र-महासूची)। १९०६ ई० में हार्वड ओरियण्टल सीरिज के १०वें खण्ड में ११०२ बड़े आकार के पृष्ठों में रोमन लिपि में प्रकाशित हुई जिसमें ११९ पुस्तकों से अधिक का उपयोग किया गया है। मूल्य ६०)।

(५) सन् १९०८ ई० में अंग्रेजी में 'रिलीजन आफ दि वेद' का प्रकाशन हुआ। इस ग्रन्थ की रचना जर्मन भाषा में सन् १८९४ में हुई थी। मूल्य १५)

(६) ऋग्वेदिक रिपिटीशन्स (पुनरुक्त-मन्त्र-सूची) सन् १९१६ ई० में २ खण्डों में। मूल्य ३४)

७१. एच० एर्टल। सन १९२१ ई० में जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण अंग्रेजी अनुवाद-सहित प्रकाशित किया। मूल्य १०॥)

७२. ए० एफ० स्ट्रेन्जलर। आश्वलायन तथा पारस्कर गृह्यसूत्र आदि का सम्पादन किया। दो भाग १०)

७३. ऐफ० क्नाउएर। मानव श्रौत सूत्र आदि का सम्पादन किया।

७४. सी० आर० लैनमैन। इस विद्वान् ने ह्विटने के अथर्ववेद के अपूर्ण अंग्रेजी अनुवाद को पूर्णकर टिप्पणियों के साथ, अमेरिका से २ खण्डों में सन् १९०५ में प्रकाशित किया। इसमें १५० से अधिक पृष्ठों की महत्त्वपूर्ण भूमिका भी है। मूल्य ४०)

७५. जे० एगलिङ्ग। शतपथ ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद बृहद् भूमिका सहित ५ खण्डों में रचा। मूल्य ७४)

७६. ई० वी० आर्नाल्ड। सन् १९०५ में "वैदिक मीटर इन इट्स हिस्टारिकल डिवलपमेंट" नामक ग्रन्थ रचकर ऋग्वेद के छन्दों की विस्तृत विवेचना की है। मूल्य १८)

७७. शेफ्टलोविट्ज। सन् १९०७ ई० ब्रेसला से ऋग्वेद के खिल सूक्तों का पृथक् संस्करण जर्मन भाषा में अनुवाद सहित प्रकाशित किया।

७८. ई० जे० थामस। लन्दन से सन् १९२३ ई० में 'वैदिक हिम्न्स्' (सूक्त संग्रह) निकाला।

७९. ई० डब्ल्यू० फ्रे। सन् १९०६ में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में वेदसम्बन्धी लेख लिखे।

८०. डि ला वाली पौसिन। इस फ्रेंच विद्वान् ने १९०९ ई० में 'ला वेदिज्म' नामक ग्रन्थ लिखा।

८१. ह्यूगो विंकलर। इस जर्मन विद्वान् ने सन् १९०७ ई० में एशियामाइनर पर पुरानी ईंटों पर मुद्रिक वैदिक देवताओं के नामों के आधार पर वैदिक-काल विषयक गवेषणायें कीं।

८२. ई० अर्वमैन। इस जर्मन विद्वान् ने सन् १९२२ ई० में वैदिक माइथालाजी पर एक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा।

८३. एच० डी० ग्रिसबोल्ड। सन् १९१० ई० में "गाड वरुण इन दि ऋग्वेद" लिखा। सन् १९२३ ई० में "दि रिलिजन आफ दि ऋग्वेद" लिखा। यह ईसाई मत पक्षपाती और वैदिक-धर्म का द्वेषी था।

८४. जे० एन० फर्कुहर। लन्दन से अंग्रेजी में हिन्दू-धर्म, वैदिकधर्म और धार्मिक साहित्य पर सन् १९१२, १९१५ और १९२० ई० में ४ ग्रन्थ लिखे। न्यूयार्क से 'माडर्न रिलीजस मूवमेंट्स इन इंडिया' नामक ग्रन्थ पक्षपात से पूर्ण हैं।

८५. आर० वी० क्लेटन। मद्रास से इनका लिखा "ऋग्वेद ऐंड वैदिक रिलीजन" नामक ग्रन्थ सन् १९१३ ई० में प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ भी पक्षपात से पूर्ण है।

८६. जान हर्टेल। सन् १९२१ ई० में जर्मन भाषा में 'इंडिश्चे मार्चेन' नामक ग्रन्थ लिखा।

८७. ई० सीज। इस जर्मन विद्वान् ने सन् १९०२ ई० में जर्मन भाषा में स्टटगार्ट से "Die sageustoffe des Rigveda und die indische Itihasa tradition" नामक ग्रन्थ लिख कर प्रकाशित किया।

८८. जे० कार्पन्टियर। इन्होंने सन् १९२० ई० में जर्मन भाषा में 'आख्यान सूक्त गेय काव्य हैं' इस विषय पर 'Die superuasage' नामक ग्रन्थ लिखा।

८९. लीबिश। सन् १९१९ ई० में ऋग्वेदीय शाकल्य कृत पदपाठ का विवेचन जर्मन पुस्तक में किया है।

९०. एफ. ईजर्टन। इन्होंने ब्लूमफील्ड के साथ मिलकर सन् १९३० ई० में वैदिक पाठभेद पुनरुक्ति पर 'वैदिक वैरियैन्ट्स' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है। मूल्य ८)

९१—आर० एन० आलब्राइट। सन् १९२७ ई० में अंग्रेजी में, फिलाडेल्फिया से आप का वैदिक व्याकरण पर The vedic declension of the typy vrkis ग्रन्थ प्रकाशित हुआ।

९२—डब्ल्यू वुस्ट। इस जर्मन विद्वान् ने वैदिक इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थ Vom Gestalt-wandel des rgvedisches Dichtstils सन् १९२६ ई० में लाइबजिग से प्रकाशित किया।

९३—वी० जे० रेले। सन् १९३१ में इस विद्वान् ने "वैदिक गाड्स ऐज फिगर्स आफ बायलाजी" नामक ग्रन्थ [मूल्य ६।।)] प्रकाशित कर यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि वेद के समस्त देवता मानव शरीर के विशेषतः मस्तिष्क के अंग है।

९४—के० रोतो। सन् १९२७ ई० में 'त्रित आप्त्य' ग्रन्थ प्रकाशित किया। मूल्य ६)

९५—आर० सायमन। (१) जर्मन में पंचविधि सूत्र प्रकाशित, मूल्य ६), (२) सन १९०८ में जर्मन भाषा में सामवेद पुष्पसूत्र सम्पादित किया। मूल्य १५)

९६—जी० पर्ट्श। उपलेख सूत्र का सम्पादन किया। मूल्य १०)।

९७—ए० वेन्स। 'दि इन्सायक्लोपीडिया आफ इंडो आर्यन रिसर्च' लिखा। मूल्य १३)

९८—नीसेर। ऋग्वेद कोष का निर्माण किया।

९९—स्मिट। वैदिक कोष का निर्माण किया।

१००—लूइस रेनों। इन प्रसिद्ध फ्रेंच वैदिक विद्वान् ने फ्रेंच भाषा में पैरिस से सन् १९२५ ई० में "वैदिक सूक्तों में परोक्षभूत का स्थान" विषय पर अपना ग्रन्थ लिखा। सन् १९३१ में आपने

"**बिबलिओग्राफी वैदिका**" नामक वैदिक साहित्य का इतिहास सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा जिसका मूल्य उस समय १०० फ्रांक [१८मार्क या १८ शिलिंग] था। इसमें आपने वैदिक साहित्य पर संसार भर की भाषाओं में लिखे गये ग्रन्थों का परिचय दिया है। इस पुस्तक के नौ भाग का मूल्य १२) है।

१०१—जे० क्रीस्टे। हिरण्यकेशी (सत्याषाढ) गृह्य सूत्र का सम्पादन किया, मूल्य २५)

१०२—जे० एम० गिल्डनर। इन्होंने मानवश्रौतसूत्र चयन नामक ग्रन्थ सम्पादित किया, मूल्य ५) है।

१०३—जे० डब्ल्यू० सोलोमन। भारद्वाज गृह्यसूत्र का सम्पादन किया, मू० १२) है।

१०४—एच० एफ० एलसिंग। सन् १६०८ ई० में इन्होंने 'षड्विंश' ब्राह्मण सम्पादित किया। मू० १२) है।

१०५—जे० एन० रूटर। द्राह्यायण-श्रौत सूत्र का सम्पादन किया। मू० २५)

१०६-१०७—जी० एम० वालिंग और आई० वी० नेगलिन। इन्होंने जर्मन भाषा में सन् १६१० ई० में अथर्ववेद के परिशिष्ट ग्रन्थ प्रकाशित किये, मू० ४५) है।

१०८—जे० ग्रिल। इनके रचित "हन्ड्रेड लेसन्स एण्ड लेक्चर्स आफ अथर्ववेद" का मूल्य ७) है।

१०६—पी० ई० ड्बूमण्ड। सन् १६२७ ई० में फ्रेंच में 'ला अश्वमेध' नामक ग्रन्थ लिखा, मूल्य १८) है।

११०—जी० बुह्लर। इन्होंने दो भागों में 'दि सैक्रेड लाज आफ दि आर्यन्स' ग्रन्थ लिखा। दो भागों का मूल्य १२॥)

हम सब भारतीय आर्य जनों को इन पाश्चात्य वैदिक विद्वानों के लिये श्रद्धाञ्जलि अर्पित करनी चाहिये। जिन पाश्चात्य वैदिक विद्वानों का नाम उपरिलिखित वर्णन में भूल से छूट गया है, यह तुच्छ लेखक उनके प्रति क्षमा प्रार्थी है।

[वेदवाणी-वेदाङ्क—नवम्बर-दिसम्बर १६५४]

★ अनुशासन एक ऐसा मन्त्र है जिसकी सहायता से प्रतिभा योग्यता में बदल जाती है।

※ प्रेम तथा समय दो चीजें ऐसी हैं जिन्हें सारी दुनिया में तथा आजीवन खर्च तो किया जा सकता है परन्तु खरीदा नहीं जा सकता।

✦ तुम्हें वह करना चाहियें जो तुम कहते हो परन्तु जो कुछ तुम करते हो उसे कहने में कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।

✖ सत्य जीवन का लक्ष्य है, संयम जीवन की पद्धति है और सेवा जीवन का कार्य है, विचार करो और जीवन को सार्थक बनाओ।

वैदिक परिभाषा में शरीर की संज्ञाएं[1]

[ले०—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, प्राध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी]

वैदिक साहित्य भारतीय ज्ञान के अक्षय कोष हैं। उनमें क्रान्तदर्शी ऋषियों के अध्यात्म-अनुभवों का बहुत ही उत्कृष्ट काव्यमय वर्णन पाया जाता है। उस काव्य की परिभाषायें अनेक उपाख्यान और सुन्दर रूपकालङ्कारों के द्वारा प्रकट की गई हैं। अध्यात्म-ज्ञानी लोग प्रायः सर्वत्र ही रहस्यपूर्ण अनुभवों को शब्दों में व्यक्त करने के लिये इसी विलक्षण व्यञ्जनाप्रधान शैली का आश्रय लिया करते हैं। लौकिक काव्य के निर्माता सन्त कवियों ने भी शरीर को चादर, चर्खा, सरोवर आदि अनेक नाम देकर मनोहर रूपकों के द्वारा उसका वर्णन किया है। कबीरदास जी ने अपने अध्यात्म-अनुभवों को व्यक्त करते हुए निम्नलिखित भजन में इसी शैली का अवलम्बन किया था—

झिनि झिनि झिनि झिनि बोनी चदरिया ।। आठ कमल दस चरखा डोलै पांच तत्त गुण तीनी चदरिया। साँई को सियत मास दस लागे ठोंक ठोंक कर बीनी चदरिया ।। सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी ओढ़ि के मैली कीन्हीं चदरिया। दास कबीर जतन सों ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दीन्ही चदरिया ।।

यहां शरीर का रूपक चादर की दृष्टि से बांधा गया है। यह देह एक वस्त्र है, जिसके निर्माण में विधाता के बहुत बड़े कौशल का परिचय मिलता है। गीता आदि शास्त्रों में भी इस मानवी देह की तुलना वस्त्रों से की गई है। इस परिभाषा को ठीक न जानकर कबीर के उपर्युक्त पद का कोई भी ठीक अर्थ नहीं जान सकता। उसके तथा अन्य कवियों के सैकड़ों परिभाषात्मक शब्द इसी प्रकार के हैं।

वेद, ब्राह्मण और उपनिषदों में तो इस प्रकार के रूपक और भी अधिक संख्या में पाये जाते हैं। वहां परिभाषाओं के अज्ञान से अर्थों में बहुत अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है, यही कारण है कि अनेक यूरोपीय विद्वान् तथा उनके अर्थ को मानकर चलनेवाले भारतीय पण्डित भी वैदिक मन्त्रों के वास्तविक अभिप्राय से कोसों दूर रहते हैं। उदाहरण के लिए 'क्षेत्र' शब्द को ले सकते हैं। अध्यात्म-विद्या के ग्रन्थों में 'क्षेत्र' शब्द शरीर का पर्यायवाची माना जाता है। भगवद्गीता में इसी परिभाषा को स्पष्ट कर दिया है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।। अ० १३।१।।

अर्थात् हे अर्जुन ! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है। जो इसे जानते हैं, उन्हें तत्वज्ञानी क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।२।।

---

१. श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'उरु-ज्योति' अर्थात् 'वैदिक अध्यात्म सुधा' का एक प्रकरण।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ।।३।।
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।।४।।
महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।।५।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।।६।।

अर्थात्—हे भारत ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही समझ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञा है, यही मेरा (परमेश्वर का) ज्ञान माना गया है।

क्षेत्र क्या है, वह किस प्रकार का है, उसके कौन-कौन विकार हैं,(उसमें भी)किससे क्या हो है, ऐसे ही वह अर्थात् क्षेत्रज्ञ कौन है और उसका प्रभाव क्या है। उसे मैं संक्षेप से बतलाता हूं सुन

ऋषियों ने अनेक प्रकार से छन्दों में इसी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का गान किया है। और ब्रह्मसूत्रों भी हेतुवाद की दृष्टि से इसी विचार का निश्चय किया गया है।

पृथ्वी आदि पांच स्थूल महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि (महत्तत्त्व), अव्यक्त (प्रकृति), दस (सूक्ष्म इन्द्रियां और एक मन तथा इन्द्रियों के पांच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना अर्था प्राण-व्यापार और धृति, इस समुदाय को सविकार क्षेत्र कहते है।

इस प्रकार गीता-शास्त्र में युक्ति और विस्तार से शरीर की क्षेत्र-संज्ञा का निरूपण कि है। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का यह विचार वस्तुतः इससे भी बहुत पूर्व का का था—'ब्रह्म-सूत्र' के दूसरे अध्याय के तीसरे पाद के पहले १६ सूत्रों में क्षेत्र का विचार और फि उस पाद के अन्त तक क्षेत्रज्ञ का विचार किया गया है। ब्रह्म-सूत्र में यह विचार है, इसलिए उ 'शारीरिक सूत्र' अर्थात्—शरीर या क्षेत्र का विचार करने वाले सूत्र भी कहते हैं।" (गीत रहस्य पृष्ठ ७८३)।

वैदिक मन्त्रों में भी 'क्षेत्र' शब्द इस अध्यात्म अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में कहा है—

स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज। अथर्व० ११।१।२२।।

अर्थात्—अपने क्षेत्र में अनामय होकर रहो। यह क्षेत्र किसी भी दैहिक या आध्यात्मि व्याधि से क्लिष्ट न हो। दैहिक, दैविक, भौतिक ताप ही अमीव या व्याधियां हैं, जिनसे क्षेत्रज्ञ प्राणी संतप्त रहते हैं। तुलसीदास जी ने कहा है—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि व्यापा ।।

इस व्याधिशून्य स्थिति को जब मनुष्य प्राप्त कर लेता है, तभी वह अनमीव क्षेत्र में समा की ओर अग्रसर होता है। एक अन्य स्थान पर कहा है—

शन्नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः। अथर्व० १९।१०।१०।।

अर्थात्—हमारे क्षेत्र का स्वामी या क्षेत्रपति शम्भु या कल्याणकर हो।

यह क्षेत्रपति क्षेत्रज्ञ ही है। सब मनुष्यों का नित्यप्रति यही शिव-संकल्प होना चाहिये कि हमारा क्षेत्रपति शम्भु हो और हमारा क्षेत्र निरामय और निर्विकार रहे।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में क्षेत्र शब्द अपने अध्यात्म अर्थ में बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रयुक्त हुआ है।

अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः। एतद्वै भद्रमनुशासनस्योत स्रुतिं विदन्त्यञ्जसीनाम् ।। १०।३२।७।।

अर्थात्—अक्षेत्रविद् क्षेत्रविद् से अध्यात्म-ज्ञान के विषय में प्रश्न करता है। यह ज्ञानी क्षेत्रज्ञ उस आत्म-विद्या में उसका अनुशासन करता है। उसका उपदेश उभयथा कल्याणकारी होता है, जिससे सर्वत्र उनकी प्रशंसा होती है।

गीता (१३।१) का क्षेत्रज्ञ ही ऋग्वेद का क्षेत्रविद् है—

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।

बौद्ध-ग्रन्थों में आया है कि भगवान् बुद्ध ने भी एक बार भारद्वाज ब्राह्मण से, जो खेती करता था, आध्यात्मिक कृषि का निरूपण किया था। उसमें श्रद्धा बीज, तप वृष्टि और प्रज्ञा हल है। कार्य-संयम, वाक्-संयम और आहार-संयम कृषि-क्षेत्र की मर्यादाएं हैं। पुरुषार्थ बैल है, मन जोत है। इस प्रकार की कृषि से अमृतत्व का फल मिलता है—

एवमेसा कसी कट्ठा सा होति अमतप्फला। एतं कसी कसित्वान सब्ब दुक्खापमुच्चति ।।

पाणिनि के '**क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः**' (५।२।९२) सूत्र में परक्षेत्र का अर्थ जन्मान्तर या शरीरान्तर किया गया है। कालिदासादि कवियों ने भी 'क्षेत्र' शब्द को अध्यात्म अर्थ में प्रयुक्त किया है—

योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम् ।
अनावृत्तिमयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः ।।

अथवा—**यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्** । कुमारसम्भव ३।५०।।

रथ—

वैदिक साहित्य में शरीर की एक संज्ञा 'रथ' भी है। यजुर्वेद के मन्त्रों में देवरथ का वर्णन किया गया है—

इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः ।
समां नो हव्यदातिं जुषाणो देवरथ प्रति हव्या गृभाय ।।१९।५४।।

अर्थात्—हे दिव्य रथ ! तुम इन्द्र के वज्र, मरुद्गण या प्राणों के मुख, मित्र के गर्भ और वरुण की नाभि हो। तुम प्रीतिपूर्वक हमारी हवियों को स्वीकार करो।

दूसरे मन्त्रों में रथ के रूपक का और भी स्पष्टता से वर्णन है—

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः ।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनुयच्छन्ति रश्मय ।। यजु० १९।४३।।

अर्थात्—सुन्दर सारथि रथ में बैठकर जहां-जहां चाहता है घोड़ों को हांक ले जाता है उन बागडोरों की महिमा को देखो जिनको पीछे से संकल्पवान् प्रेरित कर रहा है।

यजुर्वेदीय कठोपनिषद् में शरीर और रथ के रूपक की इस प्रकार व्याख्या पायी जाती है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ कठोप० १।३।३,४॥

अर्थात्—शरीर-रूपी रथ में आत्मा रथी है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियां घोड़े और विषय उनके विचरने के मार्ग हैं। इन्द्रिय और मन की सहायता से आत्मा भोग करनेवाला है। जो प्रज्ञासम्पन्न होकर संकल्पवान् मन से स्थिर इन्द्रियों को सुमार्ग में प्रेरित करता है, वह मार्ग के अन्त तक पहुंचता है, जहां से फिर आने-जाने का प्रपञ्च नहीं रहता।

विज्ञानवान् होने के लिए वेद के शब्दों में सदा यही शुभकामना करनी उचित है कि इन्द्र! सदा हमारे रथी विजय-शील होवें—

अस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु॥ ऋ० ६।४७।३१॥

रथ में बैठनेवालों की कभी पराजय न हो।

इन्द्रियों के देवासुर संग्राम में उनके विजय की दुन्दुभि बजती रहे।

देवपुरी

अथर्ववेद में इस शरीर को देवपुरी कहा गया है—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ १०।२।३१॥

अर्थात्—यह शरीर जिसमें आठ चक्र और नौ (इन्द्रिय) द्वार हैं[1], देवपुरी अयोध्या है। इसमें ज्योति से पूर्ण स्वर्ण का कोष (=मस्तिष्क) है, जिसे स्वर्ग कहते हैं।

मस्तिष्क को घट या स्वर्ग कहा गया है। मस्तिष्क ही सोम-पूरित द्रोण-कलश या अमृत कुम्भ है। कालिदास ने भी मन को नवद्वारोंवाला कहा है—

मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्॥ कुमारसम्भव ३।५०

अर्थात्—शिवजी नवों इन्द्रिय-द्वारों से बाहर विचरनेवाली चित्त-वृत्तियों का निरोध करके समाधिवश्य मन की स्थिति से अक्षर ब्रह्म का आत्मा में ही दर्शन कर रहे थे।

इन नौ द्वारों में एक और विदृति-द्वार जोड़ देने से कहीं-कहीं पर दस द्वारों की गणना की जाती है—

---

१. दो आंखें, दो कान, दो नासिका, एक मुख, एक गुदा, एक उपस्थ। तुलना करो—नवद्वारे पुरे देही। श्वेता० उ० ३।१८। गीता ५।१३॥

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत । सैषा विदृतिर्नाम द्वाः । ऐ० उ० १।३।१२।

अर्थात्—कपालों के ऊपर जो जोड़ है वही सीमा है, उस सीमा को विदीर्ण करके आत्मा ने शरीर में प्रवेश किया, इसीलिए वह द्वार विदृति-द्वार कहलाया ।

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में लिखा है—

तं वागेवं भूत्वाग्निः प्राविशन्मनो भूत्वा चन्द्रमाश्चक्षुर्भूत्वादित्यश्श्रोत्रम्भूत्वा दिशः प्राणो भूत्वा वायुः । एषा दैवी परिषद्, दैवी सभा, दैवी संसत् । जै० उ० २।११।१२,१३ ।।

(१) **दैवी परिषद्** (२) **दैवी सभा** (३) **दैवी संसद्**

क्योंकि इसमें निम्न देवताओं का वास है—

अग्नि— वाक् मुख **चन्द्रमा**— मन हृदय **आदित्य**— चक्षु अक्षि
दिशाएं— श्रोत्र कर्ण **वायु**— प्राण नासिका

ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार इतने देवता और हैं—
ओषधि-वनस्पति—लोम त्वचा मृत्यु—अपान नाभि जल—रेत शिश्न

इन देवताओं और उनके स्थानों की संज्ञा लोकपाल और लोक भी है। समस्त देवों का वास स्थान मनुष्य के मस्तिष्करूपी स्वर्ग में है। अथर्ववेद के अनुसार मस्तिष्क का विलक्षण नाड़ी-जाल अश्वत्थ वृक्ष है, जिस पर देवों का वास है—

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि । अथर्व० ६।९५।१।।

मस्तिष्क ही स्वर्ग या ज्योतिषावृत द्युलोक है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक की गणना में द्युलोक तीसरा है। उसमें देव-सदन अश्वत्थ है। जितनी इन्द्रियां हैं, सब के संज्ञा-केन्द्र मस्तिष्क में ही हैं। उस अश्वत्थ के प्रत्येक पत्ते पर देवों का वास है। मस्तिष्क में सर्वत्र संज्ञान केन्द्र (Sensory and motor centres) फैले हुए हैं।

देवतुरी के साथ ही इसको ब्रह्मपुरी भी कहा गया है। अथर्ववेद के ब्रह्मप्रकाशी सूक्त(१०।२) में शरीर की रचना का और अध्यात्मशास्त्र में उसकी विविध परिभाषाओं का बहुत ही सुन्दर विवेचन है। एक मन्त्र में सिर की संज्ञा देवकोष है—

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः ।। १०।२।२७।।

ग्रिफिथ के अनुसार मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—"That is indeed Atharvan' head, the well closed casket of the gods. Spirit and Food and Vital Air protect that head from injury"

अर्थात्—इस देह में अथर्वा-निर्मित मस्तिष्करूपी देव-कोष है। मन, प्राण, वाक् (अन्न) उसकी रक्षा करते हैं।

मन, प्राण, वाक्, अथर्वा ये सब भी वैदिक परिभाषाएं हैं, जिनके अर्थ का विस्तार शतपथादि ब्राह्मणों में पाया जाता है। संक्षेप में मन अव्ययपुरुष, प्राण अक्षरपुरुष और वाक् या अक्षरपुरुष की संज्ञाएं हैं जिनका समन्वय मनुष्य-देह में पाया जाता है।

इसी सूक्त के अन्य मन्त्र भी उल्लेख-योग्य हैं—

पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥२८॥
यो वै तां ब्राह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरीम्।
तस्मं ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२३॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥

प्राची, प्रतीची, दक्षिणा, उदीची, ऊर्ध्वा, ध्रुवादिक जितनी दिशाएं हैं, सब पुरुष के भीतर हैं, यह ब्रह्मपुरी है, इसमें वास करने के कारण वह ब्रह्म पुरुष (=पुरिशय) कहलाता है। अमृत से घिरी हुई यह ब्रह्मपुरी है (इस मर्त्य-पिण्ड को सब ओर से अमृत ने व्याप्त कर रक्खा है)। जो इसे जानता है उसके चक्षु और प्राणों की कभी हानि नहीं होती।

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्माविवेशापराजिताम् ॥३३॥

चारों ओर जिसका यश वितत है, अतिशय भ्राजमान और तेजोमय जो पुरी है, उस अपराजिता नगरी में ब्रह्म ने प्रवेश किया है।

इन अलङ्कार-प्रधान वर्णनों के आभ्यन्तर भारतीय अध्यात्मज्ञान के रहस्य छिपे हुए हैं। साहित्य में रहस्य-वर्णन की शैली का पुराकाल से ऐतिहासिक अन्वेषण करने के लिए इन वैदिक परिभाषाओं का ज्ञान परमावश्यक है, क्योंकि परवर्ती कवियों ने इन परम्पराओं का अपने काव्यों में सन्निवेश किया है। अध्यात्म कवियों की काव्य-परिपाटी को सहृदयता के साथ समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम स्थूल वर्णनों के मूल में निहित परोक्ष अर्थों को यथार्थ रीति से जानें। **ध्रुवः लोक, कैलास, मानसरोवर, गङ्गा-यमुना त्रिकुटी, संगम, हंस, षट्कमल, मेरु, गगन-मण्डल, तीन लोक, सप्तसागर** आदि अनेक शब्दों का स्वच्छन्द प्रयोग हिन्दी के अध्यात्मप्रधान काव्य-ग्रन्थों में अनेक बार किया गया है। यदि हम इन शब्दों के स्थूल अर्थों को ग्रहण करने का आग्रह करें तो कवि का रहस्य-अर्थ कभी नहीं मालूम हो सकता और न कविता का ही सुसङ्गत अर्थ लग सकता है। जावसी ने कहा है—

चौदह भुवन जो तर उपराहीं ! ये सब मानुष के तन माहीं ॥

दैवी वीणा—

हिन्दी कवियों ने जहां मनुष्य की वाक् को मुरली-ध्वनि से उपमा दी है, वहां वैदिक साहित्य में इसका रूपक देव-वीणा से बांधा गया है। यह शरीर सामान्य वीणा नहीं है। यह दैवी वीणा है। इसके स्वरों में देवों का सङ्गीत है। जो कुशलता से इस वीणा को बजाता है। उसके कल्याण-प्रद स्वर दूर-दूर तक व्याप्त हो जाते हैं। उसके माधुर्य से सब मुग्ध हो जाते हैं। ऋग्वेद के शांखायन आरण्यक में इस रूपक का विस्तार के साथ वर्णन पाया जाता है—

अथ इयं दैवी वीणा भवति, तदनुकृतिरसौ मानुषी वीणा भवति । शां. आ. ८।९

कवि दोनों में निम्नलिखित सादृश्य देखता है—

दैवी वीणा	मानुषी वीणा	शिर	सिरे का भाग
पृष्ठ वंश	पृष्ठ दण्ड	उदर	अम्भण या नीचे का भाग
मुख, नासिका, चक्षु	छिद्राणि	अंगुलियां	तन्त्री
जिह्वा	वादन	स्वर	स्वर

आगे कवि ने कहा है—

सा एषा दैवी वीणा भवति । स य एवमेतां दैवीं वीणां वेद श्रुतवदनतमो भवति, भूमौ चास्य कीर्तिर्भवति, शुश्रूषन्ते हास्य पर्षत्सु भाष्यमाणस्य—'इदमस्तु, यदयमीहते' । यत्रार्या वाचं वदन्ति विदुरेनं तत्र ।।

अथातः ताण्डविन्दवस्य वचः । तद्यथा—इयमकुशलेन वादयित्रा वीणारब्धा न तत्कृत्स्नं वीणार्थं साधयत्येवमेव अकुशलेन वक्त्रा वागारब्धा न तत्कृत्स्नं वागर्थं साधयति । तद्यथा हैवेयं कुशलेन वादयित्रा वीणारब्धा कृत्स्नं वीणार्थं साधयत्येवमेव कुशलेन वक्त्रा वागारब्धा कृत्स्नं वागर्थं साधयति । शांखायन आरण्यक ८।९,१०।।

अर्थात् जो इस दैवी वीणा को बजाता है, उसकी वीणा के स्वर सुनने-योग्य होते हैं। जब परिषदों में वह बोलने के लिए खड़ा होता है, सब लोग उसे सुनने के लिए सावधान हो जाते हैं, और कहते हैं कि जो इसका संकल्प है वही हमें भी स्वीकार है । जहां आर्य लोग तत्त्वों का विचार करने बैठते हैं, वहीं उसका स्मरण होता है ।

ताण्डविन्दव आचार्य का अनुभव है कि जैसे कुशल वादक वीणा में से अनन्त स्वर-माधुर्य को उत्पन्न करता है, वैसे ही वाग्रूपी वीणा का कुशल प्रयोक्ता वाणी के द्वारा अनन्त अर्थों की सिद्धि करता है। उसके स्वर-सामञ्जस्य से सब मुग्ध हो जाते हैं, वह जिस नवीन संगीत की तान छेड़ता है सारा राष्ट्र चकित होकर उसको सुनता है। सचमुच लोकमान्य महात्माओं की वाक् की महिमा की कोई इयत्ता नहीं है ।

दैवी नाव—

भव-सागर को पार करने के लिए मानुषी शरीर एक सुघटित नाव है। कितने इस पर चढ़ कर दुस्तर भवसागर के पार चले जाते हैं, कितने बीच में ही रह जाते हैं। निम्नलिखित सुन्दर मन्त्र में इसी दैवी नाव का वर्णन है—

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ।। अथर्व० ७।६।३।।

अर्थात्—हम लोग स्वस्ति तक पहुंचने के लिए इस दैवी नाव पर आरूढ़ हैं। यह नाव अस्रवन्ती है, कहीं से रिसती नहीं। स्वरित्रा है, उसमें इन्द्रियरूप बड़े सुन्दर डाँड लगे हुए हैं। सुप्रणीति अर्थात् सुघटित है, इसके निर्माण-कौशल का क्या ठिकाना है। यह अदिति है, अखंड-नीया तथा देवों की जननी है। सुशर्मा अर्थात् सुप्रतिष्ठित प्राण से सम्पन्न है। सुत्रामा इन्द्र की यह नाव है। इसमें पृथिवी से द्युलोक तक की समस्त रचना है।

ऐसी नाव पर चढ़ने वाले यात्री का अनागस अर्थात् समस्त पापों से रहित होना सबसे बड़ी शर्त है। शुनःशेप ने वरुण से यह प्रार्थना की है—

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद्-अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥ ऋ० १।२४।१५॥

हे वरुण ! हमारे समस्त उत्तम, मध्यम, अधम पाशों को शिथिल करो। हे अदित्य! तुम्हारे व्रत में अनागस (पाप-रहित) रहकर हम अदिति स्थिति को प्राप्त होवें।

इस प्रकार वैदिक परिभाषाओं का निर्वचन करते हुए हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन ऋषियों ने क्षेत्र, रथ, दैवी-पुरी, ब्रह्मपुरी, देव-परिषद देवसंसद, दैवी वीणा, देवरथ, दैवी नाव आदि अलौकिक रूपकों के द्वारा मनुष्य-शरीर का ही अध्यात्म-प्रसंग से वर्णन किया है।

[वेदवाणी—जून १९५४]

दशमे मासि सूतवे

अर्थात्

बालक के गर्भवासकाल की मीमांसा

[ले०—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक]

लोक में प्रायः देखा जाता है कि बालक का जन्म ९वें मास के उपरान्त दशम मास के प्रारम्भिक १० दिनों अर्थात् २७०-२८० दिनों के मध्य में होता है। इस नियममें कभी-कभी विपरीतता भी देखी जाती है। कभी बालक सातवें-आठवें मास में ही उत्पन्न हो जाता है और कभी-कभी ११-१२ मास भी लग जाते हैं। उपर्युक्त नियत काल से पूर्व उत्पन्न होने का कारण रोग तथा आकस्मिक आघात आदि और विलम्ब से उत्पन्न होने का कारण माता की निर्बलता या आहारादि की अप्राप्ति आदि माना जाता है† परन्तु हमारे विचार में इस वैपरीत्य का एक और प्रधान कारण है और वह है २७० दिन से पूर्व ही बालक के गर्भकाल (१० मास) की अवधि का पूरा हो जाना तथा २८० दिन के उपरान्त भी बालकों के गर्भवास-काल का पूरा न होना। ऐसे बालकों की उत्पत्ति की न्यूनतम अवधि २००-२१० दिनों के मध्य (लौकिक व्यवहारानुसार सप्तम मास) तक होती है, अधिकतम अवधि ३६० दिन (१२ मास) तक। अर्थात् बालकों का गर्भवास का नियत काल पूरे दस मास का है और वह दस मास का काल २०० से ३६० दिनों के मध्य में (माता की प्रकृति के अनुसार) जब भी पूरा हो जायगा, तभी बालक उत्पन्न होगा और वह जीवित रहेगा।

पाठक हमारे लेख को पढ़कर चौंकेंगे कि २०० से ३६० दिनों के मध्य का कोई भी काल

† बारह मास तक बालक की उत्पत्ति का कारण, चरक शरीर स्थान अ० २ श्लोक १५।

'दस मास' कैसे कहा जा सकता है, परन्तु यह बात है सर्वथा सत्य, अर्थात् २०० दिनों में ही दस मास पूरे हो सकते हैं और ३०० दिन बीतने पर भी पूरे नहीं हो सकते। यह बात प्राचीन आर्षग्रन्थों तथा गणित के द्वारा निश्चित है।

हम इस लेख में यही दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि गर्भवास का पूरे दस मास का नियत काल न्यून-से-न्यून २०० दिनों में ही कैसे पूरा हो जाता है और ३०० दिन के उपरान्त भी पूरा नहीं होता तथा बालक बिना किसी रोग या आघातादि कारणों के २७० दिन से पूर्व, और बिना माता की निर्बलता आदि के ३६० दिनों तक क्यों उत्पन्न होता है।

ऋग्वेद (१०।१८४।३) का वचन है—'**दशमे मासि सूतवे**'। इसका साधारणतया अर्थ किया जाता है कि 'बालक दसवें मास में उत्पन्न होता है' परन्तु हमारे विचार में इसका अर्थ होना चाहिये—'दस मास पूरे व्यतीत होने पर बालक उत्पन्न होता है।' (इसकी विवेचना आगे की जायगी।) इससे इतना स्पष्ट है कि वेद में बालक-उत्पत्ति का समय पूरे दस मास का कहा है।

चिकित्सकों का मत है कि स्त्री की शारीरिक अवस्था के ठीक होने पर २७ या २८ दिन में रजोदर्शन होता है, और ऐसी स्त्री को २७० से २८० दिनों के मध्य में प्रसव होता है। इस प्रकार यदि हम '**दशमे मासि सूतवे**' वचन में मास शब्द को दो रजोदर्शन के मध्यकाल का वाचक मान लें तो २७×१०=२७० दिन तथा २८×१०=२८० दिन की अवधि का न केवल पूर्ण सामञ्जस्य ही हो जाता है, अपितु हमारा किया अर्थ 'दस मास पूरे होने पर बालक उत्पन्न होता है' भी युक्तिसङ्गत बन जाता है।

अब प्रश्न हो सकता है कि २७वें दिन रजोदर्शन होनेवाली स्त्री को २७० दिन में और २८वें दिन रजोदर्शन होनेवाली स्त्री को २८० दिन में ही प्रसव होना चाहिये। तब २७०-२८० दिनों के मध्य में प्रसव कैसे होता है?

इसका उत्तर अत्यन्त सरल है। यदि दो रजोदर्शनों के मध्य में पूरे २७ या २८ दिन का ही अन्तर रहता हो, तब तो यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, परंतु वस्तुस्थिति इससे भिन्न होती है। २७ दिन पूरे होने के अगले २४ घंटों में जितने घंटे पश्चात् रजोदर्शन होगा, उनको भी १० से गुणा करने पर २७० से २८० दिनों के मध्य का काल उत्पन्न हो जायगा। यथा—यदि किसी स्त्री को पहला रजोदर्शन १ ता० प्रात: ८ बजे हुआ और दूसरा रजोदर्शन २८वीं तारीख को दिन के १ बजे हुआ अर्थात् २७ दिन ५ घंटे पश्चात् हुआ तो उस काल को १० से गुणा करने पर २७२ दिन २ घंटे का काल उपलब्ध होगा। इस प्रकार उक्त स्त्री को गर्भस्थिति-काल के ठीक २७२ दिन और २ घंटे पश्चात् प्रसव होगा। यदि मिनट और सेकण्डों का भी पूरा-पूरा हिसाब उपलब्ध हो सके तो प्रसव का पूर्ण निश्चित काल पहले ही बताया जा सकता है। यह शुद्ध गणित का विषय है। गणित-अनुसार उपलब्ध उत्तर कभी असत्य नहीं हो सकते। हां गणित करने में पूरी सावधानता और सूक्ष्मता की आवश्यकता होती है।

सम्भव है चिकित्सक महानुभाव मेरे इस गणित को कल्पनामात्र कहें, परन्तु मैंने स्वयं अपने दो बच्चों का जन्मकाल इसी गणित के अनुसार जान लिया था। एक बालक २७० दिन में हुआ था

और दूसरा २९२ दिन में। दोनों के प्रसवकाल में क्रमशः ४ घंटे और ढाई घंटे का अन्तर पड़ा था। अतः मुझे इस गणित पर पूर्ण विश्वास है। यदि मिनटों का भी पूरा ध्यान रक्खा जाता तो उपर्युक्त अन्तर भी नहीं पड़ सकता था। हमारे इस गणित की उपपत्ति का आधार प्राचीन शास्त्र-वचन ही हैं। इसीलिये अब हम उन्हीं शास्त्र-वचनों की मीमांसा करते हैं जिनके आधार पर हम इस सिद्धान्त पर पहुंचे हैं।

'दशमे मासि सूतवे' वचन में 'मास' शब्द का क्या अर्थ है, सबसे पूर्व इसी पर विचार करना होगा। इस विषय की सारी समस्या 'मास' शब्द का वास्तविक अर्थ जान लेने पर स्वतः हल हो जाती है।

'मास' शब्द का मुख्य अर्थ है **'कालमापक'**। इसी मुख्यार्थ को लेकर लोक में विभिन्न प्रकार की काल की अवधि के लिये मासशब्द का व्यवहार होता है। यथा—

१—सूर्य की एक राशि से दूसरी राशि में प्रवेश करने की अवधि मास शब्द से कही जाती है, चाहे वह अवधि न्यूनतम २८ दिन की हो या अधिकतम ३२ दिन की। इस काल का सम्बन्ध सूर्य के राशि-संक्रमण के साथ होने से यह मास लोक में 'सौरमास' के नाम से प्रसिद्ध है।

२—किसी पूर्णिमा के अनन्तर (प्रतिपद् के प्रारम्भ से) दूसरी पूर्णिमा के अन्त तक (गुजराती पञ्चाङ्गानुसार अमावास्योत्तर प्रतिपद् से दूसरी अमावास्या के अन्त तक) का काल 'मास' कहाता है। चाहे इस अवधि में ३० दिन हो या २९ (कभी-कभी २७ भी हो जाते हैं)। चन्द्र की गति के साथ इस काल का सम्बन्ध होने से यह चान्द्रमास कहाता है।

३—ईसवी सन् के मासों की न्यूनतम अवधि २८ दिन और अधिकतम ३१ दिन की मानी जाती है।

इस विवेचना से सिद्ध है कि किसी भी प्रकार के लोकप्रसिद्ध मास में दिनों की नियत संख्या नहीं है अर्थात् दिनों के न्यूनाधिक होने पर भी किसी विशेष नियम से काल का मापक-काल की अवधि को बतानेवाला वर्ष का १२ वां अंश लोक में 'मास' शब्द से कहा जाता है।

इसी नियम के अनुसार स्त्रियों के दो रजोदर्शनों के मध्यकाल की अवधि भी मास शब्द से व्यवहृत होती है। अतएव स्त्री-भेद से रजोदर्शन के नियतकाल (२७-२८ दिन) से न्यूनाधिक दिनों में होने वाले रजोदर्शन के लिये 'मासिकधर्म' शब्द का व्यवहार होता है। यदि कोई कहे कि नियत काल (२७-२८ दिन) से न्यूनाधिक काल में होने वाले रजोदर्शन के लिये मास शब्द का व्यवहार गौणीवृत्ति से होता है तो यह भी ठीक नहीं। हम अनुपद ही बतायेंगे कि धर्मशास्त्र में २१ से २७ दिन के मध्य में होने वाले रजोदर्शन को 'कालोत्पन्न' कहा है। अतः २१-३६ दिन के मध्य में किसी भी दिन होने वाले रजोदर्शन के लिये मासिकधर्म शब्द का व्यवहार होता है। यदि मास शब्द का मुख्यार्थ ३० दिन माना जाय, तब तो लोक में जहां-जहां मास शब्द का व्यवहार होगा, वह सब गौणीवृत्ति से मानना होगा। हमारे विचार में नियत ३० दिन के लिये मास शब्द का लोक में कहीं व्यवहार नहीं होता। अस्तु, जब मास शब्द का मुख्यार्थ (३० दिन) में प्रयोग ही नहीं होता, तब गौण प्रयोग की उपपत्ति कैसे होगी।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि मास शब्द किन्हीं भी दो नियत अवधि के मध्यवर्ती काल का वाचक है। यही उसका मुख्यार्थ है और इसी मुख्यार्थ को लेकर इसका लोक में विविधरूपों में प्रयोग होता है। हमारे इस प्रकृत विचार में मास शब्द का मुख्यार्थ है दो रजोदर्शनों के मध्य का काल। वह चाहे दिनों की संख्या से कितना ही न्यूनाधिक क्यों न हो।

अब हम इस बात की विवेचना करेंगे कि बालक उपर्युक्त नियम मानी जानेवाली २७०-२८० दिन की अवधि से पूर्व और पश्चात् क्यों होता है और उस न्यूनाधिक काल में १० मास की अवधि कैसे पूरी होती है।

आयुर्वेद के अनुसार शुद्ध रजोदर्शन का काल २७, २८ दिन का है। इससे न्यूनाधिक दिनों में होनेवाला रजोदर्शन वैकारिक कहाता है, उसमें प्रायः गर्भस्थिति की सम्भावना नहीं मानी जाती। गर्भ सर्वथा ही न रहता हो ऐसी बात भी नहीं है। न्यूनाधिक काल में रजोदर्शन होने पर भी कभी-कभी गर्भ की स्थिति हो जाती है, बालक भी स्वस्थ तथा दीर्घायु होते हैं। इस प्रकार दो रजोदर्शनों में न्यून-से-न्यून तथा अधिक-से-अधिक कितने दिनों का अन्तर होने पर भी गर्भ-स्थिति हो सकती है, इसका साक्षात् विवेचन मुझे किसी आयुर्वैदिक ग्रन्थ में नहीं मिला। (जहां तक मैंने देखा है)। धर्मशास्त्रों के अध्ययन से इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है। तदनुसार दो रजोदर्शनों के मध्य में न्यूनातिन्यून १६ दिन का अन्तर होने तक गर्भ-स्थिति की सम्भावना रहती है, उससे कम होने पर गर्भ सर्वथा नहीं रहता।

धर्मशास्त्रों के अशौच-प्रकरण में रजोदर्शन-सम्बन्धी शुद्धि की भी विवेचना की है। अङ्गिरा-स्मृति (१।१२७) में लिखा है—

आद्वादशाहान्नारीणां मूत्रवच्छौचमिष्यते।
अष्टादशाहात् स्नानं स्यात् त्रिरात्रं परतोऽशुचिः॥

अर्थात् प्रथम रजोदर्शन के १२वें दिन तक रजोदर्शन होने पर मूत्रवत् जलस्पर्श मात्र से शुद्धि होती है और १८ वें दिन तक स्नान मात्र से। १८ दिन के अनन्तर तीन रात के पश्चात् शुद्धि होती है।

पराशरमाधवी भाग ३ पृष्ठ १६५ में किसी धर्मशास्त्र का निम्न वचन उद्धृत है—

अष्टादशदिनादूर्ध्वं स्नानप्रभृतिसंख्यया।
यद्रजस्तु समुत्पन्नं तत्कालोत्पन्नमिष्यते॥

अर्थात् पूर्व रजोदर्शन के स्नान के अनन्तर १८ दिन के बाद जो रजोदर्शन हो, वह कालोत्पन्न अर्थात् स्वाभाविक कहा जाता है।

इसी प्रसङ्ग में माधवाचार्य ने (पराशरमाधवीय भाग ३ पृष्ठ १६६ में) लिखा है—

यस्याः कस्याश्चिद धातुस्वभावविशेषाद विंशतिरात्रादिकः कालविशेषः प्रतिनियतो भवति [स कालोत्पन्न इष्यते]।

अर्थात् जिस स्त्री को स्वभाव से प्रथम रजोदर्शन दिन के २०वें या उसके बाद जो रजोदर्शन होता है, वह कालोत्पन्न कहलाता है।

इसे 'कालोत्पन्न' कहने से विदित होता है कि न्यूनातिन्यून १९ दिन के बाद जो स्वाभाविक रजोदर्शन होगा उसमें गर्भस्थिति होगी। अङ्गिरा मुनि के मत में १८वें दिन के पश्चात् रजोदर्शन होने पर तीन रात रजस्वला के लिये शास्त्र विहित नियमों का पालन करना होता है। इन नियमों का उल्लेख धर्मशास्त्र और चिकित्सा-शास्त्र समानरूप से करते हैं और इन नियमों का उल्लङ्घन करने से गर्भ में क्या-क्या विकृतियां होती हैं, इसका स्पष्ट निर्देश करते हैं (देखो—सुश्रुत शारीर स्थान २।२१) इसलिये १८ दिन या २१ दिन के पश्चात् होनेवाले रजोदर्शन की तीन दिन में शुद्धि का विधान करना अर्थात् तीन रात तक रजस्वला के नियम-पालन का आदेश देना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इस अवधि के रजोदर्शन में गर्भस्थिति हो सकती है और १९ दिन से न्यून दिनों में रजोदर्शन होने पर गर्भस्थिति की कुछ भी सम्भावना नहीं है। इस प्रकार धर्मशास्त्रों के उपर्युक्त वचनों से सिद्ध होता है कि गर्भस्थिति के योग्य रजोदर्शन की अल्पतम अवधि १९ दिन की है।

गर्भस्थिति के योग्य रजोदर्शन की अधिकतम अवधि कितनी है, इसका निर्देश न आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलता है और न धर्मशास्त्रों में, परन्तु रक्तगुल्म चिकित्सा-प्रकरण से विदित होता है कि गर्भस्थिति-योग्य रजोदर्शन की अधिकतम अवधि ३६ दिन की है।

चरक तथा सुश्रुत में रक्तगुल्म की चिकित्सा में कहा है—

स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः। (चरकचिकित्सा० ५।१८)

सुश्रुत में दस मास की सीमा न बांधकर सामान्यतया कहा है—

भवन्ति लिङ्गानि च गर्भिणीनां तं गर्भकालातिगमे चिकित्स्यम्।
असृग्भवं गुल्ममुशन्ति तज्ज्ञाः ॥ (उत्तर तन्त्र ४२।१४)

अर्थात् रक्तगुल्म रोग में अनेक लक्षण गर्भिणी के होते हैं। अतः उसकी चिकित्सा गर्भकाल के व्यतीत होने पर करनी चाहिये।

गर्भिणी और रक्तगुल्मिनी के कुछ लक्षणों की भिन्नता होने पर भी अनेक लक्षणों में समानता होती है। कभी भूल से गर्भिणी को रक्तगुल्मिनी समझ कर उसके भ्रूण की हत्या न हो जाय इसलिये गर्भकाल तक रक्तगुल्मिनी की चिकित्सा वर्जित है।

चरक-शारीर स्थान अ० २ श्लोक १५ के अनुसार कभी-कभी बालक की उत्पत्ति एक वर्ष (१२ मास) में भी होती है। अतः रक्तगुल्मिनी की चिकित्सा सामान्यतया गर्भकाल=१० मास व्यतीत होने पर (क्योंकि प्रायः बालक ९ मास १० दिन तक उत्पन्न होते हैं) तथा विशेष संदेहावसरपर १२ मास के अनन्तर करनी चाहिये, ऐसा चिकित्सकों का मत है।

इससे यह व्यक्त है कि १२ मास के ३६० दिनों में भाग देने से ३६ दिन के रजोदर्शन की वह अधिकतम अवधि निकलती है, जिसमें गर्भस्थिति की सम्भावना हो सकती है।

इसकी उपपत्ति एक अन्य प्रकार से भी की जा सकती है। जब शुद्ध रजोदर्शनकाल(२७, २८ दिन) से ८ या ९ दिन पूर्व तक रजोदर्शन होने पर गर्भस्थिति की सम्भावना धर्मशास्त्रकारों ने मानी है, तब २७, २८ दिन दिन से ९ या ८ दिन बाद तक होनेवाले रजोदर्शन में भी गर्भस्थिति की सम्भावना मानी जा सकती है।

अब केवल एक ही प्रश्न शेष रह जाता है। वह यह कि जिस स्त्री को जितने दिनों में रजोदर्शन होता है, उसका उतने दिनों का एक मास मानकर तदनुसार १० मास में बालक का जन्म क्यों होता है, अर्थात् ९ मास (२७० दिन) से पूर्व ही बालक प्रसवयोग्य पूर्ण कैसे हो जाता है ?

इसके समाधान के लिये आवश्यक है कि स्वस्थ स्त्री को २७-२८ दिन से पूर्व तथा पश्चात् रजोदर्शन क्यों होता है ? इस पर विचार कर लिया जाय।

जिस स्त्री की प्रकृति पित्तप्रधान होती है या शरीर में रक्त की अधिकता होती है, उस स्त्री को २७-२८ दिन से पूर्व ही रजोदर्शन हो जाता है तथा जिस स्त्री की प्रकृति कफप्रधान होती है या शरीर में रक्त की न्यूनता होती है, उसको २७-२८ दिन के पश्चात् रजोदर्शन होता है।

अतएव माधवाचार्य ने लिखा है—

यस्याः कस्याश्चिद् धातुस्वभावविशेषाद् विंशतिरात्रादिकः कालविशेषः प्रतिनियतो भवति [स कालोत्पन्न इष्यते]। (पराशरमाधवीय भाग ३ पृष्ठ १६६)

इसमें '**धातुस्वभावविशेषात्**' पद ध्यान देने योग्य है। इसके अतिरिक्त यदि किसी स्त्री को रोगविशेष या द्रव्यविशेष के भक्षण से न्यूनातिकाल में रजोदर्शन होता है, तो वह वैकारिक कहा जाता है (द्र०—पराशरमाधवीय भाग ३ पृष्ठ १६५-१६६)। यदि यह वैकारिक रजोदर्शन भी इतना अधिक दूषित न हो जिससे गर्भस्थिति ही न हो सकती हो, तब वैकारिक रजोदर्शन की अवस्था में भी गर्भ रह जाता है। यद्यपि यहां हमें इसके विषय में विचार नहीं करना है तथापि वैकारिक रज के कारण भी बालकों की उत्पत्ति न्यूनाधिक काल में हो सकती है।

अब केवल इस बात का उत्तर देना शेष है कि स्वाभाविकरूप से न्यूनाधिक काल में रजस्वला होनेवाली स्त्री का गर्भ उसी अनुपात से न्यूनाधिक काल में कैसे पूर्ण होता है ?

लोक में स्पष्ट देखा जाता है कि अत्युष्ण और अतिशीत देश के निवासियों में बाल, युवा आदि के लक्षणोत्पत्ति तथा शरीर-संस्थान में भिन्नता होती है। अत्युष्ण प्रदेश के बालक में युवावस्था के लक्षण शीतप्रधान देश के बालक की अपेक्षा शीघ्र प्रकट होते हैं। और शीतप्रधान देश के बालक में कुछ विलम्ब से होते हैं। यतः उष्णप्रधान देश के बालकों की युवावस्था का आरम्भ शीघ्र होता है, इस कारण उनका शरीर भी उतना नहीं बढ़ पाता जितना शीतप्रधान देश के बालक का बढ़ता है, क्योंकि उन्हें शरीर-वृद्धि के लिये उतना समय ही नहीं मिलता। यह प्रत्येक किसान जानता है कि जिस खेत में अन्न उचित काल की अपेक्षा विलम्ब से बोया जाता है उसके अन्न को परिपाक के लिये पूरा समय न मिलने से अपेक्षाकृत छोटा रह जाता है। इसी प्रकार उष्णप्रधान देश की कन्या शीतप्रधान देश की कन्या की अपेक्षा कुछ काल पूर्व ही रजस्वला हो जाती हैं।

जिस प्रकार उष्णता और शीतता का प्रभाव मनुष्यों पर पड़ता है, वैसा ही वहां की वनस्पतियों पर भी देखा जाता है। हिमाच्छादित प्रदेश में बोया गेहूं वैशाख या ज्येष्ठ मास में जाकर पकता है। इसलिये जैसा बाह्य उष्णता या शीतता का प्रभाव मनुष्य के शरीर पर पड़ता

है, उसी प्रकार गर्भगत बालक के शरीर की रचना पर भी माता की पित्तप्रधान या कफप्रधान प्रकृति का प्रभाव पड़ता है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि जिस स्त्री को पित्तप्रधान होने के कारण रजोदर्शन जितना शीघ्र होगा, उतना ही गर्भगत बालक के शरीर की रचना तथा पूर्णता में शीघ्रता होगी। इसी प्रकार कफप्रधान प्रकृतिवाली स्त्री को जितने दिन पश्चात् रजोदर्शन होता है, उतना ही अधिक काल उसके गर्भगत बालक के शरीर की रचना तथा पूर्णता में लगता है। यह बात अन्य लौकिक दृष्टान्त से भी समझायी जा सकती है। दो विभिन्न चूल्हों पर तवे पर रोटियां डालने पर दोनों में से जिस चूल्हे की अग्नि जितनी तेज होगी उसकी रोटी पकने में उतना ही काल कम लगेगा।

इस नियम के अनुसार जिस स्त्री को जितने दिनों में रजोदर्शन होता है, उतने दिनों का एक महीना मानकर उसे दस से गुणा करने पर जितने दिन उपलब्ध होंगे उतने ही दिनों में उसके बालक का प्रसव होगा। इसलिये जिस स्त्री को बीस दिन में रजोदर्शन होता है, उसके गर्भस्थिति के २०० दिन (छः मास बीस दिन) पश्चात् जो प्रसव होगा वह कालोत्पन्न होगा।

इसी दृष्टि से धर्मशास्त्रकारों ने गर्भपात की अवधि षष्ठमास तक ही मानी है।
यथा—**आचतुर्थाद् भवेत्स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः।**

इस मीमांसा से यह भली प्रकार सिद्ध हो गया कि गर्भकाल की अवधि पूर्ण दस मास है। इसीलिये भगवती श्रुति ने कहा है—**दशमे मासि सूतवे।**

परन्तु इस दस मास की अवधि की गणना लौकिक मास से नहीं करनी चाहिये, अपितु स्वस्थ स्त्री के दो रजोदर्शन के मध्य में जितने दिनों का अन्तर हो, उसे एक मास मानकर दस मास की गणना करनी चाहिये। इस प्रकार यदि दिन, घण्टे और मिनटों की भी पूरी-पूरी गणना करके उसे दस से गुणा किया जाय तो प्रसवकाल की निश्चित अवधि का ज्ञान हो सकता है।

यहां यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि जो बालक गर्भ में जितने दिन कम रहेगा वह उतना ही निर्बल और ह्रस्वकाय होगा। तथा जो बालक गर्भ में जितने दिन अधिक रहेगा उतना ही पुष्ट होगा, परन्तु यह नियम स्वस्थ स्त्री के विषय में है। अस्वस्थ होने से या उचित खान-पान न मिलने से अधिक काल में प्रसूत बालक भी निर्बल होता है। इसी प्रकार स्त्री के निर्बल या खान पान की उचित व्यवस्था न होने से जो बालक नियमानुसार सप्तम मास में होगा वह उचित मर्यादा से अधिक निर्बल होने के कारण तत्काल या कुछ काल बाद मर जायेगा।

इसी प्रसङ्ग से हम अन्त में विद्वानों का ध्यान एक और बात की ओर आकृष्ट करके इस लेख को समाप्त करते हैं।

काल-गणना में सौर तथा चान्द्र मास तथा वर्ष का व्यवहार तो लोक-प्रसिद्ध है ही, परन्तु प्राचीनकाल में एक मानुष मास और वर्ष का भी प्रयोग होता था। मैं चिरकाल तक नहीं समझ पाया कि यह मानुष वर्ष क्या है? परन्तु वायुपुराण के कतिपय श्लोकों से यह ग्रन्थी भी सुलझ गयी। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

सप्तविंशतिपर्यन्ते कृत्स्ने नक्षत्रमण्डले।

सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं शतम् ॥
सप्तर्षीणां युगं ह्येतद् दिव्यया संख्यया स्मृतम् ॥ (अध्याय ९, श्लोक ४१९)।
त्रीणि वर्षसहस्राणि मानुषेण प्रमाणतः ।
त्रिंशद् यानि तु वर्षाणि मतः सप्तर्षिवत्सरः ॥ (अध्याय ५७, श्लोक १७)।

इन श्लोकों में सप्तर्षि-युग की दिव्य और मानुष वर्ष से गणना दिखलायी है। अर्थात् एक सप्तर्षि युग में सत्ताईस सौ (२७००) दिव्य वर्ष या तीस सौ तीस (३०३०) मानुष वर्ष होते हैं।

पुराणों तथा प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में जहां कहीं दिव्य वर्ष का प्रयोग हुआ है, वह सौर वर्ष ही है, यह भी इसी श्लोक से व्यक्त है। ज्यौतिष-शास्त्र के अनुसार सप्तर्षि युग सत्ताईस सौ वर्षों का ही माना गया है, उसे ही प्रथम श्लोक में दिव्य-पद से विशेषित किया है, अतः दिव्य और सौर वर्ष पर्यायवाची हैं।

उपर्युक्त श्लोकों में दिखलाई गई दिव्य, सौर और मानुष वर्षों की संख्या की तुलना करने पर मानुष-वर्ष तीन सौ पचीस दिन पांच घंटे छप्पन मिनट २६ $\frac{१४}{१०१}$ सेकण्ड (अर्थात् लगभग तीन सौ पचीस दिन और छः घंटे) का ठहरता है। यदि इस काल को बारह से भाग किया जाय तो एक मास सत्ताईस दिन दो घंटे २९ मिनट ४२ $\frac{१८}{१०१}$ सेकण्ड के बराबर होता है।

मानुष-मास के काल की स्वस्थ स्त्री के उचित समय पर होनेवाले रजोदर्शन काल से पूरी समानता है। इस समानता से यह भी स्पष्ट हो गया कि मानुष-मास की गणना स्वस्थ स्त्री के उचित काल में होनेवाले दो रजोदर्शन के मध्यवर्ती काल के आधार पर ही की गयी है। इसलिये दिव्य सौर वर्ष का सम्बन्ध सूर्य (द्युलोक) के साथ है, चन्द्र वर्ष का सम्बन्ध चन्द्र (पितृलोक) के साथ है, उसी प्रकार मानुषवर्ष का सम्बन्ध मनुष्य-जाति-अन्तर्गत स्त्री-जाति में नियत समय पर होनेवाली स्वाभाविक (प्राकृतिक) घटना के साथ है, अतएव ये वर्ष दिव्य, पितृ और मानुष नाम से व्यवहृत होते हैं।

इस मानुष मास में दस का गुणा करने पर लगभग दो सौ बहत्तर दिन का काल होता है, यह सामान्यतया माने जानेवाले गर्भ काल से भी मिल जाता है।

इस सारी मीमांसा से पाठकों को ज्ञात हो गया होगा कि श्रुति का **'दशमे मासि सूतवे'** वचन कितना सत्य है। वेद में जितना भी ज्ञान दिया है यह सब सामान्य धर्म को मानकर दिया है। अतएव मीमांसादर्शन में लिखा है—

परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्। (अ० १, पाद १)

जब भी हम किसी श्रुतिवचन की मीमांसा किसी लोकप्रसिद्ध या रूढि को मानकर करते हैं, तभी उसमें पदे-पदे कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं और श्रुति-वचन की तथ्यता भी समझ में नहीं आती। इसलिये वेद के पदों का यौगिक प्रक्रिया के अनुसार ही अर्थ करना चाहिये, यही प्राचीन आचार्यों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

आशा है पाठकों को 'बालक के गर्भवासकाल की इस मीमांसा से अवश्य ही कुछ लाभ होगा।' इत्यलं बुद्धिमद्वर्येषु।

[वेदवाणी—मई १९५५]

वेदों में पुनरुक्ति दूषण नहीं भूषण है

[संकलनकर्ता—अर्जुनदेव स्नातक, ५ सीताराम भवन फाटक, आगरा केण्ट २८२००१]

विषय दुरूह है, इस पर लिखना मुझ जैसे अल्पज्ञ के लिए कठिन है फिर भी विचार आया, विचारों की सार्थकता के लिए प्रयास शुरू हुआ। जो कुछ विद्वानों ने लिखा उसे अपने ढंग से संकलन किया।

मैं अधिकांशतः सामान्य पाठकों की दृष्टि से लिखने का विचार करता हूं जो संस्कृतज्ञ नहीं होते हैं, सामान्य स्वाध्यायी होते हैं और फिर मञ्चशूर भी हो जाते हैं। ऐसे लोग ही वेदों में पुनरुक्ति दोष मानते हैं क्योंकि वे स्वाध्यायशूर, अपरञ्च मननशूर भी नहीं होते हैं। ऐसे पाठकों की दृष्टि से लेख लिखने का विचार था।

अकस्मात् एक दिन हमारे अभिन्न हृदय परम स्नेही आचार्य जी आये, उनके सामने सहज भाव से मैंने वेदों में पुनरुक्तिविषयक चर्चा की तो सुनकर आश्चर्यम्, महद् आश्चर्यम् की अनुभूति उनके एतद्विषयक विचार जानकर हुई। वे बोले—"वेदों में पुनरुक्ति दोष है–आयु-वृद्धि की प्रार्थना एक बार बहुत थी, अनेक बार हुई है, मन्त्रों की आवृत्ति है, भावों की भी पुनरावृत्ति है, साथ संक्षेपीकरणवाली भी बात नहीं है—द्यौः शान्ति के मन्त्र में प्रत्येक बार शब्दोच्चारण (शान्ति का प्रयोग) अनावश्यक है, द्यौः अन्तरिक्ष पृथ्वी आदि एक साथ कहकर शान्ति लिखनी चाहिए, गायत्री मन्त्र की पुनरावृत्ति है—वहां उनके पृथक्-पृथक् अर्थ सम्भव नहीं है। यह पुनरावृत्ति प्राप्त शाखाओं में है—हो सकता है-मूल वेद में ऐसा न हो।" आदि अनेक बातें उन्होंने वेदों में पुनरुक्ति के समर्थन में कहीं।

उनके इन विचारों को सुनकर हमें यह अनुभव हुआ कि अनेक विद्वानों में भी एतद्विषयक संशय है। आचार्यप्रवरजी का हार्दिक धन्यवाद है जिनके विचारों को सुनकर इस विषय में लिखना चाहिए का विचार सशक्त हुआ। स्वाध्याय किया-संकलन आपके सामने है।

मनुष्य विचारों का पुतला है। अनेक प्रकार के विचार उठते रहते हैं। इन विचारों को अभिव्यक्त करने का साधन भाषा है। भाषा के मुख्य तीन तत्त्व हैं—१. शब्द २. अर्थ ३. भाव। शब्द शरीर है, अर्थ को प्राण कह सकते हैं तो भाव आत्मा है। जिस प्रकार शरीर में आत्मा की प्रधानता है—वैसे ही भाषा में भाव की प्रधानता है। साहित्यिक विचार से भाषा के तीन तत्त्व-अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना हैं। अर्थ-बोध की स्पष्टता अभिधा है। लक्षणा, व्यंजना में अर्थ तो गौण रहता है—भाव ही मुख्य होता है। व्यवहार में—'रिक्शा इधर आ' का प्रयोग करते हैं–लक्षणा से तात्पर्य निकालेंगे की रिक्शेवाले को बुला रहे हैं। यहां बाल की खाल निकालें कि रिक्शा जड़ है आप कैसे बुला रहे हैं आदि वितण्डावाद के दूषण में फंसेंगे। यहां तो भाव मुख्य है–यह आत्मा है, शब्द-अर्थ तो साधनमात्र है। इससे यह बोध हुआ कि मात्र अभिधावृत्ति नहीं अपितु लक्षणा, व्यंजना का ज्ञान भी आवश्यक है। सामान्य व्यवहार में भी लक्षणा, व्यंजना की आवश्यकता है तो साहित्य तथा वेदों को समझने में तो इसका बोध अत्यावश्यक है। भाषा कोई भी हो विश्व की

समस्त भाषाओं में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना वृत्तियां प्राप्त होती हैं। एक सामान्य उदाहरण बोध के लिए पर्याप्त होगा—

(क) कल्पना करें–कुछ नवयुवक दर्शनीय स्थान पर भ्रमणार्थ गये, आपने पूछा कैसे गये—वे बोले "खूब खाते पीते गये"।

(ख) एक पिता ने पुत्री का विवाह किया। आपने पूछा कैसा घर मिला ? उत्तर में—"खूब खाता पीता घर मिला"।

(ग) परिवार ने पुत्री के लिए लड़का देखा, लड़का योग्य सुन्दर था, घर सम्पन्न भी था, फिर भी परिवारवालों ने विवाह नहीं किया। विवाह न करने का कारण पूछा तो उत्तर मिला—"अजी घर में सब खाने-पीनेवाले लोग हैं"।

उक्त उदाहरण में—"खाते पीते" का तात्पर्य क—में मौज से गये, ख—में सम्पन्न घर मिला तथा ग—में शराबी या विलासी लोग हैं, अत: विवाह नहीं किया।

हमारे विज्ञ पाठक यह तो समझ गये होंगे—

१. उच्चारण में स्वरभेदमात्र से एक ही शब्द, शब्द-समूह या वाक्य में अर्थ-भेद अर्थात् भाव-भेद प्राप्त होता है।

२. प्रसङ्गानुसार भी अर्थ या भाव में अन्तर प्राप्त होता है।

३. वक्ता-श्रोता में अपने-अपने विचारानुसार भावों में अन्तर आता है।

४. ग्रन्थ के विषय या शीर्षक के अनुसार अर्थ या भाव न ग्रहण करने से भी अन्तर आता है। आदि।

इस प्रकार हमें यह बोध तो हो गया होगा कि सामान्य से सामान्य बातों में लक्षणा, व्यञ्जना से भाव-बोध के लिए सामान्येतर ज्ञान की आवश्यकता है। वेद की संस्कृत लौकिक-संस्कृतानुसारी अर्थबोधात्मक नहीं है। उसके लिए अतिविशेष ज्ञान की अपेक्षा है। वस्तुतः वेदों व आर्षज्ञान के प्रति सन्देह नहीं करना चाहिए, श्रद्धा रखनी चाहिये। वेदों में प्राप्त पुनरुक्ति-दोष-निवारणार्थ सूक्ष्म दृष्टि से गहन विवेचना करनी चाहिये। महाभाष्यकार ने ठीक ही लिखा है—

"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सं‍देहाद् अलक्षणम्"

अर्थात् सन्देहमात्र से उसको विपरीत समझकर (दोषान्तर्गत न समझकर) व्याख्यान के द्वारा विशेषार्थ के ज्ञान का प्रयत्न करना चाहिए।

हम महाभाष्यकार के इन वचनों पर आस्था रखते हुए महर्षि के वचनों व वेदों के प्रति श्रद्धा भाव से चिन्तन करते हैं।

वेदों में पुनरुक्ति प्रकार

वैसे वेदों में पुनरुक्ति कई रूपों में प्राप्त होती है–संक्षेप से उसके मुख्य रूप निम्न हैं—

१. सम्पूर्ण सूक्त की पुनरुक्ति।

२. दो तीन या अधिक मन्त्रों की क्रमानुसार पुनरुक्ति।

३. कहीं-कहीं एक ही मन्त्र की पुनरुक्ति। ४. मन्त्रांश की पुनरुक्ति।
५. भावों की पुनरुक्ति।

"**पश्य देवस्य काव्यम्०**" के अनुसार वेद भी एक काव्य ग्रन्थ है। तदनुसार लौकिक काव्य शास्त्रियों की दृष्टि से पुनरुक्ति पर विचार करना उत्तम होगा। वैसे भी—"**वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्-पृथक् संस्थाश्च निर्ममे**"।

मनु के वचनानुसार काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का मूल भी वेद ही है। 'वेद स्वतः प्रमाण है' के अनुसार वेदानुकूलता ही उसमें ग्रहण करने योग्य है। साहित्यिक दृष्टि से पुनरुक्ति दोष—

"**प्रयोजनशून्यत्वे पदवाक्ययोः पुनःपुनः कथनं पुनरुक्तिदोषः**"

बिना प्रयोजन के शब्द वा वाक्य का वार-वार बोलना पुनरुक्ति दोष है, परन्तु प्रयोजनवश बोलना दोष नहीं।

आचार्य भामह एवं दण्डी के शब्दों में—

भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद् विदुः॥ काव्यालङ्कार १।१४॥
अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद् विवक्ष्यते।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलङ्क्रिया॥ काव्यादर्श ३।१३७॥

अर्थात् भय, शोक, असूया, हर्ष, विस्मय, अनुकम्पा, शीघ्रता, उत्साह आदि में पुनरुक्ति दोषावह नहीं है, अपितु शास्त्रसम्मत है। ऐसी पुनरुक्ति को आचार्य दण्डी अलङ्क्रिया कहकर उसे 'शोभा' मानते हैं।

हमारे विज्ञ पाठक आचार्य भामह एवं दण्डी के प्रमाणों को या इनके वचनों को आर्ष प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार नहीं करेंगे। तो आइये इस विषय में आर्ष प्रमाण भी देखते हैं—

न्यायदर्शनकार ने पूर्वपक्ष के रूप में सूत्र लिखा है—

"**वेदाप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः**" २।१।५७॥

आगे पूर्वपक्ष में ही अनुवाद और पुनरुक्ति में कोई अन्तर नहीं यह सिद्ध करते हुए एक अन्य सूत्र लिखा है—

'**नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः**' २।१।६६॥

उत्तरपक्ष में न्यायदर्शनकार लिखते हैं—'**शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः**' २।१।६७

इस सूत्र का भाष्य करते हुए वात्स्यायन मुनि लिखते हैं—

'**समानेऽप्यभ्यासे पुनरुक्तमनर्थकम्; अर्थवानभ्यासोऽनुवादः शीघ्रतरगमनोपदेशवद**'

तात्पर्य यह है कि जहां शब्दाभ्यास सप्रयोजन है, वहां पुनरुक्ति दोष नहीं होता। निरर्थक अभ्यास होने पर ही पुनरुक्ति होती है।

न्याय दर्शन का प्रस्तुत सूत्र भी वेदों में पुनरुक्ति की सार्थकता वर्णित कर रहा है—

"**मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्**" अ० २ आ० १ सू० ६७।

इस सूत्र के अनुसार आयुर्वेद में एक बार औषध का नाम लिखकर गुण-दोष बताये जाते हैं। दूसरी बार रोग निवारणार्थ उसी औषध का नाम पुनः लिया जाता है। तीसरी बार औषधियों को मिलाते समय पुनः औषध नाम गृहीत होता है। चौथी बार औषध के प्रयोग समय पुनः औषध का नाम स्मरण किया जाता है। इस प्रकार एक ही औषध का नाम चार बार गृहीत होने से दूषण नहीं भूषण है—इसी प्रकार पृथक् विषय, पृथक् सन्दर्भ, पृथक् अर्थवाले या एकार्थवाले मन्त्र पुनरुक्त होने पर भी दोषयुक्त नहीं हैं।

मीमांसा दर्शन १।२।४१ का सूत्र है—**'गुणार्थेन पुनः श्रुतिः'**।

गुणवाद के कारण पुनर्वचन गुण माना जाता है। जैसा कि जप आदि में एक ही मन्त्र अथवा ओ३म् का उच्चारण दोषावह नहीं होता है।

आचार्य यास्क ने निरुक्त में इस विषय में तीन मत दिये हैं—

१. तद्यत् समान्यामृचि समानाभिव्याहारं भवति, तज्जामि भवतीत्येकम्। 'मधुमन्तं मधुश्चुतम्' इति यथा।

२. यदेव समाने पादे समानाभिव्याहारं भवति, तज्जामि भवतीत्यपरम्। 'हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्' इति यथा।

इन दो पूर्वपक्षों को उपस्थित करके तृतीय उत्तर पक्ष में वेदों में पुनरुक्ति का निषेध करते हैं—

३. यथाकथा च विशेषोऽजामि भवतीत्यपरम्। मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव' इति यथा। निरुक्त अ० १० खण्ड १६।

१. प्रथम पक्ष एक ही मन्त्र में समानार्थक पद को पुनरुक्ति मानता है।

२. द्वितीय पक्ष एक ही मन्त्र में एक ही पाद में समानार्थक पद आने पर पुनरुक्ति स्वीकार करता है।

आचार्य यास्क इन विचारों को अस्वीकार करते हुए ऋग्वेद ४।५७।२ में आये—**'मधुमन्तं मधुश्चुतम्'** के विषय में स्पष्ट करते हैं मधुमय पदार्थ मधुश्चुत्-मधु झरनेवाला हो यह आवश्यक नहीं।

इसी प्रकार ऋग्वेद २।३५।१० में आये **'हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्'** के विषय में कहा जा सकता है कि यह आवश्यक नहीं जो सुनहरे रूपवाला हो वह सुनहरा दिखाई दे। शत्रु भले ही सुन्दर हो सुरूप हो पर वह कुरूप ही दिखाई देता है।

तृतीय पक्ष सिद्धान्त पक्ष है आचार्य यास्क के अनुसार पुनरुक्त में अभिप्राय विशेष अवश्य होता है। निरुक्तकार प्रदत्त उदाहरण ऋ० १०।१६६।५ का है—

योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम्।
अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव॥

इस मन्त्र का देवता 'सपत्नघ्न' है। राजा राजद्रोहियों से कहता है—"मैं तुम्हारे योगक्षेम को छीनकर उत्तम राजा हो जाऊंगा। मैं तुम्हारे मुखिया को कुचल डालूं। जैसे मेढक जल में रह

कर बोलते हैं, वैसे तुम मेरे नीचे रहकर बोलो। यहां उपमा में जो अर्थगाम्भीर्य निहित है—वह स्वल्प स्वाध्यायी की समझ से बाहर है। यहां उपमावाची 'इव' दो के साथ है प्रथम मण्डूक के साथ, दूसरा उदकात् के साथ। मेरे आधीनता में रहते हुए मेढक के समान हर्ष से बोल सकते हो। दूसरे में उदकात् इव है अर्थात् जैसे जल में नीचे रहते मेंढक बोलते हैं वैसे ही तुम लोग मेरी आधीनता में ही रहकर बोल सकते हो।

आगे चलकर यास्क ने अ० १० खण्ड ४० में जो लिखा है उससे अनेकशः पुनरुक्तियों का समाधान हो जाता है—

'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते, यथा अहो दर्शनीया, अहो दर्शनीया' इति।

अर्थात् कहीं कहीं पुनरुक्ति से अर्थ में बड़ा चमत्कार आ जाता है, एक बार कहने से वह भाव नहीं बन पड़ता है।

महर्षि दयानन्द का वेदभाष्य

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य का सूक्ष्म अध्ययन करने से यह सरलता से बोध हो जाता है कि वे भी पूर्वाचार्यों के समान वेदों में पुनरुक्ति स्वीकार नहीं करते हैं। उदाहरण के लिए—

स्वाहा मरुद्भिः परिश्रीयस्व दिवः सꣳस्पर्शस्पाहि। मधु मधु मधु॥ यजु० ३७।१३।

यहां ऋषि ने मधु के क्रमशः पृथक्-पृथक् अर्थ-कर्म, उपासनम्, विज्ञानम् अर्थ करके पुनरुक्ति को सार्थक सिद्ध किया है।

सैंतीसवें अध्याय के अनेक मन्त्रों में—**'मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे'** की पुनरुक्ति विषय में लिखते हैं—**'अत्र पुनर्वचनमतिशायित्वद्योतनार्थम्'** अधिकता (अधिक महत्त्व) प्रकट करने के लिए है।

ऋग्वेद १।७।१ में 'इन्द्र' पद तीन बार प्रयुक्त है—

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत॥

यहां इन्द्रम्=परमेश्वरम्, इन्द्रम्=सूर्यम्, इन्द्रम्=महाबलवन्तं वायुम् ये तीनों अर्थ सार्थक हैं।

"अग्ने नय सुपथा०" मन्त्र यजुर्वेद में तीन बार आया है। ऋषि ने प्रकरणानुसार अलग अलग भावानुसार मन्त्रार्थ किये हैं।

महर्षि ने **"कस्मै देवाय हविषा विधेम"** के पृथक्-पृथक् अर्थ करके पुनरुक्ति को सार्थक किया है।

ऋग्वेद ज्ञान-प्रधान, यजुर्वेद कर्म-प्रधान, सामवेद उपासना-प्रधान तथा अथर्ववेद विज्ञान-प्रधान है तदनुसार अर्थ भी तत्तद् प्रधान होंगे—फिर पुनरुक्ति कहां?

यदि यह कहें कि एक ही वेद में एक ही मन्त्र पुनरुक्त है तो वह प्रसङ्गानुसार अर्थ की सार्थकता सिद्ध होती है। स्थालीपुलाक-न्याय से गायत्री-मन्त्र में समझ सकते हैं—ब्रह्मचारी ज्ञान-वृद्धि के लिए सत्कर्म में प्रवृत्त होने के लिए प्रार्थना करेगा। गृहस्थी परिवारपालनार्थ धनादि वृद्ध्यर्थ सत्कर्म चाहेगा। वानप्रस्थी त्याग की ओर अग्रसर होने के लिये सत्कर्म की प्रेरणा चाहेगा।

संन्यासी समस्त एषणाओं पर विजय पाने व सर्वभूतहिताय संलग्न रहनेवाली बुद्धि की कामना करेगा। इसी प्रकार राजा प्रजापालनार्थ उपासक उपासनामार्ग की सफलता के लिए श्रेष्ठ बुद्धि की प्रार्थना करेगा।

इस प्रकार और भी विचार करें तो वेदों में प्राप्त पुनरुक्तियां प्रसङ्गानुसार सार्थक सिद्ध होंगी दोषावह नहीं।

यजुर्वेद अध्याय २६ मन्त्र २ में स्पष्ट वर्णित है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।

'परमेश्वर कहता है कि जैसे मैं अपनी कल्याणकारिणी वेदवाणी का मनुष्यमात्र के लिए उपदेश करता हूं, वैसे तुम भी किया करो। मैंने ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों तथा अतिशूद्रों आदि सभी के लिए वेदों का प्रकाश किया है।'

इस मन्त्र द्वारा यह विदित होता है कि वेद ज्ञान विशेष, सामान्य, अति सामान्य एवं अति सामान्येतर बुद्धिवालों के लिए भी है। अतः वेद में आयु आदि की प्रार्थना कई स्थानों पर प्राप्त होती है तो इसमें आपत्ति क्या? सभी तो एक बार में समझने की सामर्थ्य कहां रख पाते हैं? ऋषि यजु० अ० ३६ मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं—

"अत्र पुनर्वचनमतिशायित्वद्योतनार्थम्"

अर्थात् पुनर्वचन (पुनरुक्ति) अधिकता प्रकट करने के लिए है।

ऋग्वेद ७।१०।१ के मन्त्र में आचार्य सायण की मान्यता है—**"भूयस्त्वज्ञापनाय प्रयुक्ता-इति न पुनरुक्तिः"**।

ऋग्वेद ८।६६।१५ में आचार्य सायण स्वीकार करते हैं—**"पुनरुक्तिर्दार्ढ्यार्था"**।

इस सब के आधार पर हम तो यही कहेंगे कि न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, निरुक्त में आचार्य सायण और महर्षि दयानन्द भी वेदों में पुनरुक्ति स्वीकार नहीं करते हैं, प्राप्त पुनरुक्तियों को भूषण ही सिद्ध करते हैं फिर हम स्वल्प ज्ञानी, स्वल्प स्वाध्यायी के लिए ऐसी शङ्का करना निर्मूल है।

हमारे परम हितैषी सम्माननीय आचार्य जी की एक आपत्ति का निराकरण तो रह ही गया। उनकी आपत्ति 'द्यौ शान्ति०' के मन्त्र में आगत बार-बार शान्ति शब्द की है। उनके विचारानुसार मन्त्र इस प्रकार होना चाहिए—

"द्यौः अन्तरिक्षं पृथिवी आपः ओषधयः वनस्पतयः विश्वेदेवाः ब्रह्म सर्वं शान्तिः०"।

वेद एक काव्य है—**'पश्य देवस्य काव्यम्' 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** हमारे विचार से बार-बार शान्ति के प्रयोग में जो रस है वह सरसता एक बार शान्ति उच्चारण में कहां?

सन्ध्या में आये प्रसिद्ध मन्त्र—**"तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्०"** ऋ० ७।६६।१६॥ 'शरदः शतम्' बार-बार आने पर भी आचार्य जी को आपत्ति होनी

चाहिए, उनकी दृष्टि में यह व्यर्थ की पुनरुक्ति है। आचार्य सायण इस मन्त्र में—"**पुनः श्रुतिरादरार्था**" कहकर इस पुनरुक्ति में भूषण सिद्ध करते हैं।

ऐसे ही 'द्यौः शान्ति' मन्त्र में शान्ति शब्द की 'पुनः श्रुतिरादरार्था' स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

वैसे भी द्यौ में, अन्तरिक्ष में, पृथिवी में, आपः आदि में पृथक्-पृथक् अशान्ति के भाव हैं। अतः अलग-अलग सबके साथ शान्ति का प्रयोग सर्वथा समीचीन है।

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि वेदों में जो पुनरुक्तियां प्राप्त होती हैं वे सदोष नहीं हैं अपितु उनके निम्न कारण हैं—

१. अर्थ की या भाव की विशेषता दर्शाना।
२. प्रसङ्गानुसार भिन्नार्थ प्रकट करना।
३. किसी विशेष बात पर ध्यान आकर्षित करना।
४. आलङ्कारिक वर्णन करना।
५. भिन्न प्रकरण में भिन्नार्थ बोध कराना।
६. उपदेशवृत्ति से पुनः कथन होना।
७. भिन्न प्रकरण होना।

श्री अरविन्द वेदों में पुनरुक्ति पर लिखते हैं—

"पुनरुक्ति तब त्याज्य और दोषयुक्त मानी जाती है जब वह भद्दी अनावश्यक, अर्थहीन और भाररूप हो। अन्यथा वेदों की तरह रहस्यमय कविता में भी वह दोषयुक्त नहीं मानी जाती और कवि जोर देने, किसी अपरिचित भाव को हृदय पटल में अङ्कित करने के लिए और एक विशेष प्रभाव का वातावरण बनाने, सौन्दर्य तथा प्रभाव बढ़ाने के लिए उसका अधिकतर प्रयोग करते हैं" इत्यादि।

(लिटर्स ओन सावित्री)

अन्त में एक और विशेष बात लिखकर इस लेख को समाप्त करेंगे—

"अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणः"

अर्धमात्रा मात्र बचत से व्याकरण-विशारद पुत्रोत्सव के समान प्रसन्नता मानते हैं। वेद काव्य है, इसमें इस दृष्टि से दोष ढूंढना उचित नहीं है।

'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'

वैशेषिक के इन विचारों के अनुसार सर्वज्ञ ईश्वरीय वाणी में दोष ढूंढना कहां सङ्गत हो सकता है? उसमें श्रद्धा भाव रखते हुए 'विशेष प्रतिपत्ति' विशेष ज्ञान की खोज कर उसे दोषमुक्त करने का प्रयास करना ही श्रेयस्कर है। महाभाष्यकार ने ठीक ही लिखा है—

"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहाद् अलक्षणम्"।

आयुर्वेद के एक मन्त्र पर विचार

[ले०—स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती, माडल टाउन, दिल्ली]

शरीर के पञ्चभूतों से बने और जीव के अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति होने से अयुक्त आहार-विहार आदि के कारण उसका कभी-कभी रोगों से आक्रान्त हो जाना सम्भव है। स्वस्थ व्यक्ति रोगी न हो और रोगी स्वस्थ हो जाए—यही चिकित्सा विज्ञान अथवा आयुर्वेदशास्त्र का प्रयोजन है। '**एतावदेव भैषज्यप्रयोगे फलमिष्टं स्वस्थवृत्तानुष्ठानञ्च यावद्धातूनां साम्यं स्यात्** (चरक, शरीर-स्थान अ० ६)।

ताण्ड्य महाब्राह्मण का वचन है—'**यत्किञ्चिद्वै मनुरवदत्तद् भेषजं भेषजतायाः।**' उन्हीं भगवान् मनु की मान्यता है—'**सर्वज्ञानमयो हि सः**'—मनुष्य के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार वेद है। इसलिए '**सर्वं वेदात् प्रसिध्यति**'—किसी विषय में कुछ जानना हो तो खोजने पर मूलरूप में वह वेद में मिल जाएगा। महर्षि गौतम ने वेदों के स्वतः प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिए न्यायदर्शन में कहा है—'**मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्**' (२।१।६८) अर्थात् वेद के अन्तर्गत जो आयुर्वेद भाग है उसके अनुसार कार्यानुष्ठान से अनुकूल फल की प्राप्ति सिद्ध है। इसमें उतने भाग का प्रामाण्य सिद्ध होने से आप्तप्रामाण्य को बल मिलता है और उसके आधार पर समस्त वेद का प्रामाण्य निश्चित हो जाता है। न्यायदर्शन के इस सूत्र में प्रकारान्तर से वेद में आयुर्वेद विषयक ज्ञान के उपलब्ध होने की स्थापना के साथ-साथ उसके अनुष्ठान के अनुकूल फल की प्राप्ति में आस्था व्यक्त की गयी है।

अथर्ववेद के मन्त्र समुदाय का नाम ब्रह्म है। इसलिए अथर्ववेद का अपर नाम ब्रह्मवेद है। स्वयं अथर्ववेद में इसकी अन्तःसाक्षी उपलब्ध है। अथर्ववेद (१५-६-८) में चारों वेदों का नामोल्लेख पूर्वक वर्णन करते हुए कहा है—'**तमृचः सामानि यजूंषि ब्रह्म चानुव्यचलत्।**' तदनुसार गोपथ ब्राह्मण में भी कहा गया—'**चत्वारो वै इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः**। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार '**अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्**'—अर्थात् अथर्ववेद को जानने वाला ही ब्रह्मा होता है। इस-लिए ब्राह्मणग्रन्थों की घोषणा है—'**अथर्ववा ब्रह्मा**'। इसका अभिप्राय यही है कि ऋग्वेद से लेकर अथर्ववेद तक चारों वेदों का जाननेवाला ब्रह्मा के पद का अधिकारी होता है। इसी से औपचारिक रूप में ब्रह्मा के चतुर्मुख रूप की कल्पना कर ली गई प्रतीत होती है। पुनः अथर्ववेद (११।६।१४) में 'ब्रह्म' के स्थान पर 'भेषज' पद रखकर कहा गया—'**ऋचः सामानि भेषजा यजूंषि**'। यही बात गोपथ ब्राह्मण (गो० पू० ३-४) में इन शब्दों में दुहराई गई—'**यद् भेषजं तदमृतं यदमृतं तद् ब्रह्म।**' इस प्रकार 'ब्रह्म' तथा 'भेषज' अथर्व के पर्यायवाची होते हैं। इस बात की पुष्टि करते हुए ताण्ड्य-महाब्राह्मण में स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया—'**भेषजं वा अथर्वाणि**' (१२-६-१०)। इस प्रकार चिकित्सा विज्ञान अथवा आयुर्वेद का अथर्ववेद से सीधा सम्बन्ध है। अथर्ववेद का ज्ञाता कितने आत्मविश्वास के साथ मृत्यु को आदेश देता है—'**कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः**' (अथर्व० ८।२।५)।

चरक, सुश्रुत और वाग्भट्ट आयुर्वेद के वृद्धत्रयी हैं। चरक संहिता (सूत्रस्थान अ० ३०) में प्रश्न उठा—'**कस्मादायुर्वेदः**' आयुर्वेद कहां से आया? इसके उत्तर में महर्षि चरक ने कहा—'**चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते वेदञ्चोपदिश्यायुर्वाच्यम्**'—आयु के हितार्थ चिकित्साशास्त्र का उपदेश किया गया है और वेद का उपदेश आयु का उपदेश करने के लिए किया गया है। पुनः प्रश्न उठा कि चारों वेदों में कौन-सा वेद मुख्यरूप में चिकित्साशास्त्र का प्रतिपादक है। महर्षि ने उत्तर दिया—'**तत्र भिषजा पृष्टेनैवञ्चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानां आत्मकोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। वेदो ह्याथर्वणः स्वस्त्ययनबलिमंगलहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासमन्त्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सां प्राह।**' ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदों में अथर्ववेद में आयुर्वेद का उपदेश है, क्योंकि अथर्ववेद में ही स्वस्त्ययन, बलि, मंगल, होम, नियम, प्रायश्चित्त उपवास और मन्त्र आदि परिग्रह द्वारा चिकित्सा का उपदेश दिया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में भगवान् सुश्रुत का वचन है—'**इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य।**' (सूत्रस्थान १-३) काश्यपसंहिता (विमानस्थान) में भी आयुर्वेद को उपवेद माना है।

मोनियर विलियम्स ने अपनी Sanskrit-English Dictionary में लिखा है—'आयुर्वेद Considered as a supplement to Atharva Veda' परन्तु 'उपवेद' का अर्थ करते हुए उसने लिखा है कि 'आयुर्वेद' ऋग्वेद का उपवेद है। साथ ही यह भी लिख दिया है—'This is according to चरणव्यूह 'But according to Sushrtua it belones to Atharva Veda' अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण में अथर्ववेद के पांच उपवेद कहे हैं—'**पञ्च वेदान् निरमिमीत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदञ्चेति।**' (गो० १।१०) इनमें न आयुर्वेद का उल्लेख है और न अर्थवेद का।

प्राचीन ग्रन्थ 'चरणव्यूह' में आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद माना है। ग्रन्थकार का भी यही मत है। प्रसिद्ध कोशकार आप्टे ने भी ऐसा ही माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ऐसा समझते थे कि अथर्ववेद की अपेक्षा ऋग्वेद में आयुर्वेद का विषय अधिक है। उनके भाष्य में भी सोम, रुद्र, अश्विनौ आदि के अनेक मन्त्रों की आयुर्वेदपरक व्याख्या उपलब्ध होती है। अग्नि, सूर्य, आपः, मित्र, वरुण आदि प्रायः सभी देवों के मन्त्र प्राकृतिक चिकित्सा के पक्ष में विनियुक्त हो सकते हैं। कुछ सूक्त तो स्पष्टतः आयुर्वेद सम्बन्धी हैं।

दोनों पक्षों के आचार्य सुविज्ञ हैं। किसी के भी विचार को भ्रान्तिपालक नहीं कहा जा सकता। प्रतीयमान इन विरोधी धारणाओं में समन्वय सम्भव है। आयुर्वेद के दो अभिप्राय हैं—व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक। दोनों अभिप्रायों के अनुसार 'रोग-जरा-मृत्यु' पर विचार करना चाहिए। चरक, सुश्रुत आदि ने आयुर्वेद के व्यावहारिक पक्ष के अनुसार आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपांग या उपवेद कहा है जो कि अथर्ववेद के विषयों के अनुरूप है। व्यावहारिक जीवन में होने वाले 'रोग-जरा-मृत्यु' का विषय अथर्ववेद में है, अतः इस दृष्टि से आयुर्वेद का सम्बन्ध अथर्ववेद से है। परन्तु 'रोग-जरा-मृत्यु' का उच्चस्तर में आध्यात्मिक जीवन के साथ विशेष सम्बन्ध है। आध्यात्मिक विधियों के द्वारा इन तीनों का मूलोच्छेद हो सकता है, व्यावहारिक उपचारों द्वारा नहीं। व्यावहारिक उपचारों के होते हुए भी 'रोग-जरा-मृत्यु' बार-बार होते रहते हैं। आध्यात्मिक

उपचारों द्वारा इन तीनों से मुक्ति पाकर मुक्तात्मा चिरकाल तक इनसे विमुक्त रहता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (२।१२) में कहा है—"**न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।**" पांच भूतों को वश में करने के अनन्तर जब योगी का शरीर योग की अग्नि से देदीप्यमान हो जाता है तब वह रोगहीन हो जाता है। उस अवस्था में न उसे बुढ़ापा सताता है, न मृत्यु। योगानुसार ईश्वरप्रणिधान द्वारा रोग आदि से शीघ्र और स्थायी छुटकारा पाया जा सकता है। अतः यह आध्यात्मिक आयुर्वेद का विषय है। साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि ऋग्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य परमेश्वर है जिसके प्रणिधान द्वारा रोग आदि से पर्याप्त दीर्घकाल तक स्थायी तौर पर मुक्ति मिल जाती है और आत्मा की सम्यक् स्वनिष्ठऽस्थिति प्राप्त हो जाती है। यथा—

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥[1] ऋ० १।१६४।३९॥

वस्तुतः आयुर्वेद आयुर्विज्ञान अर्थात् आयु का विचार है। जीव का शरीर के साथ संयोग जीवन कहाता है। जितनी देर यह संयोग रहता है उसे आयु कहते हैं। यह संयोग कैसे और किस लिए होता है—जिससे यह जाना जाता है वह आयुर्वेद है। सुश्रुत में कहा है—'**आयुरस्मिन् विद्यते वायुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः**' सूत्रस्थानम् १।१५। इसकी व्याख्या करते हुए उद्धरण में लिखा है—**आयुः शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो विद्यते ज्ञायते विचार्यते अनेनेति**'। **इति व्युत्पत्तिलाभे ऋग्वेदस्योपवेदो विन्दतीति व्युत्पत्तेर्गौणित्वेन**। हमारी आयु=जीवन का क्या प्रयोजन है—यह बताना ऋग्वेद का काम है। यह जीवन किस प्रकार बना रहे, औषधादि के प्रयोग के द्वारा यह निर्देश करना अथर्ववेद के क्षेत्र में आता है। इस प्रकार आयुर्वेद उपवेद तो ऋग्वेद का ठहरता है, उपाङ्ग विशेषतः अथर्ववेद का तथा सामान्यतः अन्य वेदों का भी हो सकता है। इस प्रकार अध्यात्म आयुर्वेद का सम्बन्ध योग और ऋग्वेद दोनों से उत्पन्न है।

यहां केवल वैद्यकशास्त्र के मूलमात्र के उद्देशार्थ सामान्य मन्त्र का निर्देश किया है, किसी रोग की चिकित्सार्थ विशिष्ट ओषधि का नहीं। ऐसा सामान्य मन्त्र यजुर्वेद में है। इसीलिए ऋषि दयानन्द ने स्वरचित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में यजुर्वेद का यह मन्त्र दिया है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
योस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ य० अ० ६। मं० २२

भाष्यम्—अस्याभिप्रायार्थः— इदं वैद्यकशास्त्रस्यायुर्वेदस्य मूलमस्ति

इस मन्त्र का अर्थ ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

हे परमवैद्येश्वर ! भवत्कृपया (नः) अस्मभ्यं (ओषधयः) सोमादयः, (सुमित्रिया) अत्र "इयाडियाजीकाराणामुपसङ्ख्यानम्" (७।१।३९) इति वार्तिकेन 'जसः' स्थाने 'डियाच्'[2] इत्यादेशः।

---

१. समासते=सम्यक् आसते।

२. अत्राऽऽकारान्तं पदच्छेदं मत्वा 'डियाच्' आदेशो विहितः। इत्थमेव ग्रन्थान्ते वैदिकव्याकरणनियमेष्वपि वार्तिकस्यास्य व्याख्याने मन्त्रांशोऽयमुद्धृतः। परन्त्विह 'दुर्मित्रियाः' पदं स्पष्टमेव सकारान्तं विद्यते। यजुर्वेदभाष्ये-

सुमित्राः सुखप्रदा रोगनाशकाः सन्तु, यथावद् विज्ञाताश्च। तथैव (आपः) प्राणाः सुमित्राः सन्तु तथा (योऽस्मान् द्वेष्टि) योऽधर्मात्मा कामक्रोधादिर्वा रोगश्च विरोधी भवति, (यं च वयं द्विष्मः) यमधर्मात्मानं रोगं च वयं द्विष्मः, (तस्मै दुर्मित्रियाः) दुःखप्रदा विरोधिन्यः सन्तु, अर्थात् ये सुपथ्यकारिणस्तेभ्य ओषधयो मित्रवद् दुःखनाशिका भवन्ति तथैव कुपथ्यकारिभ्यो मनुष्येभ्यश्च शत्रुवद् दुःखाय भवन्तीति॥

एवं वैद्यकशास्त्रस्य मूलार्थविधायका वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति, प्रसङ्गाभावान्नात्र लिख्यन्ते यत्र यत्र ते मन्त्राः सन्ति तत्र तत्रैव तेषामर्थान् यथावदुदाहरिष्यामः।

भाषार्थ - (सुमित्रिया न०)। हे परमेश्वर ! आपकी कृपा से (आपः) अर्थात् जो प्राण और जल आदि पदार्थ तथा (ओषधयः) सोमलता आदि सब ओषधि (नः) हमारे लिए (सुमित्रिया सन्तु) सुखकारक हों। तथा (दुर्मित्रयाः) जो दुष्ट, प्रमादी, हमारे द्वेषी लोग हैं, और हम जिन दुष्टों से द्वेष करते हैं, उनके लिए विरोधिनी हों क्योंकि जो धर्मात्मा और पथ्य के करने वाले मनुष्य हैं, उनको ईश्वर के रचे सब पदार्थ सुख देनेवाले होते हैं, और जो कुपथ्य करनेवाले तथा पापी हैं, उनके लिए सदा दुःख देने वाले होते हैं।

इत्यादि मन्त्र वैद्यकविद्या के मूल के प्रकाश करनेवाले हैं।

चिकित्साशास्त्र में स्वास्थ्य के आधारभूत एवं जीवनयात्रा के मुख्य तत्त्वों, मनुष्य के स्वस्थ बने रहने के लिए अभीष्ट दिनचर्या, ऋतुचर्या, आहार-विहार, निवास-प्रवासादि स्वास्थ्योपयोगी बातों और रोगी हो जाने पर रोग से मुक्ति पाने के साधनोपायों, उपचारों एवं रोगी परिचर्या और ओषधियों के युगधर्म का प्रतिपादन होता है। वेदों में प्रतिपादित ज्ञान-विज्ञान बीजवत् है उनमें किसी तत्त्व का विशद प्रयोगात्मक रूप नहीं है। जब हम ज्ञान के बीज को अपनी बुद्धिरूपी भूमि में वपन करके चिन्तन, मनन, अनुभव, परीक्षण आदि के जल से सिंचित करते हैं, तभी वह बीज वृक्षरूप में विकसित होकर फलप्रद होता है।

'उष दाहे' इत्यस्मादोष इति, ओषं दाहं दुःखं वा धयन्ति पिबन्ति विनाशयन्ति ते ओषधयः— जो दाहजनक रोगों का नाश करती है, अथवा **ओषति दाहे सति रोगिण एना धयन्ति पिबन्तीति ओषधयः'**— जो अग्नि समान रोग से सन्तप्त होने पर 'एनाः' इन रोगों को पी जाती हैं, अथवा **'वातपित्तादिकं दोषं धयन्तीति'**— जो वातपित्तादि दोषों को नष्ट कर देती हैं वे ओषधि कहाती हैं। मित्र शब्द **'ञिमिदा स्नेहने'** से निष्पन्न होता है। इसके विपरीत **'द्विष अप्रीतौ'**—द्विष धातु का अप्रीति अर्थ में प्रयोग होता है। 'द्वेष' और 'स्नेहन' में समानाधिकरण सम्भव न होने से 'दुष्टत्व' तथा 'मित्रत्व' में भी समानाधिकरण उपपन्न नहीं होता। अतः 'दुर्मित्र' पद का अर्थ 'दुष्ट मित्र' नहीं बनता। परिणामतः **'दुर्मित्रियाः'** का **'शत्रुरूपाः दुःखप्रदाः** अथवा **विरोधिन्यः'** अर्थ

ऽपि सर्वत्र 'सुमित्रियाः' इत्येवं सकारान्तमेव पदं निर्दिश्यते तथा सति जसः स्थाने डियाजादेशे सकारान्तत्वं पदस्य नोपपद्यते। तस्मात् **'सुमित्रियाः दुर्मित्रियाः'** पदयोः स्वार्थे घच् प्रत्ययः (४।४।११८) उपसंख्येयः। तुलना कार्या— **सुमित्र्याः** दुर्मित्र्याः (आ० श्रौ० ३।४।२) सुमित्र्याः—ऋ० १०।६५।३॥

सर्वथा उपयुक्त है। 'तव सुमित्रियाः' का अर्थ 'सन्मित्ररूपाः सुखप्रदाः अथवा सुखकारकाः' स्वतः सिद्ध है।

प्राकृतिक पदार्थों में महौषध होने के कारण 'आपः' यहां समस्त ओषधियों का उपलक्षण है। नित्य आहार की वस्तु होने के साथ-साथ जल प्राकृतिक चिकित्सा का मुख्य साधन है। वृष्टि, स्रोत, झरने या नदी के रूप में प्राप्त अथवा कुएं से निकला शुद्ध जल विविध विधियों—शीतोष्णपान स्पर्श, मार्जन, टकोर, भाप, मर्दन, धारापात आदि के रूप में प्रयोग किये जाने पर अनेक दुःसाध्य रोगों को दूर करने में महौषध रूप हो जाता है।[1]

यहां यह शंका हो सकती है कि यदि सभी मनुष्य अपने-अपने द्वेषियों के लिए ऐसी प्रार्थना करेंगे तो परमेश्वर किसकी सुनेगा। इस शंका का समाधान महर्षि द्वारा आर्याभिविनय में किए गये इस मन्त्र के अर्थ में किया गया है। वहां परमेश्वर से ऐसी प्रार्थना 'न्यायकारिन्' संबोधनपूर्वक की गई है। अन्यायकारी और अन्यायपीड़ित दोनों ही न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत होकर अपने-अपने पक्ष में न्याय की प्रार्थना करते हैं। परन्तु न्यायाधीश दोनों पक्षों की बात सुनकर निर्दोष के पक्ष में निर्णय देकर अपराधी को दण्डित कर न्यायव्यवस्था को बनाये रखता है। इसी प्रकार परमेश्वर सबकी सुनता किन्तु न्यायानुकूल निर्णय देता है।

ईश्वरीय ज्ञानवेद में किसी के अहित की कामना की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए उक्त मन्त्र का किसी के प्रति शाप में विनियोग सम्भव नहीं। शब्दों का केवल निर्गलित अर्थ ही अभिप्रेत नहीं होता। उससे भिन्न अर्थ भी निर्दिष्ट होता है। सूर्यास्त की सूचना देने का इतना ही नहीं है कि सूर्य अस्ताचल की ओर प्रयाण कर गया। यह तो सब किसी के प्रत्यक्ष का विषय है। सूर्यास्त की सूचना में निहितार्थ यह है कि सन्ध्या-अग्निहोत्रादि का समय हो गया है। वेदमन्त्रों के माध्यम से प्रार्थना करने वाला भगवद्भक्त किसी के अहित का चिन्तन नहीं कर सकता। जब वह दुष्ट लोगों के लिए ओषधियों के दुःखप्रदा होने की बात कहता है तो प्रकारान्तर से वह यही कह रहा होता है कि वे द्वेष आदि का परित्याग करके सन्मार्ग पर चलने लग जाएं जिससे उनके लिए भी '**सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु**' की प्रार्थना सार्थक हो सके। जिस प्रकार कुपथ्य का सेवन करने वाले को ओषधि लाभ नहीं पहुंचाती, उसी प्रकार कुपथगामी के लिए संसार के पदार्थ हितकर सिद्ध नहीं होते।[2] आर्याभिविनय में इस मन्त्र के अर्थ का विस्तार करते हुए लिखा है—"जो हमसे

---

१. आपः भिषजां सुभिषक्तमाः—अथर्व० ६-२४-२; आपो विश्वस्य भेषजीः—अथर्व० ३-७-५; अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजाः—अथर्व० १-६-२; अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्—अथर्व० १-४-४; आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम—अथर्व० १-६-३, अमृतमुदकनाम – वैदिक निघण्टु १-१२।

२. 'व्यत्ययो बहुलम्' (अष्टाध्यायी ३-१-८५) के अनुसार लकार का छान्दस व्यत्यय करके 'सन्तु' का अर्थ 'सन्ति' की भान्ति करना होगा। इस सन्दर्भ में निरुक्तशास्त्र का आदेश है—'अर्थनित्यः परीक्षेत···यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्' (२-१) अर्थात् जहां व्याकरण के अनुसार अर्थ अनुगत नहीं होता वहां अर्थ को मुख्य मानकर किसी अर्थ की समानता से निर्वचन करे···अर्थ के अनुकूल विभक्ति का परिवर्तन अभीष्ट है। पाणिनि ने उक्त सूत्र लिखकर और महाभाष्यकार ने इस सूत्र का भाष्य लिखकर वास्तव में निरुक्तशास्त्र के सिद्धान्त का निर्देश अपने शास्त्र में प्रतिपादित कर दिया।

द्वेष—अप्रीति=शत्रुता करता है तथा जिस दुष्ट से हम द्वेष करते हैं—अर्थात् जो अधर्म करे उसको आपके रचे पदार्थ दुःखदायक हों जिससे वह हमको (धर्मात्माओं को) दुःख न दे सके और हम लोग सुखी रहें।"

यह प्रार्थना समाज के हित में **'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'** की पवित्र भावना से प्रेरित है। जो सत्कर्मनिरत धर्मात्मा मनुष्यों से द्वेष करता है और ऐसे मनुष्य जिस पापी से द्वेष करते हैं, अर्थात् प्रीति नहीं करते वह मनुष्य असामाजिक तत्त्व है। मन्त्रगत 'योऽस्मान् यं च वयम्' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जो व्यक्ति सबसे द्वेष करता है और जिस एक व्यक्ति से सारा समाज द्वेष करता है, निश्चय ही ऐसा व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से हेय है। गीता (१२-१५) में कहा है—**'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः'**—जिससे न लोगों को क्लेश होता है और न जिसे लोगों से क्लेश होता है, वही परमेश्वर को प्रिय होता है। आदर्श व्यक्ति वह है जिसके विषय में वेद (३६।१८) कहता है—**"मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं सर्वाणि भूतानि समीक्षे"**—जो सबको मित्र की दृष्टि से देखे और जिसे सब मित्र की दृष्टि से देखें।

पर्यावरण-प्रदूषण की रोक-थाम का वैदिक उपाय सौर ऊर्जा का वैज्ञानिक प्रयोग

[ले०—डा० रामनाथ वेदालङ्कार, वेदमन्दिर, ज्वालापुर (हरिद्वार)

संघीय जर्मन गणराज्य दूतावास से प्रकाशित 'जर्मन समाचार पत्रिका' का १९९५ सितम्बर का अङ्क हमारे सम्मुख है। इसमें 'पर्यावरण' पर एक लेख है, जिसका शीर्षक है—**"चिमनी, शोर व धुएं के बिना सपनों का एक शहर : क्या सौर ऊर्जा प्राकृतिक गैस, कोयला व तेल का स्थान ले सकती है ?"** लेखक हैं जर्मनी के 'हन्स ओलाफ हैन्कल'। लेखक ने जर्मनी में निकट भविष्य में बननेवाले एक चमकीले, शान्त, साफ-सुथरे आदर्श सौर शहर की कल्पना की है। वे लिखते हैं—"वहां हर कहीं सौर कोशिकाएं हैं। घरों की छतें सूर्य के हल्के नीले प्रकाश से चमचमा रही हैं। वहां कोई चिमनी नहीं है और तेल जलाने की भी आवश्यकता नहीं है। वहां के लोग धूप में जब भी सम्भव हो अपने कपड़ों को इस्त्री कर लेते हैं। जब सूर्य बिलकुल सिर के ऊपर होता है, तब कपड़े धोने की मशीन को इस्तेमाल में लाया जाता है। सौर ऊर्जा वाशिंग मशीन, रेफ्रिजरेटर, रेडियो, टेलीविजन, कम्प्यूटर के साथ-साथ गर्म पानी आदि के लिए भी ऊर्जा प्रदान करती है। यहां तक कि आप रात के समय, बारिश के दौरान या कुहरे से भरे दिनों में भी कपड़ों पर इस्त्री कर सकते है, टेलीविजन देख व रेडियो सुन सकते हैं। सौर कोशिकाएं बादलों से भरे आसमान के नीचे भी सौर ऊर्जा से बिजली उत्पादन करती रहती हैं और एक भण्डारगृह रात या कुहरे से भरे दिनों में भी ऊर्जा की सप्लाई करता रहता है। सौर विद्युत् का उपयोग इमारतों के सामने लगे

चेतावनी लैम्पों, सार्वजनिक टेलीफोन, घरों, नदी के पास के शिविरों और सड़कों पर लगे लैम्पों के लिये भी किया जाता है। यहां तक कि ट्राम भी अपने लिए बिजली सूर्य से ही प्राप्त करते हैं। इस शहर में सौर ऊर्जा की सप्लाई करनेवाले केन्द्र भी हैं। सौर कारों के ड्राइवर अपनी बैटरियों को बिजली के सामान्य संकिटों से दुबारा चार्ज करते हैं। जिन वाहनों की छतों पर नीली कोशिकाएं होती हैं उनसे कोई शोर या धुआं भी नहीं निकलता है और ये १२० किलोमीटर प्रति घंटा की रफ्तार से चल सकते हैं। सौर शहर एक ऐसा नगर है जहां न कोई शोर है, न धुआं है, केवल रंगीन इमारतें और निःशुल्क विद्युत् है। क्या वास्तव में ही यह इतना सुन्दर है, या केवल एक कल्पना ? एक ऐसे देश जिसमें सूर्य बहुत देर तक नहीं रहता, के लिए क्या यह मात्र एक स्वप्न है ? बिल्कुल भी नहीं। वास्तव में ये सभी विशेषताएं जिनके बारे में ऊपर कहा गया है, पहले से ही अस्तित्व में हैं, यह बात दूसरी है कि इनमें से अधिकतर जांच प्रोजेक्टों या आदर्श के रूप में अभी भी योजना की अवस्था में ही हैं।"

ये लेख के कुछ ही अंश हैं। लेख को पढ़कर मेरा मन उछल पड़ा। वेद का एक विद्यार्थी होने के नाते मैंने सोचा कि वेदों में तो सौर ऊर्जा की बात और सूर्य द्वारा प्रदूषण निवारण की बात भरी पड़ी है। अब तक हम यही सोचते थे कि सूर्य प्राकृतिक रूप से स्वयं ही प्रदूषण की रोकथाम करता है, यदि सूर्य न होता तो इतना प्रदूषण फैल जाता कि यह पृथिवी प्राणियों के निवास योग्य नहीं रह जाती। परन्तु इस लेख को पढ़कर इस ओर ध्यान गया कि वेदों में जहां-जहां सूर्य द्वारा प्रदूषण के शोधन की चर्चा है, वहां-वहां यह आशय भी क्यों न लिया जाये कि सूर्य प्राकृतिक रूप से स्वयं जितना शोधन करता है वह तो करता ही है, उसके साथ-साथ हम सौर ऊर्जा का वैज्ञानिक प्रयोग करके भी कल-करखाने वाहन आदि चलायें, जिससे तेल, गैस, कोयले, कूड़ा-कचरे आदि से होनेवाले प्रदूषण से बच सकें।

वेदों में न केवल सामान्य रूप से सूर्य को प्रदूषण-निवारक कहा गया है, किन्तु उसे पर्यावरण-शोधक, रोग-निवारक आदि कहने के साथ ही उसके विषय में यह भी कहा गया है कि सौर ऊर्जा से सौर चूल्हे, सौर भट्टियां, कलायन्त्र, चक्र, वाहन, कृषि के उपकरण आदि भी चलाये जा सकते हैं। अतः वेद के आदेश को क्रियात्मक रूप देकर हमारे वैज्ञानिक सौर ऊर्जा का विज्ञान में प्रयोग करें यह वांछनीय है। आज विज्ञान ने इतनी उन्नति कर ली है कि वेदों से अनभिज्ञ वैज्ञानिक भी सौर ऊर्जा का छोटे-छोटे दैनिक कार्यों में तथा अन्य विशाल यान्त्रिक कार्यों में उपयोग कर रहे हैं। वेदों में सौर ऊर्जा के वैज्ञानिक प्रयोग का विस्तृत वर्णन पढ़ कर कुछ लोग आश्चर्यान्वित भी हो सकते हैं। यहां यह भी बताना आवश्यक है कि वेदों में सूर्य का उल्लेख सूर्य नाम के अतिरिक्त त्वष्टा, सविता, पूषा, विष्णु, विश्वानर, केशी, यम, आदित्य, मित्र, वरुण, अर्यमा आदि नामों से भी हुआ है। अतः उनके सूक्तों में भी हमें सौर ऊर्जा के प्रयोगों का अन्वेषण करना चाहिये।

वेद में सूर्य द्वारा प्रदूषण-निवारण के सामान्य वर्णन

इससे पूर्व कि हम इस विषय में कुछ मन्त्र उद्धृत करें, यह कह देना आवश्यक है कि अंहस्,

रपस्, रिप्र, एनस्, शरु, द्वेषस्, द्विषत् आदि पाप अर्थ में प्रचलित शब्द भी वेद में मानसिक या आत्मिक प्रदूषण के साथ-साथ भौतिक प्रदूषण के अर्थ में भी आते हैं। सूर्य द्वारा प्रदूषण-निवारण के कुछ मन्त्र देखिये—

उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन् मो अहं द्विषते रधम् ॥ ऋ० १।५०।१३॥

देखो, (उदगात्) उदित हुआ है (अयम् आदित्यः) यह सूर्य (विश्वेन) सम्पूर्ण (सहसा सह) तेज के साथ। यह सूर्य (मह्यम्) मेरे हित के लिए (द्विषन्तम्) मेरे शत्रुभूत प्रदूषण को (रन्धयन्[1]) विनष्ट करता रहे। (अहम्) मैं (द्विषते) शत्रुभूत प्रदूषण का (मो रधम्[1]) शिकार न बनूं।

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात् ॥ ऋ० १।११५।६॥

(अद्य) आज (देवाः) हे देदीप्यमान् सूर्य रश्मियों, तुम (सूर्यस्य उदिता) सूर्य के उदय होने पर (अंहसः) प्रदूषणजनित हानि से (निःपिपृत) हमारा उद्धार करो, (अवद्यात्) निन्दनीय प्रदूषण से (निःपिपृत) हमारा उद्धार करो।

यदि जाग्रद् यदि स्वप्न एनांसि चकृमा वयम्।
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः ॥ य० २०।१६॥

(यदि जाग्रद्) यदि जागते हुए, (यदि स्वप्ने) यदि स्वप्न-दशा में (वयम्) हमने (एनांसि) प्रदूषणों को (चकृम) उत्पन्न किया है, तो (सूर्यः) सूय (मा) हमें (तस्माद् एनसः) उस प्रदूषण से, और उससे होनेवाली (विश्वात् अंहसः) समस्त हानि से (मुञ्चतु) छुड़ा देवे।

सूर्य यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ अ० २।२१।१॥

(सूर्य) हे सूर्य (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) ताप है, (तेन) उससे (तं प्रति तप) उस प्रदूषण को तपा कर नष्ट कर दे (यः) जो (अस्मान् द्वेष्टि) हमसे शत्रुता करता है और (यम्) जिससे (वयं द्विष्मः) हम शत्रुता करते हैं।

उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन्।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ अ० ६।५२।१॥

देखो, (पुरः) सामने (रक्षांसि) प्रदूषणरूप राक्षसों को (निजूर्वन्) विनष्ट करता हुआ (सूर्यः) सूर्य (दिवः) क्षितिज के आकाश से (उत्-एति) उदित हो रहा है। (आदित्यः) सूर्य (पर्वतेभ्यः) पहाड़ों की ओर से (उत्-एति) उदित हो रहा है। (विश्वदृष्टः) सबके द्वारा देखा जाता हुआ यह सूर्य (अदृष्टहा) प्रदूषण उत्पन्न करनेवाले अदृष्ट कृमि आदियों को भी विनष्ट करनेवाला है।

ये तथा इसी प्रकार के अन्य वैदिक वर्णन जिनमें सूर्य को प्रदूषण-निवारण की प्रेरणा की गई है अथवा यह कहा गया है कि सूर्य प्रदूषण की रोक-थाम करता है, वस्तुतः मनुष्य को इस बात का उद्बोधन देते हैं कि वह सौर ऊर्जा का उपयोग करके प्रदूषण को नष्ट करे।

---

१. रध हिंसासंराध्योः।

सौर ऊर्जा से यन्त्रों का सञ्चालन

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत् ।
अश्वमिवाधुक्षद् धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम् ॥ ऋ० १०।१४९।१॥

(सविता) सूर्य (यन्त्रैः) सौर ऊर्जा में चलनेवाले यन्त्रों से (पृथिवीम्) पार्थिव कार्यशाला को (अरम्णात्[1]) संनद्ध करता है। (सविता) सूर्य (अस्कम्भने) बिना खम्भेवाले कलायन्त्र में (द्याम्) ताप को अर्थात् सौर ऊर्जा को (अदृंहत्) स्थिर करता है। (सविता) सूर्य (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में स्थित (अतूर्ते[2] बद्धम्) अक्षत वायुमण्डल में बंधे हुए (धुनिम्[3]) कम्पायमान अथवा शब्दायमान (समुद्रम्) बादल को, सौर ऊर्जा से चलनेवाले यन्त्रों द्वारा (अश्वम् इव अधुक्षत्[4]) ऐसे ही बरसा देता है, जैसे कोई घोड़े के शरीर में लगी धूल को झाड़ देता है।

इस मन्त्र से सूचित होता है कि सौर ऊर्जा द्वारा यन्त्र चलाये जा सकते हैं, सौर ऊर्जा को बटरियों में भरा जा सकता है, और सौर ऊर्जा से वर्षा भी करायी जा सकती है।

पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽव पद्यते ।
नो अस्य व्यथते पविः ॥ ऋ० ६।५४।३॥

(पूष्णः चक्रम्) पूषा सूर्य का चक्र अर्थात् सौर ऊर्जा से चलनेवाला कलायन्त्र या कारखाने का चक्र (न रिष्यति) क्षत-विक्षत नहीं होता। (न) ना ही (कोशः) सौर ऊर्जा से प्राप्त विद्युत् का कोश (अव पद्यते) समाप्त होता है। (नो) ना ही (अस्य) इस चक्र की (पविः) नेमि (व्यथते) टूटती है।

इससे सूचित होता है कि सौर ऊर्जा से चलनेवाले कल-कारखानों की मशीनें अधिक चिर-स्थायी होती हैं और उन कला-यन्त्रों में सौर ऊर्जा से प्राप्त बिजली का कोश भी सञ्चित किया जा सकता है, जिससे जब सूर्य न हो तब भी वे कला-यन्त्र चल सकें।

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतीँरवीविपत् ।
बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवाकुमारः प्रत्येत्याहवम् ॥ ऋ० १।१५५।६॥

यह मन्त्र विष्णु अर्थात् मध्याह्नकालीन सूर्य के विषय में है। (बृहच्छरीरः) बड़े शरीरवाला (ऋक्वभिः) शिल्पयज्ञ के ऋत्विजों द्वारा (विमिमानः[5]) प्रयुक्त किया जाता हुआ (युवा[6]) सौर ऊर्जा को कल-कारखानों में पहुंचाने वाला (अ-कुमारः) अ-कुमार अर्थात् प्रचण्ड मध्याह्नकालीन सूर्य (आहवम्[7] प्रति) शिल्प-यज्ञ में (एति) आता है। वह (नामभिः) अपनी ऊर्जा के नमन अर्थात् प्रत्यर्पण

---

१. रम्णातिः संयमनकर्मा विसर्जनकर्मा वा। निरु० ६।१।६।४॥ २. अतूर्ते अतूर्णे। तुर्वी हिंसायाम्।
३. धूञ् कम्पने। अथवा ध्वन शब्दे। ४. दुह प्रपूरणे।
५. वि-माङ् माने शब्दे च।
६. यु मिश्रणामिश्रणयोः। औणादिक क्वन् प्रत्यय।
७. आहव=संग्राम। निघं० २।१७, संग्रामवाचक शब्द यज्ञवाचक भी होते हैं।

द्वारा (चतुर्भिः साकं नवतिं च) ९४ यन्त्र-कलाओं को (वृत्तं चक्रं न) गोल चक्र के समान (अवीविपत्[1]) चलाता है।

सौर ऊर्जा के यन्त्र द्वारा अन्न-परिष्कार

यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया।
वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम्।। अ० ६।११६।१।।

(अन्नविदः न) अन्नविद्या के वेत्ताओं के समान (कार्षीवणाः) कृषि के विशेषज्ञ विद्वान् (विद्यया) कृषिविद्या की जानकारी के साथ (अग्रे निखनन्तः) आगे गाड़ते हुए (यद् यामम्)[2] जिस अन्न साफ करनेवाले यन्त्र को (चक्रुः) बनाते हैं, उस (राजनि) चमकदार (वैवस्वते) सौर ऊर्जा से चलनेवाले यन्त्र में (तत्) उस अन्न को (जुहोमि) मैं साफ करने के लिए डालता हूं। (अथ) तदनन्तर (नः) हमारा (यज्ञियम् अन्नम्) यज्ञोपयोगी अन्न (मधुमत् अस्तु) मधुर, साफ-सुथरा हो जावे।

सौर ऊर्जा से चलनेवाला विमान

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः।
महत् तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ।। ऋ० ४।३६।१।।

इस मन्त्र में ऋभु देवताओं की कारीगरी का वर्णन है। निरुक्तकार ने 'ऋभवः' का एक अर्थ सूर्यकिरणें किया है—**आदित्यरश्मयोऽपि ऋभव उच्यन्ते**–निरु० ११।१८।१०। अब मन्त्रार्थ देखिए—

(ऋभवः) हे सूर्य किरणो, तुम्हारी सौर ऊर्जा से चलनेवाला (अनश्व) बिना घोड़ों का, (अनभीशुः) बिना लगाम का (उक्थ्यः) प्रशंसनीय (त्रिचक्रः) तीन पहियोंवाला (रथः) रथ अर्थात् विमान (जातः) बना है, जो (रजः) अन्तरिक्ष में (परिवर्तते) चक्कर काटता है। (तद्) वह (वः) तुम्हारे (देव्यस्य) दिव्य कला-कौशल का (प्रवाचनम्) बतानेवाला (महत्) महान् कार्य है, (यत्) जो हे सूर्यकिरणो, तुम अपनी सौर ऊर्जा से (द्याम्) आकाश को (पृथिवीं च) और भूमि को (पुष्यथ) परिपुष्ट करती हो।

विमान एष दिवो मध्य आस्त आपप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्।
स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम्।। य० १७।५९।।

(विमानः) अपनी सौर ऊर्जा से विमान को चलानेवाला (एषः) यह आदित्य (दिवः मध्ये) द्युलोक के मध्य में (आस्ते) स्थित है। इसने अपनी सौर ऊर्जा से (रोदसी) द्यावापृथिवी को तथा (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (आपप्रिवान्) भरपूर किया हुआ है। (सः) वह (विश्वाचीः) सबमें व्याप्त होनेवाली तथा (घृताचीः[3]) जलवृष्टि करनेवाली अपनी सौर ऊर्जाओं को (अभिचष्टे) सर्वत्र प्रकाशित करता है जो (पूर्वम् अपरं च केतुम्) पूर्व की उदयकालीन तथा पश्चिम की अस्तकालीन सौर ज्योतियों के (अन्तरा) बीच में होती है।

---

१. अवीविपत् कम्पयति भ्रमयति। टुवेपृ कम्पने, ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम्—सायण।
२. याति गच्छतीति यामः। यन्त्रम्। या प्रापणे, औणादिक मन् प्रत्यय।
३. घृत=जल। निघं० १।१२। घृतम् उदकम् अञ्चयन्ति प्रेरयन्तीति घृताच्यः। अञ्चु गतिपूजनयोः।

उदयकालीन और अस्तकालीन सौर ज्योति से ऊर्जा कम संगृहीत होती है। उसकी अपेक्षा सूर्य जब तीव्र होता है तब वह ऊर्जा अधिक देता है।

सौर ऊर्जा से चलनेवाला जलपोत

आदित्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये ।
अहर्मात्यपीपरो रात्रिं सत्रातिपारय ॥
सूर्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये ।
रात्रिं मात्यपीपरोऽहः सत्रातिपारय ॥ अ० १७।१।२५,२६॥

(आदित्य) हे आदित्य, तू सौर ऊर्जा द्वारा (शतारित्राम्[1]) सौ कलायन्त्रों से चलनेवाली (नावम्) नौका पर (आरुक्षः) आरुढ़ हो। (अहः) दिन को (मा) मत (अत्यपीपरः) शीघ्रता से पार कर, (रात्रिम्) रात्रि को (सत्रा) एक साथ, शीघ्रता से (अतिपारय) पार कर जा।

दूसरे मन्त्र में आदित्य के स्थान पर 'सूर्य' सम्बोधन है। साथ में प्रथम मन्त्र से विपरीत यह कहा गया है कि तू रात्रि को शीघ्रता से पार मत कर, दिन को एक साथ शीघ्रता से पार कर जा।

यहां सौ कला-यन्त्रों से चलनेवाली नौका बड़ा जलपोत या जलीय जहाज है जो सौर ऊर्जा से चलाया जाता है। साथ ही इस वर्णन से यह भी सूचित होता है कि चालक इच्छानुसार जलपोत को तीव्र गति से या मन्द गति से चला सकता है।

समुद्र और अन्तरिक्ष में सौर ऊर्जा से चलनेवाले यान

यास्ते पूषन् नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति ।
ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृतः श्रव इच्छमानः ॥ ऋ० ६।५८।३॥

(पूषन्) हे सौर ऊर्जा के प्रयोक्ता शिल्पी, (याः ते) जो तेरी (हिरण्ययीः नावः) सुनहरी नौकाएं अर्थात् नौका के आकारवाले जलपोत और विमान (अन्तः समुद्रे) समुद्र के अन्दर तथा (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (चरन्ति) चलते हैं (ताभिः) उनमें तू (सूर्यस्य) सूर्य की (दूत्याम्[2]) तप्त ऊर्जा को (यासि) प्राप्त करता है। तू (कामेन कृतः) कामना के वश होकर उन जलपोतों तथा विमानों द्वारा (श्रवः[3] इच्छमानः) अन्न को लाने का इच्छुक होता है।

इस मन्त्र से सूचित होता है कि सौर ऊर्जा द्वारा चलनेवाले जलीय जहाजों तथा विमानों में देश-विदेश से अन्न भर कर लाया जा सकता है।

सौर ऊर्जा का रथ और ध्वनियन्त्र

अस्माकमूर्जा रथं पूषा अविष्टु माहिनः ।
भुवद् वाजानां वृध इमं नः शृणवद्धवम् ॥ ऋ० १०।२६।९॥

(अस्माकं रथम्) हमारे रथ में (ऊर्जा) सौर ऊर्जा द्वारा (माहिनः पूषा) महान् सूर्य (अविष्टु)

१. ऋ गतौ। औणादिक इत्र प्रत्यय। ऋच्छन्ति गच्छन्तीति अरित्राणि कलायन्त्राणि।

२. दुनोति उपतपति या सा दूत्या। टुदु उपतापे।

३. श्रवः इत्यन्ननाम श्रूयते इति सतः। निरु० १०।३।१॥

प्रवेश करे। वह रथ के (वाजानाम्) बल-वेगों का (वृधः) बढ़ानेवाला (भुवद्) होवे। (इमम्) इस (नः) हमारे (हवम्) शब्द को (शृणवत्) ध्वनियन्त्र में प्रयुक्त होकर सुनाये। (शृणवत्=श्रावयत्, लुप्तणिच्क प्रयोग)।

आ ते रथस्य पूषन्नजा धुरं ववृत्युः।
विश्वस्यार्थिनः सखा सनोजा अनपच्युतः॥ ऋ० १०।२६।८॥

(पूषन्) हे सूर्य, (ते) तेरे अर्थात् तेरी ऊर्जा से चलनेवाले (रथस्य) रथ की (धुरम्) धुरी को (अजाः) वेगवान् किरणें (आ ववृत्युः) घुमायें। तू (विश्वस्य अर्थिनः) सौर ऊर्जा के याचक सब शिल्पियों का (सखा) मित्र है, (सनोजाः) तू सनातन काल से उत्पन्न है, (अनपच्युतः) तेरा सौर ऊर्जा का भण्डार कभी समाप्त नहीं होता।

उद्वेति प्रसवीता जनानां महान् केतुरर्णवः सूर्यस्य।
समानं चक्रं पर्याविवृत्सन् यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः॥ ऋ० ७।६३।२॥

देखो, (जनानां प्रसवीता[1]) जनों को शिल्पादि कार्यों में प्रेरित करनेवाला, (केतुः) प्रकाश देनेवाला (सूर्यस्य) सूर्य का (महान् अर्णवः) ऊर्जा का विशाल समुद्र (उद्वेति) उदित हो रहा है। (यत्) जब (धूर्षु) धुरों में अर्थात् बैटरियों में (युक्तः) नियुक्त किया हुआ (एतशः[2]) सौर ऊर्जा रूप घोड़ा (वहति) रथ को चलाता है, तब वह (समानम्) एक समान (चक्रम्) पहिये को (पर्याविवृत्सन्[3]) घुमाता है।

सौर अंगीठी

उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम्।
मित्रैतां त उखां परिददाम्यभित्त्या एषा मा भेदि॥ य० ११।६४॥

हे सौर अंगीठी, तू (उत्थाय) ऊपर उठकर (बृहती भव) बड़ी हो जा, (उ) और (त्वम्) तू (ध्रुवा) स्थिर (उत् तिष्ठ) खड़ी रह। (मित्र) हे सूर्य, (एताम् उखाम्) इस अंगीठी को, सौर ऊर्जा से प्रज्वलित करने हेतु मैं (ते परिददामि) तुझे देता हूं, (अभित्त्यै) न टूटने देने के लिए। (एषा) यह अंगीठी (मा भेदि) टूटे नहीं।

मन्त्र से ज्ञात होता है कि सौर ऊर्जा से दहकनेवाली यह अंगीठी आवश्यकतानुसार बड़ी भी की जा सकती है तथा यह ताप के तीव्र हो जाने पर भी टूटती नहीं।

ऊन बुनने और कपड़े धोने की मशीन

आधीषमाणायाः पतिः शुचायाश्च शुचस्य च।
वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत्॥ ऋ० १०।२६।६॥

पूषा सूर्य (आधीषमाणायाः) बैटरियों में आधान की जानेवाली (शुचायाः) दीप्त सौर ऊर्जा का (शुचस्य च) और सूर्य-ताप का (पतिः) स्वामी है। सूर्य का ताप (अवीनाम्) भेड़ों की ऊन के (वासोवायः) कपड़े बनानेवाला है, और वह (वासांसि) कपड़ों को (आ मर्मृजत्[4]) धोकर साफ भी करता है।

---

१. प्र-षू प्रेरणे। २. एतशः=अश्व। निघं० १।१४॥
३. परि-आ-वृतु वर्तने, सन्नन्त, शतृ प्रत्यय। ४. आ-मृजू शौचालङ्कारयोः।

इस मन्त्र से विदित होता है कि सौर ऊर्जा को बैटरियों में भरकर उनके द्वारा स्वेटर आदि ऊनी वस्त्र बुनने की मशीनें चलाई जा सकती हैं।

अन्न को टङ्कियों में भरनेवाला सौर यन्त्र

उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधा असि चनो मयि धेहि ॥ य० ८।७॥

हे ताप, तू (सावित्रः असि) सौर ऊर्जा का ताप है (उपयामगृहीतः[1] असि) यन्त्र में गृहीत किया गया है। (चनोधाः[2]) अन्न को ऊपर उठानेवाला है, (चनोधाः असि) अन्न को टङ्कियों में भरनेवाला है। (चनः) अन्न (मयि धेहि) मुझे प्रदान कर।

सौर ऊर्जा से गरम किये गृहों में निवास

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥ ऋ० १।१५४।६॥

हे दम्पती, (वाम्) तुम दोंनों के (गमध्यै) प्रवेश के लिए (ता वास्तूनि) उन घरों को (उश्मसि) हम चाहते हैं (यत्र) जिनमें (भूरिशृङ्गाः गावः[3]) तीक्ष्ण सूर्यकिरणें या सौर ऊर्जाएं (अयासः) पहुंचती हों। (अत्र ह) क्योंकि इन्हीं घरों में (उरुगायस्य) बहुत महिमा किये जानेवाले (वृष्णः) सौर ऊर्जा की वर्षा करनेवाले विष्णु नामक सूर्य की (परमं पदम्) परम ऊर्जा (भूरि) बहुत अधिक (अव भाति) ताप देती है।

इन घरों में कांच की विशालकाय चादर सूर्य से गर्म होकर ढकी हुई चूने के पत्थर की दीवार को गर्म करती रहेगी। यह सौर ऊर्जा नवीनतम प्रौद्योगिकी से प्राप्त होगी। इस प्रकार शीत-ऋतु में हीटर के बिना ही सौर ऊर्जा से घर गर्म होते रहेंगे। अथवा हीटर चलाने के लिए सौर ऊर्जा को बैटरियों में केन्द्रित किया जायेगा।

सौर ऊर्जा से कारखाने का चक्र चलना

उताद: परुषे गवि सूरश्चक्रं हिरण्ययम्।
न्यैरयद् रथीतमः ॥ ऋ० ६।५६।३॥

(उत) और (रथीतमः) वेगप्रदाताओं में श्रेष्ठ (सूरः) सूर्य (परुषे) कठोर (गवि) पार्थिव कारखाने में (अदः) इस (हिरण्ययं चक्रम्) चमकीले चक्र को (न्यैरयत्[4]) अपनी सौर ऊर्जा से चलाता रहता है।

सौर ऊर्जा से सूर्या का रथ चला

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥ ऋ० १०।८५।१३॥

१. उपयाति भ्रमतीति उपयामः यन्त्रम्, तत्र गृहीतः।
२. चनः इत्यन्ननाम। निरु० ६।१६।६४, चनः अन्नं दधातीति चनोधाः।
३. गावः=रश्मयः। निघं० १।५॥
४. नि-ईर गतौ कम्पने च, लङ्।

(सूर्यायाः) सूर्यमरीचि के समान ज्योतिष्मती वधू का (वहतुः[1]) रथ (प्रागात्) तेजी से चला, (यम्) जिस रथ को (सविता) सूर्य ने (अवासृजत्) सौर ऊर्जा के बल से छोड़ा था। (अघासु) मघा नक्षत्रों में अर्थात् माघ मास में (गावः) सूर्यकिरणें (हन्यन्ते) निस्तेज हो जाती हैं (अर्जुन्योः) फल्गुनी नक्षत्रों में अर्थात् फाल्गुन मास में (पर्युह्यते) वधू का परिवहन किया जाता है।

तात्पर्य यह है कि माघ मास में शीत अधिक होने से सौर ऊर्जा कम होती है, अतः उस समय सौर ऊर्जा से रथ का चलना दुष्कर हो सकता है। फाल्गुन मास में सौर ऊर्जा पुनः बलवती होकर रथ चला सकती है। वैसे सौर ऊर्जा जिस समय निर्बल हो उस समय भी पूर्वसञ्चित सौर ऊर्जा से यानादि का चलाया जाना सम्भव होता है।

सौर विद्युत् से चलनेवाला नौकाकार कलायन्त्र

रथाय नावमुत नो गृहाय नित्यारित्रां पद्वतीं रास्यग्ने।
अस्माकं वीराँ उत नो मघोनो जनांश्च या पारयाच्छर्म या च॥ ऋ० १।१४०।१२॥

(अग्ने) हे सौर विद्युत्, तू (रथाय) रथ पर रखने के लिए (उत) और (नः) हमारे (गृहाय) घर में रखने के लिए (नित्यारित्राम्[2]) जिसमें नित्य पंखे लगे रहते हैं ऐसी और (पद्वतीम्) जिसमें टिकाने के लिए नीचे पैर लगे होते हैं ऐसी (नावम्) नौकाकार मशीन (रासि) प्रदान करती है; (या) जो (वीरान्) वीरों को (उत) और (नः) हमारे (मघोनः) धनिकों को, (जनान् च) और सामान्य जनों को (पारयात्) कष्ट से पार करती है, (या च) और जो (शर्म) सुख [प्रदान करती है]।

वर्णन से प्रतीत होता है कि यह सौर विद्युत् से चलनेवाली हवा देने की मशीन है। इसे रथ आदि पर यात्रा करते हुए भी साथ रख सकते हैं और घर में भी। इसमें चारों ओर हवा देने के लिए 'अरित्र' अर्थात् पंखे लगे होते हैं। जमीन में टिकाने के लिए पैर भी होते हैं। वीर, धनी, गरीब सभी के उपयोग में यह आ सकती है और जो इसका उपयोग करते हैं उन्हें यह सुख देती है।

सूर्य-किरणों से ऋणात्मक और धनात्मक विद्युतों का निर्माण

य इन्द्राय वचोयुजा ततक्षुर्मनसा हरी।
शमीभिर्यज्ञमाशत॥ ऋ० १।२०।२॥

(ये ऋभवः) जो सूर्य-किरणें (इन्द्राय) शिल्प-यज्ञ के यजमान के लिए (मनसा) विज्ञान के प्रयोग से (वचोयुजा) कहते ही जुड़ जानेवाली (हरी) ऋण और धन नामक दो विद्युतों को (ततक्षुः) रचती हैं, वे (शमीभिः[3]) उन विजलियों की क्रियाओं से (यज्ञम्) शिल्पयज्ञ को (आशत) व्याप्त करती रहती हैं।

---

१. वहतीति वहतुः रथः, वह प्रापणे, औणादिक चतु=अतु प्रत्यय।
२. ऋ गतौ। अरिः गतिः, तां त्रायते रक्षतीति अरित्रं व्यजनम्। नित्यानि अरित्राणि यस्यां सा नित्यारित्रा।
३. शमी=कर्म, क्रिया। निघं० २।१॥

हम प्रतिदिन अपने घरों में 'स्विच' दबाकर बिजली का प्रकाश करते हैं। स्विच दबाने से ऋण और धन विद्युतों के तारों के मिलने से ही प्रकाश होता है। मन्त्र में प्रयुक्त 'वचोयुजा' का या तो लाक्षणिक अर्थ लिया जा सकता है—'तत्क्षण जुड़ जानेवाली' अथवा शाब्दिक अर्थ ही लें तो यह अभिप्रेत हो सकता है कि बोलने से जो शब्द का आघात होता है, उसी से दोनों विद्युतों के मिल जाने से यन्त्र कार्य करने लगेगा। तदर्थ शब्द निश्चित करना होगा कि अमुक शब्द अमुक स्वराघात से बोला जाए, अन्यथा कोई भी शब्द बोलने पर यन्त्र चालू हो जाने से अनिष्टापत्ति होगी।

ऊपर हमने सौर ऊर्जा या सौर विद्युत् के वैज्ञानिक प्रयोग से यन्त्र चलाने विषयक कुछ वेद-मन्त्र प्रस्तुत किये हैं। इनके अतिरिक्त अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं के मन्त्रों में भी एतद्विषक सामग्री का अन्वेषण किया जा सकता है। यदि तेल, कोयला आदि का स्थान पर्याप्त अंशों में सौर ऊर्जा ले ले, तो प्रदूषण से बहुत कुछ बचा जा सकता है। यह उपाय वेद में भी विस्तार से वर्णित है और आधुनिक विज्ञान का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट है, जिसे कुछ अंशों में क्रियात्मक रूप भी दिया जा चुका है। सूर्य-रश्मियों के प्रयोग से विविध रोग-रूपी शारीरिक प्रदूषण को दूर करने की चर्चा भी अनेक वेदमन्त्रों में पायी जाती है। प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तर्गत सूर्यकिरण-चिकित्सा आज एक वैज्ञानिक रूप ले चुकी है।

वेद में अघ्न्य एवं अघ्न्या शब्दों का प्रयोग और उनका अर्थविचार

[लि०—श्रीमती डा० सुखदा आर्या, एल १. माडल टाउन, रोहतक]

आद्युदात्त अघ्न्या शब्द निघण्टु में गोवाचक नामों में परिगणित है। इसके अतिरिक्त निघण्टु पञ्चम अध्याय में स्वतन्त्र शब्दों में भी पठित है।[1] निरुक्त दैवतकाण्ड में मध्यम-स्थानीय स्त्रियों के प्रकरण में यास्क ने अघ्न्या शब्द की व्याख्या की है। यास्क अघ्न्या का निर्वचन इस प्रकार देते हैं—**अघ्न्या अहन्तव्या भवति अघघ्नीति वा।** अर्थात् अघ्न्या का अर्थ है अहन्तव्या अथवा अघों (पापों) की विनाशिका। अघ्न्या पर यास्क ने दो मन्त्र उद्धृत किये हैं, जिनमें प्रथम यह है—

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥ ऋ० १।१६४।४०॥

१. निघं० १।११, ५।५। वैदिक यन्त्रालय अजमेर से मुद्रित निघण्टु में अघ्न्या शब्द आद्युदात्त पठित है, पर वेद में गाय अर्थ में आद्युदात्त तथा अन्तोदात्त दोनों हैं।

मध्यमस्थानीय स्त्रियों के प्रकरण में होने से यहां नैरुक्तों के मत में अघ्न्या माध्यमिक वाणी होती है, परन्तु याज्ञिकों के पक्ष में यज्ञार्थ दूध देनेवाली गाय। गाय के पक्ष में मन्त्रार्थ स्पष्ट है—हे अहन्तव्य एवं पाप, रोगादि को नष्ट करनेवाली गोमाता, उत्तम घास-चारे आदि को खानेवाली तू समृद्धिमयी हो और तेरे द्वारा हम भी समृद्धिमान् हों, तू सदा शुद्ध भूसा खा और इधर-उधर फिरती हुई शुद्ध पानी पी। माध्यमिक वाणी के पक्ष में निरुक्त के टीकाकार स्कन्द ने यह अर्थ दिया है—हे माध्यमिक वाणी, तू सूर्य-रश्मियों से उपहृत जलरूप सुयवस को खाती हुई धनवती हो, हम भी धनवान् हों, तू सर्वदा तर्दनीय मेघ का भक्षण कर, और रश्मियों से उपहृत शुद्ध जल पी।[2]

उणादि में **अघ्न्यादयः** उ० ४।११३ सूत्र द्वारा अघ्न्या शब्द निपातित किया गया है, जिसकी व्याख्या में दयानन्दवृत्ति में इसे नञ् पूर्वक हन् धातु से यगन्त निपात न माना गया है। हन् धातु की उपधा का लोप तथा ह को घ भी होता है।[3] निरुक्त के अघघ्नी पक्ष में अघ पूर्वक हन् धातु से यक् प्रत्यय किया जा सकता है। उस स्थिति में अघ के घ को और हन् की उपधा का लोप तथा हन् के ह् को घ् करना होगा।

वेदों में एक बार अघ्न्य ! एक बार अघ्न्यम् तथा तीन बार अघ्न्यौ प्रयुक्त हुआ है। लगभग ५४ स्थलों पर स्त्रीलिङ्ग अघ्न्या शब्द का प्रयोग विभिन्न विभक्तियों में मिलता है। यह शब्द २७ स्थलों पर अन्तोदात्त, १२ स्थलों पर आद्युदात्त तथा १८ स्थलों पर सर्वानुदात्त मिलता है। सर्वानुदात्त तो सम्बोधन के कारण है, शेष अन्तोदात्त तथा आद्युदात्त दोनों ही अघ्न्या शब्द वेद में गोवाचक पाये जाते हैं।

वेद में अघ्न्य का प्रयोग

पुंल्लिग या नपुंसकलिङ्ग अघ्न्य शब्द वेद में जिन स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है, उन्हें यहां देख लेना उपयुक्त होगा।

न्यघ्न्यस्य मूर्धनि चक्रं रथस्य येमथुः।
परि द्यामन्यदीयते ॥ ऋ० १।३०।१९॥

देवता——अश्विनौ। अघ्न्य अन्तोदात्त।[4] सायण के अनुसार यहां अविनाश्य दृढ

---

२. शोभनं यवसं सुयवसम्। सांहितिको दीर्घः। किं तत्? रश्म्युपहृतमुदकम्। तस्यात्री सुयवसादिनी सुयवसाद् भगवती भगं धनं तेनैव रश्म्युपहृतेनोदकाख्येन धनेन धनवती। हि-शब्दः पदपूरणः। भूया भव। अथोऽनन्तरं तेनैव त्वत्प्रवृत्तेन धनेन वयमपि भगवन्तो धनवन्तः स्याम भवेम। अद्धि भक्षय च। (संचूर्णय खादेत्यर्थः। किम्? तृणं तर्दनीयं मेघम्। अघ्न्ये माध्यमिके वाक्। विश्वदानीं छान्दसत्वाद्विश्वशब्दादपि दानीम्, सर्वदा। पिब रश्म्युपहृतम्। शुद्धमकलुषम्। हे अघ्न्ये धर्मधुग् विश्वदानीं सर्वदा पिब च शुद्धमकलुषितमुदकम्। आचरन्ती आभिमुख्येन मर्यादया वा चरन्ती गव्यूतौ-स्क०, निरु० ११।४४॥

३. यगन्ता निपाताः। यो न हन्यते न हन्तीति वा सः अघ्न्यः प्रजापालको वा। अघ्न्या गौर्वा। धातोरुपधालोपो हस्य घत्वं च-द०।

४. अघ्न्यस्य। अहननम् अघ्नः। घञर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधि हनियुध्यर्थम्, पा० ३।३।५८ वा० इति

पर्वत[५] ग्राह्य है। अश्विनो ने अपने रथ का एक चक्र पर्वत के मूर्धा पर रखा है, और दूसरा चक्र द्युलोक में। स्कन्द के मत में अघ्न्य से अहन्तव्य प्रजापति या आदित्य गृहीत होता है।[६] अश्विनों ने अपने रथ का एक चक्र प्रजापति या आदित्य के मूर्धा पर निहित किया है।

प्र शंसा गोष्वघ्न्यं क्रीळं यच्छर्धो मारुतम्। ऋ० १।३७।५।।

देवता—मरुतः। अघ्न्य आद्युदात्त[७]। यहां अघ्न्यम् शर्ध का विशेषण है। हे मनुष्य, भूमियों पर जो क्रीडाशील, अहन्तव्य मरुत्-सम्बन्धी तेज या बल (शर्ध) है, उसकी तू स्तुति कर।

यं त्वा वाजिन्नघ्न्या अभ्यनूषतायोहतं योनिमा रोहसि द्युमान्।
मघोनामायुः प्रतिरन् महि श्रव इन्द्राय सोम पवसे वृषा मदः।। ऋ० ९।८०।२।।

देवता—सोमः। अघ्न्याः अन्तोदात्त। यहां वेङ्कट ने अघ्न्याः को पुल्लिंग अघ्न्यः की प्रथमा विभक्ति का बहुवचन मानकर एक अर्थ अहन्तव्य ब्राह्मण किया है—हे बलवान् सोम, अहन्तव्य ब्राह्मण[८] लोग तेरी स्तुति करते हैं। सायण अघ्न्याः को स्त्रीलिङ्ग मानकर गाय अर्थ करते हैं—गौएं सोम की स्तुति करती हैं अर्थात् सोमयागार्थ दूध देने के लिए रम्भाती हैं।[९] वेङ्कट ने भी दूसरा वैकल्पिक अर्थ गायपरक किया है।[१०]

विमुच्यध्वमघ्न्या देवयाना अगन्म तमसस् पारमस्य ज्योतिरापाम। य० १२।७३।।

देवता-अनड्वाहः। अघ्न्या सम्बोधन, सर्वानुदात्त। कर्मकाण्डिक व्याख्यानुसार कृषिकर्म के पश्चात् बैलों को जुए से अलग करते हुए इस मन्त्र को पढ़ते हैं। हे देवों के निमित्त कृषि करने वाले बैलो, तुम जुए से छूट जाओ हम भूख-प्यास आदि अन्धकार से पार हो गये हैं। हमने ज्योति प्राप्त कर ली है।

शृङ्गाभ्यां रक्ष ऋषत्यवर्ति हन्ति चक्षुषा।
शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः।। अथ० ९।४।१७।।

देवता-ऋषभः। अघ्न्यः अन्तोदात्त। यहां स्पष्ट ही अघ्न्यः का अर्थ अहन्तव्य बैल है। गौओं का पति जो बैल है वह सींगों से राक्षस को धकेलता है, दृष्टि से अधोगति को नष्ट करता है और कानों से भद्र श्रवण करता है।

हन्तेः कप्रत्ययः। अघ्नमर्हति अघ्न्यः। छन्दसि च, पा० ५।१।६७ इति यप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम्—सायण।

५. अघ्न्यस्य हन्तुं विनाशयितुमशक्यस्य दृढस्य पर्वतस्य—सा०।

६. अघ्न्यः अहन्तव्यत्वात् प्रजापतिरादित्यो वा—स्कन्द।

७. अघ्न्यम्, घ्नो हननम्, घञर्थे कविधानम् पा० ३।३।५८ वा० इति कः। गमहन० इत्यादिना उपधालोपः। हो हन्ते० पा० ७।३।५४ इति घत्वम्। तदर्हतीति घ्न्यम्। छन्दसि च इति यः। न घ्न्यम् अघ्न्वम्। अव्ययपूर्वपद-प्रकृतिस्वरत्वम्—सा०

८. यद्वा अहन्तव्याः ब्राह्मणा अघ्न्याः इति—वेंकट।

९. हे वाजिन् अन्नवन् सोम यं त्वा त्वाम् अघ्न्य अहननीया गावः अभ्यनूषत् अभिष्टुवन्ति—सायण।

१०. यं त्वा बलवन् गावः अभि स्तुवन्ति—वेंकट।

उद्व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत ।
माडुष्कृतौ व्येनसावध्न्यावशूनमारताम् ॥ अथ० १४।२।१६॥

देवता—सूर्याविवाहः । अघ्न्यौ अन्तोदात्तः । विवाहित वधू के पतिगृह को जाते समय मार्ग में पड़नेवाली नदी को जब वर-वधू का रथ पार करता है, उस समय यह मन्त्र पढ़ा जाता है। हे नदी की धाराओ, तुम्हारी लहर रथ की कीली पर ही लगे, रथ को रस्सियों को तुम छोड़े रहो। दुष्कृत न करनेवाले, विरुद्ध गति से रहित दोनों बैल कष्ट न प्राप्त करें। एवं यहां अघ्न्यौ पद बैलवाची है। यही मन्त्र ऋग्वेद के विश्वामित्र-नदी-सूक्त ३।३३।१३ में भी आता है। वहां **'व्येनसाघ्न्यौ शूनमारताम्'** पाठ है। वहां विषय यह है कि नदियां उथली हो जायें, जिससे विश्वामित्र का रथ सरलता से नदियों को पार कर जाए। सायण[11] ने वहां अघ्न्यौ का अर्थ बैल नहीं किया, प्रत्युत स्त्रीलिङ्ग 'अघ्न्ये' के स्थान पर छान्दस रूप अघ्न्यौ माना है तथा उसे अहन्तव्य विपाट्-शुतुद्री के पक्ष में घटाया है। हमारे विचार से वहां भी अघ्न्यौ का अर्थ बैल ही करना उचित है।

वेद में अघ्न्या का प्रयोग

वेद में अघ्न्या शब्द अधिकतर गाय अर्थ में आता है, परन्तु क्वचित् माध्यमिक वाणी, वेदवाणी एवं सामान्य वाणी अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः गायवाची सभी शब्द वाणी अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। क्वचित् भाष्यकारों ने अघ्न्या का अर्थ भूमि भी किया है।

गाय—

घृतेन द्यावापृथिवी व्युन्धि सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः । ऋ० ५।८३।८॥

देवता—पर्जन्यः । अघ्न्या अन्तोदात्त । हे बादल, तू वृष्टि-जल से धरती-आकाश को गीला कर दे, गौओं के लिए बहुत पानी हो जाए।

एष स्य कारुर्जरते सूक्तैरग्रे बुधान उषसां सुमन्मा ।
इषा तं वर्धदघ्न्या पयोभिर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ऋ० ७।६८।६॥

देवता—अश्विनौ । अघ्न्या अन्तोदात्त । हे अश्विनो, यह सुमति स्तोता उषाओं से पूर्व जाग कर तुम्हारी स्तुति कर रहा है, उसे गाय अन्न से तथा दुग्धों से बढ़ाये।

य पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः ।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥ ऋ० १०।८७।१६॥

देवता-रक्षोहा अग्निः । अघ्न्या अन्तोदात्त । जो पुरुष के मांस से और जो घोड़े के मांस से स्वयं को तृप्त करता है, जो गाय के दूध से लोगों को वञ्चित करता है, उन सब राक्षसों के सिरों को तलवार से काट दो।

अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या । अथ० ३।३०।१॥

देवता—सांमनस्यम् । अघ्न्या अन्तोदात्त । हे मनुष्यो, एक-दूसरे से प्रेम करो, जैसे गाय नवजात बछड़े से प्रेम करती है।

---

११. अघ्न्यौ अघ्न्ये न केनापि तिरस्करणीये विपाट्छुतुद्र्यौ शूनं समृद्धि मा आरताम् आगच्छताम्—सा०

ब्राह्मणेभ्यः ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेव पश्यते ॥ अथ० ९।४।१९॥

देवता– ऋषभः। अघ्न्या अन्तोदात्त। ब्राह्मणों को ऋषभ का दान करके अपने मन को उत्कृष्टतर बना लेता है। वह अपने गोष्ठ में गौओं की पुष्टि को देखता है।

नमस्ते जायमानायै जाताया उत ते नमः।
बालेभ्यः शफेभ्यो रूपायाघ्न्ये ते नमः ॥ अथ० १०।१०।१॥

देवता—वशा गौः। अघ्न्ये सर्वानुदात्त। हे गौ, उत्पन्न होती हुई तुझे नमस्कार, उत्पन्न हुई तुझे नमस्कार, तेरे बालों के लिए तेरे खुरों के लिए, तेरे रूप के लिए नमस्कार।

इसके अतिरिक्त अघ्न्या शब्द वेद में धेनु एवं गौ के विशेषण रूप में भी प्रयुक्त हुआ है, जिस से इसका गाय अर्थ प्रमाणित होता है।[12]

मेघरूप गाय—

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥ ऋ० १।१६४।२७॥

देवता—अघ्न्या। अघ्न्या अन्तोदात्त। निरुक्त में यह ऋचा मध्यमस्थानीय देवियों के प्रकरण में अघ्न्या शब्द पर दी गयी है, परन्तु वहां इसकी व्याख्या नहीं की गयी, इसे निगदव्याख्याता कह कर छोड़ दिया गया है। निरुक्त-टीकाकार स्कन्द ने इसे माध्यमिक वाणी तथा धर्मधुग् गौ दोनों पक्षों में लगाया है। सायण यज्ञ की गौ तथा मेघरूप गाय अर्थ में व्याख्यात करते हैं। मेघरूप गाय के पक्ष में उनकी व्याख्या यह है—वर्षण के लिए हिंकार शब्द करती हुई, बहुत से गो सस्य आदि धनों की पालयित्री, मन से भूलोक-रूप वत्स को चाहती हुई मेघरूप गाय आयी है। यह अश्विनों अर्थात् व्याप्त स्थावर जंगमों के लिये वृष्टिजल प्रदान करे, अथवा वायु-आदित्य रूप अश्विनों के पास से वृष्टि जल का दोहन करे। वह मेघरूप गाय महान् सौभाग्य के लिए वृद्धि को प्राप्त हो।[13]

वाणी—

उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिःसप्त नामाघ्न्या बिभर्ति। ऋ० ७।८७।४॥

देवता—वरुणः। अघ्न्या आद्युदात्त। सायण यहां अघ्न्याः पद से वाक् एवं वेदात्मिका वाक् का ग्रहण करते हैं। शिष्य कहता है कि मुझ मेधावी को वरुण गुरु ने बतलाया है कि अघ्न्या इक्कीस नामों को धारण करती है। सायण के अनुसार अघ्न्या वाणी है जो उरस्, कण्ठ और सिर में बद्ध

१२. यथा, शुचि घृतं न तप्तमघ्न्यायाः स्पार्हा देवस्य मंहनेव धेनोः। ऋ० ४।१।६॥ यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्याः। अथ० ८।७।२५॥

१३. हिङ्कृण्वती वर्षणाय शब्दयन्ती वसूनां गोसस्यादिधनानां बहूनां वसुपत्नी तेषामेव पालयित्री वत्सं लोकं वत्सवत्पोषणीयं मनसा इच्छन्ती प्रीणयितुम् अभ्यागात् अभिगच्छति मेघरूपा। सा च अघ्न्या अहन्तव्या, प्रस्तुत्या इत्यर्थः। पयः उदकमश्विभ्यां व्याप्ताभ्यां स्थावरजंगमाभ्यामर्थाय। यद्वा, अश्विनौ वाय्वादित्यौ ताभ्यां सकाशात् दुहां दुग्धाम्। तौ हि वृष्टेर्मोचयितारौ—सा०।

सात छन्दों के गायत्री आदि २१ नामों को धारण करती है, अथवा वेदात्मिका वाक् अघ्न्या है जो २१ संस्थाओं वाले यज्ञों के नाम धारण करती है। किसी अन्य के नाम से वे तीसरा पक्ष यह देते हैं कि यहा अघ्न्या पृथिवी है, जिसके २१ नाम निघण्टु में पठित हैं।[१४] सायण द्वारा नामोल्लेख के बिना प्रदत्त यह तीसरा मत वेंकट का प्रतीत होता है, यत: उन्होंने भी ऐसा ही अर्थ किया है।[१५]

भूमि—

इमं त्रितो भूर्यविन्दविच्छन् वं भूवसो मूर्धन्यघ्न्यायाः। ऋ० १०।४६।३॥

देवता अग्नि:। अघ्न्या आद्युदात्त। सायण यहां अघ्न्या का अर्थ भूमि करते हैं।[१६] उदगीथ का कथन है कि यास्क ने गाय के नामों में अघ्न्या पठित किया है, गाय के समान कामनाओं की दोग्ध्री होने से यहां अघ्न्या से पृथिवी गृहीत होती है।[१७] विभूवस् के पुत्र त्रित ने भूमि के मूर्धा पर अर्थात् भूमि पर इस अग्नि को पा लिया।

अन्य अर्थ—

स्वामी दयानन्द अघ्न्या से गाय के अतिरिक्त विदुषी स्त्री, तिरस्कार के अयोग्य पत्नी, इन्द्रियां, पृथिव्यादि एवं वाणी अर्थ भी लेते हैं। अघ्न्यौ से उन्होंने अहन्तव्य स्त्री पुरुषों का ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ—

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥ ऋ० १।१६४।४०॥

इस ऋचा की गाय एवं माध्यमिक वाणी के पक्ष में व्याख्या ऊपर नैरुक्त प्रकरण में दर्शायी जा चुकी है। स्वामी दयानन्द विदुषीपरक अर्थयोजना करते हैं। उनके अनुसार मन्त्र का भाव यह है कि हे अहन्तव्य गाय के समान वर्त्तमान विदुषी स्त्री, तू शोभन सुखों को भोगने वाली तथा बहुत ऐश्वर्ययुक्त हो, जिससे हम भी ऐश्वर्यवान् होवें। जैसे गाय घास खाकर, शुद्ध जल पीकर, दूध देकर बछड़े आदि को सुखी करती है, वैसे ही समग्रदान वाली सत्याचरणक्रिया को करती हुई तू सुख को भोग और विद्या-रस का पान कर।[१८]

---

१४. त्रिःसप्त एकविंशतिसंख्याकानि नामानि अघ्न्या गौः बिभर्ति धारयतीति। वागत्र गौरुच्यते। या च उरसि कण्ठे शिरसि च बद्धानि गायत्र्यादीनि सप्तछन्दसां नामानि बिभर्ति। यद्वा, वेदात्मिका वागेकविंशति-संस्थानां यज्ञानां नामानि बिभर्ति धारयति। अपर आह—गौः पृथिवी। तस्याश्च गौर्ग्मा ज्मा इति पठितान्येक-विंशतिनामानीति—सायण।

१५. त्रिःसप्त एकविंशतिः नामानि काचिद् गौः बिभर्ति इति पृथिवीमाह। तस्या हि यास्कपठितानि एकविंशतिर्नामानि (निघं० १।१—वेंकट।

१६. अघ्न्या भूमिः। तस्या भूम्याः मूर्धनि। भूम्यामित्यर्थः—सायण।

१७. अघ्न्यायाः यास्के अघ्न्या, २।११ इति गोनाम। तद्वत् कामनादोग्धृत्वाद् अत्र पृथिव्युच्यते। पृथिव्या इत्यर्थः—उद्गीथ।

१८. अथ विदुषीविषयमाह। सुयवसात् या शोभनानि यवसानि सुखानि अत्ति सा भगवती बह्वैश्वर्य-युक्ता विदुषी। अघ्न्ये गौरिव वर्त्तमाने विदुषि—।

इळे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति।
एता तेऽघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्।। य० ८।४३।।

कर्मकाण्डिक व्याख्या के अनुसार इस कण्डिका की देवता गौ है, परन्तु स्वामी दयानन्द ने पत्नी देवता मानी है। तदनुसार यहां अघ्न्या का अर्थ है वह पत्नी जिसका तिरस्कार नहीं किया जाना चाहिए।[19] हे पत्नी, तू स्तुति योग्य होने से इडा, रमणीय होने से रन्ता, स्वीकर्त्तव्य होने से हव्या, कमनीय होने से काम्या, आह्लादकारिणी होने से चन्द्रा, सुशीलता के कारण द्योतमान होने से ज्योति, आत्मस्वरूपेण अविनाशिनी होने से अदिति, प्रशस्त विज्ञानवती होने से सरस्वती, पूज्यतम होने से मही, विविध शास्त्रों का श्रवण करने से विश्रुती और अतिरस्करणीय होने से अघ्न्या है।

आप्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवाऽअयक्ष्माः। य० १।१।।

यहां स्वामी दयानन्द अघ्न्याः पद से 'जो हन्तव्य नहीं हैं, प्रत्युत बढ़ाने योग्य है, ऐसी इन्द्रियां पृथिव्यादि एवं गौएं' गृहीत करते हैं।[20]

उद्व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत।
माुदुष्कृतौ व्येनसाऽघ्न्यौ शूनमारताम्।। ऋ० ३।३३।१३।।

इस ऋचा में 'अघ्न्यौ' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अन्य भाष्यकारों के मत में इसकी व्याख्या पूर्व दर्शा चुके हैं। हे स्त्री-पुरुषों, तुम भ्रष्टाचरण एवं पापाचरण से रहित तथा अहन्तव्य होते हुए सब को प्राप्त करो।[21]

ब्रह्मगवी—

अथर्व० १२।५ ब्रह्मगवी सूक्त कहलाता है, इसमें कहा गया है कि ब्रह्मगवी श्रम और तप से सृष्ट है, ब्रह्म से वित्त है, ऋत में श्रित है, सत्य से आवृत है, श्री से प्रावृत है, यश से परीवृत है, स्वधा से परिहित है, श्रद्धा से पर्यूढ है, दीक्षा से गुप्त है, यज्ञ में प्रतिष्ठित है, ब्राह्मण इसका अधिपति है। जो क्षत्रिय ब्राह्मण की इस ब्रह्मगवी को छीनता एवं पराजित या अपमानित करता है उस के पास से सूनृता, वीर्य, पुण्यलक्ष्मी, ओज, तेज, सहस्, बल, वाक्, इन्द्रिय, श्री, धर्म, ब्रह्म, क्षत्र, राष्ट्र, प्रजा, दीप्ति, यश, वर्चस्, द्रविण, आयु, रूप, नाग, कीर्ति, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, दूध, रस, अन्न, अन्नाद्य, ऋत, सत्य, इष्ट, पूर्त्त, पशु सब चले जाते हैं। इस सूक्त में इस ब्रह्मगवी को अघ्न्या नाम से भी स्मरण किया गया है—

वृश्च प्र वृश्च सं वृश्च दह प्र दह सं दह।
ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनुसंदह।

---

१९. हन्तुं तिरस्कर्त्तुमयोग्ये। पत्नी देवता—द० भाष्य।

२०. वर्धयितुमर्हा हन्तुमनर्हा गाव इन्द्रियाणि पृथिव्यादयः पशवश्च—द०।

२१. हे स्त्रीपुरुषौ, युवामदुष्कृतौ दुष्टं मारतां व्येनसाघ्न्यौ सन्तौ पतिः पत्नी च द्वौ शूनं सुखमुदारतां प्राप्नुताम्—द० भाष्य।

यथायाद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः ।
एवा त्वं देव्यघ्न्ये ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ।
वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना ।
प्र स्कन्धाद् प्र शिरो जहि । अथ० १२।५।६२-६७।।

अर्थात् हे अघ्न्या देवि, तू ब्रह्मघाती को काट डाल, पूर्णतः काट डाल, भलीभांति काट डाल, जला दे, पूर्णतः जला दे, भलीभांति जला दे, जड़ समेत जला दे । हे देवी अघ्न्या, ब्रह्मघाती, कृतापराध, देवहिंसक, अराष्ट्रसेवक के कन्धों और सिर को शतपर्वा, तीक्ष्ण छुरे युक्त वज्र से काट दे, जिससे वह यमसदन से भी सुदूरस्थ पापलोकों को प्राप्त हो ।

यहां यह विचारणीय है कि यह ब्रह्मगवी या अघ्न्या देवी ब्राह्मण की गाय ही है या इसका कोई अन्य रहस्य है । गाय तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र किसी की भी हो अवध्य एवं अतिरस्करणीय है । अतः यहां ब्राह्मण की वाणी से तात्पर्य हो सकता है । वेद में कहा गया है कि ब्रह्म और क्षत्र के समन्वय से राष्ट्र का उत्थान हो सकता है, यदि क्षत्रिय ब्राह्मण की वाणी का अनादर करेगा अर्थात् उसके सत्परामर्श की उपेक्षा करेगा तो निश्चित ही राष्ट्र अधोगति को प्राप्त होगा । दूसरे, यहां ब्रह्मगवी या अघ्न्या से राष्ट्रभूमि अभिप्रेत हो सकती है । ब्राह्मण पुरोहित ही राज्याभिषेक के समय राजा को राष्ट्रभूमि का अधिकार सौंपता है । उस ब्राह्मणप्रदत्त राष्ट्रभूमि का यदि क्षत्रिय राजा अपमान या तिरस्कार करता है, तो वह राष्ट्रभूमि-रूप गाय उसका पूर्णतः उच्छेद कर देती है । सूक्त में गाय का रूपक ऐसी सुन्दरता से वर्णित किया गया है कि वह वाणी या भूमि न प्रतीत होकर साक्षात् गाय ही भासित होती है । यों सूक्त की चरितार्थता गाय-पक्ष में भी घटित हो जाती है । राजा का कर्त्तव्य है अपने देश के दूरदर्शी विद्वान् ब्राह्मण, ऋषियों को गौ आदि सम्पत्ति देकर जीविकोपार्जन से निश्चिन्त रखें जिससे वे राष्ट्र को ज्ञान-विज्ञान के प्रसार से एवं अपने सदुपदेश, सन्मन्त्रणा आदि से लाभान्वित करते रहें ।

पाप पहले आकर्षक लगता है, फिर आसान हो जाता है, उसके बाद आनन्द देने लगता है फिर अनिवार्य प्रतीत होने लगता है और अन्त में जीवन का अङ्ग बनकर सर्वनाश का कारण बनता है ।

ऐसा परामर्श मत दो जो अति सुन्दर हो, अपितु ऐसा परामर्श दो जो कल्याणकारी हो ।

इस बात की चिन्ता मत करो कि लोग तुम को नहीं जानते, अपितु चिन्ता इस बात की करो कि तुम जानने योग्य बने कि नहीं ।

लोभी व्यक्ति को कुछ दिलाकर, क्रोधी को हाथ जोड़कर तथा मूर्ख की हां में हां मिलाकर अपना पीछा छुड़ा लेना चाहिये । बुद्धिमत्ता इसी में है ।

वेद में 'हरियूपीया' शब्द का वास्तविक तात्पर्य

[ले०—डा० शिवपूजन शास्त्री, एम० ए०, श्रीमद्दयानन्द वेद विद्यालय, नई दिल्ली]

'हरियूपीया' शब्द से पाश्चात्त्य और उनके चरण-चिह्नों पर चलनेवाले भारतीय विद्वान् इसे रूढ़ि शब्द मानकर नाना प्रकार की व्याख्या करते हैं, जबकि वेदों में रूढ़ि नहीं वरन् यौगिक शब्द हैं। वेदों में कोई भी अनित्य इतिहास नहीं है।

'हरियूपीया' शब्द पर पाश्चात्त्य विद्वानों की कल्पना—'हरि-यूपीया' का ऋग्वेद (६।२७।५) के एक सूक्त में उस स्थान के रूप में उल्लेख है जहां 'अभ्यावर्तिन-चायमान' ने वृचीवन्तो को पराजित किया था। यह या तो किसी स्थान अथवा किसी नदी का द्योतक हो सकता है, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक युद्ध नदियों के तट पर लड़े गये थे। लुडविग (ऋग्वेद का अनुवाद ३,१५८) ने इसे यव्यावती के तट पर बसे उस नगर के नाम के रूप में ग्रहण किया है जिसके साथ सायण ने इस स्थल के अपने भाष्य में इसे समीकृत किया है। (वेदिशे माइथौलोजी, ३,२६८ नोट १)[1] का विचार है कि यह क्रुम की सहायक 'इर्याव' (हलियाव) नदी है, किन्तु ऐसा कदापि सम्भव नहीं।'[2]

डा० सूर्यकान्त शास्त्री एम०ए०, पी० एच० डी०, विद्याभास्कर ने "वैदिक कोष"[3] में वैदिक इण्डेक्स की सत्य प्रतिलिपि की है।

शास्त्रीजी ने 'वैदिक इण्डेक्स' का ही प्रायः अनुवाद करके 'वैदिक कोष' लिखा है। सर्वश्री मॅकडोनेल व कीथ के ही सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों मान लिया है। गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के स्नातक होते हुए भी महर्षि दयानन्द जी के सिद्धान्त की अवहेलना की है।

पं० गिरीशचन्द्र अवस्थी व्याकरणाचार्य, प्रधानाध्यापक संस्कृत प्राच्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ने 'वेद धरातल' नामक एक विशाल ग्रन्थ लिखा है। आपने भी पाश्चात्त्यों व अन्य प्राच्य विद्वानों के लेखों के आधार पर वेदों में भूगोल व इतिहास माना है।

अवस्थी जी ने प्रारम्भ में 'वैदिक इण्डेक्स' के मत को लिखा है। पुनः आप लिखते हैं—'...
...५ 'भारतीय अनुशीलन' पृष्ठ ३७ ('ऋग्वेद का दान स्तुतियों' में ऐतिहासिक उपादान) नामक लेख में डा० मणिलाल पटेल पी० एच० डी० (मार्म्बुर्ग) ने विश्वभारती, शान्ति निकेतन में अभ्यावर्ती

---

१. तु० कीवत्सिमरः आल्टिन्डिशे लेवेन १८, १९; फेगीः ऋग्वेद, नोट ३२८।

२. "वैदिक इण्डेक्स" भाग २, पृष्ठ ५५२ [मूल लेखक श्री ए० ए० मैकडोनेल एम० ए०, पी-एच०डी०, श्री ए० बी० कीथ एम० ए०, डी० सी० एल०, अनुवादक श्री रामकुमार राम एम० ए०, एल०एल०बी०, संवत् २०१९ वि०, सन् १९६२ ई० में चौखम्बा विद्याभवन, चौक वाराणसी-१ द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण]।

३. "वैदिक कोष" पृष्ठ ५९० [सन् १९६३ ई० में वैदिक रिसर्च समिति, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी वाराणसी द्वारा प्रकाशित।

का वर्णन करते हुए कहा है—'हरियूपीया और यव्यावती के किनारे यह युद्ध हुआ।' हिल्लेब्रान्ट कहते हैं (लीदेहदेस् ऋग्वेद गोटिंगेन १९१३ पृष्ठ ४९) कि हरियूपीया नदी आधुनिक अरिओव या हलिआब नदी है, जो कि कुरनम् प्रान्त की नदियों में से एक है। (यह स्थान पार्थव प्रदेश में नहीं है, जैसा कि ब्रूनहाफर कहते हैं। यह ठीक है कि ब्रूनहाफर ने ही हरियूपीया को अरिओब पहले पहल बतलाया था, मगर उनका बतलाया स्थान ठीक नहीं था।) यव्यावती भी उससे बहुत दूर नहीं होगी।

६. ब्रूनहाफर के मत में अरिओव नदी हरियूपीया है। (भारतीय अनुशीलन) वस्तुतः 'हरियूपीया' का नाम ऋग्वेद ६।२७।५ में आया है। बृहद्देवता ५।१२१ में 'हर्य्यूपीया' पाठ आया है और इसको नदी माना है। सायणाचार्य इसको नदी या नगरी दोनों होने का सम्भव मानते हैं। इन्द्र ने इसके तट पर चायमान अभ्यावर्ती के लिये वरशिख के पुत्रों को मारा। इसका दूसरा नाम यव्यावती भी था। इसी यव्यावती के तट पर चायमान अभ्यावर्ती का यज्ञ हुआ था। ऋग्वेद में चायमान अभ्यावर्ती का 'सम्राट्' विशेषण इस राजा को ऐन्द्राभिषेक से अभिषिक्त पूर्व देश का राजा कह रहा है। पूर्व देश का राजा कुरुम प्रान्त में जाकर यज्ञ करे, यह सम्भव नहीं। यदि हरियूपीया गङ्गा और सरस्वती के समान यज्ञ के लिए प्रतिष्ठित होती तो यज्ञ करने के लिए जाना सम्भव भी था। परन्तु संस्कृत वाङ्मयमात्र में हरियूपीया या यव्यावती के इतने पवित्र होने के कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए हरियूपीया या यव्यावती नदी पूर्वदेश में कहीं पर होनी चाहिए। ऐतरेय ब्राह्मण ३८।३ में ऐन्द्राभिषेक से अभिषिक्त पूर्व देश के राजा की पदवी 'सम्राट्' होती थी, यह स्पष्ट है। ऋग्वेद ६।२७।८ में चायमान अभ्यावर्ती की पदवी 'सम्राट्' लिखी है, इससे यह पूर्व देश का राजा था, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। ऋग्वेद में इस प्रकार वर्णन मिलता है। ऋग्वेद ६।२७।४ में यह मन्त्र इन्द्र स्तुति में आया है। इसके ऋषि भरद्वाज हैं। अर्थ यह है—'हे इन्द्र! जिस वीर्य से आपने वरशिख (असुर) के पुत्रों को मारा, जिस बल से चलाये गये वज्र के शब्द से वरशिख का सबसे बलिष्ठ पुत्र फट गया, हमने आपके इस बल को जाना।'' ऋग्वेद ६।२७।५ में चायमान के पुत्र अभ्यावर्ती को धन देते हुए इन्द्र ने वरशिख के पुत्रों को मारा। किस प्रकार मारा? जब इस इन्द्र ने हरियूपीया के पूर्व भाग में स्थित वृचीवन्तों (वरशिख के पूर्वज का नाम वृचीवत् था, उसकी सन्तान वृचीवन्त) वरशिख के पुत्रों को मारा तब वरशिख का दूसरा पुत्र जो हरियूपीया के दूसरे भाग में स्थित था, विदीर्ण हो गया।

ऋग्वेद ६।२७ का अर्थ है—हे इन्द्र! अन्न अथवा यश की कामनावाले १३० कवचधारी यज्ञपात्रों को नष्ट करते हुए वृचीवन्तों ने आपको मारने की इच्छा से यव्यावती में आपके ऊपर धावा किया और मारे गए। ऋग्वेद ६।२७।७ का अर्थ है—''गतिविशेष से चलनेवाले इन्द्र के घोड़े अन्तरिक्ष में चलते हैं। वृचीवन्तों का धन दैववाल (देववाल के वंशोत्पन्न) अभ्यावर्ती को ईप्सित देते हुए उस इन्द्र ने सृञ्जय नामक राजा के लिए तुर्वश नामक राजा को दिया।'' ऋग्वेद ६।२७।८ में अभ्यावर्ती चायमान का 'सम्राट्' विशेषण लिखा है। इससे यह देश का राजा था। उसमें सन्देह नहीं। यव्यावती और हरियूपीया दोनों ही एक हैं क्योंकि यव्यावती में अभ्यावर्ती के यज्ञ में चायमान के पुत्रों का इन्द्र के मारने के लिए धावा करने का वर्णन है। यज्ञ के पात्रों को भङ्ग करना वृचीवन्तों का इन्द्र शत्रु और यज्ञविध्वंसक असुर होना सिद्ध कर रहा है और वृचीवन्तों

का इन्द्र द्वारा हरियूपीया के पूर्व पर भाग में मारा जाना, दोनों नाम एक ही के हैं। यह सिद्ध कर रहा है। हिलब्रान्ट अभ्यावर्ती को ईरान में मानते हैं। वह ऐतरेय के प्रमाण से खण्डित हो जाता है।"[3]

पौराणिक पं० रामगोविन्द त्रिवेदी 'वेदान्तशास्त्री'(ऋग्वेद के हिन्दी भाषान्तरकार)लिखते हैं—"३८ हरियूपीया ऋग्वेद (६।२७।५) में इसका नाम आया है। कहा गया है कि इन्द्र ने चायमान राजा के अभ्यावर्ती नामक पुत्र को धन देने के लिए वरशिख के पुत्रों और वरशिख के गोत्रोत्पन्न वृचीवान् के पुत्रों को मार डाला था। ऋग्वेद के जर्मन अनुवादक लुड्विग ने लिखा है कि हरियूपीया नगरी का नाम है। सायण के मत में यव्यावती और हरियूपीया एक ही नदी का नाम है। हिलेब्राण्ट्स (हिलेब्रान्त) के मत से यह कुरम की सहायक नदी इर्याब या इलिआव है। कुछ लोग कहते हैं कि यह हिरात (अफगानिस्तान) की हरिरुद्र नदी है। हापकिंस के मत से सरयू का नाम है। इस तरह यहां 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' की उक्ति चरितार्थ हो रही है।"[४]

डा० श्री अविनाशचन्द्रदास एम० ए०, पी० एच० डी०, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता लिखते हैं—'The word Hariyupiya occurs in a Rigvedic verse (RV. VI. 27,5), which is indentified with Europe. But it is probably the name of a river or town, as Sayana says, and it is related that Indra killed the sons of Vrcivat (who was himself the son of Varasikha), Who were encamped on the eastern side of Hariyupiya, and that Vrcivat's eldest son who was encamped on the western side seeing his brother's killed, died through fear. This expedition, therefore was also a wara conquest, and Hariyupiya does not seem to us to the name of the contenent of Europe. But even if it was; it only goes to show that the ancient Aryans of Rigvedic tines advanced from sapta-sindhu as far as Europe in their warlike expectitions"[५]

अर्थ—'हरियूपीया शब्द ऋग्वैदिक मन्त्र (ऋ० ६।२७।५) में घटित होता है, जो यूरोप के साथ एक नया परिच्छेद आरम्भ किया है। परन्तु जैसा सायण कहता है कि यह प्रायः एक नदी या नगर का नाम है और यह वृचीवत (जो स्वयं वरशिख का पुत्र था) के पुत्रों की इन्द्र द्वारा हत्या से सम्बन्धित है जो हरियूपीया के पूर्वीय पार्श्व पर पड़ाव डाला था। और वृचीवत के सबसे बड़े पुत्र ने अपने भ्राताओं के मारे जाने को देखकर पश्चिमीय पार्श्व पर पड़ाव डाला था और भय से मर

---

३. "वेदधरातल" पृष्ठ ७७६ से ७७९ तक [संवत् २०१० वि० में 'वाङ्मय-विहार-प्रकाशन, बाबूगंज', लखनऊ द्वारा प्रकाशित, प्रथमावृत्ति]।

४. "वैदिक साहित्य" पृष्ठ ३५४ [सन् १९६८ ई० में भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रकाशन कार्यालय, दुर्गा कुण्ड मार्ग, वाराणसी द्वारा प्रकाशित, द्वितीय संस्करण]।

५. **"Regvedic India" PP. 343-344 [सन् १९७१ ई० में मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७ द्वारा प्रकाशित, तृतीय संशोधित संस्करण]।**

गया। अतएव यह साहसिक यात्रा विजय का युद्ध भी था और हरियूपीया यूरोप के महाद्वीप के नाम में हम लोगों को प्रकट नहीं होता है। परन्तु यदि यह था तो प्राचीन ऋग्वैदिक काल के प्राचीन आर्यों का सप्तसिन्धु से अग्रिम बढ़ना प्रदर्शित करता है, यदि यूरोप में उनकी युद्ध-सम्बन्धी साहसिक यात्राओं में है।''

समीक्षा—उपर्युक्त पूर्वपक्ष है, अब पाठकगण इसका उत्तरपक्ष भी देखिये। जब वेदों में कोई अनित्य इतिहास नहीं है और वेदों के सभी शब्द यौगिक हैं तब हरियूपीया का अर्थ नदी या नगर कैसे माना जाय? यह पाश्चात्त्य विद्वानों की कल्पना ही है। सर्वप्रथम सायणाचार्य की यह भूल थी जिनके भाष्य की प्रतिलिपि सभी पाश्चात्त्य व भारतीय विद्वानों ने की है।

लौकिक और वैदिक शब्दों के अर्थ में वेद होता है। लौकिक व वैदिक शब्दों का भेद महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने 'महाभाष्य' के आरम्भ में दर्शाया है कि **''केषां शब्दानाम् लौकिकानां वैदिकानां च''** (महाभाष्य पस्पशाह्निक) आगे **'नैगमरूढ़िभवं हि सुसाधु। नैगमाश्च रूढिभवाश्च'** (महाभाष्य अ० ३।३।१) यह कहकर लौकिक और वैदिक शब्द भिन्न-भिन्न हैं, यह बतलाया तथा नैगम अर्थात् वेद के शब्द रूढ़ नहीं होते, यह भी दर्शाया है।

इस भेद को न समझकर बहुत से आर्ष-ग्रन्थों की परिपाटी न समझनेवालों को भ्रम होता है। वैदिक निघण्टु में 'अहि'=मेघ का, परन्तु लौकिक कोषों में 'अहि'=सांप को कहते हैं। वैदिक निघण्टु में 'पुरीष' जल को, परन्तु लौकिक कोषों में 'पुरीष' मल, 'विष्ठा' को कहते हैं। निघण्टु में वेना उशिक्, कण्व, गृत्स आदि जो लोक में संज्ञावाची शब्द हैं, इनको 'मेधावी' नामों में पढ़ा है। जो व्यक्ति वेद के शब्दों के अर्थ इन लौकिक कोषों के आधार पर समझेंगे, उन्हें वेद का अर्थ कभी भी समझ में नहीं आ सकता।

उपर्युक्त विद्वानों ने वैदिक शब्द 'हरियूपीया' का अर्थ लौकिक समझकर 'नदी या नगर' कर दिया।

यास्क (निरुक्त १।१२) में जो कहा कि जिस नाम में स्वर और धातु प्रत्ययादि संस्कार उपपन्न हों, व्याकरण शास्त्र की प्रक्रिया से अनुगत हों, वह नाम 'आख्यातज' है। यही बात श्री पतञ्जलि ने 'उणादयो बहुलम्' (पा० ३।३।१) सूत्र पर **''नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्''** सब निरुक्तकार व वैयाकरणों में शाकटायन सब नामों को धातुज (यौगिक) कहता है। अर्थात् सब नाम प्रकृति प्रत्ययार्थ के सम्बन्ध से यौगिक अथवा योगरूढ़ होते हैं, रूढ़ि अर्थात् अव्युत्पन्न शब्द कोई नहीं। जिस शब्द का प्रकृति प्रत्यय कुछ नहीं बतलाया गया वहां यदि प्रत्यय जान पड़े तो धातु की कल्पना और धातु जान पड़े तो प्रत्यय की कल्पना कर लेनी चाहिए। इस प्रकार उन शब्दों का अर्थ ज्ञान कर लेना चाहिए।

यास्क और पतञ्जलि यौगिकवाद के परम प्रतिपादक हैं। महाभाष्यकार ने 'भोगैः' का शरीरैः (अ० ५।१।१६ में) 'सप्तसिन्धव' का 'सप्त विभिक्तयः' तथा 'सखायः' का 'वैयाकरणाः' अर्थ किया है यह बिना यौगिकवाद के कैसे हो सकता है?

श्री सायणाचार्य के पूर्ववर्ती वेदभाष्यकार और यौगिकवाद—श्री दुर्गाचार्य 'निरुक्तटीका' प्राज्ञश्चात्या=परमात्मा। वरुण:=आदित्य, विद्युत्। सुपर्ण:=अग्नि:। सोम:=दुग्धम्। कश्यप:=स्त्रिय:, बहुप्रज्ञाना:। आप:=वाणी।

श्री भट्टभास्कर—तैत्तिरीय-संहिता-भाष्य=गावो=गन्तारो जना:। यज्ञम्—परमात्मानं विष्णुम्।

श्री महीधराचार्य—यजुर्वेदभाष्य में सवितु:=परमेश्वरस्य (यजु० १०।६)। इन्द्र:=आत्मा (यजु० ६।२०)।

श्री उव्वटाचार्य—यजुर्वेद-भाष्य में पिता=पाता (यजु० २।११); इन्द्र:=यजमान: (यजु० ४।२७)।

श्री आत्मानन्द जी—अस्यवामीय (ऋ० १।१६४) सूक्त-भाष्य में—पुत्रा:=अवयवा:, अंशा:। अग्ने=अग्रणी: परमात्मा। सूर्य:=परमात्मा। सोम:=जगदीश्वर:। स्वसार:=ज्ञानेन्द्रियाणि। अश्विभ्याम्=गुरुशिष्याभ्याम्।

इसी प्रकार महर्षि दयानन्द जी सरस्वती ने अपने वेदभाष्य में 'यौगिकवाद' का प्रयोग किया है।

अब ऋग्वेद ६।२७।५ में आए 'हरियूपीया' का यौगिक अर्थ देखिए—हरियु-पीयापदयो: समास: पूर्वस्य दीर्घ:। हरियु:—हरिपदादिच्छायां क्यजन्तात् ताच्छील्ये उ:। पीया=पीङ् पाने (दिवा०) धातोर्बाहुलकाद् औणादिण्यक्। तत: स्त्रियां टाप्।

ऋग्वेद मण्डल ६ सूक्त २७ मन्त्र ५ का सत्यार्थ—

"वधीदिन्द्रो वरशिखस्य शेषोऽभ्यावर्तिने चायमानाय शिक्षन्। वृचीवतो यद्धरियूपीयायां हन् पूर्वे अर्धे भियसापरो दर्त्॥"

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती का भाष्य—(वधीत्) हन्यात् (इन्द्र) (वरशिखस्य) वरा शिखा यस्य तद्वत् मेघस्य (शेष:) य शिष्यते (अभ्यावर्तिने) अभ्यावर्तितुं शीलं यस्य तस्मै (चायमानाय) सत्कर्त्रे (शिक्षन्) विद्यां ददन् (वृचीवत:) वृचिक विद्या-छेदेने। प्रशस्तं यस्य तस्य (यत्) य: (हरियूपीयायाम्) हरीन् मुनीनिच्छतां पीयायां पानक्रियायाम् (हन्) हन्ति (पूर्वे) सम्मुखे (अर्द्धे) (भियसा) भयेन (अपर:) (दर्त्) दृणाति।

पदार्थ—हे मनुष्यो! (यत्) जो (शेष:) अवशिष्ट (इन्द्र:) सूर्य (वृचीवत:) अविद्या का छेदन प्रशंसित जिसके उस (वरशिखस्य) शेष शिखावाले के समान मेघ के (अभ्यावर्तिने) चारों ओर घूमनेवाले के लिए जैसे वैसे (चायमानाय) सत्कार करनेवाले के लिए (शिक्षन्) विद्या देता हुआ (भियसा) भय से (हरियूपीयायाम्) विचारशील मनुष्यों की इच्छा करते हुए की पान क्रिया में (पूर्वे) सन्मुख (अर्द्धे) अर्द्ध भाग में (हन्) नाश करता वा (वधीत्) नाश करे (अपर:) अन्य बिजुली-रूप अग्नि उसको (दर्त्) विदीर्ण करता है वैसे वर्तमान उपदेशक का हम लोग सत्कार करें।[६]

६. "ऋग्वेदभाष्यम्" (अष्टमभागात्मकम्) पृष्ठ ३३१-३३२ (संवत् १९८३ वि० में वैदिक यन्त्रालय, अजमेर द्वारा मुद्रित]।

यहां महर्षि दयानन्दजी महाराज ने 'हरियूपीया' शब्द का यौगिक अर्थ 'विचारशील मनुष्य' किया है।

चतुर्वेदभाष्यकार पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ—

"जब (हरि—यूपीयायाम्) वह मनुष्यों को गुणों से मुग्ध करनेवाली विद्या के निमित्त (पूर्वे अर्ध) पूर्व के उत्तम काल में (अपर:) दूसरा भी (भियसा दर्त्) भय से भीत हो, इस प्रकार से वह (वृचीवत:) अज्ञान-नाशक विद्यावाले शिष्यों को (हन्) ताड़ना करे तब (वर-शिखस्य) उत्तम शिखाधारण करने वाले (वृचीवत:) अविद्या के छेदन करनेवाली उत्तम इच्छा से युक्त विद्यार्थी का (शेष) शासन करनेहारा (इन्द्र:) उत्तम औषधि (चायमानाय) सत्कार करनेवाले (अभ्यावर्तिने) समीप रहनेवाले अन्तेवासी शिष्य को (शिक्षन्) शिक्षा देता हुआ (वर्धात्) दण्ड भी दे, उसकी यथोचित ताड़ना भी करे"[७]

शर्मा जी ने पहला अर्थ "वह मनुष्यों को गुणों से मुग्ध करने .." तथा दूसरा अर्थ "मनुष्यों के स्वामी राजा" किया है।

वेद अनुसन्धानकर्त्ता आचार्य पं० वैद्यनाथ शास्त्री अपनी पुस्तक 'वैदिक इतिहास विमर्श'[८] में 'वरशिख' पर लिखते हुए लिखते हैं—'इण्डेक्स मानती है कि यह एक नेता का नाम है जिसकी जाति ऋग्वेद में अभ्यावर्तिन् चायमान के द्वारा पराजित की गई वर्णित ह।

यहां पर भी इण्डेक्स का वर्णन विपरीत है। ऋग्वेद ६।२७।४-५ मन्त्रों में वरशिख पद आया है। परन्तु वहां पर इन्द्र के द्वारा इसका वध लिखा है। अभ्यावर्तिन चायमान् के द्वारा नहीं। इण्डेक्स का वक्तव्य त्रुटिपूर्ण है। वरा शिखा यस्य स: वरशिखो मेघ: अर्थात् श्रेष्ठ शिखा है जिसकी वह वरशिख है और वह मेघ है।

इस प्रकार शास्त्री जी ने यहां यौगिक अर्थ किया है।

अत: पाश्चात्त्य विद्वान् उनके भारतीय अनुयायी तथा सायणाचार्य जी का मत भ्रमपूर्ण है।

☀ दुराचारी पण्डित से सदाचारी अज्ञानी श्रेष्ठ है, निठल्ले ज्ञानी से कर्मशील साधारण व्यक्ति ऊंचा है। बेईमान की कमाई खानेवाले सेठ से बांटकर खानेवाला गरीब अच्छा है। निकम्मे संन्यासी से परोपकारी गृहस्थ हजार दर्जा अच्छा है।

✖ जो पाण्डित्य के द्वारा प्रभु की व्याख्या करने का यत्न करता है वह ठीक उस व्यक्ति के समान है जो स्वयं कभी काशी गया नहीं किन्तु नक्शे के द्वारा काशी का वर्णन करता है।

७. ऋग्वेद संहिता भाषाभाष्य (चतुर्थखण्ड), पृष्ठ ३२१-३२२ [संवत् १९९१ वि० में आर्य साहित्य मण्डल लि०, अजमेर द्वारा प्रकाशित, प्रथमावृत्ति)।

८. सन् १९६१ ई० में आर्य साहित्य मण्डल लि०, अजमेर द्वारा प्रकाशित।

यज्ञार्थ यजुर्वेद का निर्माण

[ले०—वी० उपेन्द्रराव, ई. ६/१५८ प्रायवेट सेक्टर, अरेरा कालोनी, भोपाल-४६२०१६]

यजुर्वेद का नान्दीमन्त्र

यजुर्वेद के प्रारम्भिक मन्त्र—"**इषे त्वोर्जे त्वा**" में एक वाक्यांश पठित है—**'श्रेष्ठतमाय कर्मणे'**। ब्राह्मणकारों ने इस श्रेष्ठतम कर्म की एक परिभाषा दी—"**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**", अर्थात् यज्ञ ही अत्यन्त श्रेष्ठ कर्म है। यजुर्वेद के इस प्रारम्भिक मन्त्र में विद्यमान अनेक वाक्यों के विषय-बोध से ज्ञात होता है कि यह मन्त्र यज्ञ का नान्दीरूप है। अतः यह बात स्पष्ट होती है कि यजुर्वेद-संहिता के निर्माण का मूल उद्देश्य यज्ञार्थ मन्त्रों के संकलन को प्रस्तुत करना है। इस बात की परीक्षा हम यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए करेंगे।

माध्यन्दिन संहिता क मिश्रित रूप

बहुमत से यह स्वीकृत हुआ है कि माध्यन्दिन शाखा में कुल १९७५ मन्त्र हैं। इन मन्त्रों का स्वरूप मिश्रित है, अर्थात् इस संहिता में ऋग्वेद के मन्त्रों के समान सहज छन्दोबद्ध मन्त्र भी हैं, संज्ञा शब्दों के समूहात्मक मन्त्र भी हैं, वाक्यों के समूहात्मक मन्त्र भी हैं और बड़े-बड़े गद्यभाग भी हैं। परन्तु इस वेद में ब्राह्मण-ग्रन्थों के समान अथवा माध्यन्दिन एवं काण्व संहिताओं से भिन्न अन्य कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा संहिताओं के समान गद्यरूप विवरणात्मक तथा इतिहासद्योतक अंश नहीं हैं।

यजुर्वेद संहिता का यह मिश्रित स्वरूप उसके यज्ञमूलकत्व का प्रदर्शक है।

यजुर्वेद में निहित ऋग्वेद

यजुर्वेद में वर्तमान ऋग्वेद से चयन करके उद्धृत मन्त्रों का भाग सम्पूर्ण यजुर्वेद की एक तिहाईवाले भाग से अधिक है।[1] इतने बड़े परिमाण में ऋग्वैदिक मन्त्रों का यजुर्वेद में विद्यमान होना ध्यानयोग्य एवं विचारणीय विषय है। इसके अतिरिक्त ऋग्वैदिक मन्त्रों के स्वरूपवाले लगभग इतने ही मन्त्र भी यजुर्वेद में विद्यमान हैं, जो वर्तमान ऋग्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद संहिताओं में विद्यमान नहीं हैं। यह भी एक विचारणीय विषय बन जाता है।

माध्यन्दिन संहिता का मन्त्रविभागीकरण

अतः यह आवश्यक हो जाता है कि यजुर्वेद के समस्त १९७५ मन्त्रों का तत्स्वरूपानुसार वर्गीकरण किया जाए।

इस वर्गीकरण के मुख्य दो विभाग बनते हैं—(१) वेदविभाग तथा (२) यजुर्वेद विभाग।

वेदविभाग में ८४६ मन्त्र एवं यजुर्वेद विभाग में ११२९ मन्त्र आते हैं।

---

१. आश्चर्य है कि अधिकांश यजुर्वेदभाष्यकार, यजुर्वेदाध्येता एवं यजुर्वेदानुयायी इस बात से अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं।

वेद विभाग—वेद विभाग में तीन उपविभाग बनते हैं—(१) ऋग्वेद (२) सामवेद तथा (३) अथर्ववेद।

याज्ञिक मांग के अनुरोध पर ऋङ्मन्त्राकर्षण

ऋग्वेद के उपविभाग में ७४६ मन्त्र हैं। किन्तु वास्तव में ऋग्वेद के ६७६ मन्त्र यजुर्वेद में पुनरुक्तियों के साथ उद्धृत होकर ७४६ मन्त्र स्थान-प्राप्त हैं।

यजुर्वेद के प्रथम, १४वें, २४वें, २८वें एवं ३९वें अध्याय को छोड़कर शेष सभी अध्यायों में ऋग्वेद के मन्त्र उद्धृत हैं।

द्वितीय अध्याय में एक ही ऋग्वैदिक मन्त्र—**'वीतिहोत्रं त्वा कवे'** (ऋ० ५।२७।३) चौथे मन्त्र के स्थान में उद्धृत है। यही मन्त्र आगे सामवेद में भी सा० १५२३ पर उद्धृत है।

अधिक परिमाण में ऋग्वैदिक मन्त्रों से युक्त यजुर्वेद के अध्याय निम्न हैं—

अध्याय	कुल मन्त्रसंख्या	ऋग्वैदिक मन्त्र	अध्याय	कुल मन्त्रसंख्या	ऋग्वैदिक मन्त्र
३	६३	३४	१९	९५	२९
७	४८	२५	२०	९०	२३
८	६३	२०	२५	४७	३८
११	८३	२९	२७	४५	२३
१२	११७	७३	२९	६०	४६
१५	६५	३२	३३	९७	९२
१७	९९	५७	३४	५८	४८
				१०३०	५६९

उपर्युक्त तालिका से द्रष्टव्य है कि यजुर्वेद का ३३वां अध्याय पूरा ही लगभग ऋग्वेद ही है। ३४वां अध्याय भी लगभग यही सूचना दे रहा है। आगे के शेष अध्याय तथा ३०वें से ३२वें तक के अध्याय बहुत छोटे आकार के हैं।

जब तक मांग इस प्रकार की न हो, तब तक इतने मन्त्र यजुर्वेद में ऋग्वेद से नहीं लिये जाते। यह मांग याज्ञिक कर्मकाण्ड के अनुरोध से ही हो सकती है।

ऋग्वेद के मन्त्र यजुर्वेद में

अब हम आगे संक्षेप में दिखाते हैं कि किस-किस प्रकार के मन्त्र ऋग्वेद से लेकर यजुर्वेद में रखे गये हैं।

अग्न्याधान

(१) अग्न्याधान के लिए विनियुक्त तीनों प्रसिद्ध मन्त्र भी मूलतः यजुर्वेद के न होकर ऋग्वेद के ही हैं। इन मन्त्रों की अवस्थिति निम्नानुसार है—

समिधाग्नि दुवस्यत० (य० ३।१); (ऋ० ८।४४।१)।

यह मन्त्र आगे य० १२।३० पर पुनरुक्त भी है।

सुसमिद्धाय शोचिषे० (य० ३।२); (ऋ० ५।५।१)

तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो० (य० ३।३); (ऋ० ६।१६।११; सा० ६६१)

(२) **ग्रहों का भ्रमण**—सूर्य-चन्द्र-पृथिवी-भ्रमण-विषयक मन्त्र भी ऋग्वेद से लेकर अन्य तीनों वेदों में उद्धृत हैं। अथर्ववेद ने कुछ पाठभेद भी किया है। मन्त्रों की अवस्थिति निम्न है—

आयं गौः पृश्निरक्रमीद्०(य० ३।७); ऋ० १०।१३६।१; सा० ६३०, १३७६; अ० ६।३१।१, २०।४८।४॥

अन्तश्चरति रोचनास्य०(य० ३।७); ऋ० १०।१८९।२; सा० ६३१, १३७७, अ० ६।३१।२, २०।४८।५॥

त्रिंशद्धाम विराजति० (य० ३।८); ऋ० १०।१८९।३, सा० ६३२, १३७८। अ० ६।३१।३, २०।४८।६॥

इस मन्त्रत्रिक का सामवेद एवम् अथर्ववेद में पुनः पठित होना उन वेदों की निर्माणप्रक्रिया की विधा पर प्रकाश डालता है।

(३) **गायत्री मन्त्र**—सुप्रसिद्ध गायत्री मन्त्र का मुख्य भाग ऋग्वेद से लेकर ही चार स्थानों पर यजुर्वेद में रखा गया है। यदि याज्ञिक मांग न होती तो यजुर्वेद में एक स्थान पर भी इसकी आवश्यकता न होती। मन्त्र की अवस्थिति निम्न है—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो० (ऋ० ३।६२।१०) (य० ३।३५; २२।९, ३०।२, सा० १४६२)

भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं० (य० ३६।३)

इतने सुप्रसिद्ध मन्त्र का अथर्ववेद में न पाया जाना किन्तु उसके स्थान में इसके माहात्म्य का पाठ करना (अ० १९।७१।१) अथर्ववेद की निर्माणप्रक्रिया एवम् इतिहास का द्योतक है।

(४) **मोक्षमन्त्र**—सुप्रसिद्ध मोक्षमन्त्र—**'त्र्यम्बकं यजामहे०'** (य० ३।६०)भी ऋग्वेद से (ऋ० ७।५९।१२) लेकर यजुर्वेद में पठित है। और यजुर्वेद ने इस ऋङ्मन्त्र का अधिक विस्तार भी किया है।

अथर्ववेद ने भी अ० १४।१।१७ पर एक छायामन्त्र की रचना की है—**'अर्यमणं यजामहे०'** यह छायामन्त्र विवाह-संस्कार को उद्दिष्ट करके बनाया गया है।

(५) **विष्णु-विक्रमण**—ऋग्वेद का प्रसिद्ध विष्णुदेवताक मन्त्रपंचक—**'इदं विष्णुर्विचक्रमे०'** यजुर्वेद में (एवम् अन्य वेदों में) अपनी आवश्यकता के पूर्त्यनुसार उद्धृत है, जो निम्न है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे (ऋ० १।२२।१७); (य० ५।१५, सा० २२२, १६६९, अ० ७।२६।४)

यजुर्वेद ने इस मन्त्र के अन्त में **'स्वाहा'** पद जोड़कर अपनी पहचान दी है।

त्रीणि पदा वि चक्रमे० (ऋ० १।२२।१८), (य० ३४।४३; सा० १६७०; अ० ७।२६।५)

विष्णोः कर्माणि पश्यत०(ऋ० १।२२।१९)(य० ६।४,१३।३३; सा० १६७१; अ० ७।२६।६)

तद् विष्णोः परमं पदं० (ऋ० १।२२।२०); (य० ६।५, सा० १६७२; अ० ७।२६।७)

तद् विप्रासो विपन्यवो० (ऋ० १।२२।२१); (य० ३४।४४; सा० १६७३)

ऋग्वेद में विष्णुदेवताक सूक्त एक और ऋ० १।१५४ पर है। इसके ७ मन्त्रों में से ३ मन्त्र यजुवद में निम्नानुसार लिये हैं—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि० (ऋ० १।१५४।१); (य० ५।१८; अ० ७।२६।१)

प्र तद् विष्णुः स्तवते (ऋ० १।१५४।२) (य० ५।२०; अ० ७।२६।२ पू०, ७।२६।३ पू०)

ता वां वास्तून्युश्मसि० (ऋ० १।१५४।६)

यजुर्वेद ने इसे य० ६।३ पर पाठभेद के साथ उद्धृत किया है।

(६) **अग्निमन्त्र**—ऋग्वेद का १०।४५वां सूक्त अग्निदेवताक है। इसके १२ मन्त्रों को यजुर्वेद ने क्रमशः य० १२।१८ से १२।२९ तक उद्धृत किया है। किन्तु ऋ० १०।४५।४ वाले मन्त्र—'**अक्रन्ददग्निः**' को य० १२।६ एवं य० १२।३३ पर भी तथा ऋ० १०।४५।८ वाले मन्त्र—'**दृशानो रुक्म०**' को पूर्व य० १२।१ के स्थान पर भी उद्धृत किया गया है। ये सारे उद्धरण याज्ञिक मांग के अनुसार है।

(७) **ओषधि**—ऋग्वेद का १०।९७ वाला सूक्त ओषधि देवतावाला है। इसमें २३ मन्त्र हैं। इसके प्रथम २२ मन्त्रों को यजुर्वेद ने क्रमशः य० १२।७५ से १२।९६ तक उद्धृत किया है, किन्तु एक क्रमभंग करके। यह क्रमभंग य० १२।९५ (ऋ० १०।९७।२०) के स्थान में हुआ है।

यजुर्वेद द्वारा किया गया यह क्रमभंग उचित है और ऋग्वेद का मन्त्रक्रम ऋ० १०।९७।१९, २०,२१ समाधानकारक नहीं है।

ऋग्वेदसंहिता के पश्चात् यजुर्वेदसंहिता के निर्माण होने पर ही गलती में सुधार करना सम्भव होता है।

ऋ० १०।९७।२३ वाले मन्त्र—'**त्वमुत्तमस्योषधे०**' को यजुर्वेद ने १२।१०१ पर लिया है। य० १२।९७ से १२।१०० तक के मन्त्र भी ओषधि-सम्बन्धी हैं। इन्हें यजुर्वेद ने लुप्त ऋक्शाखा से लिया है।

उपर्युक्त सूक्त के मन्त्रांशों को लेकर अथर्ववेद ने भी कुछ मन्त्र—अ० ४।९।७, ८।७।२७, ४।४।४, ४।९।४, ९।३।१०, ८।७।२७, ६।९६।१, ११।६।१, ६।९६।२, ७।११२।१२, ११।६।७, ८।२। २८, ६।१०९।२, ६।१५।१ पर निर्मित किये हैं। यह तभी सम्भव होगा, जब अथर्ववेद का निर्माण सबके बाद हो।

(८) **विश्वकर्मा**—ऋग्वेद में विश्वकर्मदेवताक दो सूक्त हैं। ऋ० १०।८१वें सूक्त में ७ मन्त्र हैं तथा १०।८२वें सूक्त में भी ७ मन्त्र हैं। इन १४ मन्त्रों को यजुर्वेद ने क्रमशः १७।१७ से १७।३१ तक उद्धृत किया है, किन्तु य० १७।२४वें मन्त्र के स्थान में पूर्व य० ८।४६ वाले मन्त्र को पुनरुक्त किया है। विश्वकर्मदेवताक यह पूर्व मन्त्र लुप्त ऋक् शाखा से लिया गया है।

(९) **युद्ध एवं शस्त्रास्त्र**—ऋग्वेद के १०।१०३ वें सूक्त में युद्धसम्बन्धी १३ मन्त्र हैं। इन्हें

यजुर्वेद ने क्रमशः १७।३३ से १७।४६ तक उद्धृत किया है। किन्तु य० १७।४५ वाले स्थान में एक अन्य युद्ध-सम्बन्धी मन्त्र को ऋ० ६।७५।१६ से लेकर डाला है।

सामवेद ने भी उपर्युक्त ऋग्वैदिक सूक्त के मन्त्रों को क्रमशः सा० १८४९ से १८६२ तक उद्धृत किया है। परन्तु सा० १७६० के स्थान में एक अन्य युद्धविषयक मन्त्र—**'असौ या सेना'** उद्धृत है। यह मन्त्र वर्तमान ऋग्वेदसंहिता में नहीं है। किन्तु य० १७।४७ पर उद्धृत है। अतः यह मन्त्र यजुर्वेद में (एवं सामवेद में) लुप्त ऋक्शाखा से गृहीत है।

वर्तमान ऋग्वेदसंहिता की अपूर्णता इससे स्पष्ट है।

अथर्ववेद ने भी उपर्युक्त ऋग्वेद के मन्त्रों को अ० १९।१३ वाले सूक्त में स्थान दिया है, किन्तु ऋ० १०।१०३।१२ एवं १०।१०३।१३ वाले मन्त्रों को अ० ३।२।५ एवं ३।१९।७ पर क्रमशः उद्धृत किया है।

य० १७।४७ वाला मन्त्र अथर्ववेद में ३।२।६ पर लिया गया है।

युद्ध एवं शस्त्रों से सम्बन्धित एक और सूक्त (ऋ० ६।७५) ऋग्वेद में है। इसमें १९ मन्त्र हैं। इनमें से युद्ध-सम्बन्धी तीन मन्त्रों को (ऋ० ६।७५।१६,१७,१८) यजुर्वेद ने क्रमशः य० १७।४५; १७।४८; १७।४९ पर उद्धृत किया है।

सामवेद ने क्रमशः इन्हें सा० १८६३, १८६६ एवं १८७० पर उद्धृत किया है।

अथर्ववेद ने ऋ० ६।७५।१६ को अ० ३।१९।८ पर तथा ऋ० ६।७५।१८ को अ० ७।११८।१ पर उद्धृत किया है।

ऋ० ६।७५ वें सूक्त के शस्त्र-सम्बन्धी मन्त्रों को (ऋ० ६।७५।१ से ६।७५।१४) यजुर्वेद ने आगे क्रमशः य० २९।३८ से य० २९।५१ तक उद्धृत किया है। ऋ० ६।७५।१५ एवं ६।७५।१९ को यजुर्वेद ने छोड़ दिया है, जबकि सामवेद ने ऋ० ६।७५।१९ को सा० १८७२ पर उद्धृत किया है।

रथ और दुन्दुभि से सम्बन्धित ६ मन्त्र ऋ. ६।४७।२६ से ६।४७।३१ तक हैं। यजुर्वेद ने इन्हें क्रमशः य. २९।५२ से २९।५७ तक उद्धृत किया है। अथर्ववेद ने इन्हें ६।१२५ एवं ६।१२६ में पढ़ा है।

उपर्युक्त उद्धरणों से एक बात सिद्ध होती है कि चारों वेद पृथक् समयों में निर्मित हुए। यदि युद्धसम्बन्धी जानकारी देना ही उद्देश्य होता, तो वह ऋग्वेद से पूरा होता ही था। अतः उन मन्त्रों को अन्य वेदों में उद्धृत करने की आवश्यकता ही नहीं थी।

परन्तु जब याज्ञिक-कर्मकाण्ड की पूर्ति के लिए अन्य वेदों के निर्माण को हाथ में लिया गया, तब उनमें ऋग्वेद के मन्त्रों को आवश्यकतानुसार उद्धृत करना अनिवार्य हो गया। अस्तु।

(१०) **घृतस्तुति**—ऋग्वेद के ४।५८वें सूक्त का देवता निश्चित नहीं है। वह अग्नि, सूर्य, आपः, गावः अथवा घृतस्तुति हो सकता है। अथवा सब ही।

यजुर्वेद ने जब लुप्त ऋक्शाखा से एक मन्त्र—**"इमꣳ स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने०"** को य० १७।८७ पर तथा अन्य मन्त्र—**"घृतं मिमिक्षे घृतमस्य०"** को ऋ० २।३।११ से लेकर य० १७।८८ पर पढ़ दिया तब सङ्गतिकरण के लिए ऋ० ४।५८वें सूक्त को लेना अनिवार्य हो गया।

अतः उक्त सूक्त के सभी ११ मन्त्रों को क्रमशः य० १७।८९ से १७।९९ तक उद्धृत करके सत्रहवें अध्याय की समाप्ति की गयी।

यदि याज्ञिक मांग ऐसी न होती तो ऋग्वेद से ५७ मन्त्रों को लेकर इतने बड़े अध्याय की रचना क्योंकर की जाती ?

(११) पितर—पितृओं के सम्बन्ध में एक सूक्त ऋ० १०।१५ वाला है। इसी विषय से सम्बन्धित कुछ मन्त्र ऋ० १०।१४ वाले सूक्त में भी हैं। यजुर्वेद ने इनमें से १३ मन्त्रों को क्रमभङ्ग करके य० १९।४९ से १९।६८ तक में स्थान दिया है। शेष मन्त्र ऋ० १।९१।१, ६।९६।११, ८।४८।१३, १०।१६।११, १०।१४।६ से उद्धृत हैं।

अथर्ववेद ने भी कुछ मन्त्रों को अ० १८।३ वाले सूक्त में स्थान दिया है।

(१२) उपस्थान—सन्ध्योपासना में उपस्थान के अङ्गभूत चार मन्त्र भी मूलतः ऋग्वेद के ही हैं। इन्हें यजुर्वेद ने एवम् अन्य वेदों ने भी अपनाया है। इन मन्त्रों की अवस्थिति निम्न है—

उद्वयं तमसस्परि (ऋ० १।५०।१०), य० २०।२१, २७।१०, ३५।१४, ३८।२४ अ० ७।५३।७

उदु त्यं जातवेदसं० (ऋ० १।५०।१), य० ७।४१, ८।४१, ३३।३१, सा० ३८, अ० १३।२।१६, २०।४७।१३

चित्रं देवानामुदगादनीकं० (ऋ० १।११५।१), य० ७।४२, १३।४६, सा० ६२९, अ० १३।२।३५, २०।१०७।१४ केवल य० ७।४२ वाले मन्त्र के अन्त में ही **'स्वाहा'** पद जोड़ा गया है।

तच्चक्षुर्देवहितं० (ऋ० ७।६६।१६), य० ३६।२४।।

ऋग्वेद में—**'जीवेम शरदः शतम्'** तक मन्त्र-समाप्ति है। परन्तु यजुर्वेद ने इसे आगे बढ़ाकर—**'भूयश्च शरदः शतात्'** तक किया है।

अथर्ववेद ने **'पश्येम शरदः शतम्'** इत्यादि को ही पृथक्-पृथक् मन्त्र बनाकर अ० १९।६७।१ से १९।६७।८ तक प्रस्तुत किया है।

(१३) हिरण्यगर्भ—ऋग्वेद का १०।१२१वां सूक्त हिरण्यगर्भ ऋषि के नाम पर **'हिरण्यगर्भ सूक्त'** के नाम से प्रसिद्ध है। इसका देवता **कः** अथवा प्रजापति है। अर्थात् सृष्टिकर्ता। इस सूक्त में १० मन्त्र हैं।

यजुर्वेद ने इन मन्त्रों को यथेच्छया अनेक स्थानों पर उदधृत किया है तथा पुनरुक्त भी किया है। जैसे—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे० (ऋ० १०।१२१।१), य० १३।४१, २३।१, २५।१०
य आत्मदा बलदा० (,, ,, ।२), य० २५।१३
यः प्राणतो निमिषतो० (,, ।३), य० २३।३, २५।११
यस्येमे हिमवन्तो महित्वा० (,, ।४), य० २५।१२
येन द्यौरुग्रा पृथिवी च० (,, ।५), य० ३२।६
यं क्रन्दसी अवसा० (,, ।६), य० ३२।७
आपो ह यद् बृहतीर० (,, ।७), य० २७।२५, ३२।७

यश्चिदापो महिना० (ऋ० १०।१२१।८), य० २७।२६
मा नो हिंसीज्जनिता० (,, ।९), य० १२।१०२
प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो० (,, ।१०), य० १०।२०, २३।६५

अथर्ववेद ने भी इनमें से प्रथम ७ मन्त्रों को कुछ फेरफार के साथ अ० ४।२ वाले सूक्त में उद्धृत किया है। परन्तु ऋ० १०।१२१।१० वाले मन्त्र को कुछ पाठभेद के साथ अ० ७।८०।३ पर उद्धृत करते हुए एक छायामन्त्र—**'अमावास्ये न त्वदेतान्यन्यो०'** भी निर्मित किया है।

आश्चर्य है कि सामवेद में हिरण्यगर्भ सूक्त का कोई मन्त्र उद्धृत नहीं है। सामवेद में प्रमुखरूप से अग्नि, इन्द्र एवं सोम देवता के लिए ही स्थान दिया गया है।

(१४) **विश्वेदेव**—ऋग्वेद में **विश्वेदेवाः** वाला एक सूक्त १।८९ पर है। इसमें १० मन्त्र हैं। यजुर्वेद ने इन मन्त्रों को क्रमशः य० २५।१४ से २५।२३ तक उद्धृत किया है।

इनमें से ऋ० १।८९।६ एवं १।८९।८ को सामवेद ने क्रमशः सा० १८७५ एवं १८७४ पर उद्धृत करके सामवेद की समाप्ति की है।

अथर्ववेद ने भी ऋ० १।८९।१० को अ० ७।६।१ पर उद्धृत किया है।

(१५) **अश्वमेध**—अश्वमेध का अर्थ चाहे कुछ भी हो, किन्तु अश्वमेध यज्ञ का कर्मकाण्ड अपने दुराचार के लिए एवम् अश्वहत्या के लिए कुख्यात हो चुका है।[1]

ऋग्वेद में **अश्व** देवतावाले २ सूक्त हैं। ऋ० १।१६२वें सूक्त में २२ मन्त्र हैं। इन्हें यजुर्वेद ने क्रमशः २५।२४ से २५।४५ तक उद्धृत किया है। किन्तु य० २५।३७ एवं २५।३८ द्वारा क्रमभङ्ग किया है। यह उचित है।

यजुर्वेद ने ऋ० १।१६२।२१ वाले मन्त्र—**'न वा उ एतन्म्रियसे०'** को पूर्व य० २३।१६ पर भी उद्धृत किया है।

दूसरे अश्वसूक्त में (ऋ० १।१६३) १३ मन्त्र हैं। इन्हें यजुर्वेद ने क्रमशः य० २९।१२ से २९।२४ तक उद्धृत किया है।

अश्वसूक्त में इन मन्त्रों को यजुर्वेद के सिवा अन्य दो वेदों ने नहीं अपनाया है।

अश्वसूक्त के इन मन्त्रों के अर्थ करने एवम् अभिप्राय समझाने में प्रायः भाष्यकार पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं रहे हैं।

(१६) **वामदेव्यगान**—वामदेव्यगान के लिए प्रयुक्त मन्त्रत्रिक भी मूलतः ऋग्वेद का ही है। इसको यजुर्वेद ने[2] एवम् अन्य दोनों वेदों ने भी अपनाया है। इन मन्त्रों की अवस्थिति निम्न है—

कया नश्चित्र आ—(ऋ० ४।३१।१), य० २७।३९, ३६।४, सा० १६९, ६८२, अ० २०।१२४।१॥

---

१. देखिए डा० सूर्यकान्त का "वैदिक कोष" पृष्ठ ४१८।

२. यजुर्वेद में ऋग्वेद से या लुप्त ऋक्शाखा से मन्त्राकर्षण की अनेक विधियां हैं, जिन में एक है शब्द-संगति। य० २७।३८ वें मन्त्र—'स त्वं नश्चित्र' (ऋ० ६।४६।२) में 'चित्र' शब्द है। इस लघु लेख में हम सभी जानकारी नहीं दे पा रहे हैं।

कस्त्वा सत्यो मदानां—(ऋ० ४।३१।२), य० २७।४०, ३६।५, सा० ६८३, **अ०** २०।१२४।२

अभी षु णः—(ऋ० ४।३१।३), य० २७।४१, ३६-६, सा० ६८४, अ० २०।१२४।३॥

(**१७**) **आप्रीसूक्त**—ऋग्वेद में १० आप्रीसूक्त हैं। 'आप्री' का अर्थ अग्नि के सहचारी गण-देवता हैं। ये गणदेवता ग्यारह हैं, जो निम्न हैं—१. समिद्धोऽग्निः, २. तनूनपात्, ३. इळः, ४. बर्हिः ५. देवीर्द्वारः, ६. उषासानक्ता, ७. देव्यौ होतारौ, ८. सरस्वतीळा भारत्यः, ९. त्वष्टा, १०. वनस्पतिः, ११. स्वाहाकृतयः।

इन सूक्तों में कहीं-कहीं निम्न देवता भी आये हैं—१२. नराशंसः, १३. इन्द्रः।

सभी आप्रीसूक्तों की रचना याज्ञिक दृष्टिकोण के अनुसार की गयी है। प्रत्येक सूक्त में सामान्यतः ११ मन्त्र हैं। प्रत्येक मन्त्र का देवता पृथक्-पृथक् है।

ऋग्वैदिक आप्रीसूक्तों का विभाजन ऋष्यनुसार निम्न है—(१) ऋ० १।१३ मेध्यातिथि (२) ऋ० १।१४२ दीर्घतमा (३) ऋ० १।१८८ अगस्त्य (४) ऋ० २।३ गृत्समद (५) ऋ० ३।४ विश्वामित्र (६) ऋ० ५-५ आत्र (७) ऋ० ७।२ वसिष्ठ (८) ऋ० ९।५ असित (९) ऋ० १०।७० वध्र्यश्व (१०) ऋ० १०।११० जमदग्नि।

ऋग्वैदिक प्रथम आप्रीसूक्त का व्याख्यान अन्य आप्रीसूक्त करते हैं। अतः विषय परिज्ञान की दृष्टि से इन सूक्तों के मन्त्रों का देवतावार पुनर्व्यवस्थीकरण आवश्यक है।

ऋग्वैदिक आप्रीसूक्तों का याज्ञिक दृष्टिकोण से व्याख्यान वा उद्धरण अन्य वेद भी करते हैं।

यजुर्वेद में अध्याय २०, २१, २७, २८ एवं २९ में यह व्याख्यान है। सामवेद ने ऋ० १।१३ के ४ मन्त्रों को सा० १३४७ से १३५० तक उद्धृत किया है। अथर्ववेद **ने** ऋ० १०।११० को अ० ५।१२ में उद्धृत किया है तथा यजुर्वेद के य० २७।११ **से** २७।२२ तक के मन्त्रों को पर्याप्त परिवर्तनों के साथ अ० ५।२७ में उद्धृत किया है।

यजुर्वेद ने ऋ० १०।११० के सभी ११ मन्त्रों को य० २९।२५ से २९।३६ तक उद्धृत किया है। परन्तु बीच में य० २९।२७ पर ऋ० ७।२।२ वाला मन्त्र डाला है।

(**१८**) **पुरुष**—ऋग्वेद में ऋ० १०।९० पुरुषसूक्त के नाम से विख्यात है। यजुर्वेद ने इस सूक्त के सभी १६ मन्त्रों को पाठभेद एवं क्रमभेद के साथ य० ३१।१ से ३१।१६ तक उद्धृत किया है।

सामवेद ने केवल ५ मन्त्रों को परिवर्तनों के साथ सा० ६१७ से ६२१ तक पढ़ा है।

अथर्ववेद ने ऋग्वैदिक सूक्त के प्रथम १५ मन्त्रों को परिवर्तन के साथ अ० १९।६ में पढ़ा है तथा १६ वें मन्त्र को अ० ७।५।१ पर उद्धृत किया है।

यजुर्वेद के मन्त्र सामवेद में

सामवेद में यजुर्वेद के ९ मन्त्र ऐसे हैं, जो वर्तमान ऋग्वेद संहिता में नहीं हैं। इन मन्त्रों को लुप्त ऋक्शाखा से पहले यजुर्वेद में, फिर सामवेद ने ग्रहण किया।

यजुर्वेद के मन्त्र अथर्ववेद में

अथर्ववेद में यजुर्वेद के ९१ मन्त्र उपलब्ध होते हैं, जो वर्तमान ऋग्वेद संहिता में नहीं हैं। इससे अथर्ववेद के निर्माण का समयज्ञान होता है।

यजुर्वेद-विभाग—यजुर्वेद-विभाग में चार उपविभाग हैं—

(१) पद्य अर्थात् ऋग्वेद के समान सहज छन्दोबद्ध मन्त्र (२) शब्द (३) वाक्य और (४) गद्य

पद्यमन्त्र—पद्य-उपविभाग में ५८३ मन्त्र हैं। इनमें से अधिकांश लुप्त ऋक्शाखा से गृहीत हैं। शेष याज्ञिक ऋषियों की रचना हैं। उदाहरणार्थ—

उप त्वाग्ने हविष्मतीर्घृताचीर्यन्तु हर्यत।
जुषस्व समिधो मम॥ (य० ३।४)

गायत्री-छन्दवाला यह मन्त्र लुप्त ऋक्शाखा से गृहीत है।

यत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्।
अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत॥ (य० २।३१)

बृहती छन्दवाला यह मन्त्र याज्ञिक ऋषियों की रचना है।

शब्द-मन्त्र—शब्द-उपविभाग में संज्ञा-शब्दों के समूहरूप ७७ मन्त्र हैं। उदाहरणार्थ—

मा छन्दः प्रमा छन्दः प्रतिमा छन्दो अस्रीवयश्छन्दः पङ्क्तिश्छन्द उष्णिक् छन्दो बृहती छन्दोऽनुष्टुप् छन्दो विराट् छन्दो गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप् छन्दो जगती छन्दः। (य० १४।१८)।

वाक्य-मन्त्र—वाक्य-उपविभाग में २०७ मन्त्र हैं। इसके दो वर्ग हैं—(१) सामान्य वाक्य एवं (२) निर्देशात्मक वाक्य।

सामान्य-वाक्य-वर्ग में ३१ मन्त्र हैं। उदाहरणार्थ—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि॥ (य० १।५)

निर्देशात्मक वाक्यवर्ग में १७६ मन्त्र हैं। उदाहरणार्थ--

अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वाऽतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वाऽग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा॥ (य० ५।१)

गद्यमन्त्र--गद्य-उपविभाग में २६२ मन्त्र हैं। उदाहरणार्थ--

इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशꣳसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि॥ (य० १।१)

लुप्त ऋक्-शाखा से आकर्षित मन्त्रों को छोड़कर यजुर्वेद-विभाग के शेष सभी मन्त्र याज्ञिक ऋषियों की रचना हैं।

यजुर्वेद में मन्त्रनिर्माण के याज्ञिक उद्देश्य को दिखाने के पश्चात् अब बाह्यस्वरूप पर विचार करते हैं।

पुनरुक्तियों की भरमार— पुनरुक्तियां याज्ञिक कर्मकाण्ड की मूल भित्तियां हैं। अतः यजुर्वेद में पुनरुक्तियों की भरमार है। मन्त्रों की पुनरुक्तियों के अतिरिक्त शब्दों की, वाक्यों की, वाक्यांशों की तथा मन्त्रांशों की बेतहाशा पुनरुक्तियां भी यजुर्वेद को यज्ञवेद सिद्ध कर रही हैं। इसलिए याज्ञिकों ने इस वेद के गद्यमन्त्रों को भी यथेच्छया विघटित करके उन इकाइयों को 'मन्त्र' माना है। इसी प्रकार प्रत्येक विनियोग-वाक्य को भी उन्होंने 'मन्त्र' का दर्जा दिया है।

इस प्रकार याज्ञिकों के अनुसार यजुर्वेद में कुल १९७५ कण्डिकाएं एवं तदन्तर्गत ३९८८ 'मन्त्र' हैं। उदाहरणार्थ—

१६वें अध्याय में ६६ मन्त्र २८० 'मन्त्र' बने हैं। तथा प्रथमाध्याय का प्रथममन्त्र ५ 'मन्त्र' बना।

यजुवद में १०७ मन्त्र यजुर्वेद में ही १४२ स्थानों पर पुनरुक्त हैं। (यही स्थिति अन्य वेदों की भी है। उदाहरणार्थ—सामवेद में पूर्वार्चिक के २६७ मन्त्र उत्तरार्चिक में पुनरुक्त हैं।)

यजुर्वेद में १३ मन्त्र अपने ही अध्याय में भी पुनरुक्त हैं। इनमें शीघ्र-पुनरुक्ति के दो उदाहरण नीचे द्रष्टव्य हैं—

उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु० (य० ५।३८ एवं ५।४१)
सं वर्चसा पयसा सं० (य० ८।१४ एवं ८।१६)

याज्ञिक मांग के अलावा इन शीघ्र-पुनरुक्तियों का औचित्य सिद्ध नहीं होता।

एक ही मन्त्र में उसके किसी अवयव की अनेक बार पुनरुक्ति यजुवद की विशेषता है। निम्न मन्त्र देखिये—

घृताच्यसि जुहुर्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियँ सद आसीद[1] घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियँ सद आसीद[2] घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियँ सद आसीद[3] प्रियेण धाम्ना प्रियँ सद आसीद[4]। ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि[5] पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम् ॥ (य० २।६)

११० अक्षरों से युक्त उपर्युक्त गद्यमन्त्र को याज्ञिकों ने सहजरूप से ६ 'मन्त्रों' के रूप में देखा है। इस विनियोग के लिए इस मन्त्र का याज्ञिक कर्मकाण्ड स्वरूप ही कारण है।

स्वाहाकार का अतिशय प्रयोग

स्वाहाकार का अतिशय प्रयोग यजुर्वेद की अन्य ध्यानयोग्य विशेषता है।

यजुर्वेद में चतुर्थीविभक्त्यन्त उपपदवाले स्वाहाकार-वाक्यों से युक्त मन्त्रों की संख्या ४८ है। एक मन्त्र में अनेक वार भी **'स्वाहा'** का प्रयोग उपलब्ध होता है।

यजुर्वेद में कुल ५९७ बार **स्वाहा**' शब्द का प्रयोग हुआ है।‡ इतना विकल प्रयोग याज्ञिक दृष्टि से ही है, क्योंकि यजुवद में मन्त्र के साथ अनेक रीतियों से 'स्वाहा' शब्द बोला गया है। उदाहरणार्थ—

‡ ऋग्वेद में कुल २१ बार एवम् अथर्ववेद में कुल १८५ बार **'स्वाहा'** शब्द पठित है। सामवेद में यह पद नहीं है। अतः कुल ८०३ **'स्वाहा'** शब्द वेदों में हैं।

(१) मन्त्र के आरम्भ में ही '**स्वाहा**' का प्रयोग। उदाहरणार्थ—य० ४।६, २१।२२, ३७।१३, ३८।१५-१६, ३९।१

(२) मन्त्र के बीच-बीच में '**स्वाहा**' का प्रयोग। उदा०–य० १८।४५ इत्यादि।

(३) प्रथमा विभक्तिवाले उपपद के साथ '**स्वाहा**' का प्रयोग। उदा०—'**स्वर्णघर्मः स्वाहा०**' (य० १८।५०) इत्यादि।

(४) एक ही मन्त्र में अत्यधिक बार '**स्वाहा**' का प्रयोग। उदा०–य० २२।७ में २४ बार। य० ३९।१० में अठारह बार इत्यादि।

(५) मन्त्र के अन्त में '**स्वाहा**' का प्रयोग। उदा०—य० २।१०, २।२२, ३।५०, ४।८, ४।४, ५।४, ५।१४-१५, ५।३७-३८, ५।४१, ६।२६-२७,२९, ७।४१-४४ इत्यादि।

मन्त्र-प्रतीकों का प्रक्षेप

प्राचीन याज्ञिक ऋषियों ने जिस उद्देश्य से यजुर्वेदसंहिता की रचना की, उसकी पुष्टि में अर्वाचीन याज्ञिक आचार्यों ने भी आवश्यकतानुसार कुछ पूर्वपठित मन्त्रों के पुनरुच्चारण की व्यवस्था भी की। इस हेतु उन्होंने तत्तत्स्थलों में पूर्वपठित मन्त्रों के मुखड़ों को संहिता में प्रक्षिप्त किया। ऐसे मुखडों से युक्त भाग को प्रतीक-मन्त्र अथवा मन्त्र-प्रतीक कहते हैं। यह प्रक्षेप याज्ञिक मांग के अनुसार है।

इन प्रक्षेपों का स्थान १३, १४, ३२, ३३ एवं ३४ वाला अध्याय है। (३८वें अध्याय में एक नया एवं एक पूर्वपठित मन्त्र को पिरोकर य० ३८।१७ वाला मन्त्र बना दिया गया है।)

मन्त्र-प्रतीकों के दो वर्ग हैं—प्रथम वर्ग में आया एकमात्र प्रतीक है—"**लोकं ता इन्द्रम्**"। यह प्रतीक य० १३।५८, १४।१०, १४।२२ एवं १४।३१ वाले मन्त्रों के अन्त में सन्धि करके जोड़ा गया है।‡

इस प्रतीक से पूर्वपठित निम्न तीन मन्त्र ग्रहीतव्य हैं—

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो० (य० १२।५४, १५।५९)

यह मन्त्र वर्तमान ऋग्वेदसंहिता में नहीं है।

ता अस्य सूददोहसः० (य० १२।५५, १५।६०, ऋ० ८।६९।३)

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्० (य० १२।५६, १५।६१, १७।६१, ऋ० १।११।१, सा० ३४३, ८२७)

दूसरे वर्ग के कई प्रतीकों में कई मन्त्रों के मुखड़े हैं। वे निम्न हैं—

(१) य० ३२।३ वाले मन्त्र को देखिए—

> **न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।**
> **हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिꣳसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः॥**

‡ अजमेरीय यजुर्वेदसंहिता में इस प्रतीक को हटा दिया गया है।

इस मन्त्र (?)‡ के पूर्वार्ध में एक वाक्य है, अनुष्टुप् छन्दवाला। उत्तरार्ध में ऋषिकृत प्रतीकपाठ है, जगती छन्दवाला। इस प्रतीकपाठ में पूर्वपठित ६ मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे० (य० २५।१०, १३।४, २३।१, ऋ० १०।१२१।१, अ० ४।२७, ११।५।७)

यः प्राणतो निमिषतो० (य० २५।११, २३।३, ऋ० १०।१२१।३, अ० ४।२।२ पू० ४।२।१ उ०)

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा० (य० २५।१२, ऋ० १०।१२१।४, अ० ४।२।५)

य आत्मदा बलदा० (य० २५।१३, १०।१२१।२, अ० ४।२।१-२)

मा मा हिंसीज्जनिता० (य० १२।१०२, ऋ० १०।१२१।९)

यस्मान्न जातः परो अन्यो० (य० ८।३६)

इस मन्त्र में **'तस्य'** पद पूर्वपठित य० ३२।१ एवं ३२।२ वाले मन्त्र का व्याख्यान कर रहा है, जबकि **'यस्य'** पद उपर्युल्लिखित ७ मन्त्रों से व्याख्यात है। इस प्रकार य० ३२।३ वाला मन्त्र ऋषिनिर्मित होने में सन्देह नहीं रहता।

(२) य० ३२।७ वाले मन्त्र—**'यं क्रन्दसी अवसा०'** (ऋ० १०।१२१।६, अ० ४।२।३) में निम्न प्रतीक पठित है—

आपो ह यद् बृहतीर्यश्चिदापः ॥

इससे पूर्वपठित निम्न दो मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्० (य० २७।२५, ऋ० १०।१२१।७)

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्० (य० २७।२६, ऋ० १०।१२१।८)

शेष सारे मन्त्र-प्रतीक ३३वें एवं ३४वें अध्यायों में ही हैं।

(३) य० ३३।२१वें मन्त्र—**'आ सुते सिञ्चत श्रियं'** (ऋ० ८।७२।१३, सा० १४८०) के के अन्त में निम्न प्रतीक पढ़ा गया है—

तं प्रत्नथाऽयं वेनः ॥

इससे पूर्वपठित दो मन्त्र गृहीतव्य हैं—

तं प्रत्नथा पूर्वथा० (य० ७।१२ (याजुषगद्यपाठरहित) ऋ० ५।४४।१)

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा० (य० ७।१६, याजुषवाक्यरहित, ऋ० १०।१२३।१)

य० ३३।७३ में भी उपर्युक्त प्रतीक पाठ है। परन्तु यही मन्त्र— **'दैव्यावध्वर्यू आ गतं'** पूर्व में य० ३३।३३ पर आया, तब उसके अन्त में एक और प्रतीक जोड़कर निम्नानुसार पढ़ा गया—

तं प्रत्नथाऽयं वेनश्चित्रं देवानाम् ॥

तीसरे प्रतीक से निम्न मन्त्र गृहीतव्य है—

चित्रं देवानामुदगादनीकं० (य० ७।४२, १३।४६, ऋ० १।११५।१, सा० ६२९, अ० १३।२। २५, २०।१०७।१४)

प्रतीकपाठ पढ़ने में भी स्वेच्छाचारिता का यह उदाहरण है।

‡ यदि य० ३२।३ से प्रतीकपाठ को हटा दिया जाये, तो यह अकेला वाक्यमात्र रह जायेगा।

य० ३३।२१ वाले मन्त्र का प्रतीकपाठ य० ३३।५८वें मन्त्र—'**दस्रा युवाकवः सुता०**' (ऋ० १।३।३) में भी पठित है। परन्तु य० ३३।४७ वाले मन्त्र—'**अधि न इन्द्रैषां विष्णो०**' (ऋ० ८।८३।७) के अन्त में यह प्रतीक निम्नानुसार अधिक विस्तृत हो जाता है—

तं प्रत्नथाऽयं वेनो ये देवास आ न इडाभिर्विश्वेभिः सोम्यं मध्वोमासश्चर्षणीधृतः ॥

इस पाठ में ग्रहणीय नये मन्त्र निम्न हैं—

ये देवासो दिव्येकादश० (य० ७।१९, ऋ० १।१३९।११, द्र०—अ० १९।२७, ११-१३)

आ न इडाभिर्विदथे सुशस्ति० (य० ३३।३४, ऋ० १।१८६।१)

विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न० (य० ३३।१०, ऋ० १।१४।१०)

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे० (य० ७।३३ याजुषवाक्यरहित), ऋ० १।३।७)

(४) य० ३३।२७ वें मन्त्र—'**कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः०**' (ऋ० १।१६५।३) के अन्त में निम्न प्रतीकपाठ है—

महाँ इन्द्रो य ओजसा । कदा चन स्तरीरसि । कदा चन प्र युच्छसि ॥

इससे निम्न तीन मन्त्र ग्रहीतव्य हैं--

महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो० (य० ७।४० याजुषवाक्यरहित, ऋ० ८।६।१, सा० १३०७, अ० २०।१३८।१)

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र० (य० ८।२ याजुषविनियोग-वाक्यरहित, ३।३४, ऋ० ८।५१।७ सा० ३००)।

कदा चन प्र युच्छस्युभे० (य० ८।३ याजुषविनियोग वाक्यरहित, ऋ० ८।५२।७)

(५) य० ३३।९७ वें मन्त्र—'**अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं**' (ऋ. ८।३।८, सा. १५७४, अ. २०।९९।२) के अन्त में निम्न प्रतीकपाठ है--

इमा उ त्वा यस्यायमय ँ सहस्रमूर्ध्व ऊ षु णः ॥

इससे निम्न पूर्वपठित ४ मन्त्र ग्रहीतव्य हैं--

इमा उ त्वा पुरूवसो० (य० ३३।८१; ऋ० ८।३।३; सा० २५०; १६०७; अ० २०।१०४।१)

यस्यायं विश्व आर्यो दासः० (य० ३३।८२; ऋ० ८।५१।९; सा० १६०९)

अय ँ सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः० (य० ३३।८३; ऋ० ८।३।४; सा० १६०८; अ० २०।१०४।२)।

ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये० (य० ११।४२; ऋ० १।३६।१३; सा० ५७)

(६) य० ३४।५८ वें मन्त्र—'**ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता०**' (ऋ० २।२३।१९; २।२४।१६) के अन्त में निम्न प्रतीकपाठ है—

य इमा विश्वा विश्वकर्मा यो नः पिताऽन्नपतेऽन्नस्य नो देहि ॥

इससे निम्न चार मन्त्र ग्रहीतव्य हैं—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद्० (य० १७।१७; ऋ० १०।८१।१)

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया० (य० १७।२६; ऋ० १०।८२।२)

यो नः पिता जनिता० (य० १७।२७; ऋ० १०।८२।३; अ० २।१।३)

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य० (य० ११।८३)।

उपर्युक्त सभी मन्त्रप्रतीकों को संहिता में प्रक्षिप्त करने का उद्देश्य याज्ञिक-मांग के अनुसार मन्त्रविस्तार करना रहा है।

मन्त्रों का मिथुनीकरण—याज्ञिक ऋषियों ने न केवल ऋग्वेद से मन्त्रों को लिया, अपितु दो मन्त्रों को जोड़कर एक मन्त्र के रूप में भी प्रस्तुत किया। उदाहरणार्थ—

ऋ० ३।५९।७ वां मन्त्र है—

अभी यो महिना दिवं मित्रो बभूव सप्रथाः। अभि श्रवोभिः पृथिवीम् ॥

इस मन्त्र का देवता मित्र है। छन्द है गायत्री।

ऋ० १।३६।९ का मन्त्र है—

सं सीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः।
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥

इस मन्त्र का देवता अग्नि है तथा छन्द है प्रगाथ। यह मन्त्र पूर्व य० ११।३७ में भी उद्धृत है।

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों को जोड़ कर तथा पाठभेद करके यजुर्वेद य० ३८।१७ पर निम्न मन्त्र प्रस्तुत करता है—

अभीमं महिमा दिवं विप्रो बभूव सप्रथाः।
उत श्रवसा पृथिवीꣳ स॰ सीदस्व महाँ असि रोचस्व देववीतमः।
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शनम् ॥ (य० ३८।१७)

इस मिथुन मन्त्र का देवता तो अग्नि हो ही गया। परन्तु छन्द क्या है? इस मन्त्र में कुल ५९ अक्षर हैं। अक्षर चाहे जितने भी हों, गिनकर छन्द का नामकरण करने के लिए छन्दस्कार तैयार बैठे हैं। अतः छन्द हुआ निचृदतिशक्वरी।

मन्त्र का निर्माण किसने, कैसे, क्यों एवं किस उद्देश्य से किया—इन बातों से छन्दस्कार को क्या लेना-देना? और यजुर्वेद-भाष्यकारों को तथा वेदानुयायियों को इससे क्या फर्क पड़ता है?

याज्ञिक-उद्देश्य से ही ऐसे मन्त्र निर्मित होते हैं।

यजुर्वेद का क्रमिक विस्तार

यजुर्वेद-संहिता में इस समय ४० अध्याय हैं। इसके दो भाग हैं—पूर्वविंशति एवं उत्तरविंशति।

पूर्वविंशति के अध्यायों के मन्त्रों की शैली में एक सहजता एवं समानता है। याज्ञिक कर्मकाण्डवाला यजुर्वेद पूर्वविंशति के साथ समाप्त हो जाता है।

उत्तरविंशति के अध्यायों के मन्त्रों के प्रस्तुतीकरण की शैली में असमानता है। यहां कर्मकाण्ड को बलात् विस्तृत करने का यत्न किया गया है। ऋग्वेद से अधिकाधिक मन्त्रसंग्रह करने का प्रयास किया गया है तथा पूर्वविंशति के विषय से आगे बढ़कर ब्रह्मज्ञान एवं वैराग्य की ओर मुख किया गया है।

ऋग्वेद के आप्री सूक्त के अतिरिक्त व्याख्यान करने हेतु २१ वां अध्याय प्रवृत्त हो जाता

है। तदन्तर्गत स्वाहाकृति के व्याख्यान के लिए २२ वां, ३८ वां एवं ३९ वां अध्याय है। आप्रीसूक्त के विशिष्ट व्याख्यान के लिए पुनः २८ वें अध्याय में प्रवृत्ति है। २७ वें एवं २९ वें अध्याय में भी पुनः कुछ व्याख्यान रहा है। मखस्तुति का एक विचित्र प्रकार ३७ वें अध्याय में है।

ऋग्वेद से अधिक मन्त्रसंग्रह हेतु ३३वां एवं ३४ वां अध्याय प्रवृत्त होता है।

शेष अध्याय ज्ञान एवं वैराग्य काण्ड के रूप में हैं। अतः अन्तिम ४० वां अध्याय ब्रह्मज्ञान-दायिनी उपनिषदों के लिए नान्दीरूप हुआ।

इस प्रकार यजुर्वेदसंहिता का निर्माण यज्ञवेद के रूप में किया गया है। यज्ञ का मूल यजुर्वेद न होकर ऋग्वेद है। और यजुर्वेद यज्ञ को कार्यान्वित भर करता है।

वैदिकं कर्मकाण्डं जगद्रचना च

[लि०—डा० गणेश उमाकान्त थिटे, संस्कृतविभागः पुणेविद्यापीठम् पुणे-४११००७]

वैदिककर्मकाण्डवर्णनपरा ब्राह्मणग्रन्था जगद्रचनाविषये बहून् विचारान् प्रकटीकुर्वन्ति। अस्माभिरनुभूयमानं स्थूलं जगद् यज्ञकर्मात्मकं सूक्ष्मं जगच्च इति एते द्वे जगती परस्परसम्बद्धे परस्परावलम्बिते परस्परपूरके च स्तः। यज्ञीयं कर्मकाण्डं कृत्वा तथा च मन्त्रान् उच्चार्य भौतिकं जगद् संनियन्त्रयितुं शक्यम् इति वैदिकानां विचारवतां भूमिका वर्तते। जगद्रचनाया घटकभूताः— दिशः, लोकाः, ऋतवः, अहोरात्राः, संवत्सर इत्यादयः सर्वेऽपि अंशा विविधैर्याज्ञिकैरंशैः सम्बद्धाः। कर्मकाण्डस्य परिणामक्षमता अपि अनुकूलैर्जगद्रचनाया अंशभूतैर्घटकैः सिद्धिं गच्छति। बहुषु स्थलेषु यज्ञः संवत्सरश्च इत्येतयोस्तादात्म्यं वर्णितं यथा—अग्निष्टोमः (मैत्रायणी-संहिता ३।८।१०, ४।५।७, कौषीतकि-ब्राह्मणम् २६।१, जैमिनीय-ब्राह्मणम् २।३०४) चातुर्मास्ययागाः (मैत्रायणी-संहिता १।१०।७) सौत्रामणीष्टिः (शतपथ-ब्राह्मणम् १२।८।२।३१) इत्यादयो बहवो यज्ञा रूपकात्मरीत्या संवत्सर इति वर्णितास्तेन तेषां वैश्विकं स्वरूपं स्पष्टं भवति। दर्शपूर्णमासयोर्वेदिकरणकाले प्रथमे परिग्राहे षड्व्याहृतय उत्तरे परिग्राहे च षड्व्याहृतय उच्चार्यन्ते (श० ब्रा० १।२।५।१३), संवत्सरे द्वादश मासाः सन्ति तेन च अत्र संवत्सरस्वरूपं निर्मीयते। अनेन प्रकारेण यज्ञीय-घटकानां संख्यानिर्धारणे संवत्सर-कल्पनाया उपयोगः क्रियते।

सोमयज्ञस्य दीक्षायाः स्वरूपमपि वैश्विकम् इति प्रकारेण वर्ण्यते। तथा हि तैत्तिरीयब्राह्मणे (३।७।७।४-७) वयं पठामः। "**पृथिवी दीक्षा। तयाऽग्निर्दीक्षया दीक्षितः····· अन्तरिक्षं दीक्षा। तया वायुर्दीक्षया दीक्षितः ···· द्यौर्दीक्षा। तयाऽऽदित्यो दीक्षया दीक्षितः····· दिशो दीक्षा। तया चन्द्रमा दीक्षया दीक्षितः···आपो दीक्षा। तया वरुणो राजा दीक्षया दीक्षितः····· ओषधयो दीक्षा। तया सोमो राजा दीक्षया दीक्षितः····· वाग्दीक्षा। तया प्राणो दीक्षया दीक्षितः**·····।" गोपथब्राह्मणे (१।२।१) दीक्षायाः सूर्येण स्वर्गेण च तादात्म्यं वर्णितम्। जैमिनीयब्राह्मणे वयं पठामः "**स दीक्षिष्यमाण आदित्यम् उपतिष्ठेत त्वं देवते दीक्षितासि सा दीक्षमाणस्य तेज इन्द्रियं वीर्यं यश आदत्से। मा मे तेज इन्द्रियं वीर्यं यश आदिथाः तव दीक्षामनुदीक्ष इति**" (२।५२, तुलनां कुरुत ३।३५९) अत्र सूर्यो दीक्षित

इति वर्णितम्। तस्मिन्नेव ग्रन्थे दीक्षितशब्दस्य निरुक्तिरेवंप्रकारेण दीयते—"**तद् यद् दिग्भिर् ईक्षितस् तस्माद् दीक्षितः**" (जं० ब्रा० २।५२) इयं निरुक्तिरपि दीक्षाकल्पनाया यजमानस्य च वैश्विकत्वं प्रकाशयति।

वैदिक-कर्मकाण्डे अग्निचयनवर्णने तात्त्विकीं चर्चां कर्तुं महान् खलु अवसरो वर्तते। अत एव एतद्विषयके वर्णने जगद्रचनाविषयकाणि बहूनि वाक्यानि सन्ति। अग्निचयनस्य कृतिर्लक्षणात्मिकया रीत्या 'विस्रस्तस्य प्रजापतेः पुनर्घटना" इति रूपेण वर्ण्यते प्रजापतिश्च भूतानि निर्माय विस्रस्तो भवति।(शतपथब्राह्मणम् ७।१।२।१ ततः परं च, तुलना क्रियताम् (श० ब्रा० ७।३।१।१६)। प्रजापतेः संवत्सरस्य च एकात्मीभावो बहुषु स्थलेषु वर्णितः (उदाहरणार्थं श० ब्रा० ६।३।१।२५)। एवम् अग्निचयनं वैश्विकी घटना इति स्पष्टं भवति।

अग्निचयन-विषये वयम् इत्थमपि जानीमहे यत् तत्र प्रथमा चितिः पृथिवीलोको वर्णिता। अस्यां चितौ यदा पुरीषं क्षिप्यते तदा पृथिव्यां पशवो निर्मिता भवन्ति। द्वितीया चितिरन्तरिक्षम्। तत्र पुरीषस्य क्षेपणेन अन्तरिक्षे पक्षिणः स्थापिता भवन्ति। तृतीया चितिर्द्यौः। सा यदा पुरीषेण प्रच्छाद्यते तदा द्यौर्नक्षत्रैः प्रच्छाद्यते। चतुर्थी चितिर्यज्ञः। तस्यां पुरीषप्रक्षेपेण यज्ञो दक्षिणाभिः प्रच्छादितो भवति। पञ्चमो चितिर्यजमानः। तस्यां यदा पुरीषं प्रच्छाद्यते तदा यजमानः प्रजया प्रच्छादितो भवति। षष्ठी चितिः स्वर्गो लोकः। तत्र यदा पुरीषं प्रच्छाद्यते तदा स्वर्गो देवैः प्रच्छाद्यते। सप्तमी चितिरमृतम्। तत्र यदा पुरीषं प्रच्छाद्यते तदा अमृतम् उत्तमं धीयते। तेन देवा अमृताः। (शतपथ-ब्राह्मणम् ८।७।४।१२।१८)। अत्र अग्निचयने यद्यत् क्रियते तस्य वास्तविके जगति कीदृशः परिणामो भवति तद् वर्णितम्। दर्शपूर्णमासेष्टचोर्वेद्यां यदि वियुक्तं जलं सिच्यते तर्हि अस्मिन् जगति विपुलं जलं भवति। (तैत्तिरीय-ब्राह्मणम् ३।६।२।१५)। द्रोणकलशो राज्यम्, सोमसवनस्य प्रयुज्यमानाः पाषाणाश्च प्रजाः। यदि द्रोणकलशः शिथिलो भवेत् तर्हि राज्यं शिथिलं भवेत्। यदा राज्यं शिथिलं भवति तदा प्रजाः शिथिला भवन्ति। ततश्च यजमानः शिथिलो भवति। ततश्च तस्य संततिरपि शिथिला जायते। (जैमिनीय-ब्राह्मणम् १।८०)। जगति दृश्यमाना विशेषा अपि यज्ञीयविशेषाणामाधारेण स्पष्टीक्रियन्ते। यथा प्राणिनः अदन्ता जायन्ते यतो दर्शपूर्णमासेष्टचोः प्रयाजेषु पुरोनुवाक्या न सन्ति। कालान्तरेण तेषां दन्ता जायन्ते यतः प्रधानयागे पुरोनुवाक्या वर्तन्ते। वृद्धावस्थायां पुनरपि दन्ताभावो यतः अनुयाजेषु पुरोनुवाक्या न सन्ति। (शतपथब्राह्मणम् ११।४।१।१२)। अत्र इदं स्पष्टीभवति यद् यद्यद् यज्ञे क्रियते तस्य तस्य परिणामो वास्तविके जीवने जगति वा जायते। एवं यज्ञो जगच्च इत्येतयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावो वर्तते। सूक्ष्मविश्वस्य महाविश्वस्मिन् प्रतिबिम्बम् अत्र वर्तते। महाविश्वं नाम जगत् सूक्ष्मविश्वं नाम यज्ञ इत्येतयोः सम्बन्धस्य अयमेकः प्रकारो यत्र सूक्ष्मविश्वं महाविश्वस्योपरि परिणामं करोति।

सूक्ष्मविश्वस्य महाविश्वस्य सम्बन्धबोधकोऽपरो विशेषो नाम यत्र सूक्ष्मविश्वं महाविश्वम् अनुकरोति। अस्य आशयः अयं यत् यथा किंचित् वास्तवे जगति क्रियते तथा किंचिद् यज्ञकर्मणि क्रियते। उदाहरणार्थम् यदा सोमस्य राज्ञ आगमनं भवति तदा मन्थनं कृत्वा अग्निरुत्पाद्यते। अग्नेरुत्पादनं पशुमारणमेव इति रूपकात्मकतया उच्यते। यथा अतिथेरागमनसमये तस्य स्वागतार्थं पशुरालभ्यते तथा सोमस्य अतिथेः कृते अग्निरूपः पशुरालभ्यते (ऐतरेयब्राह्मणम् १।१५)। पुनरा-

धानसमये सर्वे मन्त्रा उपांशु पठचन्ते। यतः पुनराधानं नाम कस्यचित् नष्टस्य वस्तुनः अन्वेषणम्। एतादृशम् अन्वेषणम् उपांशु क्रियते। परं यदा तन्नष्टं वस्तु प्राप्यते तदा मानवः "तदेतत्" इति उच्चैर्वदति। तथैव अत्र स्विष्टकृदाहुतिसमये मन्त्रपठनमुच्चैः क्रियते। (तैत्तिरीयब्राह्मणम् १।३।१।५-६)। अत्रापि इदं भाति यद् यज्ञे व्यावहारिकजगतः अनुकरणं क्रियते। तेन सूक्ष्मविश्वं महाविश्वस्य प्रतिबिम्बं भवति इति वक्तुं शक्यते।

केषुचित् स्थलेषु तु सम्पूर्णं महाविश्वं सूक्ष्मविश्वमेव इति वर्णितम्। अस्य अर्थः सर्वमपि जगत् यज्ञमयम्। यद्यत् जगति भवति तत् तद् यज्ञरूपमेव। यथा—कौषीतकिब्राह्मणे (२।८) उक्तम्—यज्ञाः षट् सन्ति। अग्निरुदीयमाने सूर्ये आत्मानं जुहोति। सूर्यः अस्तं गच्छन् आत्मानम् अग्नौ जुहोति। रात्रिर्दिवसे आत्मानं जुहोति। दिवसो रात्रौ आत्मानं जुहोति। प्राणः अपाने आत्मानं जुहोति। अपानः प्राणे आत्मानं जुहोति। इत्थं षट् वैश्विका यज्ञाः सन्ति। तैत्तिरीयब्राह्मणे (३।३।१।१-२) जुहूः, उपभृत्, ध्रुवा च इति एताः तिस्रः स्रुचो द्यौः, अन्तरिक्षं, पृथिवी च इति रूपेण वर्ण्यन्ते। तस्मिन्-नेव ग्रन्थे (तै० ब्रा० ३।७।७।४-७) वैश्विकयज्ञार्थं सर्वमपि जगद् दीक्षितम् इति वर्ण्यते। यथा पृथिवी, अग्निः, वायुः, आदित्यः, चन्द्रमा इत्यादयः सर्वेऽपि दीक्षिताः। एवं सर्वमेव जगद्दीक्षितं यज्ञं च करोति। अनेनापि यज्ञस्य वैश्विकं स्वरूपं स्पष्टीभवति।

ऋग्वेदीयं पुरुषसूक्तं (१०।९०) यज्ञो जगन्निर्मितिर्यज्ञस्य वैश्विकं स्वरूपं च इत्यादिभिः प्रकारैरर्थपूर्णं वर्तते। आदिपुरुषो वैश्विकः पुरुषः। स च सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः, सहस्रपाद् वर्तते। (१) स च पुरुषो यद् भूतं यद् वर्तमानं यच्च भव्यं तत्सर्वम् (२)। अतः कालरूपेण अपि वैश्विकः। यद् वयं पश्यामः स तस्य केवलम् एकः पादः। अन्ये त्रयः पादा ऊर्ध्वं वर्तन्ते। ते च अस्माकम् अगोचराः (३।४)। स च पुरुषो न केवलम् एतावान्, परमतोऽपि परः। सर्वत्र व्याप्य अतिस्थितः (३,१)। अनेन प्रकारेण स व्यापकः, अतिव्याप्तश्च। देवैर्वैश्विकं यज्ञं कृत्वा तत्र पुरुषस्य पशु-रूपेण आलम्भं कृत्वा (६।७) जगन्निर्मितम्। अस्मिन् यज्ञे वसन्त आज्यम्, ग्रीष्म इध्मः, शरच्च हविः (६)। अस्मात् पुरुषयज्ञात् सर्वेऽपि प्राणिनः प्रादुर्भूताः (८)। तस्माद् यज्ञाद् ऋग्वेदादीनां प्रादुर्भावः संजातः (९)। तस्य च विराजः पुरुषस्य मुखाद् ब्राह्मणः, बाह्वोः राजन्यः, ऊरुभ्यां वैश्यः पद्भ्यां शूद्रश्च अजायत (१२)। तस्य मनसश्चन्द्रमाः, चक्षुषः सूर्यः, नाभ्या अन्तरिक्षम् इत्यादि प्रादुर्भूतम् (१३)। तथव पद्भ्यां भूमिः, श्रोत्राद् दिशः, शीर्ष्णः द्यौः इत्यादि प्रादुरभवत्। एवं पुरुषयज्ञ एव विश्वस्य जगत उत्पत्तेः कृते कथं कारणं संजातस्तत् स्पष्टीभवति।

एतादृशैरुदाहरणैर्जगतो यज्ञस्य च परस्परावलम्बित्वं स्पष्टीभवति। यज्ञात् पर्जन्यः पर्जन्याद अन्नम् अन्नेन च यज्ञ इत्यादियज्ञचक्रकल्पनायामपि यज्ञस्य वैश्विकं रूपं विश्वस्य च याज्ञिकं रूपम् अभिप्रेतम्। अन्ततो गत्वा एवं वक्तुं शक्यते यद् यज्ञो विश्वं च इति एतयोर्मध्ये वैदिकानां दृष्टचा भेद एव नास्ति। जगन्मयो यज्ञो यज्ञमयं च जगद् इति वैदिकानां धारणा। इयं धारणा एव उपनिषदाम् अद्वैतविचारसरणेर्बीजं यत्र "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्येतादृशा विचारा वरीवर्तन्ते।

वसोर्धारा मन्त्रों की यज्ञभावना—कर्मयोग की वैदिक पीठिका

[ले०—प्रो० इन्द्रवदन बी. रावल, (नि.)अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, श्रीसोमनाथ कॉलेज वेरावल, गुज०]

शुक्ल यजुर्वेद का माध्यन्दिनीय शाखा के १८वें अध्याय के प्रथम २९ मन्त्र वसोर्धारामन्त्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन मन्त्रों में यज्ञ की जो विभावना स्फुट होती है वह श्रीमद्भगवद्गीता के कर्मयोग की वैदिक पीठिका बनती है, इस सम्बन्ध में कुछ विचार यहां प्रस्तुत किये हैं।

शतपथब्राह्मण में संस्कृत अग्नि को वसु कहा है। उसके लिए देवों ने इस धारा को ग्रहण किया, विस्तृत किया और इस प्रकार उसे प्रसन्न किया, अतः इसे वसोर्धारा कहते हैं। जैसे दूध या घी की धारा होती है वैसे आज्याहुति धारारूप में दिये जाने पर यह वसुमयी धारा बनती है, जिसके कारण इसे वसोर्धारा नाम दिया गया है।[1] आगे चलकर वृष्टि को वसोर्धारा का रूपक बनाकर समझाया गया है। सारांश यही है कि आकाश में से वृष्टि की धाराएं बहती हैं उसी तरह आज्य की मन्त्राहुतियुक्त वसुमयी धाराएं हैं। इनके द्वारा जो यज्ञ सम्पन्न होता है वह याजक को वाज आदि की संप्राप्ति कराता है।[2]

इन २९ मन्त्रों में से २७ मन्त्रों में प्रत्येक के अन्त में 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' शब्दों की निरपवाद पुनरावृत्ति ध्यान खींचती है। यह केवल शैलीगत चमत्कृति या दृढीभाव की युक्ति नहीं है अपितु इससे अवश्य कुछ विशेष है। गीताकार की प्रातिभ दृष्टि को इधर से कुछ आसार मिले हों ऐसा लगता है। इसके बारे में आगे दर्शाया गया है।

प्रथम मन्त्र है—

व्वाजश्च्च मे प्रसवश्च्च मे प्रयतिश्च्च मे प्रसितिश्च्च मे धीतिश्च्च मे क्रतुश्च्च मे स्वरश्च्च मे श्लोकश्च्च मे श्रुतिश्च्च मे ज्योतिश्च्च मे स्वश्च्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१।[3]

इसी शैली में २७ मन्त्रों में और **आयुर्यज्ञेन कल्पताम्** वाले २९वें मन्त्र में—कुल मिलाकर लगभग २५५ पदार्थों का सीधा परिगणन किया गया है, और ये सब 'मुझे यज्ञ से प्राप्त हों' ऐसी कामना की गई। बीच के १६-१७ इन दो मन्त्रों में **'अग्निश्च्च मऽइन्द्रश्च्च मे सोमश्च्च मऽइन्द्रश्च्च मे**······ इस प्रकार अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती, पूषा, बृहस्पति, मित्र, वरुण, धाता, त्वष्टा,

---

१. अथातो व्वसोर्धारां जुहोति। अत्रैष सर्व्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र व्वसुस्तस्मै देवा एतां धारां प्रागृह्णँस्तयैनमप्रीणँस्तद्यदेतस्मै व्वसव एतां धारां प्रागृह्णँस्तस्मादेनां व्वसोर्धारेत्याचक्षते······ । (शतपथब्राह्मण ९।३।२।१)····· सैषा व्वसुमयी धारा यथा क्षीरस्य वा सर्पिषो वैवमारम्भायैवेयमाज्याहुतिर्हूयते तद्यदेषा व्वसुमयी धारा तस्मादेनां व्वसोर्धारेत्याचक्षते। (शत० ब्रा० ९।३।९।८)।

२. तस्यै वा ऽएतस्यै व्वसोर्धारायै द्यौरेवात्माऽभ्रमूधो व्विद्युत्स्तनो धारैव धारा दिवोऽधि गामागच्छति ॥१५॥ तस्यै गौरेवात्मा। ऊध ऽएवोध स्तन स्तनो धारैव धारा गोरधि यजमानम् ॥१६॥ (शत० ब्रा० ९।३।३ १५-१६)।

३. शुक्लयजुर्वेदसंहिता (माध्यन्दिनीय), १८।१।

मरुत और विश्वेदेव—इस प्रत्येक देवता के साथ इन्द्र का उल्लेख है। १८वें मन्त्र में इसी प्रकार पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, समा, नक्षत्र व दिशाएं—इस प्रत्येक प्राकृतिक तत्त्व के साथ इन्द्र का उल्लेख है। ये सब इन्द्रसमन्वित हैं ऐसा सूचन यहां समझा जा सकता है। तेज आदि भूतों के अधिष्ठाता अग्नि आदि देवता हैं जो चक्षु आदि इन्द्रिय या इन्द्रियविशिष्ट शक्ति के प्रतीक हैं। इन्द्रियों का केन्द्र मन है, जिसका प्रतीक इन्द्र है। इन्द्र के सहअस्तित्व में ही अग्नि, पृथ्वी आदि का सार्थक्य यहां अभिप्रेत लगता है। यजुर्वेद (शु०) के ३४ वें अध्याय के शिवसंकल्प मन्त्रों में मन का जो सर्वाश्लेषी चित्र मिलता है उससे इस बात की पुष्टि होती है। उमा हैमवती का आख्यान प्रस्तुत करनेवाले केनोपनिषद् के द्रष्टा के समक्ष भी इन्द्र का ऐसा चित्र है। २४ वें मन्त्र में १ और ३, ३ और ५, ५ और ७ इस क्रम से ३३ तक विषमसंख्यक परिगणन है। २५ वें मन्त्र में ४ और ८, ८ और १२, १२ और १६ इस क्रम से ४८ तक चतुष्कसंख्यक परिगणन है। इसे भी यज्ञ से प्राप्तव्य समझा गया है।

समग्रतया देखें तो भौतिक-अभौतिक, प्राकृतिक-मानवसर्जित, मनोमय-वचोमय-कर्ममय, स्थूल-सूक्ष्म जैसे अनेक पदार्थों और क्रियाओं तथा भावनाओं की कामना यहां व्यक्त की गई है। इस सूचि में मन्यु व जरा, जात व जनिष्यमाण भी हैं। स्वयं यज्ञ, क्लृप्त व क्लृप्ति भी यहां समाविष्ट हैं!

यज्ञेन कल्पन्ताम् में यज्ञ शब्द नाम है और कल्पन्ताम् क्रियापद है। यज्ञ शब्द पूजा, सङ्गतिकरण व दान अर्थक यज् धातु से निष्पन्न होता है।

कोशकारों ने यज्ञ शब्द के—आहुति देकर देवपूजा का वेदोक्त कर्म, वैश्वदेवादि स्मार्त कर्म, विष्णु, अग्नि आदि अर्थ[1] दिये हैं। **त्रिवृद् यज्ञः त्रिभिर्ऋग्यजुःसामभिर्वर्तते** ऐसा भी कहा गया है। तो इष्टि, पशुबन्ध व सौमिक या नित्य, नैमित्तिक व काम्य[2] जैसे त्रिविध रूप में भी यज्ञ का परिचय दिया गया है।

कल्पन्ताम् पद क्लृप् धातु का आज्ञार्थक (लोट्) रूप है। क्लृपि सामर्थ्ये[2]—क्लृप् धातु कुछ करने में समर्थ होना, सम्पन्न होना, परिणत होना–अर्थ में पठित है। कात्यायन के **क्लृपि संपद्यमाने च** इस वार्तिक के सन्दर्भ में भट्टोजि दीक्षित ने संपद्यते का अर्थ जायते किया है, और तत्त्वबोधिनी टीका में इसे संपत्तिरिहाभूतप्रादुर्भावः, संपद्यते प्रादुर्भवति कहकर समझाया है।[3]

प्रस्तुत अर्थ को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार उवट ने **वाजप्रभृतीनि चशब्दसमुच्चितानि मम यज्ञेनानेन क्लृप्तानि भवन्तु। यज्ञोऽस्मभ्यमेतेषाँ दाता भवन्त्वित्यर्थः** लिखा है। अर्थात् 'च समुच्चित वाज आदि पदार्थ मुझे यज्ञ से प्राप्त हो, ये पदार्थ यज्ञ में अग्नि को तृप्त करो, मैं इसके द्वारा तुझे प्रसन्न करता हूं, सींचता हूं' ऐसा बताकर अन्त में 'यज्ञ हमें इन पदार्थों का दाता बनो' ऐसा सारांश

१. संस्कृत-गुजराती विनीतकोश; गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।
२. संस्कृत-हिन्दी-इंगलिश कोश, सं० सूर्यकान्त, प्रका० Orient Longman Ltd. N. Delhi-1
३. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी बालमनोरमातत्त्वबोधिनीसहिता, प्रका० मोतीलाल बनारसीदास, भाग १।

है। भाष्यकार महीधर लिखते हैं—**यज्ञेनानेन मया कृतेन वाजादयः पदार्थाः कल्पन्तां क्लृप्ताः सम्पन्ना भवन्तु।......यद्वा वाजादयः पदार्था मे मम यज्ञेन कल्पन्ताम्। विभक्तिव्यत्ययः। यज्ञेऽग्निं तर्पयन्तु अभिषिञ्चन्तु वा। 'अनेन च त्वा प्रीणाम्यनेन च त्वाभिषिञ्चामि'।......एते मे मम यज्ञेन कल्पन्ताम्। कल्पन्तामिति कण्डिकान्तस्य समुदायापेक्षया बहुत्वम्। मेपदानामावृत्तिः प्रत्येकं प्राप्त्यर्था।**[1] अर्थात् मेरे इस यज्ञ के किये जाने से वाज आदि पदार्थों की सम्प्राप्ति हो।.....अथवा विभक्ति व्यत्यय से अर्थ होगा—(ये पदार्थ) यज्ञ में अग्नि को संतृप्त करो, अग्नि का अभिसिञ्चन करो। मन्त्रों में 'मे' पद की जो बार-बार आवृत्ति हुई है उसके आधार पर यहां इस प्रत्येक पदार्थ की प्राप्ति हो ऐसा ही अर्थ होता है।

सारांश यही है कि यज्ञेन कल्पन्ताम् माने 'यज्ञ के द्वारा प्राप्त हो'। यज्ञ साधन और वाज आदि साध्य, प्राप्तव्य, सम्पाद्य—यह सरलार्थ हुआ।

मनुष्य के द्वारा किये गये असंख्य आविष्कार उपयोगितामूलक हैं, यज्ञ के बारे में भी वैसा हो सम्भव है। गुफावासी आदिमानव को अग्नि का प्रथम परिचय मिलने के बाद जैसे-जैसे वह मानव व्यवस्थित होता गया होगा वैसे-वैसे अग्नि से प्राप्त प्रकाश व ऊष्मा के आश्चर्यकारक, आह्लादक व 'उपयोगी' तत्त्वों के लिए अग्नि को सतत सुलभ रखने के प्रयास भी चालू हो गये होंगे। इसके परिणामस्वरूप शुष्केन्धन, पशु की वसा-चरबी (अग्नि में इसकी आहुति के आधार पर यज्ञहिंसा अथवा पशुबलि के प्राकृत रूप की बात चली थी) या घी जैसा तैलीय पदार्थ-पिछले समय में उसे बनाने की रीत खोजी गई होगी तब—अग्नि में आहुतिरूप में डालने की व्यवस्था हुई होगी। अग्नि की खोज, उसका चयन व संवर्धन कालान्तर में धर्मक्रिया का अङ्ग बने और यज्ञसंस्था का जन्म हो यह स्वाभाविक लगता है। याजक के संस्कारी व ज्ञानपूत बनने के साथ-साथ यज्ञ-भावना भी परिष्कृत होती हुई विकसती रही है।

मन्त्रदर्शन का वैदिक कालखण्ड पूरा होने पर ब्राह्मणकाल उसका भी मध्याह्न होते होते यज्ञ वैदिकधर्म का मानो सर्वस्व प्रतीत होता है। फलस्वरूप यज्ञ का क्रियात्मक व काम्य अंश चरम सीमा पर पहुँचता है। यज्ञकार्य वेदधर्मोपदिष्ट होने से श्रद्धेय और अनुष्ठेय भले ही हो, यज्ञ को उसके स्थूल स्वरूप में (वसोर्धारा मन्त्रों में परिगणित) सब पदार्थों का उपादान या निमित्त मानने में तो अतिश्रद्धा या अन्धश्रद्धा व काम्यता है जो प्रत्याघात की जननी है। **प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञ-रूपा**[2], **येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्**[3]; **न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**[4] आदि उपनिषद् वचनों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रत्याघात ही तो प्रतिध्वनित होता है!

इस सन्दर्भ में यह भी चिन्त्य है कि यज्ञ और शाश्वत आनन्द का जो परस्पर अनुबन्ध है वह यहां प्रत्यायक नहीं रहता। जैसे कि—यज्ञ मूलतः एक कर्म होने से बन्धक है; अतः आनन्द के

१. शुक्लयजुर्वेदसंहिता (उवटमहीधरभाष्योपेता), प्रका० मोतीलाल बनारसीदास।
२. मुण्डकोपनिषद् १।२।७॥
३. बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।३॥
४. कठोपनिषद् १।१।२७।

परमलक्ष्य का[1] अवरोधक है। समग्र सृष्टि कर्ममय है और प्राणी क्षणभर भी अकर्मकृत् नहीं रह सकता। स्थिति यह हुई कि कर्म छूट नहीं सकता, परमलक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता! बड़ी विचित्र है यह स्थिति। यदि यह विचार यहां रुक जाता है तो आनन्दस्वरूप परमात्मा, उसकी प्राप्ति के उपाय आदि सब अर्थहीन रह जाता है! किन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद् (६।२) के अनुसार—**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च** अर्थात् शुद्ध सत्त्व परमात्मा में आनन्द और स्वाभाविकी क्रिया निषिद्ध नहीं है। अतः परमात्मा में निहित क्रिया और मनुष्य में निहित क्रिया—इन दोनों क्रियाओं के बीच भेद विशुद्धि और मालिन्य का ही मानना पड़े। क्या मालिन्यविहीन, विशुद्ध कर्म खोजा जा सकता है? कर्म मलिन कैसे होता है?

कर्म को मलिन बनानेवाला है मन। यत्र-तत्र ममत्व से लिपट जाना मन का स्वभाव है। वह अति प्रबल है और कर्म को दूषित करता है।

बिलकुल ऐसी स्थिति में **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**[2], **यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्**[3] जैसे श्रुतिवचनों में परस्परित अर्थ से कुछ भिन्न दर्शन पाकर गीताकार उस दिशा में प्रेरित हुए हों ऐसा मानना सयुक्तिक है। यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है। कर्म साधन भी है। श्रेष्ठतम कर्म वही हो सकता है जो श्रेष्ठतम को साध सके। यूं, यज्ञ श्रेष्ठतम को साध सके ऐसा साधन बनता है। वस्तु की सम्प्राप्ति के लिए समुचित प्रार्थना भी यही हो कि हमें श्रेष्ठ साधन प्राप्त हो। ऐसा साधन ही यज्ञ है। यज्ञ शब्द में छुपी हुई गुंजाईश का परिचय अब होने लगता है। यज्ञ शब्द में पूजा-सङ्गतिकरण-दान का समन्वित अर्थ है। यज्ञरूप में किया गया कर्म मूलतः पूजारूप है, पवित्र है। उसमें मालिन्य को मिटाने की क्षमता है। यहां दान शब्द का दो अवखण्डने (पा० ४।३६, प०) धातु से निष्पन्न अर्थ भी लागू होता है, जो सूचक भी है। पदार्थ के प्रति स्वामित्व-ममत्व का तन्तु टूटे बिना सम्यक् दान भी कैसे सम्भव? अग्नि वैसे भी पावक होने से दोषदहन करता है, अतः ज्ञानाग्नि ममत्व के मालिन्य को मिटाकर कर्म को विशुद्ध बना सकता है। क्योंकि **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**[4] यह गीताकार की प्रतीति है। जब सर्वथा कर्मत्याग अशक्य हो ऐसी दशा में आसक्ति को जलाकर कर्म को बचा लेने से कर्म का श्रेष्ठत्व अक्षुण्ण रह पाता है।

यज्ञ में निहित सङ्गतिकरण का भाव समाजलक्षी है, जो समष्टिहित के निःस्वार्थ कार्यों द्वारा मूर्त होता है। ऐसे कार्य समाज को स्वस्थ धारणा के हेतु अत्यन्त आवश्यक हैं। किसी कार्य या प्रवृत्ति में अपने द्रव्य, श्रम, समय, कला-कौशल आदि को निरपेक्ष समर्पित करके जनमङ्गल साधने के पीछे पूजा व दान की मूल यज्ञीय भावना विलसती है। आधुनिक युग में श्रमयज्ञ, भूदान-

---

१. ब्रह्म; उपनिषदों में ब्रह्म का आनन्द रूप में वर्णन प्रसिद्ध है, कुछ उद्धरण—आनंदरूपममृतं यद्विभाति (मुंडक २।२।७); अथैष एव परम आनन्दः। एष ब्रह्मलोकः (बृ० आ० उ० ४।३।३३); आनन्द आत्मा (तै० उ० २।५), आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् (वही ३।६); सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो (मां० उ० १।५)।

२. काठक सं० ३०।१; कपिष्ठल कठ सं० ४६।८; तै० सं० ३।३।१।४; माध्यन्दिनी शत० ब्रा० १।७।१।५

३. शुक्लयजुर्वेदसंहिता १८।२९।

४. भगवद्गीता ४।३८॥

यज्ञ, नेत्रयज्ञ आदि जैसे प्रचलित प्रयोग इस दृष्टि से यज्ञ हैं। यह यज्ञभाव ही लोकसंग्रह को उसकी कर्तव्यमुद्रा प्रदान करता है।

यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्– यज्ञ भी यज्ञ से सम्पन्न, सम्प्राप्त हो; ऐसी प्रार्थना यज्ञ के उपर्युक्त समन्वित अर्थ को लक्षित करती है। पूरा दारो मदार यज्ञ के ऊपर है। यही कारण है कि अयज्ञ से बहुत कुछ मिल सके फिर भी स्वीकार्य नहीं ! धर्म्य स्वामित्व से रहित धन से अर्थात् कुमार्ग से, भ्रष्ट उपायों से प्राप्त दो नम्बरी या पराये पैसे से जो किया जाय उसको धर्म का उजला नाम या मुखौटा भले ही मिल जाय, परन्तु वह यज्ञ तो कतई नहीं हो सकता। यज्ञ स्वयं स्तेनवृत्ति का विरोधी है। साधन-साध्य-विवेक **यज्ञेन कल्पन्ताम्** का पारदर्शन है।

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म यह वैदिक विधान विपरीत रूप में भी सार्थक है। श्रेष्ठकर्म माने यज्ञ, अर्थात् पूजा-पावित्र्ययुक्त, स्वाभाविक अतः कर्त्तव्यबुद्धि से किया जानेवाला (जैसा कि अर्जुन के लिए युद्ध), लोकसंग्रहक्षम और अनासक्त माने फलाशारहित कर्म, वही यज्ञ। यज्ञ की यह व्यापक विभावना कर्मयोग में अनुस्यूत है।

ब्राह्मणकाल के मध्याह्न के पश्चात् कोरे क्रियाकाण्ड की भरमार होने पर यज्ञसंस्था जो प्रायः निष्प्राण हो चली थी, विरोध द्वारा उसे नामशेष करने के बजाय यज्ञ को नया आयाम व व्यापक भावभूमि का सन्दर्भ देकर उसे पुनरुज्जीवित करने का श्रेय गीताकार को मिला है।

अथर्ववेद में ज्योतिष के तत्त्व
(सायण-भाष्य के सन्दर्भ में)

[ले०—डॉ० जितेन्द्र कुमार, १, सी. ओ. डी. कालोनी शाहगंज, आगरा-२८२०१० (उ०प्र०)]

अथर्ववेद के सायण भाष्य में ब्रह्मात्मक ओदन से बारह महीनों की उत्पत्ति का वर्णन हुआ है। मासरूपी चक्र के तीस दिन तीस अरे हैं और संवत्सर अर्थात् वर्षरूपी चक्र के बारह मास बारह अरे हैं। मास संवत्सर अहोरात्र के अतिवर्तन से ब्रह्मात्मक ओदन की स्तुति की गई है।[1] इससे ज्ञात होता है कि बारह मास का एक वर्ष होता है। तेरहवें मास की भी चर्चा हुई है।

संवत्सर चक्र को काल चक्र, वर्ष चक्र आदि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। काल सूक्त के प्रथम मन्त्र में पठित रश्मि शब्द का अर्थ सायण ने ऋतुएं किया है। सात ऋतुएं एक-एक ऋतु दो मास तक रहती हैं सातवीं तेरहवें मास में। ऋग्वेद में कहा भी है—अथर्ववेद में भी पूर्व में कह दिया

१. यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनांदनेनाति तराणि मृत्युम्। अ०सं० (४।३५।४) सा०

है।[1] अथर्ववेद के एक मन्त्र में संवत्सर को इस रूप में बांटा गया है--कला काष्ठादि (आर्तव), अहोरात्र, (हायन) अर्धमास, (समा) मास, संवत्सर। सायण ने आर्तव शब्द से ऋतु के अवयव कला आदि भेद और हायन शब्द से अहोरात्र या दिन-रात, समा से पन्द्रह-पन्द्रह दिन चौबीस अर्धमास, तीस दिन का मास तथा बारह मास का संवत्सर अर्थ किया है।[2] और कहा है कि हायन समा और संवत्सर शब्द पर्यायवाची हैं परन्तु इनमें उपर्युक्त प्रकार से अन्तर भी किया है अथर्ववेद में तीन, पांच और छः ऋतुओं का उल्लेख प्राप्त होता है। एक मन्त्र में शीतोष्ण और वर्षा द्वारा संवत्सर का त्रैविध्य प्रदर्शनार्थ तीन ऋतुओं (शरद, हेमन्त और बसन्त का) नामोल्लेख करते हुए सौ वर्ष के आयुष्य की कामना (इन्द्र, अग्नि, सविता और बृहस्पति से) की गई है।[3] अन्य मन्त्र में पांच ऋतुओं का उल्लेख है—शरद्, हेमन्त, बसन्त, ग्रीष्म और वर्षा।[4] एक अन्य स्थल पर छः ऋतुओं का उल्लेख हुआ है— ग्रीष्म, हेमन्त, शिशिर, बसन्त, शरद् और वर्षा।[5] अथर्ववेद में शरद् और हिम (हेमन्त) शब्द वर्ष के अर्थ में आए हैं। अतएव सौ वर्ष के लिये 'शरदःशतम्' या 'शतहिमाः' प्रयोग दृष्टिगत हुए हैं।[6] इससे ज्ञात होता है कि वर्ष की गणना शरद् या हेमन्त ऋतु से प्रारम्भ हुई है। हिम शब्द शीत या हेमन्त ऋतु के लिये है। एक अन्य मन्त्र में रात्रि को संवत्सर की पत्नी और प्रतिमा (नापने का साधन) कहा गया है।[7] इससे ज्ञात होता है कि वर्षगणना में रात्रि गणना को आधार माना गया है। एक मन्त्र में चन्द्रमा को मासों का कर्त्ता होने का संकेत प्राप्त है। मन्त्र का कथन है कि चन्द्रमा मासों के साथ रक्षा करे।[8] मन्त्र से स्पष्ट होता है कि मासों की गणना का आधार चन्द्रमा है। चन्द्रमा के आधर पर गिने जानेवाले मासों को चान्द्रमास कहते हैं और सूर्य के आधार पर गिने जानेवाले मासों को सौरमास कहते हैं। अथर्ववेद के एक सूक्त में २८ नक्षत्रों और उनके देवताओं का भी वर्णन प्राप्त है। वे नक्षत्र इस प्रकार हैं—

---

१. ······रश्मिशब्देन ऋतव उच्यन्ते। सप्तर्तुः एकैक ऋतुर्मासद्वयात्मकः सप्तमस्तु त्रयोदशो मासः। तथा च दाशतय्याम् आम्नायते--''साकंजानां सप्तथं आहुरेकजं षळिधमा ऋषयो देवजा इति (ऋ० सं० १।१६४।१५) इति। अत्रापि समाम्नातं प्राक् (अ० ६।१४।१६)। वही (१६।५३।१) सा० भा०

२. ऋतून् यज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान्।
समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे। वही (३।१०।६) सा० भा० द्र०

३. शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्छतमु वसन्तान्।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषा हर्षिमेनम्। वही (३।११।४)

४. शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि ददमसि।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः। वही (८।२।२२) सा० भा० द्र०

५. ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात। (वही ६।५५।२)

६. पश्येम शरदः शतम्। (वही १६।६७।१-८), 'शतहिमाः' (वही १६।१२।१) सा० भा०

७. संवत्सरस्य या पत्नी। [संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे) वही ३।१०।२। सा०

८. माद्भ्यस्त्वा चन्द्रो······रक्षतु। (वही १६।२७।२) सा० भा० द्र०

१. कृत्तिका (अग्नि) २. रोहिणी (प्रजापति) ३. मृगशिरस् (सोम) ४. आर्द्रा (रुद्र) ५. पुनर्वसु (अदिति) ६. पुष्य (बृहस्पति) ७. आश्लेषा (सर्प) ८. मघा (पितर) ९. पूर्वा फल्गुनी (अर्यमा) १०. उत्तरा फल्गुनी (भग) ११. हस्त (सविता) १२. चित्रा (इन्द्र) १३. स्वाति (वायु) १४. विशाखे (इन्द्राग्नी) १५. अनुराधा (मित्र) १६. ज्येष्ठा (इन्द्र) १७. मूल (पितर) १८. पूर्वाषाढा (आपः) १९. उत्तराषाढा (विश्वेदेव) २०. अभिजित् (ब्रह्म) २१. श्रवणा (विष्णु) २२. श्रविष्ठा (वसवः) २३. शतभिषज् (इन्द्र) २४. पूर्वा प्रोष्ठपदा (भाद्रपदा, अज एकपाद्) २५. उत्तरा प्रोष्ठपदा (भाद्रपदा, अहिर्बुध्निय्) २६. रेवती (पूषा) २७. अश्विनौ (अश्विनौ) २८. भरणी (यम)।[1]

मन्त्रों में मात्र कृत्तिका नक्षत्र का अग्नि देवता उल्लिखित है परन्तु अग्नि यहां सम्बोधन भी हो सकता है। अन्य नक्षत्रों के देवताओं का उल्लेख सायण ने भाष्य करते हुए किया है। किन्तु कहां से उन देवताओं के नामों का ग्रहण अथवा अध्याहार किया, यह नहीं बताया है। ये नाम 'मुहूर्त्त चिन्तामणि' में भी कुछ भेद से उल्लिखित हैं।[2] भेद नामों के पर्यायों के अन्तर्गत ही है।

एक मन्त्र में २८ नक्षत्रों से शान्ति और अनुकूल बने रहने के लिए नमस्कार किया गया है। कृत्तिका इत्यादि से भरणी पर्यन्त अट्ठाईस नक्षत्र मेरे लिए सहभाव अथवा एकमत से सुखद हों। नक्षत्रों का मेरे लिये सहयोग अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति के लिये हो तथा उससे प्राप्त वस्तुओं का परिपालन या संरक्षण भी हो। रात दिन और नक्षत्रों का संचरण योगक्षेम को अनुकूल बनाने के लिये हो।[3] द्युलोक, अन्तरिक्ष, जलों, भूमि, पर्वतों, दिशाओं में जितने भी नक्षत्र हैं वे उदय

---

१. सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा।
पुनर्वसू सूनृता चारू पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे।
(ख) पुण्यं पूर्वा फल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु।
राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम्।
(ग) अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देव्युत्तरा आ वहन्तु।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम्।
(घ) आ मे महच्छताभिषग् वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म।
आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आ वहन्तु। अ० सं० (१९।७।२-५)सा०भा० द्र०

२. मुहूर्त्तचिन्तामणि, प्रकरण २ पृष्ठ ५०।

३. अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।
योगं प्र पद्ये क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु। अ०सं० १९।८।२।

(अष्टाविंशानि) प्रत्येकं अष्टाविंशतेः संख्यायाः पूरणानीति सर्वाणि अष्टाविंशानि इत्युक्तम्। कृत्तिकेत्यादीनि भरणीत्यन्तानि (शिवानि) सुखदर्शनानि (शग्मानि) सुखनामेतत्। सुखप्रदानि तानि सर्वाणि नक्षत्राणि (मे) मदर्थं मम फलं दातुं (सहयोगं) सहभावं ऐकमत्यं (भजन्तु) प्राप्नुवन्तु। नक्षत्राणां मदर्थं सहयोगात् अहं (योगम्) अलब्धवस्तुप्राप्तिर्योगः। तं (प्र पद्ये) पूर्वं अलब्धानि वस्तूनि नक्षत्रप्रसादाल्लभेयम्। (क्षेमम्) लब्धवस्तुपरिपालनं क्षेमः। तं (च) प्र पद्ये। क्षेमस्य अन्वाचयशिष्टत्वेन अप्राधान्यशङ्कां वारयितुं तत् प्राधान्येन पुनराह—(क्षेमं प्र पद्ये योगं चेति। अनेन योगक्षेमयोः प्राधान्यम्। अहनि रात्रौ च नक्षत्राणां संचरणात् तयोरानुकूल्यकरणं नमोऽहोरात्राभ्याम् अस्त्विति। ताभ्यां नमः। वही (१९।८।२) सा० भा०

समय में या अस्त समय में, भूमि समान देश हो या पर्वतसदृश प्रदेश हो सर्वत्र सभी काल में उनके सुखकर होने की प्रार्थना की गई है।[1] इन मन्त्रों से इतना स्पष्ट होता है कि नक्षत्रों का प्रभाव पृथिवी पर भी पड़ता है। साधारणतया एक नक्षत्र का भोग एक दिन तक रहता है। अतः एक मास में नक्षत्रों का एक चक्र पूरा हो जाता है। सत्ताईस अथवा अट्ठाईस नक्षत्रों के मान से नक्षत्र मास २७-२८ दिन में पूर्ण होता है। इसी को चान्द्रमास कहते हैं। सूर्य के एक अंश भोग काल को सौर दिवस कहते हैं अतः तीस दिन के पश्चात् एक मास होता है इसे सौरमास कहते हैं।[2] इन मन्त्रों में २८ नक्षत्रों का वर्णन हुआ है परन्तु परवर्त्ती साहित्य में अभिजित् नक्षत्र को छोड़ दिया गया है और सत्ताईस नक्षत्रों को ही स्वीकार किया गया है।

अथर्ववेद में 'दिविचरा ग्रहाः' के द्वारा आकाशीय ग्रहों का संकेत किया है। एक मन्त्र में चार ग्रहों का स्पष्ट उल्लेख है। चन्द्रमा, सूर्य, राहु और धूमकेतु।[3] इस मन्त्र में चान्द्रमस ग्रहों का उल्लेख है। इससे अन्य ग्रहों का ग्रहण करना भी सम्भव है। मन्त्र में कहा गया है कि पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक आदि में होनेवाले उत्पात कल्याणकारी हों। चन्द्रमा के ग्रह से अप्रत्यक्ष रूप में चन्द्रमा ही व्यक्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि ग्रहों के उत्पातजन्य परिणाम मनुष्यों को भोगने पड़ते हैं।[4]

अथर्ववेद में तिथियों के पूर्ण नाम दृष्टि में नहीं आये। चार नामों का उल्लेख निम्न प्रकार से हुआ है—एकाष्टका—यह पूर्णिमा के पश्चात् की अष्टमी के लिए है। मुख्य रूप से यह शब्द माघ—कृष्णापक्ष की अष्टमी के लिए आता है।[5] राका—यह पूर्णिमा के लिए है।[6] कुहू—यह

१. यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु। वही १९।८।१।

(दिवि) द्युलोके (अन्तरिक्षे) मध्यमलोके (अप्सु) उदकेषु (भूमौ) पृथिव्यां (नगेषु) पर्वतेषु (दिक्षु) च (यानि नक्षत्राणि) दृश्यन्ते द्युलोके देवतात्मना अन्तरिक्षे तेजोमण्डलाकारेण अप्सु प्रतिबिम्बनेन। उदये च अस्तमयकाले च भूमिसमानदेशे पर्वतसमानप्रदेशे च प्रतीतेर्भूमिः पर्वताश्च अधिकरणत्वेन उच्यन्ते। दिक्षु प्रतीतिस्तु स्फुटा। (चन्द्रमाः यानि) नक्षत्राणि (प्रकल्पयन्) प्रकर्षेण कल्पयन् संभोगसमर्थानि कुर्वन् प्रोत्साहयन् (एति) प्राप्नोति (एतानि सर्वाणि) नक्षत्राणि (मम शिवानि) सुखकराणि (सन्तु) भवन्तु। वही १९।८।१। सा०

२. भवन्ति शशिनो मासाः सूर्येन्दुभगणान्तरम्।
रविमासोनितास्ते तु शेषाः स्युरधिमासकाः। सूर्यसिद्धान्त-मध्यमाधिकार ३५

३. शंनो ग्रहश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।
शंनो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः। अ० सं० १९।९।१०। सा० भा० द्र०

४. उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शंनो दिविचरा ग्रहाः। वही (१९।९।७) सा० भा० द्र०

५. एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम्। वही ३।१०।५। सा० भा० द्र०

६. राकामहं सुहवा सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना। वही ७।४८।१ सा०

अमावास्या के लिए है।[1] सिनीवाली—यह अमावास्या के पश्चात् वाली प्रतिपदा के लिए है अर्थात् शुक्ल प्रतिपदा की रात्रि।[2]

अथर्ववेद के दो सूक्तों में काल के स्वरूप और उसके महत्त्व का विस्तृत वर्णन है काल को ब्रह्म बताते हुए कहा गया है कि वह दृश्यमान और अदृश्यमान सम्पूर्ण ब्रह्माण्डावयवों और परमेष्ठी प्रजापति को भी धारण करता है और सबको उत्पन्न कर सर्वत्र व्याप्त है।[3] काल को रूपकालंकार द्वारा एक अश्व के रूप में वर्णित किया है। उसकी सात लगाम (किरणें) हैं। उसकी हजारों आंखें हैं। वह अजर है। महाशक्तिशाली है। सारा सार उसके चक्र (पहिए) हैं। विद्वान् लोग ही उसकी सवारी कर पाते हैं। अर्थात् विद्वान् ही काल का सदुपयोग करते हैं और उसे वश में कर पाते हैं।[4] इसके सात चक्र (पहिए) छः ऋतुएं तथा एक अधिमास है। इसकी सात नाभियां (सात ऋतुओं के सन्धिकाल) हैं। इसकी धुरी अनश्वर है। यही सारे संसार को उत्पन्न व उसका संहार करता है। यही सर्वत्र व्याप्त है।[5] अथर्ववेद के चार सूक्तों में रात्रि के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।[6] रात्रि को सुख और शान्ति का साधन माना गया है। रात्रि को घृताची कहा है।[7] इसका अभिप्राय यह है कि रात्रि घृतयुक्त है। जिस प्रकार घी शरीर को पुष्ट करता है, उसी प्रकार रात्रि भी शरीर की थकान को दूर करके उसे नवजीवन प्रदान कर पुष्ट करती हैं। रात्रि में सम्यक् नींद का आना उत्तम स्वास्थ्य का लक्षण है। एक मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि वह रात्रि माता हमें उषा को दे, उषा दिन को दे और दिन पुनः रात्रि को दे देवे।[8] इस प्रकार जीवन सुखद हो। एक मन्त्र में प्रार्थना की है कि प्रातः सायं पूरा दिन शुभ हो, पशु पक्षी शुभ हों।[9] छींकना, खाली घड़ा दिखाई पड़ना, किसी के द्वारा टोका जाना, ये शुभ कार्य के लिए अशुभ माने गये हैं, इनको दूर करने की प्रार्थना है।[10] कुछ उत्पातों का नाम परिगणन कराते हुए कहा है कि

---

१. कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनाप समस्मिन् यज्ञे सुहवा जोहवीमि। वही ७।४७।१ सा०

२. सिनीवाली पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा। वही ७।४६।१ सा० भा० द्र०

३. कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते। अ०सं० १९।५३।५ सा०भा० द्र०

४. कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
नमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा। वही १९।५३।१ सा०

५. सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः।
स इमा विश्वा भुवनान्यंजत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः। वही १९।५३।२ सा० भा०

६. आ रात्रि पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः। वही १९।४७।५०) सा० भा० द्र०

७. वेद वै रात्रि ते नाम घृताची नाम वा असि। वही १९।४८।६ सा० भा० द्र०

८. रात्रिमातरुषसे नः परि देहि। उषा नो अह्ने परि ददात्वहस्तुभ्यं विभावरि। वही १९।४८।२ सा० भा० द्र०

९. स्वस्तितं मे सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनं मे अस्तु। वही १९।८।३। सा० भा० द्र०

१०. अनुहवं परिहवं परिवादं परिक्षम्।
सर्वैर्मे रिक्तकुम्भान् परा तान्त्सवितः सुव। वही १९।८।४ सा० भा० द्र०

ये ग्रहों के कारण उत्पात न हों। जैसे—भूकम्प, उल्कापात, भूमि का फटना या भू-स्खलन (पर्वतों आदि की भूमि का टूटकर गिर जाना), अभिचार, धूमकेतु (पुच्छलतारे का उदय) आदि।[1] ज्येष्ठा नक्षत्र में पुत्र जन्म को अशुभ कहा गया है। ज्येष्ठा नक्षत्र को ज्येष्ठघ्नी अर्थात् यह आयु में बड़ों को नष्ट करता है। इसी प्रकार मूल नक्षत्र में पुत्र जन्म को अशुभ बताया गया है। मूल का दूसरा नाम विचृत् है। अर्थात् यह विशेष रूप से हानि करता है। यह माता या पिता को या स्वयं को नष्ट न करे।[2] इस आधार पर शकुन और अपशकुन तथा नक्षत्रों का प्रभाव माना जा सकता है। उपर्युक्त प्रकार से सायण ने यह व्याख्या फलित-ज्योतिष के अनुसार की है, परन्तु मन्त्रों की भिन्न व्याख्या भी की जा सकती थी।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' के द्वितीय समुल्लास में फलित-ज्योतिष के सम्बन्ध में जो उल्लेख किया है उससे सम्पूर्णतः ज्योतिषविषयक विचारधारा का अपाकरण नहीं होता प्रत्युत फलित ज्योतिष के पण्डित (स्वामी जी के शब्दों में ज्योतिर्विदाभास) जिस प्रकार का व्यवहार अपने अशिक्षित गणमान के साथ करते हैं और उसका तात्कालिक लाभ धन-प्राप्त्यर्थ मात्र उद्देश्य की भर्त्सना की गई है। अन्यथा स्वामी जी सोदाहरण ज्योतिर्विदाभास जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं करते। अतः दृष्टि को समग्र रूप में अन्वीक्षण करना नितान्त अपरिहार्य है।

हे धरती, हे आकाश !

(ऋ० १.१०५.१-११ का अध्ययन)

[लि०—डा० श्रीमती प्रवेश सक्सेना, ए० एन० ७ बी०, शालीमार बाग, दिल्ली-५२]

वैदिक सूक्त या वैदिक ऋचाएं सृष्टि के अरुणोदयकालीन सुन्दर मनोरम प्राकृतिक परिवेश में रची गईं। प्रकृति ईश्वर की कृति है और मनुष्य प्रकृति की अनुपम रचना है। इसलिए उसे प्रकृति-पुत्र भी कहा जाता है। वैदिक-सूक्तों के स्वर प्रकृतिपुत्र मानव द्वारा प्रकृति के विराट् स्वरूप की नीराजना से प्रतीत होते हैं। वास्तव में सृष्टि के उस प्रारम्भिक काल में मानव और प्रकृति के मध्य एक विशिष्ट तादात्म्यभाव था जिससे प्रेरित होकर मानव की वाणी मन्त्रों में अभिव्यक्त हो उठती थी। तब मानव के लिए प्रकृति जड़मात्र नहीं थी अपितु एक दिव्य चेतना से आप्लावित थी।

---

१. शंनो भूमिर्वेप्यमाना शमुल्का निर्हतं च यत्।
शं गावो लोहितक्षीराः शं भूमिरव तीर्यतीः। वही १९।९।८-१० सा० भा० द्र०

२. ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम्। वही ६।११०।२; ६।११२।१॥ सा० भा० द्र०।

प्रकृति के विभिन्न रूपों की अनुभूति मनुष्य को पृथिवी और आकाश के अन्तराल में ही होती है। पृथिवी मां है तो आकाश है पिता। वैदिक ऋषि स्वयं को इन दोनों की सन्तान मानकर अपनी सभा रागात्मक व संवेगात्मक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देता है। यों सारा परिवेश एक पारिवारिक ढांचे में ढल जाता है। तब वैयक्तिक और वैश्विक मांगल्य में कोई भेद नहीं रह जाता। मानव की स्तुतियां-प्रार्थनाएं प्रकृति के द्वारा जीवन-मांगल्य की कामना करने लगती हैं।

पृथिवी जो जीवन का आधार है, वनस्पतियों की हरीतिमा धारती है, जीवन से भरी पीयूषवर्णा नदियां उसी के वक्षस्थल पर तो बहती हैं, तरह-तरह के जीव-जन्तु और सर्वश्रेष्ठ मनुष्य के जीवन का आधार भी वही तो है। वही है उसके समस्त क्रिया-कलापों, गतिविधियों की भाव-भूमि है, वही उसके हर कर्म की साक्षिणी भी है। इसी धरती के माध्यम से ही तो 'शून्य' भी आकाश की संज्ञा पाता है जिसमें सूरज, चांद, तारे चमकते हैं तथा घनविद्युत् की नाटिका अभिनीत होती रहती है। जल-धाराएं जीवन-धाराओं सी प्रवहमान होती रहती हैं ऐसे धरती-आकाश को साक्षी मानकर चिरकाल से लेकर अद्यतन कवि अपनी भावनाओं को विभिन्न पद्यों, गीतों में अभिव्यक्ति देते रहे हैं।

मानवता के आदिग्रन्थ ऋग्वेद (१।१०५।१-१६) के एक सूक्त में त्रित आप्त्यः या कुत्स आङ्गिरस द्वारा दृष्ट १६ मन्त्रों में कुछ ऐसी ही अभिव्यक्तियां हैं। यों तो पूरा सूक्त विश्वेदवों को सम्बोधित है परन्तु सूक्त के १-१८ मन्त्रों की टेक है—

वित्तं मे अस्य रोदसी

ग्रिफिथ ने इसका अनुवाद यों किया है—'मॉर्क दिस माय वो, ए अर्थ एण्ड हैवन' अर्थात् हे धरती, हे आकाश ! मेरे कष्ट, मेरे दुःख, मेरी वेदना को समझो।' सायण के अनुसार यह 'त्रित' नामक व्यक्ति के शब्द हैं जो (सूक्त के १७वें मन्त्र द्वारा समर्थित) एक कूप में आबद्ध था। अन्धेरे कुएं की ऊंची-ऊंची दीवारों में कैदी पड़े त्रित का तन ही बन्धनयुक्त था मन के द्वारा तो वह पूरे समूचे धरती आकाश की यात्राएं कर लेता है, सूरज और उसके प्रकाश की किरणों का स्पर्श पा लेता है। पर फिर भी तन के बन्धन उसे अवसन्न कर देते हैं, उसकी सीमाएं उसे असीम को छूने के लिए उकसाती हैं पर जब असमर्थता सताती है तब वह सबके सुख दुःख के साक्षीभूत धरती-आकाश से प्रार्थना करता है, उन्हें अपने दुःख, अपनी वेदनाओं से अवगत कराना चाहता है। दुःख-कष्ट की प्रक्रियाओं से गुजरता उसका मन सूक्त रचना में प्रवृत्त हो जाता है तब वह चाहता है कि धरती आकाश उसके सूक्तों को स्वीकारें। श्री दामोदरपाद सातवलेकर ने इस पंक्ति का अर्थ किया है 'मेरी प्रार्थना का आशय आप दोनों समझो अथवा मेरी जिज्ञासा को आप जानो'।

एक ओर सृष्टि की असीमता तो दूसरी ओर मानव मन की ससीमता जो अज्ञान के कूप में बन्दी है। पर सृष्टि के रहस्यों को जानने-समझने की जिज्ञासा का भी तो अन्त नहीं है। मानव मन की यही जिज्ञासा तो दर्शन को जन्म देती है। इसी से प्रेरित होकर मानवमन प्रकृति की विविध दिव्य शक्तियों से संवाद की स्थिति बनाता है। इस संवाद के बीच में से ही उभरती हैं कविताएं और गीत, सूक्त और ऋचाएं। इस सूक्त में सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत्, सोम, मित्र, वरुण, अर्य-

मन्, इन्द्र, बृहस्पति, अदिति, सिन्धु, पृथिवी और द्यौ तथा अग्नि जैसे देवों का आवाहन है। जीवन-यज्ञ है एक ओर तो दूसरी ओर है विश्व-यज्ञ। दोनों के मध्य दौत्यकर्म निबाहता है 'अग्नि-देव' जो तेज प्रकाश तथा ऊर्जा का देव है। देव-मनुष्य के इस संवाद में महत्ता 'मनुष्य' की ही सिद्ध हुई है तभी अग्नि को मनुष्य की तरह (मनुष्वद्) आकर बैठने को कहा गया है।

सुख-दुःख, पाप-पुण्य, ऋत-अनृत, सत्य-असत्य, प्रतिकूल-अनुकूल इन दो रङ्गों से बुना है जीवन-पट। सत्य की अन्वेषण-यात्रा में कभी सुख मिलता है तो कभी दुःख। ये दुःख के पल ही मनुष्य को बन्धन में डालते हैं। व्यथाओं-वेदनाओं से घिरा मानव अस्तित्व तब धरती-आकाश को पुकारता है—जैसे सन्तान कष्ट पड़ने पर माता-पिता को पुकारती है। हृदय की सम्पूर्ण भावनाएं, कामनाएं, जिज्ञासाएं सब उनके चरणों में अर्पित, समर्पित कर दी जाती हैं।

वैदिक-कवि काव्यात्मक बिम्बों के माध्यम से सृष्टि-चक्र-प्रवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनेवाले चन्द्रमा, सूर्य और विद्युत् का वर्णन करता है। वायु के समुद्र में चन्द्रमा दौड़ता है तो उधर सुन्दर पक्षोंवाला सूर्य (सुपर्ण) द्युलोक में दौड़ता है। स्वर्गिम-चक्र युत बिजलियां यों रहस्य में आवृत रहती हैं अचानक कभी-कभी चमक उठती हैं। इन सब में व्याप्त तेज की उपासना करता है वैदिक ऋषि तथा प्रार्थना करता है हे धरती, हे आकाश! तुम मेरी प्रार्थना के भाव को समझो।[1]

काम अर्थात् इच्छा मानव को मुख्य प्रेरिकाशक्ति है। इसी से प्राप्तव्य मिलता है। प्रबल इच्छा होने से तदनुकूल प्रयत्न होते हैं फिर कार्य सिद्ध होने में कोई शङ्का नहीं रहती। पति-पत्नी के सम्बन्ध भी काम पर, इच्छा पर आधारित रहते हैं इसी से सन्तति का विकास होता है। मानव मन की इच्छाओं और कामनाओं की लम्बी फेहरिस्त है, हे धरती, हे आकाश ! मेरी इच्छाओं, कामनाओं को तुम समझो, जानो।[2]

प्रकाश और आनन्द के स्रोत हैं सूर्य और सोम ये दोनों हमसे कभी न बिछुड़ें अर्थात् द्युलोक में ऊंचाइयों पर सूरज जैसे विराजता है वैसे ही हमारा व्यक्तित्व उन्नत हो, हम सदैव आरोहण करें, अवनत न हों। कल्याणकारी आनन्दपूर्ण सोम्य साधनों से सम्पन्न रहें। हे धरती, हे आकाश! हमारी प्रार्थना को जानो और कामना पूर्ण करो।[3]

मानव जीवन में ज्ञानपथ पर चलते हुए शङ्काओं और संशयों का आना स्वाभाविक है, प्रश्नों का उठना सहज है। कवि कहता है—**'यज्ञं पृच्छामि अवमम्'** अर्थात् मैं समीप के यज्ञ से प्रश्न करता हूं। यज्ञ का दूत अग्नि प्रश्नों का उत्तर देगा ही। यज्ञ यहां ज्ञान और दूत ज्ञानी का प्रतीक है। ज्ञानी पुरुष ही मानवमन की गुत्थियों को सुलझा सकता है, प्रश्नों का समाधान कर सकता

---

१. चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥

२. अर्थमिद् वा उ अर्थिन आ जाया युवते पतिम्।
तुञ्जाते वृष्ण्यं पयः परिदाय रसं दुहे वित्तं मे अस्य रोदसी ॥

३. मो षु देवा अदः स्वरव पादि दिवस्परि।
मा सोम्यस्य शंभुवः शूने भूम कदाचन वित्तं मे अस्य रोदसी ॥

है। पूर्व और नव्य में संघर्ष चलता रहता है। पूर्व्य ऋत या पुरातन-काल की सरलता, सत्यता सादगी कहां चली गई ? कौन नवीन उसे धारण करता है ? पीढ़ियों का अन्तर कोई आधुनिक युग की समस्या नहीं है, वैदिक युग में भी विद्यमान थी। पर मन्त्र के भाव में स्पष्ट आदेश है कि पूर्व्य युग से प्रेरणा लेकर नूतन को आगे बढ़ना चाहिए। हे धरतो, हे आकाश ! मेरी जिज्ञासाओं, समस्याओं को जानो।[४]

ऋत-अनृत में, ऋजुता-कुटिलता में संघर्ष चलता रहता है, इस संघर्ष में पुराने लोगों ने कैसे जय पाई, क्या आहुति दी, इस सबको वैदिक कवि जानना चाहता है। धरती, आकाश और दोनों का अन्तराल अन्तरिक्ष सभी सूर्य के प्रकाश से ज्योतित रहते हैं। विवेकशीलता से सत्य-असत्य पर विचार कर सन्मार्ग पर चलते हुए मानव भी ज्योतिर्धाम तक पहुंच सकता है। पुरातन से अवच्छिन्न होकर वर्तमान सुन्दर नहीं हो सकता। हे धरती, हे आकाश ! मेरी जिज्ञासाओं का समाधान करो।[५]

अगला मन्त्र फिर ऋत की धारणा या सत्य का समर्थ आधार क्या है ? वरुण की अमर दृष्टि कहां है ? महान् अर्यमन् का मार्ग कौन सा हैं ? जैसे प्रश्न प्रतिस्थापित करता है। कवि की जिज्ञासा है कि क्या सत्य-असत्य, सही-गलत में कोई भेद नहीं है ? क्या विश्व में कोई नैतिक-व्यवस्था न्यायपूर्ण शासन नहीं हैं ? तब मेरे जैसा विश्वासपूर्ण भक्त कष्टों में क्यों घिरा है, क्यों दुष्ट बुद्धिवालों को अतिक्रमण कर सज्जनों का कल्याण सिद्ध नहीं हो रहा है। अत: धरती-आकाश से प्रार्थना है—**'दूढचः प्रति क्रामेम'** अर्थात् हम दुष्टों का अतिक्रमण करें। यह अतिक्रमण ऋत-पालना से वरिष्ठ निरीक्षण एवं आर्यमार्ग पर चलने से ही सम्भव है।[६]

चिन्तनशील, मेधावी मानवमन सृष्टि के द्वन्द्वों से परास्त नहीं होता अपितु उनसे अपनी सृजनशीलता का विकास करता है। इस स्रजनशीलता से ऋचाओं, मन्त्रों की रचना होती है जो स्रष्टा को तो आनन्द देती ही है, अन्यों को भी प्रेरणा व उल्लास प्रदान करती है। पर सृजन की प्रक्रिया में अर्जित आनन्द या ज्ञानयज्ञ द्वारा उपार्जित सन्तोष भी मनुष्य को वेदनामुक्त नहीं कर पाता। जैसे प्यासे हिरन को भेड़िया कष्ट देता है वैसे ही मृगतृष्णाएं उसे सताती है, क्रोध उसे अशान्त करता है। विद्वत्ता प्राप्त कर लेने पर भी मनुष्य का मन शान्त क्यों नहीं हो पाता ? क्यों सताती हैं भोग-तृष्णाएं उसे ? हे धरती, हे आकाश ![७]

---

४. यज्ञं पृच्छाम्यवमं स तद् दूतो वि वोचति।
क्व ऋतं पूर्व्यं गतं कस्तद् बिभर्ति नूतनो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥
५. अमी ये देवा: स्थन त्रिष्वा रोचने दिव:।
कद् व ऋतं कदनृतं क्व प्रत्ना व आहुतिर्वित्तं मे अस्य रोदसी ॥
६. कद् व ऋतस्य धर्णसि कद् वरुणस्य चक्षणम्।
कदर्यम्णो महस्पथाति क्रामेम दूढचो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥
७. अहं सो अस्मि य: पुरा सुते वदामि कानिचित्।
तं मा व्यन्त्याध्यो वृको न तृष्णजं मृगं वित्तं मे अस्य रोदसी ॥

स्तुति, प्रार्थना, उपासना, भजन करनेवाले को भी मानसिक शान्ति नहीं मिलती, उसे मनोव्यथाएं वैसे ही खाती हैं जैसे कांजी लगे तन्तुओं को (या वस्त्रों को) चूहे खा लेते हैं। अनेक सौतें पति को सन्तप्त करती हैं। मन्त्र में 'पर्शवः' शब्द का अर्थ यों पसलियां हैं पर सायण ने उन्हें कुएं की दीवारें माना है जिनसे त्रित घिरा था। कवि को आश्चर्य है कि 'शतक्रतु' अर्थात् इन्द्र के स्तोता को मनोवेदनाएं क्यों सता रही हैं ? हे धरती, हे आकाश ! अपने प्रशंसक की वेदना को समझ उसे दूर करो।[८]

वैदिक-धर्म सम्पूर्ण मानवता का धर्म है। पूरा विश्व यहां एक परिवार है, एक इकाई है। इसी उदारभाव से युक्त ऋषि कहता है सूरज की सात किरणें पृथिवी पर जहां तक प्रकाश की कथा अङ्कित करती हैं वहां तक मेरा घर फैला हुआ है (तत्र मे नाभिः आतता)। इसीलिए वह प्रेममय बन्धुभाव के लिए प्रार्थना करता है (सः जामित्वाय रेभति)। आकाश से धरती तक सर्वत्र सूरज की किरणों का साम्राज्य है इसलिए जाति-भेद, वर्ण-भेद, संस्कृति-भेद या भाषा-भेद बेमानी हैं। हम सब मानव सूरज के वंशज हैं, सूर्य हमारा राष्ट्रदेव ही नहीं, विश्वदेव है। अतः अन्धकार हमारी नियति हो ही नहीं सकती।[९]

महान् द्युलोक में पञ्च वृषभ हैं जो बहुत शक्तिशाली हैं, प्रबल हैं, देवोपासना से ये निवृत्त हो जाते हैं। पञ्चवृषभ सायण के अनुसार इन्द्र, वरुण, अग्नि, अर्यमन्, सविता अथवा अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य, विद्युत् हैं जो मानवहित अपने वरदान बरसाते हैं। ग्रिफिथ ने इन्हें ग्रह-विशेष माना है। पर पूरे सूक्त के सन्दर्भ में देखें तो पांच-वृषभ पांच ज्ञानेन्द्रियां ही प्रतीत होती हैं। जब मानवमन देवोपासना में एकाग्र हो जाता है तब इन्द्रियां भी अपने-अपने विषयों से निर्वृत हो अथवा पराङ्-मुख होकर उसी उपासना में लग जाती है। धरती, आकाश, कवि की भावना को समझें यही अपेक्षित है।[१०]

ग्यारहवें मन्त्र में 'सुपर्ण' का प्रयोग बहुवचन में हुआ है। ग्रिफिथ ने इसीलिए इसका अर्थ तारे किया है जो अपने प्रकाश से वृक अर्थात् चन्द्रग्रहण अथवा अन्धकार को दूर कर देते हैं। परन्तु 'सुपर्ण' का बिम्ब गतिशील ज्योति-किरणों को अधिक स्पष्टता से अभिव्यक्त करता है जो सुदूर आकाश से इधर-उधर अन्तरिक्ष में, पृथिवी पर सब दिशाओं में पसर जाती हैं और अन्धकाररूपी भेड़िये को मानो खा जाती हैं। कहना न होगा प्रकाश और अन्धकार का यह रूपक ज्ञान और अज्ञान को दर्शाता है। वैदिक ऋषि ज्ञान का उपासक है, अज्ञान से मुक्ति ही उसकी कामना है।

---

८. स मां तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः।
मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो वित्तं मे अस्य रोदसी॥

९. अमी ये सप्त रश्मयस्तत्रा मे नाभिरातता।
त्रितस्तद् वेदाप्त्यः स जामित्वाय रेभति वित्तं मे अस्य रोदसी॥

१०. अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः।
देवत्रा नु प्रवाच्यं सध्रीचीना नि वावृतुर्वित्तं मे अस्य रोदसी॥

इसी में उसके मन का आनन्द निहित है अतः धरती-आकाश उसकी प्रार्थना सुने यही आशय है।[११]

हमेशा नव्यता में, नवीनता में आकर्षण होता है जैसा कि माघ ने शिशुपालवध (४।१७) में कहा है—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

वैदिक ऋषि भी इस सूक्त के १२वें मन्त्र में यही भाव अभिव्यक्त करता है जब वह कहता है—**'नव्यं तदुक्थ्यं हितं देवासः सुप्रवाचनम्'**— अर्थात् हे देवो ! यह नवीन गाने योग्य उत्कृष्ट स्तोत्र हितकारक है। नवीन स्तोत्र बार-बार पढ़कर मनन करने योग्य होता है, कल्याणकारक होता है। नदियों का प्रवहमान जल जीवन की तृषा को मिटाता है शान्ति आनन्द देता है। सूरज प्रकाश का विस्तार कर मानों सत्य का उद्घाटन करता है। प्रकृति के ये स्तोत्र—कल कल करता जल—छलक छलक उठनेवाली ज्योतिर्लहरें—हर रोज नया गीत सुनाकर आनन्द से भर देती हैं और मनुष्य के कवि-मन को भी गुनगुनाने के लिए प्रेरित करती हैं। धरती, आकाश मेरे स्तोत्रों को, नवीन काव्यों को सुने।[१२]

ऊर्जा का तत्त्व प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है इसलिए कवि कहता है—हे अग्ने ! तुम्हारी प्रशंसनीय बन्धुता देवों-देवों में विद्यमान है या देवों के साथ है। तुम विशेष ज्ञानी हो। हमारे यज्ञ में तुम आओ, देवों को लाओ और मनुष्य की तरह बैठो (मनुष्यवत्)। गीता में दैवी सम्पत् और आसुरी सम्पत् का विस्तार से वर्णन है तथा १६।५ में कहा गया है—**'दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता'**—अर्थात् दैवी सम्पत् मोक्ष का और आसुरी सम्पत् बन्धन का कारण होती है। दैवी सम्पत्तिवालों के साथ बन्धुभाव प्रशंसनीय होता है यही भाव वैदिक ऋषि ने मन्त्र में प्रस्तुत किया है। ऐसे देवों को यज्ञ में, घर में बुलाकर सम्मान करने से कल्याण होता है। 'मनुष्वत्' शब्द मानव की श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं तभी पौराणिक कल्पना में देव भी मानव जन्म लेने को आतुर रहते हैं।[१३]

अगले मन्त्र में भी अग्नि देव को मनुष्य के समान यज्ञ में बैठने के लिए बुलाया गया है। मानव और देवों के बीच संवाद या सम्पर्क सूत्र यही तेजस्विता या दिव्यता है। प्रकृति की शक्तियों या दिव्यताओं के प्रति जब मेधावी व्यक्ति सर्मपित होता है तब व्यक्ति और प्रकृति दोनों का कल्याण होता है। धरती-आकाश मेधावी मन के समर्पण-भाव को समझें।[१४]

---

११. सुपर्णा एत आसते मध्य आरोधने दिवः।
ते सेधन्ति पथो वृकं तरन्तं यह्वतीरपो वित्तं मे अस्य रोदसी॥

१२. नव्यं तदुक्थ्यं हितं देवासः सुप्रवाचनम्।
ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं तातान सूर्यो वित्तं मे अस्य रोदसी॥

१३. अग्ने तव त्यदुक्थ्यं देवेष्वस्त्याप्यम्।
स नः सत्तो मनुष्वदा देवान् यक्षि विदुष्टरो वित्तं मे अस्य रोदसी।

१४. सत्तो होता मनुष्वदा देवाँ अच्छा विदुष्टरः।
अग्निर्हव्या सुषूदति देवो देवेषु मेधिरो वित्तं मे अस्य रोदसी।

मेधावी-व्यक्ति अपनी प्रतिभा से प्रकृति की दिव्यता के गीत रचता है, प्रशंसा में स्तोत्र लिखता है। स्तोत्ररचना वा सूक्त-कर्तृत्व से ईश्वर की कृति की प्रशंसा की जाती है। ऐसा व्यक्ति 'वरुण' वरिष्ठ ज्ञानी या मेधावी ही होता है। उत्तम काव्य-रचना करने वाला हृदय से बुद्धि को खोल देता है—'**हृदा मतिं वि ऊर्णोत**'—। ग्रिफिथ ने इन शब्दों का अनुवाद इस प्रकार किया है—'ही इन द हार्ट रिवील्स हिज थॉट' काव्य रचना 'सामान्य' नहीं, 'विशेष' ही करता है। सृजनकर्म कर्ता को आनन्द देता ही है अन्यों का पथ प्रदर्शन करता है। वह 'सत्य को नवीनरूप में' प्रस्तुत कर सबके लिए ग्राह्य बनाता है—'**नव्यः ऋतं जायताम्**'। काव्य का उद्देश्य मन का रंजन करना नहीं अपितु उचित-पथ-प्रदर्शन करना है। धरती और आकाश ऋषि के काव्य का मर्म समझें और सबके लिए 'ऋत का नव्य मार्ग' प्रशस्त हो। नव्य शब्द का प्रयोग वैदिक कवि को 'प्रगतिशील' सिद्ध करता है। रूढ़ियों या मृत परम्पराओं में कवि की आस्था नहीं है। भूतकाल से या प्राचीन से वह ग्राह्य को ग्रहण जरूर करता है पर अपनी प्रतिभा से उसे नव्यरूप देकर मानव के मांगल्य के लिए समर्पित करता है।[१५]

आदित्य अदिति का पुत्र है—जो बन्धनविहीनता की, प्रकाश की, पापराहित्य की देवी है। स्वभावतः आदित्य भी इन सभी गुणों का प्रतिनिधित्व करनेवाला देव है। सूर्य बाह्य जगत् में अन्धकार को दूर कर प्रकाश फैलानेवाला देव है। जब इस सूर्य को आदित्य नाम मिलता है तब वह बन्धनमुक्ति, पापराहित्य का प्रकाशमय देव बन जाता है जिसके मार्ग पर चलकर वेदना से मुक्ति मिलती है, आनन्द मिलता है। यही 'आदित्यमार्ग' है, साधारणजन जिसे देख भी नहीं पाते फिर इस पर से गुजरना तो हो ही कैसे सकता है? पर दिव्यगुण-युक्त जन अर्थात् देव इसका कभी अतिक्रमण नहीं करते। आदित्य विशेषण का विशेष्य के साथ तादात्म्य होकर सूर्य का वाचकत्व सिद्ध होता है। स्वाभविक है त्रित ऋषि कूपबन्ध से मुक्त होने के लिए 'आदित्यमार्ग' पर चलने को उत्सुक हैं।[१६]

अन्तिम तीन मन्त्र त्रित के कथानक की परिणति प्रस्तुत करते हैं। कूप की गहराइयों में डूबे तथा ऊंची-ऊंची दीवारों से घिरे त्रित ऋषि धरती, आकाश को पुकारते हैं, अपनी वेदना, व्यथा, जिज्ञासा से अवगत कराते हैं। अन्य सभी देवों का वे आवाहन करते हैं, अपने संरक्षण के लिए और सुरक्षा के लिए। उनकी प्रार्थना को सुनते हैं बृहस्पति तथा '**अंहुरणात् उरु कृण्वन्**'—कष्टों से छूटने के लिए विस्तृत मार्ग बना देते हैं। बृहस्पति हैं 'प्रार्थना के देव' 'द लार्ड आफ प्रेयर' (ग्रिफिथ)। बृहस्पति के द्वारा ही 'हृदय में छिपी वेदना' सूक्त के स्वर ग्रहण करती है। 'स्ववेदना' जब सर्ववेदना बन जाती है तब 'कूपमण्डूकता' से, संकीर्णता से छुटकारा हो जाता है तथा 'उदारता का भाव' पोषित होता है।[१७]

---

१५. ब्रह्मा कृणोति वरुणो गातुविदं तमीमहे।
व्यूर्णोति हृदा मतिं नव्यो जायतामृतं वित्तं मे अस्य रोदसी ॥

१६. असौ यः पन्था आदित्यो दिवि प्रवाच्यं कृतः।
न स देवा अतिक्रमे तं मर्तासो न पश्यथ वित्तं मे अस्य रोदसी ॥

१७. त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये।

अठाहरवें मन्त्र में 'अरुणिम वृक' का बिम्ब आकार ग्रहण करता है जिसमें भाष्यकार कुछ भ्रमित हुए हैं। सायण ने 'एक' को चन्द्रमा माना है तथा 'मा सकृद्' (एक बार) को 'मासकृत्' कहकर मास बनानेवाला कहा है। **'पृष्टचामयी तष्टा इव'** शब्द भी अस्पष्ट से हैं—सातवलेकर ने पंक्ति का अर्थ 'पीठ में दर्द होनेवाले बढ़ई के समान'। यों सदा सूर्य को सुपर्ण, सूर्य-रश्मियों को सुपर्णा: जैसे विशेषण मिले हैं, 'अरुण वृक:' मात्र यहीं प्रयुक्त हुआ है। 'वृक' के नकारात्मक पक्ष को ही प्राय: वेद में उजागर किया है पर उसमें प्रयुक्त धातु के अर्थ को देखें तो वृक का अर्थ होता है 'ले लेना' दूर ले जाना। अरुणिम सूर्य अन्धकार को दूर ले जाता है अत: 'वृक' सूर्य हो सकता है। सहस्रचक्षु सूर्य सब के मार्गों का निरीक्षण करता है, सबको कर्मों में प्रेरित करता है, उनके उचितानुचित का निरीक्षण करता है। अधोगति से उबार कर ऊपर ऊर्ध्व की ओर उन्हें ले जाता है। हे धरती, हे आकाश ! मेरी ऊर्ध्वगामिनी यात्रा में शुभ-कामनाएं दो, यही प्रार्थना है।[१८]

अन्तिम-मन्त्र में इस सूक्त की महिमा, इसका उद्देश्य वर्णित है। इस सूक्त से, इस स्तोत्र से 'इन्द्रवन्त' बन कर हम सब वीर, युद्ध में शत्रु को पराजित करें। इस मेरी विजय की चाह को मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी, द्यौ सुनें तथा उस चाह का अनुमोदन करें। जीवन युद्ध है, संघर्ष है जिसमें द्वन्द्वों की गतिविधियां, क्रिया-प्रतिक्रियाएं चलती ही रहती हैं। बन्धन-मोक्ष, वेदना-आनन्द, अशान्ति-शान्ति, प्रतिकूल-अनुकूल। हमें घेरे रहते हैं। इस व्यूहचक्र से निकल कर विजयश्री 'इन्द्रवन्त' को ही मिलती है। इन्द्र नाम है 'युद्ध के देव' का, इन्द्र नाम है 'आत्मिक शक्ति' का। जब मनुष्य उत्साह व आत्मबल से प्रेरित होकर जीवन संघर्ष में कदम बढ़ाता है तभी वह वीर कहलाता है और वीर कभी हारता नहीं, पराजित नहीं होता। हे धरती, हे आकाश हम विजयश्री के लिए प्रार्थना करते हैं। हे मित्र वरुण, अदिति, सिन्धु आप भी सुनें। मेरी प्रार्थनाओं को स्वीकारें।[१९]

★ बीज ही अकुरित न हो तो फल कैसे पाओगे, याचना के लिए हाथ ही न उठें तो प्रार्थना कैसे सफल होगी, जीवन का अर्थ ही ज्ञात न हो तो जीवन सार्थक कैसे होगा और यदि उत्कण्ठा ही जागृत न हो तो सत्य की खोज कैसे होगी।

☀ कमल पुष्पों से भरे हुए सरोवर तो सर्वत्र पाये जाते हैं। फिर भी राजहंस का मन मानसरोवर को छोड़कर कहीं रमण करने नहीं जाता। ठीक इसी प्रकार सज्जन पुरुषों का मन सदा सात्त्विक वातावरण में ही रमण करता है। उसे छोड़ना नहीं चाहता।

तच्छुश्राव बृहस्पति कृण्वन्नंहूरणादुरु वित्तं मे अस्य रोदसी ॥

१८. अरुणो मा सकृद् वृक: पथा यन्तं ददर्श हि ।
उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्टचामयी वित्तं मे अस्य रोदसी ॥

१९. एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तोऽभिष्याम वृजने सर्ववीरा: ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्ता मदिति: सिन्धु: पृथिवी उत द्यौ: ॥

सोमस्य वेदप्रतिपादितं स्वरूपम्

[ले०—डा० जयदत्त उप्रेती, स्वस्त्ययन, तल्ला थपलिया, अल्मोड़ा-२६३६०१ (उ० प्र०)]

वैदिकं सोममधिकृत्य कश्चिद् विचारोऽत्र प्रस्तूयते। तत्र सोमविषयवर्णनात् प्राक् तत्प्रतिपादकस्य वेदस्य संक्षिप्तपरिचयोऽपि प्रासंगिकतया उपस्थाप्यमानो न कल्पिष्यते दोषायेति मन्यामहे। तदिह यथा यथा वेदमन्त्राणामनुशीलनम् अर्थचिन्तनं च कुर्मो वयं तथा तथा किमप्यपूर्वत्वं तत्र पश्यामोऽनुभवामश्च। नहि वेदो मनुष्यबुद्धिसमुद्भूतः कश्चिच्छब्दसंघातो नाम यत्र भ्रमप्रमादालस्यादिदोषाशंका स्यादिति। किं तर्हि? वेदशब्देभ्य एव भाषाशब्दानाहृत्याहृत्य लोके मानवानां संस्कृतादिभाषाः प्रचलिता अभूवन्निति। अवरकालिका हि जना यत् किंचित् पठित्वा विदित्वा च विद्वांसो भवन्ति, अथवा किमपि निगदन्ति, लिखन्ति, प्रणयन्ति च तत् सर्वं भाषायाः प्राक्तन्या आधारेणैव। वेदात् पूर्वमपि काचिन्मानवानां लोकेऽस्मिन् भाषा आसीदिति तु केनापि न दृष्टम्। एतस्मात् किमागतम्? प्राचीनतमत्वात् सर्वमनुष्योपकारित्वाद् विविधसज्ज्ञानविज्ञाननिधित्वाद् वेदा अपौरुषेयाः, मनुष्यबुद्धिशक्त्यसम्भूता इति। एतदेव वेदानां ब्रह्मदेवस्य (परमेश्वरस्य) प्रेरणया सर्गादौ समुत्पन्नानां पवित्रान्तःकरणानां परमर्षीणां बुद्धौ प्रस्फुटितत्वमनुमापयति। भवति चात्र विषये मन्त्रवर्णः—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥
यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥ ऋ० १०।७१।१,३॥

इति। एतादृक्षु वेदेषु बह्व्यो विद्या आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं वर्णिताः सन्तीति पूर्वे ऋषय ऐकस्वर्येणाहुः। सोमविद्या खल्वपि तासामन्यतमास्ति। तस्याः किंचिद् विचारजातमग्रे करिष्यते। तत्र पूर्वं सोमशब्दव्युत्पत्तिर्व्याकरणनिरुक्तकोशाधारेण प्रस्तूयते।

सोमपदार्थः—'अर्तिस्तुसुहु···पदियक्षिनीभ्यो मन्' (उणादिसूत्रम् १-१४५) सोमस्तुहिनदीधितौ। वानरे च कुबेरे च पितृदेवे समीरणे। वसुप्रभेदे कर्पूरे नीरे सोमलतौषधौ इति मेदिनी'—इति सिद्धान्तकौमुद्यां तत्त्वबोधिनीकारः। स्वामी दयानन्दस्तावत् 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' इत्यस्माद् भौवादिकाद् धातोः सोमशब्दं व्युत्पादयति—'सवत्यैश्वर्यहेतुर्भवतीति कर्पूरश्चन्द्रमा वा।' (उणादिकोषे दयानन्दवृत्तिः १-१४०)। यावता क्षीरतरंगिणीकारः षुञ् अभिषवे इत्यस्मात् सौवादिकाद् धातोः मन्प्रत्यये कृते सोमशब्दसिद्धिमाह। (द्रष्टव्यम्–क्षीरतरंगिणी ५-१)। एतेन सोऽपि सोमो यं अभिषुण्वन्ति यः सूयते वा यज्ञादौ। अमरकोशे चन्द्रमोनामसु सोमः पठ्यते—'अब्जो जैवातृकः सोमो ग्लौर्मृगांकः कलानिधिः' (अमरकोशः १-३-१४) इति। 'सोमवल्ली' इति तु तत्र गुडूचीपर्यायत्वेन पठ्यते (अमरकोशः २-४-८३)। निघण्टौ 'सोमानम्' इति शब्दः पदनामसु पठितः। (निघण्टुः ४-३)

पदानि पुनः गत्यर्थत्वाद् ज्ञानगमनप्राप्त्यर्थकानीति पुराविदो वदन्ति। एतेन यो ज्ञानवान्, गतेः प्राप्तेश्च हेतुः स सोमो सोमानम् वेति व्याकरणनिरुक्तवशाद् यौगिकोऽर्थो विज्ञायते।

सोम ओषधीनामधिपतित्वेन प्रसिद्ध एव। तथाहि संस्कारविधौ विवाहसंस्कारे पारस्कर-गृह्यसूत्रानुसारम् अभ्यातानहोममन्त्रेषु पठ्यते—'सोम ओषधीनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्य-स्मिन् क्षत्रे०' इत्यादिः। निरुक्तशास्त्रे महर्षिर्यास्कोऽप्याह—

ओषधिः सोमः सुनोतेर्यदेनमभिषुण्वन्ति। बहुलमस्य नैघण्टुकं वृत्तमाश्चर्यमिव प्राधान्येन। तत्र पावमानीषु निदर्शनायोदाहरिष्यामः ॥२॥ **स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः।** ॥ ऋ० ९।१।१॥ इति सा निगदव्याख्याता। अथैषापरा भवति चन्द्रमसो वा एतस्य वा ॥३॥

सोमं मन्यते पपिवान् यत्सम्पिंषन्त्योषधिम्। सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन। (ऋ० १०।८५।३)। सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्योषधिमिति वृथासुतमसोममाह सोमं यं ब्रह्माणो विदुरिति न तस्याश्नाति कश्चनायज्वेत्यधियज्ञम्। अथाधिदैवतम्—सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्योषधिमिति यजुःसुतमसोममाह सोमं यं ब्रह्माणो विदुश्चन्द्रमसं न तस्याश्नाति कश्च-नादेव इति। अथैषाऽपरा भवति चन्द्रमसो वंतस्य वा ॥४॥

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः। वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः। ऋ० १०।८५।५॥ यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनरिति नाराशंसानभिप्रेत्य पूर्वपक्षापरपक्षा-विति वा। वायुः सोमस्य रक्षिता वायुमस्य रक्षितारमाह साहचर्याद्रसहरणाद्वा। समानां संवत्स-राणां मास आकृतिः। सोमो रूपविशेषैरोषधिश्चन्द्रमा वा॥ निरुक्तम् ११-१-२-५।

निरुक्तशास्त्रस्यास्माद् उद्धरणाद् विज्ञायते यत्—

(१) सोमो नाम लताविशेष ओषधिराजः। तस्य रसस्य यज्ञादौ होमे पाने चोपयोगः प्रसिद्ध एव याज्ञिकेषु वैद्येषु चिकित्सकेषु च। पीतः सन् सोमरसः शरीरे बलं वीर्यमुत्साहं स्फूर्तिं च प्रददाति।

(२) सोमः चन्द्रमा उच्यते। चन्द्रमसः सकाशाद् वायुसाहाय्येन रसनिषेचनं भवति रात्रौ पृथिव्यामोषधीषु वनस्पतिषु च। अतएव सोमो नाम चन्द्रमा अयं रसदः शान्तिदश्चोच्यते।

(३) सोमः परब्रह्म परमेश्वरोऽप्युच्यते। तादृशं सोमं ब्रह्मनिष्ठा वेदज्ञा ब्राह्मणा एव सेवन्ते। त एव आत्मज्ञा परमात्मोपासनया स्वात्मनि यद् अपूर्वमनिर्वचनीयं चानन्दरसमनुभवन्ति स रसः सर्वेभ्यो लौकिकरसेभ्योऽतिरिच्यतेऽतिशेते च। उक्तं च—**रसो वै सः, रसं ह्येव लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति।** (तैत्ति० उप० २-७)एतादृशं सोमरसं ते ब्राह्मणा शिलाखण्डेन उलूखलमुसलेन वा लौकिक-(भौतिक)-सोमवद् न सम्पिषन्ति, किन्तर्हि ? निरन्तरं योगाभ्यासेन सम्प्राप्नुवन्तीति।

एवं खलु दृश्यते यद् वेदभाष्यकाराणां स्कन्दस्वामि-सायण-वेंकटमाधव-मुद्गलोवट-महीधर-प्रभृतीनां सोमपदार्थविषये प्रायेण ओषधिविशेषे सोमलतायामेव आग्रहो वरीवर्त्ति। आधुनिकवेद-भाष्यकारेषु स्वामी दयानन्दः सरस्वती, योगी अरविन्दश्चात्रापवादरूपेण दरीदृश्येते। आभ्यां महानुभावाभ्यां यद्यपि सोमशब्दस्य क्वचित् सोमवल्लरीत्याद्योषधिविशेषत्वेन अर्थो व्याख्यातस्त-

थापि अन्येऽपि बहवोऽर्था यथाप्रसंगं यथाप्रकरणं चास्य शब्दस्य कृता इति तत्कृतमन्त्रव्याख्यानाद् विज्ञायते। एतस्मिंस्तु लघुकलेवरे लेखे विस्तरेण ते ते अर्थाः संग्रहीतुमशक्या न चेदमस्माकमुद्देश्यम्। अतो वाह्वृच्यवेदस्य प्रथममण्डलस्थस्य एकनवतितमसूक्तस्य (सोमदेवताकस्य) सोमगुणसामर्थ्यवर्णनरूपोऽर्थः सायण-दयानन्द-कृतभाष्यपर्यालोचनेन सह प्रस्तूयते येन सोमस्य वेदप्रतिपादितं स्वरूपं किंचिद् विज्ञातं भवेत्।

त्वं सोम प्र चिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम्।
तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः।। ऋ० १।९१।१।।

अर्थः—सोमः मनीषया प्रज्ञानुरूपया प्रकृष्टतया सर्वं जानाति। तस्य प्रणीत्या उत्तमनीत्या ये ज्ञानिनो धीमन्तो धैर्यवन्तश्च जनाश्चलन्ति रजिष्ठम् ऋजुतमम् सरलतमं मार्गं प्रति, ते देवेषु दिव्यपदार्थेषु रत्नं रमणीयं धनं भजन्ति प्राप्नुवन्ति।

अत्र सोमपदमीश्वरार्थं विद्वदर्थं च प्रकटयति। यतो हि तद्विशेषणं प्रचिकितः इति पदं प्रकृष्टज्ञानवान् इत्यर्थं वर्तते। एतेन सोमो नाम कश्चिद् ज्ञानवान् आत्मा विद्यते इति स्फुटमस्ति। दयानन्दप्रणीते ऋग्वेदभाष्ये त्वयमेवार्थ उक्तः। अथापि तत्र मन्त्रभावार्थं श्लेषालंकारेण सोमस्य त्रयोऽर्थास्तेन वर्णिताः—परमेश्वरः, परमविद्वान्, सोमाद्योषधिगणश्चेति। तद्यथा—अत्र श्लेषालंकारः। यथा परमेश्वरः परमविद्वान् वा अविद्यां विनाश्य विद्याधर्ममार्गे प्रापयति तथैव वैद्यकशास्त्ररीत्या सेवितः सोमाद्योषधिगणः सर्वान् रोगान् विनाश्य सुखानि प्रापयति।[1] इति।

सायणस्तु क्लिष्टकल्पनया अस्मच्छब्दाध्याहारेण मन्त्रार्थमन्यथा व्याचष्टे, सोमस्य स्पष्टमर्थमब्रुवन् च तद्विषये संदिग्धतामेव जनयति। तद्यथा—हे सोम त्वं मनीषा मनीषयास्मदीयया बुद्ध्या प्रचिकितः। प्रकर्षेण ज्ञातोऽसि। वयं त्वां स्तुतिभिरज्ञासिष्मेत्यर्थः। अतस्त्वं रजिष्ठमृजुतममकुटिलं पन्थां पंथानं कर्मफलावाप्तिभूतं मार्गमनुनेषि। अस्माननुक्रमेण प्रापयसि। किञ्च हे इन्दो…… …सोम तव प्रणीती प्रणीत्या त्वत्कर्तृकेण प्रकृष्टनयनेन धीरा धीमन्तः कर्मवन्तः प्रज्ञावन्तो वा नोऽस्माकं पितरो देवेष्विन्द्रादिषु रत्नं रमणीयं धनं—प्राप्नुवन्। अतोऽस्मानपि तादृशं धनं प्रापयेत्यर्थः।[2] इति।

त्वं सोम क्रतुभिः सुक्रतुर्भूस्त्वं दक्षैः सुदक्षो विश्ववेदाः।
त्वं वृषा वृषत्वेभिर्महित्वा द्युम्नेभिर्द्युम्न्यभवो नृचक्षाः।। ऋ० १।९१।२।।

अर्थः—त्वमिति सर्वनाम्ना मध्यमपुरुषेण सोमगुणा अत्र वर्ण्यन्ते। सोमोऽयं सुप्रज्ञः सुकर्मा वा भवति बहुप्रज्ञत्वाद् बहुकर्मत्वात्। बहुविज्ञानवान् बहुबलवांश्चास्ति, अस्माद् हेतोः सुदक्ष उच्यते। प्राप्तसर्वविद्योऽस्ति, तेन विश्ववेदाः सर्ववेदा उच्यते। सुखवर्षकोऽस्ति, तेन वृषा। बहुधनवांस्ते द्युम्नी चास्ति महान्, मनुष्याणां द्रष्टा, मनुष्येषु वा दर्शनीयतम इत्येवंप्रकारेण श्रेष्ठगुणयुक्तोऽस्ति। इमे गुणास्तु सच्चिदानन्दरूपे ब्रह्मणि वा श्रेष्ठविदुषि वा संगच्छन्ते, नान्यत्र। अत इमावेवार्थौ स्तः

१. दयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदभाष्यभावार्थः १।९१।१, द्वितीयभागः, अजमेर, सं० २०४२, पृ० २३४।
२. सायणाचार्यः, ऋग्वेदसंहिताभाष्यम् १।९१।१, वाराणसी, भाग १, १९६६ ई०, पृ० ४०२।

सोमशब्दस्य । दयानन्दभाष्ये तु तथैव मन्त्रव्याख्या वर्तते । श्लेषालङ्कारेणेहापि युगपत् त्रयोऽर्थाः सोमपदस्य प्रदर्शिताः सन्ति—'यथा सुरीत्या सेवितः सोमाद्योषधिगणः प्रज्ञाचातुर्यवीर्यधनानि जनयति तथैव सूपासित ईश्वरः सुसेवितो विद्वांश्चैवं तानि प्रज्ञादीनि जनयतीति ।'[1]

सायणाचार्योऽपि प्रायेण मन्त्रपदानुसारं सोमगुणान् व्याचष्टे—हे सोम त्वं क्रतुभिस्त्वत्सम्बन्धिभिरग्निष्टोमादिकर्मभिरात्मीयैर्ज्ञानैर्वा सुक्रतुः शोभनकर्मा शोभनप्रज्ञो वा भूः भवसि । तथा विश्ववेदाः सर्वधनस्त्वं दक्षैरात्मीयैर्बलैः सुदक्ष शोभनबलो भवसि इत्यादि[2] । तथापि सोमस्य स्वरूपं किमस्तीति स्पष्टं न वदति । अग्निष्टोमादौतु प्रयुज्यमानः सोमः सोमलताभिषुतो रसश्चेदत्राभिप्रेतः स्यात् तदा कथं स आत्मीयैर्ज्ञानैःशोभनप्रज्ञः, शोभनकर्मा, शोभनबलः सर्वधनो वा अस्तीति सर्वमस्पष्टमेव सायणभाष्ये ।

राज्ञो नु ते वरुणस्य व्रतानि बृहद्गभीरं तव सोम धाम ।
शुचिष्ट्वमसि प्रियो न मित्रो दक्षाय्यो अर्यमेवासि सोम ।। ऋ० १।९१।३।।

अर्थः—मन्त्रेऽस्मिन् वारद्वयं सोमशब्दः प्रयुज्यते पूर्वार्द्धे उत्तरार्द्धे च । सोमस्य विशेषणपदानि सन्ति राज्ञः, वरुणस्य, शुचिः, प्रियः मित्र इव, दक्षाय्यः, अर्यमा इवेति । तस्य व्रतानि सन्ति, बृहद्गभीरं धाम चास्ति । इमानि विशेषणानि खल्वपि चेतने पुरुषे, परमपुरुषे परमात्मनि च संगच्छन्ते। अतः तयोरेवार्थे सोमशब्दप्रयोगोऽस्ति मन्त्रे, इत्यत्र नास्ति काचिद् विप्रतिपत्तिः । दयानन्दभाष्ये सोमपदार्थः—महैश्वर्ययुक्त इति, शुभकर्मगुणेषु प्रेरक इति च उक्तः, अथ स एव सोमपदवाच्यः परमेश्वरो विद्वान् जनो वा सर्वदोपास्यः सेवनीयश्चास्तीति मन्त्राभिप्रायोऽभिमतः ।[3]

परन्तु सायणभाष्ये---वरुणस्य यागार्थमाहृतः क्रीतो वस्त्रेणावृतः सोमो वरुणः ।······यथाहनि सूर्यः प्रकाशेन सर्वं वर्धयति एवं निश्यमृतमयैः सोमकिरणैराप्यायमानं सत्स्थावरजंगमात्मकं सर्वं जगद् वर्धते ।[4] इत्यादिना सोमपदार्थः सोमलताविशेषे चन्द्रमसि च व्याख्यातः । तदेवं द्वयोर्भाष्ययोः सोमशब्दार्थे मतभेदोऽस्तीति स्पष्टम् ।

या ते धामानि दिवि या पृथिव्यां या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु ।
तेभिर्नो विश्वैः सुमना अहेडन् राजन्त्सोम प्रतिहव्या गृभाय ।। ऋ० १।९१।४।।

अर्थः—अस्य सोमस्य धामानि नामानि जन्मानि स्थानानि तेजांसि वा दिवि द्युलोके सूर्यादौ, पृथिव्याम्, पर्वतेषु शिलोच्चयेषु मेघेषु वा, ओषधीषु, व्रीह्यादिषु सोमवल्लरीत्यादिषु वा, अप्सु जलेषु च यानि सन्ति, तैः सर्वैः सह सुमनाः शोभनमनाः शोभनविज्ञानो वा नः अस्मान् मनुष्यान्, अहेडन् अनादरमकुर्वन् अक्रुध्यन् वा सोमो राजा अयं हव्या दातुमादातुं योग्यानि वस्तूनि हवींषि वा, प्रतिगृभाय प्रतिगृह्णाति प्रतिग्राहयति वा ।

१. दयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदभाष्यभावार्थः १।९१।२, पृ० २३५ ।
२. सायणः, ऋग्०संहिताभाष्यम्, १।९१।२, पृ० ४०२ ।
३. दयानन्द सरस्वती, ऋ०भा० १।९१।३, पृ० २३५-२३६ ।
४. सायणः, ऋ० भा० १।९१।३, पृ० ४०३ ।

अस्मिन् मन्त्रे यदा सोमस्य कृते सुमनाः, अहेडन्, पृथिव्यादिलोकेषु व्याप्तिः—इत्येवमादि-विशेषणपदानि स्पष्टतया दृश्यन्ते, तदा सः कश्चिद् व्याप्तिमान् सर्वज्ञोऽस्तीति ध्वन्यते। सत्येवं सोमो राजा सर्वोत्पादकः सर्वत्र विराजमानः सर्वनियन्ता जगदीश्वर एवात्र मन्त्रे प्रतिपादित इति गम्यते। दयानन्दभाष्ये एष एवार्थः प्रतिपादितः। सायणभाष्येऽपि समानं व्याख्यानं किंचिदन्तरेण लभ्यते, यद्यपि तत्र स्फुटतया परमेश्वरनाम गृहीतं नास्ति।

त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा। त्वं भद्रोऽसि क्रतुः॥ ऋ० १।९१।५॥

अर्थः—सोमोऽयं सत्पतिः सत्यस्य सतां पदार्थानां सतां जनानां वा रक्षकः, राजा सर्वाध्यक्षः वृत्रस्य मेघस्य हननेन वृष्टिकर्त्ता शत्रूणां वा हन्ता, भद्रः कल्याणकारी, क्रतुश्च प्रज्ञामयः, प्रज्ञाकारी प्रज्ञा हेतुर्वा—इत्येवं लक्षणः, एवंगुणो वा परमेश्वरो वा, विद्वान् वा, सोमाद्योषधिगणो वा अस्ति। दयानन्दभाष्ये एवमेवार्थः कृतो मन्त्रस्य। यावता सायणभाष्ये सत्पतिपदेन 'सतां कर्मसु वर्त्तमानानां ब्राह्मणानामधिपतिर्भवसि। तस्मात् सोमराजानो ब्राह्मणाः। तै० ब्रा० १।७।४।२। इति श्रुते'-रित्युक्तम्। अपि च 'यद्वा सन्तः स्वानादयः पतयः पालका यस्य सोमस्य तादृशो भवसि। तथा चाम्नायते। स्वान भ्राजेत्याहैते वा अमुष्मिन् लोके सोममक्षरन्। तै० सं० ६।१।१०।५॥ इति।····भद्रः शोभनः क्रतुर्योऽयमग्निष्टोमादियागस्त्वमेव तद्रूपो भवसि। त्वत्साध्यत्वाद्यागानाम्।' इत्युक्तम्। तदेषा मन्त्राभिप्रायाद् बहिः क्लिष्टकल्पना प्रतिभाति। वाजसनेयसंहितायां यजुर्वेदे हि सोमस्तुत्यतया क्षत्रियाणां वेदेश्वरभक्तानां ब्राह्मणानां च राजोच्यते।[1] तत्र सोमशब्दः चन्द्रमोवत् सर्वप्रियकारकः सर्वाह्लादक राजा इत्यर्थ वर्त्तते।[2]

त्वं च सोम नो वशो जीवातुं न मरामहे। प्रियस्तोत्रो वनस्पतिः॥ ऋ० १।९१।६॥

अर्थः—सोमो यदि वशः वशित्वगुणयुक्तः कामयमानो वा भक्तवत्सलो भवति, तदा जीवनं निश्चितम्, न मृत्युः। प्रियस्तोत्रः प्रियकारि यस्य स्तवनं स्तोत्रं वा प्रियं यस्य, वनस्पतिः संभक्तस्य पदार्थसमूहस्य वनानां जंगलस्य वा पालकोऽपि वर्तते। तदत्र मन्त्रपदानि सोमपदार्थमीश्वरं विविधौषधीषु प्रधानं सोमाख्यमोषधिं च वर्णयन्ति—इति स्फुटम्। यद्यपि ओषधिरूपे सोमपदार्थं सायण-दयानन्दौ उभौ भाष्यकारौ सहमतौ स्तस्तथापि दयानन्दभाष्ये श्लेषालङ्कारेण परमेश्वरविद्वदर्थावतिशयाते। तथाहि भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। ये मनुष्या ईश्वराज्ञापालिनो विदुषामोषधीनां च सेविनः सन्ति ते पूर्णमायुः प्राप्नुवन्ति।[3] इति। सायणस्तु सर्वौषधीषु सोमस्य प्राधान्ये सति 'सोमो वा ओषधीनां राजा'। तै० सं० ६।१।९।१ इति श्रुतिमुदाहरति।

त्वं सोम महे भगं त्वं यून ऋतायते। दक्षं दधासि जीवसे॥ ऋ० १।९१।७॥

---

१. इमं देवा असपत्नꣳसुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकंꣳब्राह्मणानां राजा॥ यजुर्वेदः ९।४०॥

२. द्रष्टव्यम्—(सोमः) सोम इव प्रजासु वर्त्तमानः (चन्द्रमा के समान प्रजा में प्रियरूप)······(दयानन्द सरस्वती, यजुर्वेदभाष्यम्, भागः १, ९।४०, ब्रह्मदत्तजिज्ञासुसम्पादितम्, पृ० ८.९)। अस्माकं ब्राह्मणानां तु सोमश्चन्द्रो वल्लीरूपो वा सोमो राजा प्रभुरस्तु। (महीधरः, यजुर्वेदसंहिताभाष्यम् ९।४०)।

३. द०स०, ऋग्वेदभाष्यभावार्थः १।९१।६, पृ० २३८।

अर्थः—सोमः महे महते श्रेष्ठगुणाय वृद्धाय, ऋतायते यूने—सत्यं विद्यां च इच्छते प्राप्तयौवनाय मनुष्याय जीवितुं दक्षं बलं दधाति। अत्रापि पूर्ववत् त्रयोऽर्था दयानन्दभाष्ये श्लेषालङ्कारेणोक्ताः। सायणभाष्ये स्पष्टतया नोक्तं कोऽत्र सोमपदार्थ इति।

त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन्नघायतः।
न रिष्येत् त्वावतः सखा ॥ ऋ० १।९१।८॥

अर्थः—मन्त्रेऽस्मिन् सोमदेवः प्रार्थ्यते यत् स स्वयं प्रकाशमानः सर्वप्रकाशको वा अस्मान् स्तावकान् परेषां पापमिच्छतो जनात् सर्वतो रक्षतु, यतो हि तत्सदृशस्य सखा कदाचिदपि न हिंसितो भवेद् विनश्येद्वा। अत्र मन्त्रपदानि चेतनावतो दयालोर्देवस्य स्तुतिं प्रार्थनां च यथा प्रस्तुवन्ति तेन सर्वज्ञ ईश्वर एव प्रधानतया सोमेति सम्बोधनेनाभिधीयते, लक्ष्यते ध्वन्यते च। दयानन्दभाष्यभावार्थे त्वत्रेश्वरप्रार्थनया मनःशोधनं मनःशोधनेन चेश्वरप्रार्थना यदा भवति तदा अधर्मान्निरोधो धर्मे प्रवृत्तिश्च स्वत एव जायते-इति फलितार्थ उक्तः। सायणभाष्ये यद्यपि मन्त्रव्याख्या सरला युक्ता च वर्तते, किन्तु सोमपदेन किमभिधीयते, लक्ष्यते व्यज्यते वेति न स्पष्टीकृतम्।

सोम यास्ते मयोभुव ऊतयः सन्ति दाशुषे।
ताभिर्नोऽविता भव ॥ ऋ० १।९१।९॥

अर्थः—सोमस्य स्तुतिःप्रार्थना चात्र वर्त्तते। दानशीलाय मनुष्याय सोमकृता याः सुखकारिकाः रक्षाः सन्तिः ताभिरूतिभिः रक्षाभिः सोमोऽस्माकं स्तावकानां च रक्षिता भवतु-इति स प्रार्थ्यते। अत्रोभयोः सायणदयानन्दयोर्व्याख्यानं प्रायेण समानमेव। परन्तु दयानन्दभाष्यस्येदं वैशिष्ट्यं यत् तत्र सोमस्य पूर्ववत् त्रयोऽर्थाः प्रकटीकृताः। तद्यथा—येषां प्राणिनां परमेश्वरो विद्वांसः सुनिष्पादिता ओषधिसमूहाश्च रक्षका भवन्ति कुतस्ते दुखं पश्येयुः।[1] इति।

इमं यज्ञमिदं वचो जुजुषाण उपागहि।
सोम त्वं नो वृधे भव ॥ ऋ० १।९१।१०॥

अर्थः—स्तावकैः प्रार्थिभिर्यजमानैश्च क्रियमाणं यज्ञं प्रयुज्यमानं च वचः सोमः प्रीत्या सेवमान उपागच्छति। स च तेषां वृद्धये समृद्धये वा भवति—इति मन्त्रवाक्यार्थः सामान्येन। परं यज्ञवचःपदयोः प्रसिद्धावर्थौ सोमयज्ञः, स्तुतिश्चेति सायणभाष्येऽभिप्रेतौ स्तः। यात्रता दयानन्दभाष्ये ससर्वनामयोरनयोः शब्दयोरर्था इत्थं व्याख्याताः—इमं यज्ञं=प्रत्यक्षं विद्यारक्षाकारकं शिल्पसिद्धं वा। इदं वचः=विद्याधर्मयुक्तं वचनम्। इति। सोमशब्दस्य च पूर्ववत् त्रयोऽर्था गृहीताः। यथा—यदा विज्ञानेनेश्वरः सेवाकृतज्ञताभ्यां विद्वांसो वैद्यकसत्क्रियाभ्यामोषधिगणाश्चोपागता भवन्ति तदा मनुष्याणां सर्वाणि सुखानि जायन्ते।[2] इति।

सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्द्धयामो वचोविदः।
सुमृडीको न आविश ॥ ऋ० १।९१।११॥

१. द०स०, ऋग्वेदभाष्यभावार्थः १।९१।९, पृ० २४०।
२. द०स०, ऋग्वेदभाष्यभावार्थः १।९१।१०, पृ० २४१।

अर्थः—वचोविदः शब्दतत्त्वविदो विदितवेदितव्या वयं मनुष्या गीर्भिः विद्यासुसंस्कृताभि-र्वाग्भिः स्तुतिलक्षणैर्वचोभिर्वा सोमं वर्धयामः प्रसिद्धीकुर्मः। सुमृडीकः सुष्ठुसुखप्रदः स नः अस्मान् प्राप्नोतु। अत्रापि प्रायेण समानं पदव्याख्यानं द्वयोर्भाष्यकारयोः। परन्तु सोमस्य त एव त्रयोऽर्था इहापि दयानन्दभाष्ये भावार्थे इत्थमुक्ताः—अत्र श्लेषालङ्कारः। न हीश्वरविद्वदौषधिगणैस्तुल्यः प्राणिनां सुखकारी कश्चिद् वर्त्तते। तस्मात् सुशिक्षाध्ययनाभ्यामेतेषां बोधवृद्धिं कृत्वा तदुपयोगश्च मनुष्यैर्नित्यमनुष्ठेयः।[1] इति।

गयस्फानो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः।
सुमित्रः सोम नो भव॥ ऋ० १।९१।१२॥

अर्थः—मन्त्रेऽस्मिन् सोमगुणा उक्ताः। सोमः गयस्फानः गयानां प्राणानां वर्धयिता, धनानां वर्द्धयिता च। अत्र प्रथमोऽर्थो दयानन्दस्वामिनो द्वितीयः सायणाचार्यस्य। गयस्फानशब्दव्युत्पत्तौ स्फायीधातोः कर्तरि ल्युडन्तत्वं सायणप्रतिपादितं दयानन्देनाशुद्धत्वान्निरस्तम्। अमीवहा रोग-नाशकः। वसुवित् धनादिद्रव्यप्रापकः, पुष्टिवर्धनः शरीरात्मपुष्टेर्वर्धयिता, सुमित्रः शोभनमित्रवान्, नः अस्माकं भवतु–इति प्रार्थ्यते। इमे गुणाः सोमाद्योषधीनां विदुषां परमेश्वरस्य च विद्यन्ते। अतः दयानन्दभाष्ये सुष्ठु एव सोमशब्दस्य पूर्ववत् त्रयोऽर्था व्याख्याताः–नहि प्राणिनामीश्वरस्यौषधीनां च सेवनेन विदुषां संगेन च विना रोगनाशो बलवर्द्धनं द्रव्यज्ञानं धनप्राप्तिः सुहृन्मेलनं च भवितुं शक्यं तस्मादेतेषां समाश्रयः सेवा च सततं कार्या।[2] इति।

सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा। मर्य्य इव स्व ओक्ये॥ ऋ० १।९१।१३॥

अर्थः—हे सोम त्वमस्माकं हृदयेषु तथैव रमस्व यथा गावः भक्षणीयेषु घासेषु रमन्ते यथा च मनुष्याः स्वगृहेषु पुत्रपौत्रादिभिः सह रमन्ते। एवं सामान्यतो मन्त्रार्थस्तुल्यः सायणदयानन्दयोः। परन्तु सोमशब्दस्य विशिष्टोऽर्थः ईश्वरः दयानन्दभाष्ये अधिको वर्त्तते। तत्र श्लेषोपमालंकाराभ्यां मन्त्रस्य भावार्थ एवमस्ति व्याख्यातः—हे जगदीश्वर! यथा प्रत्यक्षतया गावो मनुष्याश्च स्वकीये भोक्तव्ये पदार्थे स्थाने वा क्रीडन्ति तथैवास्माकमात्मनि प्रकाशितो भवेः। यथा पृथिव्यादिषु कार्य-द्रव्येषु प्रत्यक्षाः किरणा राजन्ते तथैवास्माकमात्मनि राजस्व। अत्रासंभवत्वाद् विद्वान्न गृह्यते।[3] इति

यः सोम सख्ये तव रारणद्देव मर्त्यः। तं दक्षः सचते कविः॥ ऋ० १।९१।१४॥

अर्थः—हे देव दिव्यगुणप्रापक दिव्यगुणयुक्त सोम तव सख्ये मित्रस्य भावाय कर्मणे वा यो मनुष्यः रारणत् उपसंवदते त्वां स्तौति वा, मनुष्यं तं क्रान्तदर्शनः शरीरात्मबलयुक्तस्त्वं सचते समवैति सेवसे वा। सोमोऽत्र देवः कविः दक्षश्चोक्तः। इमानि विशेषणानि सोमस्य स्वप्रकाशकत्वम्, सुखदातृत्वं बलयुक्तत्वं ज्ञानवत्वं च द्योतयन्ति। अतः श्लेषालंकारेण सोमस्य त्रयोऽर्था इहापि दयानन्दभाष्ये समीचीनतयैव लभ्यन्ते–ये मनुष्या परमेश्वरेण विद्वद्भिरुत्तमोषधिभिर्वा सह मित्र-भावं कुर्वन्ति, ते विद्यां प्राप्य न कदाचिद् दुःखभागिनो भवन्तीति।[4] सायणस्तु सोमं हविर्ग्रहीतारं देवविशेषं मन्यते।

१. द०स०, ऋग्वेदभाष्यम् १।९१।११, पृ० २४२। २. वही १।९१।१२, पृ० २४२।
३. द०स०, ऋ०भा० १।९१।१३, पृ० २४३। ४. द०स०, ऋ०भा० १।९१।१४, पृष्ठ २४४।

उरुष्या णो अभिशस्तेः सोम नि पाह्यंहसः । सखा सुशेव एधि नः ।। ऋ० १।६१।१५।।

अर्थः—हे सोम सुखहिंसकान्निन्दकाच्च जनादस्मान् रक्ष पापाच्च नितरां पालय। त्वं नः मित्रं सुष्ठु सुखदश्च भव। अत्र सोमशब्दस्य रक्षकः परमवैद्यो विद्वान् इत्यर्थो दयानन्दभाष्ये विद्यते। सायणस्तु मन्त्रपदानि साधु व्याख्यायापि सोमस्वरूपं स्पष्टं न करोतीति चित्रम्।

आ प्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम् । भवा वाजस्य संगथे ।। ऋ० १।६१।१६।।

अर्थः—सोमोऽत्र प्रार्थ्यते यद् विश्वतः सर्वतः वीर्यवतां यत् सामर्थ्यं पराक्रमो वा स्यात् तेन संयुक्तः स स्वयं भवतु अस्मान् वा तथाभूतः प्राप्नोतु। अन्नस्य संगमने, युद्धभूमौ वा सैनिकानामुत्तमः चिकित्सको वद्यो भवतु। सायणाचार्यस्त्वत्र सोमं देवविशेषत्वेन सर्वसामर्थ्ययुक्तः सन् अन्नप्रदो भवतु इति प्रार्थयते। यावता दयानन्दभाष्ये सोमपदार्थः विद्वद्वैद्यकविदित्यर्थ वर्णितः। अन्यत्र इवेहापि मन्त्रस्य व्यावहारिकोऽर्थः कृतः। तथा ह्युक्तं भावार्थे—मनुष्यैर्विद्वदोषधिगणान् संसेव्य बलविद्ये प्राप्य सर्वस्याः सृष्टेरनुत्तमा विद्या उन्नीय शत्रून् विजित्य सज्जनान् संरक्ष्य शरीरात्मपुष्टिः सततं वर्धनीया।[1] इति।

आप्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरंशुभिः ।
भवानः सुश्रवस्तमः सखा वृधे ।। ऋ० १।६१।१७।।

अर्थः—सोमस्य स्तुतिप्रार्थनेऽत्र क्रियेते। सोमो मदिन्तमः अतिशयेन प्रशस्तहर्षयुक्तः, सर्वैरवयवैर्वर्धमानः। सुश्रवस्तमः अतिशयेन शोभनविद्याश्रवणयुक्तः शोभनान्नवान् वा अस्माकं वृद्धये अस्मन्मित्रं भवतु। इति। सायणभाष्ये तु सोमलतापरकोऽर्थः कृतः। परं स तादृक् सुसंगतो न दृश्यते, यादृग् दृश्यते दयानन्दभाष्ये सोमलता हि कियत्यपि गुणवती स्यात् स्वयमेव मदिन्तमा भवितुं नार्हति, चेतनगुणो हि हर्षगम्। दयानन्ददृष्टौ तु सोमः विद्यैश्वर्यस्य प्रापकः परमविद्वानस्ति। तथा च भावार्थः—यः परमविद्वान् सर्वोत्तमौषधिगणेन सृष्टिक्रमविद्यासु मनुष्यान् वर्धयति स सर्वैरनुगन्तव्यः।[2] इति।

सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः ।
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युतमानि धिष्व ।। ऋ० १।६१।१८।।

अर्थः—हे सोम ते पयांसि जलानि अन्नानि अस्मान् संयन्तु प्राप्नुवन्तु। शत्रून् यत्र सहन्ते ते वाजाः संग्रामाः संप्राप्नुवन्तु। वृष्ण्यानि बलयुक्ताः पराक्रमाः सम्यक् प्राप्नुवन्तु। मोक्षाय वर्धमानः दिवि विद्यायाः प्रकाशे उत्तमानि श्रवांसि अतिश्रेष्ठान्यन्नानि धिष्वं धारयतु। सायणस्त्वाह—हे सोम शत्रूणां हन्तुस्ते क्षीराणि संगच्छन्तां, वीर्याणि संगच्छन्ताम् बाजाश्च हविर्लक्षणान्यन्नानि त्वां संगच्छन्ताम्। अस्माकममरणत्वायाप्यायमानः समन्ताद् वर्धमानो दिवि स्वर्गे नभसि उत्कृष्टान्यन्नानि अस्माभिर्भोक्तव्यानि धिष्व धारय।[3] इति। दयानन्दभाष्ये सोमपदस्यार्थः ऐश्वर्यस्य प्रापक इत्युक्तः

१. द०स०, ऋ०भा० १।६१।१६, पृष्ठ २४५।
२. द०स०, ऋ०भा० १।६१।१७, पृष्ठ २४६।
३. सायणः, ऋ०भा० १।६१।१८, पृ० ४०७।

विद्यापुरुषार्थाभ्यां विद्वत्संगात् ओषधिसेवनपथ्याभ्यां च प्रशस्तकर्मगुणवस्तूनां धारणं कृत्वा मनुष्यैर्धर्मार्थकामान् संसाध्य मुक्तिसिद्धिः कार्या । इत्युक्तम् ।[1]

या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् ।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्र चरा सोम दुर्यान् ॥ ऋ० १।९१।१९॥

अर्थः—हे सोम यानि ते धामानि स्थानानि वस्तूनि तेजांसि वा हविषा विद्यादानादानाभ्यां यज्ञं यजन्ति संगच्छन्ते, तानि तव सर्वाणि नः प्राप्नुवन्तु । त्वं परिभूः सर्वोपरि वर्त्तमानस्तानि वा परिभावयितृणि सर्वोपरि विराजमानानि सन्ति । सोमोऽयं गयस्फानः धनवर्द्धकः, प्रतरणः प्रकृष्टतया दुःखात् तारकः, सुवीरः शोभनैर्वीरैर्युक्तः, अवीरहा वीराणाममारकः विद्यासुशिक्षारहितान् प्रापको वा, अस्माकं दुर्यान् गृहान् चर गच्छ । सायणस्तु हव्याहुतिभिः सोमस्य धाम्नां यजनं पूजनमत्र मन्त्रार्थ इति मन्यते । दयानन्दः पुनः श्लेषालङ्कारेण ईश्वरविद्वदोषधिसमूहरूपानर्थान् सोमपदस्य करोति । इति परस्परं मन्त्रार्थो भिद्यते । परं सूक्ष्मदृशा विचारे क्रियमाणे दयानन्दकृतोऽर्थः संगच्छतेतराम् ।

सोमो धेनुं सोमो अर्वन्तमाशुं सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति ।
सादन्यं विदथ्यं सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै ॥ ऋ० १।९१।२०॥

अर्थः—सोमः कानि कानि वस्तूनि तत्सेवकेभ्यो ददातीत्यत्रोच्यते । तथाहि धेनुं सवत्सां दोग्ध्रीं गां वाणीं वा, अर्वन्तमाशुं शीघ्रगामिनमश्वम्, कर्मसु कुशलं कर्मठं वा वीरपुत्रम्, सादन्यं सदनं गृहं तत्र साधुं गृहकार्यकुशलं विदथ्यं विदथेषु यज्ञेषु युद्धेषु वा साधुम्, सभेयं सभायां साधुम्, पितृश्रवणं पितरो ज्ञानिनः श्रूयन्ते येन तद्-व्यवहारं (पिता श्रूयते प्रख्यायते येन पुत्रेण, तादृशं पुत्रमिति सायणः) । इत्येतानि सर्वाणि सोमेन प्रदीयन्ते । ननु कोऽयं सोमो नाम येनेमे पदार्था दीयन्ते यजमानाय धर्मात्मने पुरुषाय वा ? सायणदृष्टौ स्वर्लोकस्थो देवविशेषः सोमः । यो यजमानो हवींषि हविर्लक्षणान्यन्नानि सोमाय दद्यात् तस्मै सोम इमानि वस्तूनि ददातीति । दयानन्दमते सभाध्यक्षादिविद्वान् जनः, सोमद्योषधिसमूहो वा सोमशब्दार्थः । दानकर्म सर्वं चेतनकर्तृकं भवतीति हेतोः सोमोऽयं विद्वानेवास्ति कश्चिदिति लक्षणया विज्ञायते ।

अषाढं युत्सु पृतनासु पप्रिं स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपाम् ।
भरेषुजां सुक्षितिं सुश्रवसं जयन्तं त्वामनु मदेम सोम ॥ १।९१।२१॥

अर्थः—सोमं सम्बुद्ध अषाढं पप्रिमित्यारभ्य त्वांपर्यन्तं द्वितीयान्तपदानि सर्वाणि सोमविशेषणानि तादृशं सोममनु वयं मदेम हर्षयुक्ता भवेमेति वाक्यार्थः । तत्र प्रथमं सोमविशेषणमस्ति अषाढं शत्रुभिरसहनीयमनभिभवनीयं वा, युत्सु युद्धेषु पृतनासु सेनासु । पप्रिं पालनशीलम्, स्वर्षां सुखसनितारम् अप्सां जलदातारं वृजनस्य गोपाम् बलस्य पराक्रमस्य रक्षकम् । भरेषुजां राज्यसामग्रीसाधकान् बाणान् जनयन्तम् सुक्षितिं शोभना क्षितयो राज्ये यस्य तम्, सुश्रवसं शोभनयशस्कं शोभनवचस्कं

१. द०स०, ऋ० भा० १।९१।१८, पृ० २४७।

वा, जयन्तं शत्रूनभिभवन्तं विजयहेतुं वा। सायण आह—हे सोम ईदृग्भूतं त्वामनुलक्ष्य मदेम। हर्षयुक्ता भवेमेति। युद्धवीरोऽयं सोमो नाम देवस्तन्मतेऽपि। दयानन्दभाष्ये सेनाधिपतित्वेन सोमपदार्थः समीचीनतयैव व्याख्यातः। सहैव सोमलताद्योषधिगणस्य तत्सेवनशीले जने महाप्रभावोऽपि वर्णितः।

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।
त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ॥ ऋ० १।९१।२२॥

अर्थः—सोमस्य महान्ति कार्याणि महान्तो गुणाश्चात्र मन्त्रे वर्णिताः। तथाहि सोम एव सर्वासामोषधीनां जनयिता, अन्तरिक्षे मेघान् निर्माय तत्रापो जलानि जनयति, पुनः वर्षति येन पृथिव्यां सर्वे प्राणिनः ओषधिवनस्पतयश्च उत्पद्यन्ते वर्धन्ते च। सोम एव गाः इन्द्रियाणि, किरणान् गवादिपशूंश्चोत्पादयति। स एव महान्तमन्तरिक्षं विस्तारयति। स एव च ज्योतिषा सूर्याग्निविद्युदादितेजसा तमोऽन्धकारं दृष्ट्यावरकम्, विद्यासुशिक्षाप्रकाशेन च अविद्यान्धकारं ववर्थ अपसारयति। मन्त्रव्याख्या सायणदयानन्दयोः प्रायेण तुल्या। परं कश्चिद् भेदोऽपि तत्र वर्त्तते। अन्यत्र सोमलतां सोमशब्देन प्रायशो व्याचक्षाणोऽपि इह मन्त्रभाष्ये सोमं सोमलताजनकं सायणाचार्यः प्रतिपादयति। तद्यथा– हे सोम त्वमिमा भूम्यां वर्तमाना विश्वाः सर्वा ओषधीरजनयः। उत्पादितवानसि। तथा त्वमपस्तासामोषधीनां कारणभूतानि वृष्ट्युदकान्यजनयः—[1] इत्यादि। दयानन्दभाष्ये तु सोमशब्दो जगदीश्वरार्थे स्पष्टं व्याख्यातः। यथा– (त्वम्) जगदीश्वरः (इमाः) प्रत्यक्षीभूताः (ओषधीः) सर्वरोगनाशिकाः सोमाद्योषधीः (सोम) सोम्यगुणसम्पन्न आरोग्यबलप्रापक (विश्वाः) अखिलाः (त्वमपः) बलानि जलानि वा (अजनयः) जनयसि। अत्र लडर्थे लङ्……।

अन्वयः—हे सोमेश्वर यतस्त्वमिमा विश्वा ओषधीरजनयः……तस्माद् भवानस्माभिः सर्वैः सेव्यः।

भावार्थः—येनेश्वरेण विविधा सृष्टिरुत्पादिता स एव सर्वेषामुपास्य इष्टदेवोऽस्ति।[2] इति।

देवेन नो मनसा देव सोम रायो भागं सहसावन्नभि युध्य।
मा त्वा तनदीशिषे वीर्यस्योभयेभ्यः प्र चिकित्सा गविष्टौ॥ ऋ० १।९१।२३॥

अर्थः—हे सहसावन् अत्यन्तबलवन् देव दिव्यगुणसम्पन्न सोम सर्वविद्यायुक्त सेनाध्यक्ष देवेन मनसा दिव्यगुणयुक्तेन शिल्पक्रियादिविचारेण रायो भागं धनस्यांशं भजनीयं प्राप्तुं शत्रून् अभियुध्यस्व। कश्चिदपि शत्रुस्त्वां मा तनत् पीडयेत्, त्वं पराक्रमस्य स्वामी असि। उभयेभ्यः स्वकीयपरकीयानां युध्यमानानां गविष्टौ भूम्यादिराज्यप्राप्तौ संग्रामे वा मा प्रचिकित्स सशययुक्तो मा भूः, शत्रुजन्यमस्मदीयमुपद्रवं वा परिहर। अत्र बलवद्योद्धृत्वेन सोमो वर्णितः सायणाचार्येण। दयानन्दभाष्येऽपि सोमशब्दः विदुषि सर्वविद्यायुक्तेऽर्थे सेनाध्यक्षेऽर्थे च स्पष्टतयास्ति व्याख्यातः, अथाप्यानुषंगिकतया सोमाद्योषधिगणस्योल्लेखोपि भावार्थे दरीदृश्यते। यथा– मनुष्यैः परमोत्तमस्य सेनाध्यक्षस्योषधिगणस्य वाऽऽश्रयं कृत्वा युद्धे प्रवृत्योत्साहे स्वसेनां संयोज्य शत्रुसेनां पराजय्य चक्रवर्त्तिराज्यैश्वर्यं प्राप्तव्यम्[3]। इति।

---

१. सायणः, ऋ०भा० १।९१।१२, पृ० ४०९।

२. द०स०, ऋ०भा० १।९१।२२, पृ० २५०-२५१। ३. द०स०, ऋ०भा० १।९१।२३, पृ० २५१।

तदेतस्मिन् सोमदेवताके ऋग्वेदीये सूक्ते भाष्यद्वयपर्यालोचनेन सोमस्य वेदप्रतिपादितं स्वरूपं किंचिदूहितमस्माभिः। तत्रैष निष्कर्षः समासतः—(१) सोमः सर्वजगदुत्पादकः सर्वप्रेरकः सर्वज्ञः सुखशान्तिहेतुः परमेश्वरोऽस्ति। (२) सोमः सर्वोत्तमगुणयुक्तो विद्यादानदक्षो विद्वान् धर्मात्मा जनः। (३) सोमः सोमलताख्योषधिविशेषो बलबुद्धिशान्त्यारोग्यप्रदः। (४) सोमो महाबलो महापराक्रमः शत्रुभिरजेयः सेनापतिः। इति। चन्द्रमसमपि सोमशब्दार्थमाहुः। परमिह सूक्ते तादृगर्थः केनापि भाष्यकारेण न गृहीतः सायणभाष्ये एकमेत्रस्तत्रापवादरूपः। अन्यत्र सोऽप्यर्थो यथाप्रकरणं गृहीतः स्यात्। परब्रह्मपरमेश्वरार्थे सोमशब्दप्रयोगोऽन्यत्रापि दृश्यते। वेदचतुष्टये, सामवेदे च सविशेषम्, शतशो मन्त्राः सन्ति यत्र सोमपदेन परमेश्वरार्थोऽभिधीयते। भगवद्गीतायां तु स्पष्टतयोक्तम्—

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा। पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः। भगवद्गीता १५-१३।। शांकरभाष्यं चात्र द्रष्टव्यार्हम्—"**किं च पृथिव्यां जाता ओषधीः सर्वा व्रीहियवाद्याः पुष्णामि पुष्टिमतीः रसस्वादुमतीश्च करोमि सोमो भूत्वा रसात्मकः, सर्वरसात्मकः सर्वा ओषधीः स्वात्मरसान् अनुप्रवेशयन् पुष्णामि।**"[1] इति। एतेन विज्ञायते सर्वरसात्मा रसदो वा सोम उच्यते। आलोच्यसूक्ते दयानन्दभाष्ये अयमर्थः शब्दान्तरैर्निपुणमुक्तः।

सोमपा इति शब्दोऽपि वेदेऽसकृच्छ्रूयते। प्रायश ऐन्द्रसूक्तमन्त्रेषु इन्द्रस्य विशेषणत्वेन।[2] परमेश्वर एव सोमः सोमपाश्चोच्यते। यथोक्तं विष्णुसहस्रनामस्तोत्रे—**सोमपोऽमृतपः सोमः पुरुजित्पुरुसत्तमः**[3]। इति।

अद्यत्वे केचनापभाषिणो वैदिकं सोमं सुरा (मद्यम्) इत्यर्थे विद्यमानत्वेन प्रचारयन्ति। तदलीकमेव। सोमपानेन इन्द्रस्य यन्मदोहर्षप्रकर्षः क्वचिद् वेदे वर्णितः स शत्रुभिः सह युध्यमानस्य कस्यचिद् वीरस्य बलवर्धकौषधिरसानां पानेन तद्रक्षणेन वा जायते न तु कस्यचिद् मादकद्रव्यस्य सेवनेनेति बोद्धव्यम्। सुरासोमयोर्महदन्तरमस्ति। तथाहि **सुरा वै मलमन्नानाम्। (मनुस्मृतिः ११।९३)**, सुरा हलिप्रियाहाला—मदिरा[4] इति मद्यार्थे सुराशब्दप्रयोगो भवति। यावता सोमशब्देन अमृतरूप ओषध्यादिरसोऽर्थो गृह्यते। अतएव सोमं ये सुरार्थे मन्यन्ते ते नूनं भ्रान्ता इत्येव वक्तव्यम्।।

☀ क्या कष्ट सहन किये बिना कोई व्यक्ति महान् बना है? क्या आंधी-तूफान सहे बिना कोई पौधा वृक्ष बना है? क्या छेनी और हथोड़े की मार सहन किये बिना कोई मूर्ति पूज्य बनी है?

१. शङ्कराचार्यः, भगवद्गीताभाष्यम् १५।१३।

२. यथा—उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपा पिब। गोदा इद्रेवतो मदः। ऋग्वेदः १।४।२॥

३. विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्, श्लोकः ६७।

४. अमरकोशः २।१०।३९-४०॥

मात्र न मान कर इसके द्वारा इन शब्दों से सम्बन्धित अन्य पदार्थों का भी ग्रहण किया है जबकि उवट आदि ने ऐसा नहीं किया। यह भी महर्षि के सूक्ष्मचिन्तन का परिचायक है।

यहां पर यह भी है अवधेय है कि 'च' के द्वारा व्यथ निरर्थक शब्दों का संग्रह स्वामी जी ने नहीं किया है अपितु मन्त्र के शब्दों से सम्बन्धित पदार्थों का ग्रहण ही उन्होंने किया है। यथा—१७।६ में **'प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मे चित्तं च मे**·····' यहां पर 'च' के द्वारा उदान, समान तथा धनञ्जय इन तीन वायुओं का भी ग्रहण कर लिया है जबकि मन्त्र में केवल प्राण, अपान तथा व्यान ही पठित हैं। यहीं पर चित्त के साथ 'च' से बुद्धि का भी ग्रहण कर लिया है। एक अन्य उदाहरण—मं० १७।२२ में **'अश्वमेधश्च मे'** पठित है। स्वामी जी ने **'राष्ट्रं वा अश्वमेधः'** (शत० १३।१।६।३) के अनुसार अश्वमेध का अर्थ राष्ट्र करते हुए 'च' के द्वारा राष्ट्र से सम्बन्धित राजनीति का भी ग्रहण किया।

इसी प्रकार इन मन्त्रों में आये सभी 'च' पदों के द्वारा स्वामी जी ने अनेक पदार्थों का ग्रहण कर लिया है। एक ऋषि ही इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से अर्थविस्तार कर सकता है। यह ऋषि की ऊहा है। वेद में ऊहा का प्रयोग किया जाता है ऐसा भाष्यकार पतञ्जलि भी कहते हैं। **रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्** (म० भा० पश्पशा०) के द्वारा उन्होंने यही कहा है। उवट तथा महीधर ने चकार को मन्त्र के शब्दों का संयोजक मात्र कर इससे किन्हीं नये अर्थों का ग्रहण नहीं किया है।

नीचे इन सभी बिन्दुओं पर पृथक्-पृथक् विचार किया जाता है—

(१) **एक ही शब्द के अनेक अर्थ**—यजु० १८ अ० के १-२७ मन्त्रों में प्रत्येक मन्त्र के पश्चात् **'यज्ञेन कल्पताम्'** पद आया है। महर्षि ने यहां पर प्रयुक्त यज्ञ शब्द के प्रतिमन्त्र में भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। यहा उचित भी है क्योंकि वेद की पुनरुक्ति निरर्थक नहीं है। ऐसे स्थलों में अवश्य ही कोई न कोई नवीन अर्थ ही होता है। यहां पर इन मन्त्रों का संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है—

(क) मं० १ में श्रुति-वेद, ज्योति-विद्याप्रकाश, स्वः, अन्न, विज्ञान, वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र, प्राण, दक्ष, बल आदि की प्रार्थना की गयी है। इसलिए स्वामी जी ने यज्ञ का अर्थ इन पदार्थों का दाता परमेश्वर तथा जगदुपकारक व्यवहार किया है। इनके द्वारा मन्त्रवर्णित पदार्थों को प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार मं० ३ में शरीर, आत्मा, तनू, शर्म, वर्म, अस्थि, जरा, आयु आदि की प्रार्थना है। अतः इनके प्रापक के रूप में यज्ञ का अर्थ परमेश्वर किया है। मन्त्र १२ में विविध अन्नों के नाम हैं। इनको देनेवाला परमात्मा ही है। अतः यज्ञ का अर्थ परमात्मा किया गया है। मन्त्र १० में भी रयि, राय अन्न आदि के दाता के रूप में यज्ञ का अर्थ परमात्मा किया गया है।

(ख) मन्त्र ४ में महिमा, द्राघिमा, प्रथिमा, वरिमा आदि की प्रार्थना की गयी है। मनुष्य को समाज में महत्त्व, यश, उन्नति, वृद्धि आदि उक्त पदार्थ तभी प्राप्त होंगे जबकि वह धर्म का पालन करता हुआ सत्कर्म करेगा। इसीलिए इस मन्त्र में यज्ञ का अर्थ धर्मपालन किया गया है। इसी प्रकार मन्त्र ९ में अर्क्=अन्न, पयः—रस, घृत, मधु, कृष्टि आदि की प्रार्थना है। कर्म के द्वारा ही इन पदार्थों की प्राप्ति सम्भव है अतः यहां यज्ञ का अर्थ सर्वरसपदार्थवर्धककर्म किया गया है।

(ग) मन्त्र ११में ऋद्धि=योग के द्वारा प्राप्त समृद्धि, मति=मनन, वेद्य=विचार, सुमति=उत्तम बुद्धि तथा भूत, भविष्य के उत्तम होने की प्रार्थना की गई है। इन सबकी प्राप्ति के लिए यहां पर यज्ञ का अर्थ शम दमादि युक्त योगाभ्यास किया है।

(घ) मन्त्र १५ में कर्मशक्ति, गति आदि की प्राप्ति की कामना है। अतः यहां यज्ञ का अर्थ इनकी प्राप्ति का साधन पुरुषार्थ ही अभिप्रेत है।

(ङ) मन्त्र १६ में वाणी अध्यापक आदि का वर्णन है अतः यज्ञ का अर्थ विद्या तथा ऐश्वर्य की उन्नति करनेवाला व्यवहार किया है।

(च) मन्त्र १७ में मित्र तथा वरुण का वर्णन है। महर्षि ने **'प्राणोदानौ वं मित्रावरुणौ'** (शतपथ ३।३।१।१६) के प्रमाण से मित्र का अर्थ प्राण तथा वरुण का अर्थ उदान करके इनकी उन्नति के साधनभूत यज्ञ का अर्थ वायुविद्याविधान किया है।

(छ) मन्त्र २१ में चमस, अवभृथ, वेदि, बर्हि, स्वगाकारः द्रोण कलश, अधिषवण आदि का उल्लेख है। ये सभी यज्ञ-सम्बन्धी नाम क्रिया अथवा पदार्थ हैं। इसीलिए यहां पर यज्ञ का अर्थ हवन आदि किया गया है।

(ज) मन्त्र २४-२५ में गणित की विविध संख्याओं तथा उनमें वृद्धिह्रास का वर्णन है। यह वृद्धि तथा ह्रास किसी भी संख्या में अन्य संख्या को जोड़ने, घटाने तथा परस्पर गुणा करने से ही होगा। इसीलिए यहां पर यज्ञ का अर्थ योग=जोड़ना तथा वियोग=घटाना किया गया है।

(झ) मन्त्र २६-२७ में ऋषभ, धेनु, अनड्वान्, अवि, उक्षा, त्रिवत्सा, वशा आदि के द्वारा पशुओं के नाम अथवा उनके भेद बतलाये गये हैं। इसीलिए मन्त्र २६ में यज्ञ का अर्थ पशुपालन विधि तथा मन्त्र २७ में यज्ञ का अर्थ पशु शिक्षाख्य कर्म किया गया है। इनके द्वारा ही उक्त पशुओं की उन्नति अथवा वृद्धि सम्भव है।

(झ) मन्त्र १६-१८ में **'अग्निश्च मऽइन्द्रश्च मे……'** इत्यादि के द्वारा प्रत्येक पद के पश्चात् इन्द्र पद की आवृत्ति की गयी है। इस प्रकार इन मन्त्रों में प्रत्येक मन्त्र में ६-६ बार इन्द्र पद तथा ७-७ अन्य पदों का प्रयोग हुआ है। महर्षि ने प्रत्येक मन्त्र में आये प्रत्येक इन्द्र पद का अलग-अलग ही अर्थ किया है। शतपथ में इन मन्त्रों को अर्धेन्द्र कहा गया है। अर्थात् इनमें आधा भाग अकेले इन्द्र का है तथा आधा भाग शेष अग्नि आदि देवताओं का है। उवट-महीधर ने भी इसी के अनुसार व्याख्या की है। स्वामी जी ने प्रत्येक बार उच्चारित इन्द्र के अर्थों को दिखलाया है केवल अर्द्धेन्द्र कहकर नहीं छोड़ दिया।

(२) **यास्कीय दृष्टि**—महर्षि दयानन्द यास्कीय दृष्टि को लेकर आगे बढ़े हैं। यास्काचार्य ने मन्त्रार्थ के मूल में जाकर वेदार्थ को स्पष्ट करने का यत्न किया है। यह यास्क का अभूतपूर्व कार्य है। महर्षि दयानन्द ने भी वेदभाष्य में यही दृष्टि अपनायी है। यहां एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। अदादि तथा चुरादिगण में ईडस्तुतौ धातु पठित है। ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है—**अग्निमीळे पुरोहितम्** ……। अधिकतर वेद भाष्यकारों ने ईळे का अर्थ 'स्तौमि' ही किया है। इसी से यह आक्षेप उत्पन्न हुआ कि वेद में तो अग्नि की स्तुति ही की गई है। वैदिक ऋषि अग्नि की स्तुति=पूजा मात्र करते थे।

महर्षिदयानन्दकृतवेदभाष्यानुशीलन
(यजु० १६-२० अ० के सन्दर्भ में)

[ले०—वेदाचार्य डा० रघुवीर वेदालंकार, उपाचार्य, रामजस कालेज, दिल्ली]

महर्षि दयानन्द से पूर्व शुक्ल यजुर्वेद पर उवट तथा महीधर के संस्कृतभाष्य उपलब्ध थे। महर्षि ने सर्वप्रथम इसका संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी में भी भाष्य किया। न केवल इतना ही अपितु उवट-महीधर के भाष्य यज्ञपरक थे जिससे वेद का क्षेत्र सीमित तथा किन्हीं अर्थों में दूषित भी हो गया था। महर्षि ने उस परिपाटी का परित्याग करके मन्त्रों के व्यवहारोपयोगी अर्थ करते हुए यजुर्वेद भाष्य किया है। इसी के अनुसार उन्होंने मन्त्रों में प्राप्त सरस्वती, इन्द्र तथा यज्ञ, अग्नि आदि पदों के विविध अर्थ करते हुए अपने भाष्य को लोकोपयोगी बताया है। इस कारण कभी-कभी यह आक्षेप कर दिया जाता है कि महर्षि ने मनमाने ढंग से उक्त अर्थ किये हैं। संक्षेप में महर्षि के वेदभाष्य पर निम्न प्रकार से आक्षेप किये जाते हैं—

(१) सामान्यतः स्वामी जी ने सर्वानुक्रमणी में निर्दिष्ट देवताओं को ग्रहण किया है किन्तु कहीं-कहीं पर सर्वानुक्रमणी के निर्देश को स्वीकार न करके अपने अनुसार कोई अन्य ही मन्त्र का विषय या देवता माना है। इसके लिए यजुर्वेद अध्याय २२ के १-८ मन्त्र द्रष्टव्य हैं।

(२) महर्षि दयानन्द ने अग्नि, इन्द्र, वसिष्ठ, अश्विनौ, भृगु, बृहस्पति आदि देवतावाचक शब्दों के अपनी कल्पना से ईश्वर, राजा, सेनापति, विद्वान्, वैद्य आदि अर्थ किये हैं।

(३) यज्ञ, इन्द्रियां आदि पारिभाषिक शब्दों के भी धर्मानुष्ठान उपदेश, शिल्प, परमात्मा तथा सुवर्ण आदि धन अर्थ किये हैं।

(४) एक ही सूक्त में आये देवतावाचक शब्दों के उन्होंने उसी सूक्त के विभिन्न मन्त्रों में विभिन्न अर्थ किये हैं। यथा—अग्नि के अर्थ पार्थिव अग्नि, विद्वान्, विद्युत् आदि तथा इन्द्र के अर्थ विद्युत्, राजा, सेनापति, वायु, ईश्वर, सेनापति आदि किये हैं।

इस कारण कहा जाता है कि स्वामी जी ने ये अर्थ स्वकल्पनानुसार किये हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं है। महर्षि ने ऐसा निरुक्त, व्याकरण तथा ब्राह्मणादि ग्रन्थों के आधार पर ही किया है। यद्यपि ऊपर से देखने में ऐसा प्रतीत नहीं होता किन्तु महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य तथा ब्राह्मण-निरुक्तादि ग्रन्थों के गहन अनुशीलन से उक्त तथ्य हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाता है। यथा—**स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा** (यजु० ३२।१०) इस मन्त्र में आए धाम पद का अर्थ स्वामी जी ने नाम, स्थान तथा जन्म किया है। सामान्यतः धाम का अर्थ स्थान ही होता है। स्वामी जी ने यहां तीन अर्थ दिये हैं। इसका स्पष्टीकरण निरुक्त ९।२८ के इस प्रमाण से होता है—**धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति।** निरुक्तकार ने (ऋ० १०।९७।१) मन्त्र की व्याख्या करते हुए उक्त बात कही है। महर्षि जैसा सर्वशास्त्रनिष्णात विद्वान् ही इस प्रकार के अर्थ कर सकता है अन्य नहीं।

प्रस्तुत निबन्ध में सप्रमाण इसी प्रकार के अर्थों पर विचार किया गया है। यह निबन्ध यजुर्वेद के (१६-२०) अध्यायों के भाष्य तक ही सीमित है। इन अध्यायों के अनुशीलन से निम्न तथ्य सामने आते हैं—

(१) स्वामी जी ने एक ही शब्द के अनेक अर्थ प्रकरणानुकूल ही किये है। वेदार्थ में प्रकरण का अत्यन्त महत्त्व है। प्रकरण के द्वारा ही शब्दों के अर्थों का ठीक-ठीक निर्धारण किया जा सकता है। प्रकरण से अनभिज्ञ व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ—**जहा को ग्रस्मदीषते** (ऋग् ८।४५।३७) यहां पर पठित 'जहा' पद को ओहाक् त्यागे (जुहोत्यादि) तथा हन हिंसागत्योः (अदादि) इन दोनों धातुओं से निष्पन्न माना जा सकता है। दोनों धातुओं का अर्थ पृथक्-पृथक् है इसी आधार पर 'जहा' का अर्थ भी बदल जायेगा। इसी सूक्त के मन्त्रांश **वधीर्मा शूर भूरिषु** (८।४५।३४) को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्र ३७ में भी 'जहा' पद हन से ही निष्पन्न है। यहां ओहाक् त्यागे अभिप्रेत नहीं है। स्वामी जी ने भी प्रकरणानुकूल ही शब्दों के विविध अर्थ किये हैं। इनका स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा।

(२) यद्यपि स्वामी जी ने शतपथ, निरुक्त तथा व्याकरणादि के आधार पर ही अर्थ किये हैं किन्तु जहां इन शास्त्रों के अनुसार किसी अर्थ में वैविध्य होता है तो वहां स्वामी जी किसी एक ग्रन्थ के आधार पर अपना अर्थ कर देते हैं भले ही दूसरा ग्रन्थ उसका अनुमोदन न कर रहा हो।

(३) महर्षि वैदिक शब्दों को यौगिक मान कर चले हैं तथा इसी नियम के आधार पर उन्होंने उनके विविध अथ किये हैं जो कि लौकिक अर्थों से अनेकत्र सामञ्जस्य नहीं रखते। स्वामी जी कि यह मान्यता यास्क आदि प्राचीन आचार्यों के अनुसार ही है। **'नामान्याख्यातजानि'** कह कर निरुक्तकार ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

(४) यास्ककृत-निर्वचन अर्थविस्तार को धारण किए हुए है। यथा—गौ के पृथिवी, किरण, इन्द्रियां, गोपशु आदि अनेक अर्थ हैं क्योंकि वेद में ये सभी अर्थ गौ शब्द के हैं। महर्षि ने भी इसा शैली का आश्रय लेकर रथ, यज्ञ, तमस्, बृहस्पति आदि शब्दों के विविध अर्थ किये हैं, ऐसा आगे प्रतिपादित किया जायेगा।

(५) उवट-महीधर-सायण आदि ने मुख्यतः यज्ञपरक तथा ऐतिहासिक अर्थ करके वेदार्थ के साथ न्याय नहीं किया जबकि स्वामी जी का भाष्य इन दोषों से अछूता है।

(६) इसके अतिरिक्त इन भाष्यकारों ने अनेक वैदिक शब्दों का वही अर्थ ग्रहण कर लिया है जो कि लोक में प्रचलित है इससे दोष उत्पन्न हो गया है जबकि स्वामी जी ने निरुक्तादि के आधार पर अन्य ही अर्थ किया है जो न केवल प्रमाणानुमोदित है अपितु तर्कसंगत भी है।

(७) महर्षि की विशेषता है कि यदि कोई शब्द किसी एक ही मन्त्र में कई बार आया है तो वे उसका बार-बार एक ही अर्थ न करके प्रत्येक के अलग-अलग ही अर्थ करते हैं। यह महर्षि की सूक्ष्मेक्षिका का परिचायक है। उवट आदि ने ऐसा नहीं किया है।

(८) यजुर्वेद के १८ वें अध्याय के प्रारम्भ के १-२७ मन्त्रों में प्रत्येक पद के पश्चात् 'च' का प्रयोग किया गया है। यथा—**वाजश्च मे प्रसवश्च मे**……। महर्षि ने 'च' दोनों शब्दों का संयोजक

अथर्व० (५।१७।६) का मन्त्र है—

देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसा ये निषेदुः ।
भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥

भावार्थ—पूर्वकाल के सप्तर्षि देव जो तप से आपूत हुये थे, ब्रह्म जाया के विषय में बोले कि यह ब्राह्मण जाया (ब्रह्म विद्या) जो ब्राह्मण से पृथक् होकर किसी कुपात्र के पास चली जाती है तो वह बहुत भयङ्कर होती है। और जगत् में महान् विनाश का ताण्डव रचती है।

विद्या किसी कुपात्र के हाथ में जायेगी तो वह भयङ्कर होगी ही। जिससे जगत् का विनाश होगा। जैसे वतमान समय में विज्ञान ने प्रगति की है। लेकिन कुछ कुपात्रों के हाथों में पहुंचकर उसने मानव-जाति के विनाशकारी आणविक हथियारों का सर्जन किया जो पूरी पृथिवी के लिये भयावह और विनाश का कारण बना हुआ है। न जाने कब और कहां वह अपनी लीला कर दिखाये। वेद की यह शैलो है। इस बात को वह ऋषियों द्वारा कहला रहे हैं। जैसे पञ्चायत का फैसला पूरे समाज को मान्य होता है उसी प्रकार सप्त ऋषियों के उपदेश सम्पूर्ण जगत् के लिए ग्राह्य और कल्याणप्रद हैं। 'तपसा ये निषेदुः' पद ऋषियों की उत्कृष्टता पर प्रकाश डालते हैं। विना तप के कोई ऋषि पद को प्राप्त नहीं कर सकता। तपोनिष्ठ आप्त पुरुषों की वाणी समाज के लिये प्रमाण हो जाती है। वे जो बोलते हैं, सत्य ही बोलते हैं। जो व्यक्ति या समाज सत्य को अवहेलना करता है उसका अनिष्ट होना अवश्यम्भावी है।

अथर्व० (६।४०।१) का मन्त्र है—

सप्त ऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु ।

अर्थात्—सप्त ऋषियों की हवियों से हमें अभय प्राप्त हो।

यहां विचारणीय यह है कि सप्त ऋषियों की हवियां क्या हैं? मन्त्र के शेष तीन चरणों में कहा गया है कि द्यौ-पृथिवी हमारे लिये यहां अभयदायी हों, सूर्य-चन्द्र हमारा कल्याण करें, विस्तृत आकाश हमें अभय प्रदान करे। मन्त्र के चतुर्थ चरण में सप्त ऋषियों की हवियों से अभय की कामना की गई है। इस सम्पूर्ण प्रकरण को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि यहां सप्तर्षि से अभिप्राय वेदार्थ-द्रष्टा ऋषियों से है। अपितु सप्त ऋषि आकाश के सात नक्षत्र हैं। उनकी जो प्रकाशरश्मियां हैं, वे ही ऋषियों की हवियां हैं। सप्तऋषि तारामण्डल की रश्मियां हमारे जीवन के लिये कल्याणकारी होवें-यही मन्त्र का भाव है।

अथर्व० (७।५३।४) का मन्त्रपाठ निम्न प्रकार है—

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ।
सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥

यह दीर्घायुष्य सूक्त है। मन्त्र का भावार्थ है—इसको प्राण न छोड़े। अपान इसे त्याग कर दूर न जावे। मैं इसे सप्तर्षियों के लिये देता हूं। वे इसे जरावस्था तक सुखपूर्वक ले चलें।

सायण-भाष्य में पाठ है—अत्र ऋषिशब्देन प्राणा उच्यन्ते। सप्तसंख्याकेभ्यः प्राणेभ्यः। **सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः** (तै० ब्रा० १।२।३।३)।

मन्त्र के पूर्वार्ध में प्राण और अपान का ग्रहण किया गया है। पुनः सप्तर्षि के अर्थ में प्राणापान का ग्रहण पुनरुक्ति दोष होगा। अतः सप्तर्षि का अर्थ यहां पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि अधिक युक्तिपरक और प्रकरण के अनुकूल है। जब प्राण और अपान उत्तमता से कार्य करते हैं तब ये सातों इन्द्रियां उत्तम ही अवस्था में रहती हैं और मनुष्य दीर्घ जीवन प्राप्त करता है।

अथर्व० (८।६।७) में सप्तर्षियों को भिन्न रूप से प्रस्तुत किया गया है। इस मन्त्र में छः ऋषि एकत्रित होकर कश्यप ऋषि से प्रश्न करते हैं कि हे कश्यप! हम छः ऋषि आप से पूछते हैं। क्योंकि आप ही हमारी शङ्का का समाधान करने में सर्वथा सक्षम हैं। विराट् को ब्राह्मण का पिता कहते हैं। उसका हम मित्रों के लिये यथार्थ उपदेश कीजिये। आगे के मन्त्रों में कश्यप उनका उत्तर देते हैं कि हे ऋषियो! जिसके अवतरण होने पर यज्ञों का अवतरण हो जाता है, जिसके अवस्थित होने पर यज्ञ अवस्थित हो जाते हैं जिसकी प्रेरणा और व्रत से बन्धा यह जगत् गति करता है वह पूजनीय विराट् परम व्योम में स्थित है। ब्राह्मण जीवात्मा है। उसका पिता परमात्मा है। इस बात को मन्त्र में आख्यान का रूप देकर प्रस्तुत किया गया है। जैसे कुछ ज्ञानी पुरुष अपने किसी वरिष्ठ पुरुष से शङ्का समाधान करते हैं वैसा ही यहां सप्त ऋषियों का परस्पर शङ्का समाधान है।

आगे अथर्व (८।१०(४)।१३) का पाठ है--

सोदक्रामत् सा सप्त ऋषीनागच्छत् तां सप्त ऋषयः उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति। तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक् तां ब्रह्म च तपश्चाधोक्। तद् ब्रह्म च तपश्च सप्त ऋषय उप जीवन्ति ब्रह्मवर्चस्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥

भावार्थ—वह विराट् उठी, सप्त ऋषियों के पास गई। सप्त ऋषियों ने उसे ब्रह्मण्वती कह कर पुकारा। हे ब्रह्मण्वति! आईये। आङ्गिरस बृहस्पति ने उस विराट् को दुहा। उससे ब्रह्म और तप की प्राप्ति हुई। उस ब्रह्म और तप के आश्रय पर ऋषि-जन अपना जीवन चलाते हैं। जो इस सत्य से अवगत हो जाता है, वह ब्रह्मवर्चस्वी होकर जीवन-निर्वाह करनेवाला बन जाता है।

ऊपर इस सूक्त में कहा गया है कि इस जगत् के आरम्भ में जब विराट् प्रकट हुई तब सभी भयभीत हो गये कि यह विराट् ही सब पर छा जायेगी। फिर वह विराट् गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, सभा, समिति, अन्तरिक्ष में प्रविष्ट हो गई। देव और मनुष्यों ने उसे सम्मानपूर्वक बुलाया। उसे इन्द्र ने वत्स के सहित गायत्री रस्सी से बांध दिया। और उसका दोहन किया। पुनः वह पितरों, देवों, मनुष्यों, ऋषियों के पास जाती है। पितर ने उससे स्वधा को, देव लोगों ने ऊर्जा को, मनुष्यों ने कृषि और धान को, ऋषियों ने ज्ञान और तप को, असुरों ने माया को, गन्धर्वों ने गन्ध को, सर्पों ने विष को प्राप्त किया। जिसने जिस-जिस की कामना की, वह-वह उसे प्राप्त हुआ। यही जगत् का नियम है। जो जिसकी उपासना करता है वह उसे प्राप्त हो जाता है। इसी बात को यहां इस सूक्त में आख्यान का रूप देकर समझाया है। दूसरी बात मन्त्र से यह भी प्रकाश में आती है कि ऋषिजन को ब्रह्म और तप प्रिय होते हैं। अतः वे ब्रह्म और तप को ही अपनी जीवनचर्या का आधार बनाकर जीते हैं। इसे दूसरे शब्दों में यूं भी कह सकते हैं कि ब्रह्म (ज्ञान) और तप में विशिष्ट पुरुष ऋषि पद को प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे ही विशिष्ट पुरुषों की ओर 'सप्त ऋषयः' पदों का संकेत है।

यास्क के सामने भी यह प्रश्न आया होगा इसीलिए उन्होंने लिखा—**ईळिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा** (नि० ७।१५) पूजा तो स्पष्ट है। यह अध्येषणा क्या है, इसे महर्षि दयानन्द ने ही समझा है क्योंकि उनके पास यास्कवत् आर्षदृष्टि थी। स्वामीजी अध्येषणा का अर्थ 'सत्कारपूर्वको विनियोगः' करते हैं। अब वेद का रहस्य स्पष्ट हो गया। वेद में अग्नि की स्तुतिमन्त्र नहीं है अपितु उसके विविध कार्यों में उपयोग की शिक्षा भी वहां दी गई है। यह अग्नि विद्युत, सूर्य, यज्ञाग्नि तथा सामान्य अग्नि के रूप में अनेक प्रकार का है। महर्षि ने इसी अग्नि के विविध उपयोग अपने भाष्य में दिखलाये हैं इसलिए उन्होंने अग्नि का अर्थ सामान्य अग्नि मात्र न करके विद्युत्, यज्ञाग्नि, आत्मा, परमात्मा, विद्वान्, पुरोहित, सेनापति, राजा आदि अनेक अर्थ किये हैं। इन अर्थों में यास्क के **'अग्निरग्रणीर्भवति'** का भाव भी समाहित है। यास्क ने शाकपूणि आचार्य के अनुसार दह भस्मीकरणे धातु से भी अग्नि की व्युत्पत्ति दिखलायी है क्योंकि अग्नि दाहक भी है। इसी आधार पर यजुर्वेद १७।७६ में प्रयुक्त अग्नि का अर्थ महर्षि दयानन्द **'अग्निरिव दुःखदाहको योगी'** करते हैं। यही है यास्कीय दृष्टि तथा यही है ऋषिदृष्टि जो स्वामीजी को प्राप्त है। अन्य कुछ मन्त्रों में यह दृष्टि इस प्रकार देखी जा सकती है जहां कि स्वामी जी ने विभिन्न शब्दों के अर्थ इस प्रकार किये हैं—

(क) यजु० १७।२२ विश्वकर्मन्=अखिलोत्तमकर्मकारिन्। हविषा=हवनेनोत्तमगुणदानेन। १७।२३—विश्वकर्माणम्=अखिलेषु कर्मसु कुशलम्। १७।३३–इन्द्रः शत्रुविदारयिता सेनेशः। १७।३४ परमैश्वर्यकारकः। १७।३४–दुश्च्यवन=शत्रुओं को कष्ट प्राप्त करानेवाले। १७।३५–इन्द्रः=युद्धस्य परसामग्रीसहितः, ४०–परमैश्वर्ययुक्तः सेनापतिः शिक्षकः। १७।४८–बृहस्पतिः-बृहत्याः सभायाः सेनाया वा पालकः। १७।५६-यज्ञः-संगन्तव्यो गृहाश्रम'। देवाः-विद्यादातारः। १७।६१-रथीतमः-प्रशस्ता रथाः सुखहेतवः पदार्था विद्यन्ते यस्य। वाजानाम्=ज्ञानादिगुणयुक्तानां जीवानाम्। १७।६९-भृगुभिः=परिपक्वविज्ञानैः। १७।७२-सुपर्णः=शोभनानि पर्णानि पूर्णानि शुभलक्षणानि यस्य। गरुत्मान्=गुर्वात्मा यस्य। ज्योतिषा=न्यायप्रकाशेन। १७।८६-इन्द्रः=परमैश्वर्ययुक्तो धार्मिको राजा। १८।५५—अन्तरिक्षवद् व्याप्तः परमेश्वरः। २०।५—पुरुहूतः=पुरुभिर्विद्वद्‌भिराहूतः। १९।३४—अश्विनौ=सभासेनेशौ। २०।६३—अश्विनौ=सद्वैद्यौ। २०।६२–अश्विनौ=अध्यापकोपदेशकौ। १७।४७-तमसा=शतघ्न्याद्युत्थ धूमेन मेघपर्वताकारेण शस्त्र समूहेन वा। २०।३-श्रियै=सुशोभितायै राजलक्ष्म्यै। २०।७६ इन्द्राय=परमोत्तमव्यवहाराय।

इस प्रकार स्वामी जी ने अनेक नवीन अर्थों की उद्भावना की है किन्तु यह काल्पनिक न होकर निरुक्त-व्याकरण-ब्राह्मणादि ग्रन्थों पर ही आधारित है। यथा—उपरिलिखित सुपर्ण को पर्व पूरणे (भ्वादि०) धातु से सिद्ध किया है। इसी प्रकार इदि परमैश्वर्ये (भ्वादि०) धातु से निष्पन्न इन्द्र शब्द को राजा, सेनापति आदि सभी का वाचक माना है क्योंकि ये सभी ऐश्वर्यवान् होते हैं। भृगुभिः को भ्रस्ज पाके (तुदादि०) धातु से निष्पन्न मानकर ही इसका अर्थ परिपक्वविज्ञानैः किया है। इस प्रकार स्वामीजी द्वारा किये गये वैदिक शब्दों के अर्थ न केवल शास्त्रीय प्रमाणों से पुष्ट हैं अपितु उनमें एक ऋषि का सूक्ष्म चिन्तन भी द्योतित होता है।

अथर्ववेद में सप्तर्षि

[ले०—ब्र० बलदेव, उत्तरकाशी]

वेद की चारों संहिताओं में अनेक ऋषियों के नाम उपलब्ध होते हैं। मन्त्र के अन्दर और बाहर दोनों प्रकार से उपलभ्यमान ऋषियों में सप्तर्षियों का वर्णन भी प्राप्त होता है। सप्तर्षि कौन हैं? उनके क्या कार्य हैं? अथर्ववेद के आधार पर हम एक विवेचनात्मक अध्ययन इस लेख में प्रस्तुत करते हैं।

यो वेदानडुहो दोहान्त्सप्तानुपदस्वतः।
प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः॥ (अथर्व० ४।११।९)

भावार्थ— जो अनडुह के कभी क्षीण न होनेवाले सात दोहों को जानता है, वह प्रजा और उत्तम लोक को प्राप्त होता है। सप्त ऋषि अनडुह के उन सात दोहों को जानते हैं। (अतः उन्हें सुप्रजा और उत्तम लोक प्राप्त है)।

यहां तीन प्रश्न उपस्थित होते हैं—(१) अनडुह कौन है? (२) अनडुह के सात दोहे कौन से हैं? (३) सात ऋषि कौन-कौन हैं?

प्रथम और द्वितीय प्रश्न का उत्तर सम्बद्ध सूक्त में ही मिल जाता है। वहां कहा गया है कि अनड्वान् ने पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ और छः दिशाओं को धारण किया हुआ है। वह सम्पूर्ण लोक में प्रवेश कर व्याप्त हो रहा है। परमपिता परमात्मा के अलावा दूसरा अनडुह कौन हो सकता है। जगत् रूपी शकट (गाड़ी) को ले चलनेवाला वह परमात्मा अनडुह कहलाता है।

पय, पर्जन्य, मरुत आदि उस अनडुह के सात दोहे हैं। उनका क्रम इस प्रकार है—जल वर्षा के अधीन है, वर्षा पर्जन्य के अधीन है। पर्जन्य मरुत के अधीन है। मरुतगण यज्ञ के अधीन हैं। यज्ञ दक्षिणा के अधीन है। दक्षिणा सुकृत से बन्धी हुई है। विपरीत क्रम से चलने पर सुकृत की दक्षिणा से यज्ञ, यज्ञ से मरुत, मरुत से पर्जन्य, पर्जन्य से वर्षा और वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है। अन्न पर जीवन चलता है। यह अद्भुत सृष्टि-विज्ञान है। पुराकाल से ही इस विज्ञान को ऋषि-जन जानते रहे हैं।

तीसरा प्रश्न है—सप्त ऋषि कौन हैं, जो अनडुह के विज्ञान को जानते हैं। उत्तर स्पष्ट है कि परमात्मा की सृष्टि और उसकी वेदविद्या के सूक्ष्म द्रष्टा ही सप्त ऋषि हैं। श्रौतसूत्रानुसार सप्त ऋषियों के नाम निम्न प्रकार हैं—

विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः।
अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते सप्त ऋषयः॥ (बौ० श्रौ० ५४।१२)

ये सात ऋषि वेदार्थ-द्रष्टा के नाम से प्रसिद्ध हैं।

अथर्व० (१०।५।३९) का मन्त्रपाठ है—

सप्तऋषीन् अभ्यावर्ते। ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ।।

भावार्थ—मैं सप्त ऋषियों के अनुकूल आचरण करता हूं। वे मुझे द्रविण और ब्रह्मवर्चस् देवें।

इससे पूर्व के तथा आगे के मन्त्रों में कहा गया है कि मैं दक्षिण दिशा के सूर्य, ज्योतिष्मती दिशाओं, ब्रह्म और ब्राह्मण के अनुकूल वर्तता हूं। वे सब मुझे द्रविण और ब्रह्मवर्चस प्राप्त करावें। ब्रह्म अर्थात् परमात्मा, ब्राह्मण उस परमात्मा को जाननेवाले. ऋषि वेद ज्ञान के प्रत्यक्ष-द्रष्टा ये तीनों चेतन सत्ताएं हैं। उन्नति के अभिलाषी व्यक्ति ब्रह्म, ब्राह्मण और ऋषियों के अनुकूल वर्तता है। भौतिकरूप में सूर्य और ज्योतिष्मती दिशायें प्रकाश के प्रतीक हैं। विजय की कामना करने वाला प्रकाशमय पथों का अनुगमन करता है। उन मार्गों पर चलता हुआ वह सभी द्रव्यों और ब्रह्मवर्चस् को प्राप्त कर लेता है। अतः सप्तऋषीन् से अभिप्राय वेदार्थ के द्रष्टा सप्त ऋषियों से ही है।

सूक्त का अभिधेय पुरुष वीर रस से ओत-प्रोत है। वह दुष्टों की सेना का अकेला ही मुकाबला करने में समर्थ है। अपने शत्रु के युवा पुत्रों के भी वर्चस्, तेज, प्राण और आयु को क्षीण करता हुआ स्वयं क्षत्रिय की मान-मर्यादाओं से च्युत न हो जावे इसलिये ब्रह्म, ब्राह्मण, ऋषियों और सूर्य तथा ज्योतिष्मती दिशाओं का स्मरण करता है। उनसे प्रार्थना करता है कि वे उसे बल और ब्रह्मवर्चस प्रदान करें। कितना ऊंचा आदर्श है वेद के पुरोधा का। क्या आज संसार के किसी देश में ऐसे आदर्श सैनिक के दर्शन होते हैं?

आगे अथर्व० (१०।८।९) का मन्त्रपाठ है—

तिर्यग्बिलश्चमस उर्ध्वबुध्न तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ।।

अर्थात्—तिरछे मुखवाला और ऊपर को पेंदीवाला एक पात्र है। उसमें विश्वरूप का यश भरा हुआ है। वहीं सात ऋषि साथ-साथ बैठे हैं। वे इस महान् (आत्मा) के रक्षक हैं।

यहां मानव शरीर के शिरोभाग के लिये कहा गया है तिरछे बिलवाला और ऊपर को पेंदी वाला है इसके अन्दर नाना प्रकार का यश (ज्ञान) भरा हुआ है। सात ज्ञानेन्द्रियां (दो आंख, दो कान, दो नासिका छिद्र, एक वाणी) ये ही सात ऋषि हैं, जो एक साथ बैठे हुवे हैं। और इस शरीर की रक्षा करते हैं।

यजु० (३४।५५) में भी इसी आशय का मन्त्र आता है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिता शरीरे।

अथर्व० (११।१।१) में भी सप्त ऋषय पद आया है। मन्त्र-पाठ देखें—

अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्राह्मौदनं पचति पुत्रक मा।
सप्त ऋषयो भूतकृतस्ते त्वा मन्थन्तु प्रजया सहेह ।।

भावार्थ—हे अग्ने ! प्रज्वलित होइये। अदिति पुत्र की कामना करती हुई ब्रह्मौदन पकाना चाहती है। सप्त ऋषि प्रजा के साथ तेरा मन्थन करें। इससे आगे तीसरे मन्त्र में कहा है कि हे जातवेद ! महान् पराक्रम के हेतु ब्रह्मौदन को पकाने के लिये तू प्रकट हुआ है। सत्यधर्मा सप्त ऋषियों ने तुझे जन्म दिया है। इस अदिति के लिये तू रयि और उत्तम पुत्र दे। २४वें मन्त्र में सप्त ऋषि स्रुवे को अदिति के हाथ में देते हैं। अदिति स्रुवे में ओदन को लेकर वेदी के मध्य में छोड़ने की बात कही गई है। फिर यज्ञशेष देवों, ब्राह्मणों और ऋषियों को परोसा जाता है। इस यज्ञशेष में अनार्ष लोगों का भाग नहीं है। अग्नि, मरुत और सभी देव इस अन्न की रक्षा करें। इस ब्रह्मौदन सूक्त में अदिति के औदन पाक की यह आख्यायिका मानव जीवन के कर्त्तव्यों का उल्लेख करती है। तपसोधिजात ऋषि इस पृथिवी पर अग्नि-मन्थन कर यज्ञ रचायें। और यज्ञशेष के रूप में सभी को अपने-अपने भाग प्राप्त हों। सप्त ऋषियों के भूतकृत और तपसोधिजात विशेषण हैं। भूतकृत का अर्थ है—यथार्थ क्रिया के करनेवाले। जो विशुद्ध ज्ञान से पूर्ण हैं उनके कर्म सत्य से आपूरित होंगे ही।

अथर्व० (११।३।(१)।१) का मन्त्रपाठ देखें—

तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम्।
द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्तऋषयः प्राणापानाः॥

अर्थात्—उस औदन का बृहस्पति शिर है, ब्रह्म मुख है, द्यावापृथिवी श्रोत्र हैं और सप्त ऋषि प्राणापान हैं।

इस सूक्त में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ओदन कहा गया है। उस ओदन की एक जीवधारी के रूप में कल्पना करते हुवे बृहस्पति को उसका सिर, ब्रह्म को मुख, द्यावापृथिवी को श्रोत्र, सूर्यचन्द्रमा को आंखें तथा सप्त ऋषियों को प्राणापान कहा है। प्रकरणानुसार सप्त ऋषि, सप्त तारा मण्डल हैं। उन्हीं को प्राणापान स्थानी कहा गया है।

इसी सूक्त के आगे मन्त्र (३२) में कहा है—

ततश्चैनमन्येन शीर्ष्णा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
ज्येष्ठस्ते प्रजा मरिष्यति इत्येनमाह ॥

अर्थात्—इस ओदन का प्राशन पूर्व ऋषियों ने जिस सिर से किया है यदि उससे भिन्न सिर से तूने इसका प्राशन किया तो तेरी प्रजा ज्येष्ठ अङ्ग से मर जायेगी।

यहां 'पूर्व ऋषयः' पदद्वय वेद और सृष्टिविज्ञान के ज्ञाता पूर्व ऋषियों की ओर ही संकेत करते हैं। उन पूर्व ऋषियों ने अपने ज्ञान और तपोबल से यह जान लिया था कि इस सृष्टि का उपयोग कैसे करना चाहिये। उनके विपरीत जो इसका प्रयोग करेगा उसका अनिष्ट होना अवश्यम्भावी है। आर्षोपदिष्ट मान-मर्यादाओं के अनुरूप जीवन जीना सभी शुभफलों का देनेवाला है। यही इस सूक्त में विस्तार से बतलाया गया है।

इसी ग्यारहवें काण्ड के छठे सूक्त में पाप-मोचन की प्रार्थना है। जगत् के देवों से पाप से

छुटकारा दिलावें-ऐसा कहा गया है। वहीं सप्त ऋषियों से भी प्रार्थना की गई है कि वे मुझे पाप से छुडावें। यहां सप्त ऋषयों से तारामण्डल का ग्रहण करना चाहिये।

अथर्व० (१२।१।३९) में कहा गया है कि इस भूमि पर सात ऋषियों ने यज्ञ सत्र और तप के सहित वेदवाणियों का स्तवन किया।

यह प्रतिकल्प में होनेवाली घटना का इतिहास है। कल्प में जब सृष्टि-रचना होती है। पृथिवी पर वेदों का प्रकाश करने के लिये परमेश्वर ऋषियों को जन्म देता है। वे ऋषि ज्ञान और तपसहित वेदों का स्तवन करते हैं। इसी कारण से विद्याध्ययन कर उसके प्रचार और प्रसार द्वारा मानव ऋषि-ऋण से उऋण होता क्योंकि पृथिवी पर वेदों का अवतरण ऋषियों द्वारा ही होता है। उस विद्या की रक्षा और प्रकाश ऋषिगण करते आये हैं। विद्या में भूरिश्रमा पुरुष ऋषियों का प्रिय हो जाता है।

अथर्व० (१५।२।२२, २३, २४) में भी सप्त ऋषियों का उल्लेख है।

स उदतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनुव्यचलत्।
तं श्यैतं च नौधसं च सप्तर्षयश्च सोमश्च राजानुव्यचलत् ॥
श्यैताय च वै स नौधसाय च सप्तर्षिभ्यश्च सोमाय च राज्ञ आवृश्चते
य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥
श्यैतस्य च वै स नौधसस्य च सप्तर्षीणां च सोमस्य च राज्ञः
प्रियं धाम भवति तस्योदीच्यां दिशि ॥

भावार्थ—वह व्रात्य ऊठा और उत्तर दिशा की ओर चला। उसके साथ-साथ श्यैत, नौधस, सप्तर्षि और सोम राजा भी चलने लगे।

जो ऐसे विद्वान् व्रात्य का अपलाप करता है, वह मानो श्यैत, नौधस, सप्तर्षि और सोम राजा की हत्या करता है।

श्यैत, नौधस, सप्तर्षियों और सोम राजा की उत्तर दिशा उस व्रात्य का प्रिय धाम है।

अथर्ववेद के १४वें सूक्त के मन्त्र ७ में कहा गया है कि व्रात्य जब उत्तर दिशा में चलता है तो सोम राजा होकर चलता है और सप्त ऋषियों की दी हुई आहुतियों का भक्षण करता हुआ चलता है। या उन सप्त ऋषियों की आहुतियों को भक्षणयोग्य करता हुआ चलता है।

यहां विचारणीय यह है कि यह व्रात्य कौन है? उत्तर दिशा में अवस्थित सोम और सप्तर्षि क्या हैं?

अथर्ववेद के इसी काण्ड के १८वें सूक्त में व्रात्य स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। वहां कहा गया है कि—व्रात्य के सूर्य चन्द्रमा दो आंखें हैं। अग्नि और पवमान कान हैं। अहोरात्र नासिका हैं। दिति अदिति शीर्षकपाल हैं और संवत्सर उसका सिर है। उसके सात प्राण, सात अपान और सात व्यान हैं।

अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा, पवमान, आपः, पशवः, प्रजा ये सात प्राण हैं।

पौर्णमासी, अष्टका, अमावस्या, श्रद्धा, दीक्षा, यज्ञ, दक्षिणा ये सात अपान हैं।

भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ, नक्षत्र, ऋतव, आर्तव, संवत्सर ये सात व्यान हैं।

भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ, नक्षत्र आदि व्यान के रूप में रहकर जिस पुरुष के उदर में रहकर रसों का संचार कर रहे हों। ऐसा देव पुरुष परमेश्वर से भिन्न कौन हो सकता है। यह एक रूपक है। इस रूपक-अलङ्कार के द्वारा परमेश्वर की महत्ता का वर्णन किया गया है। श्यैत, नौधस, सप्तर्षि और सोम प्राकृतिक पदार्थ हैं। जो उत्तर दिशा में अवस्थित हैं। सप्त ऋषियों से यहां सात नक्षत्र मण्डल का ग्रहण है। उनकी रश्मियां ही उनके द्वारा दी गई आहुतियां हैं। पृथिवी के वायु मण्डल में प्रवेश से पूर्व वे सोम के परिवेश से होकर गुजरती हैं। चन्द्रमा के प्रभाव से वे रश्मियां पृथिवी के प्राणधारियों के लिये जीवनदायिनी हो जाती हैं। इसी बात को कहा गया है कि सोम राजा सप्त ऋषियों की आहुतियों को भक्षणयोग्य कर देता है।

अथर्व० (१६।१७।७) का मन्त्र-पाठ है—

विश्वकर्मा मा सप्त ऋषिभिरुदीच्या दिशः पातु।

अथर्व० (१६।१८।७) का मन्त्र है—

विश्वकर्माणं ते सप्तऋषिवन्तमृच्छन्तु। ये माघायव उदीच्या दिशोभिदासात्॥

भावार्थ—विश्वकर्मा उत्तर दिशा की ओर से मेरी सप्त ऋषियों द्वारा रक्षा करें। (ये अघायवः मा उदीच्याः दिशः अभिदासात् ते सप्तऋषिवन्तं विश्वकर्माणम् ऋच्छन्तु) जो पापात्मा मेरे ऊपर उत्तर दिशा से आक्रमण करें वे सात ऋषियों से युक्त विश्वकर्मा को प्राप्त होकर नष्ट हो जायें।

इन सभी स्थानों पर सप्तर्षि, तारामण्डल के ग्राहक हैं। उन की रश्मियां हमारे जीवन के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। विश्वकर्मा की कोई भी कृति अनर्थक नहीं है। वे रश्मियां पृथिवी पर क्या भौतिक और रासायनिक परिवर्तन करती हैं—यह विज्ञान का विषय है। यहां वेद में हमें उनकी उपयोगिता का संकेत प्राप्त होता है।

अथर्व० (१६।६।१२) तथा (१६।६।१३) में सप्त ऋषयों का उल्लेख है।

ब्रह्मा प्रजातिर्धाता लोका वेदाः सप्तऋषयोऽग्नयः तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनम्॥

यानि कानिचिच्छान्तानि लोके सप्तऋषयो विदुः।

सर्वाणि शं भवन्तु मे शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु॥

भावार्थ—महान् परमेश्वर, प्रजा का रक्षक, सबका धारणकर्त्ता, उसका बनाया हुआ लोक और वेद, वेदों के द्रष्टा सप्त ऋषि और सभी विद्वानों द्वारा बनाया हुआ मार्ग मेरे लिये कल्याणकारी होवे।

वेदार्थ-द्रष्टा सप्त ऋषि इस लोक में जिन-जिन शान्तिदायी कर्मों का उपदेश कर गये हैं वे सब मेरे लिये कल्याणकारी होवें और मैं अभय होऊं। मेरे जीवन का कल्याण हो। उपर्युक्त दोनों ही मन्त्रों में सप्त ऋषय पद वेदार्थ के द्रष्टा महर्षियों का ग्राहक है। उनके नामों का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं।

उपर्युक्त विवेचन में हम ने देखा कि सप्त ऋषय पद अथर्ववेद संहिता में अनेकार्थ में प्रयुक्त हुआ है। कहीं वह वेदार्थ के द्रष्टा तपोनिष्ठ ब्रह्मज्ञानी पुरुषों के लिये आया है, कहीं तारामण्डल के अर्थ में, कहीं सात प्राण के अर्थ में, कहीं ज्ञानेन्द्रियों के अर्थ में तो कहीं सभा-समिति के अर्थ में। ऋषि-पद परमेश्वर के अर्थ में भी अथर्ववेद (८।९।२६) में प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्म अर्थात् ज्ञान और तप के आश्रय पर ऋषि-जन जीवित रहते हैं। मेखला ऋषियों का आयुध रहा है। मेखला ब्रह्मचर्य व्रत का प्रतीक है। विना तप और ब्रह्मचर्य के कोई व्यक्ति ज्ञान की पराकाष्ठा पर नहीं पहुच सकता। तप और ब्रह्मचर्य की साधना से ऋषियों को ब्रह्मण्वती मेधा प्राप्त होती है। उसे ही ऋषिष्टुता मेधा कहा है। वह मेधा बुद्धि विद्याव्रती को ज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुंचा देता है। यही सारांश अथर्व संहिता से हमें प्राप्त होता है।

ऋग्वेद में गत्यर्थक 'ऋ' धातुओं के प्रयोग

[ले०—डा० सत्यदेव निगमालङ्कार, वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार]

वैदिक कोष निघण्टु में गत्यर्थक धातुओं में 'ऋच्छति' और 'इयर्ति' रूप पठित हैं। पाठान्तर में 'ऋ' धातु का ही रूप 'ऋणाति' भी उल्लिखित है।[१] इनमें से 'ऋच्छति' रूप निघण्टु में परिचरणार्थक धातुओं में भी आता है।[२] 'ऋच्छति' रूप भ्वादिगणी 'ऋ'गतिप्रापणयोः' से निष्पन्न होता है। 'इयर्ति' रूप जुहोत्यादिगणी 'ऋ गतौ' का है। 'ऋणाति' रूप काशकृत्स्न, क्षीरस्वामी एवं मैत्रेय के मत में ह्रस्व 'ऋ' धातु का[३] तथा सायण और भट्टोजिदीक्षित के मत में दीर्घ 'ॠ' धातु का है।[४] 'ऋच्छति' रूप तुदादिगणी 'ऋछ' धातु का भी बनता है।[५] निघण्टु में गत्यर्थक धातुओं में 'ऋणोति' रूप भी उपलब्ध होता है। यह 'ऋ' धातु को स्वादिगण में मानकर 'श्नु' विकरण करने पर भी बन सकता है और 'ऋणु गतौ' से भी। क्षीरतरङ्गिणी में क्षीरस्वामी ने उल्लेख किया है कि कुछ आचार्य 'ऋणोति' को हिंसार्थक मानते हैं।[६] ऋग्वेद में जहां इसके रूप प्रयुक्त हुए हैं वहां भाष्यकारों ने 'ऋणु' धातु मानी है। अतः हम 'ऋ' धातुओं में इसकी गणना नहीं करेंगे। ऋग्वेद की पदानुक्रमणी[७] से विदित होता है कि क्र्यादिगणी 'ऋ' या 'ॠ' धातु से निष्पन्न कोई रूप ऋग्वेद में प्रयुक्त नहीं मिलता। 'ऋच्छति' और 'इयर्ति' के रूप ही ऋग्वेद में प्रयुक्त हुए हैं। अतः नीचे हम गत्यर्थक इन्हीं दो धातुओं के ऋग्वैदिक प्रयोगों को देख रहे हैं।

१ निघ० २।१४।
२. निघ० ३।५।
३. ऋ गतौ ॥ काश० क्र्यादि० २४, क्षीर० क्र्यादि० २६, मैत्रे० क्र्यादि० २६।
४. ॠ गतौ। ऋणाति। क्र्यादि० २८ ॥ साय०, क्र्यादि १४९८, भट्टो०।
५. ऋछगतीन्द्रियमूर्तिप्रलयभावेषु ॥ तुदा० १५।
६. ऋक्षि चिरिजिरिदाशदृ हिंसायाम्। ऋणोति क्षिणोति इत्येके ॥ क्षीर० स्वादि० ३३,
७. विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर, १९६३ में प्रकाशित चतुर्वेद-वैयाकरण-पदसूची।

ऋच्छति

गत्यर्थक भ्वादिगणी 'ऋ (ऋच्छ)' धातु के ऋग्वेद में तीन प्रयोग मिलते हैं। उन पर नीचे विचार किया जा रहा है।

पराद्य देवा वृजिनं शृणन्तु प्रत्यगेनं शपथा यन्तु तृष्टाः।
वाचास्तेनं शरव ऋच्छन्तु मर्मन् विश्वस्यैतु प्रसितिं यातुधानः॥ ऋ० १०।८७।१५॥

देवता—रक्षोहाग्निः। यह दण्डविधान के सूक्त का मन्त्र है। राक्षसों या यातुधानों को दण्ड देनेवाले राजा या न्यायाधीश को कहा जा रहा है। उसी प्रसङ्ग में असत्यवादियों के लिए यह दण्डविधान किया गया है कि उनके मर्मस्थलों को बाणों या शस्त्रों से भेदा जाए। वाणी के चोर के पास मर्मस्थल में बाण पहुंचे—"वाचास्तेनं शरव ऋच्छन्तु मर्मन्"। वेङ्कट एवं सायण ने यहाँ 'ऋ (ऋच्छ)' धातु गत्यर्थक ही मानी है।[1] यहां 'ऋ' धातु को हिंसार्थक भी गृहीत किया जा सकता है। आशय होगा—'मर्मस्थल में बाण प्रहार करें'।[2]

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीदवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्। ऋ० १०।१०२।६॥

देवता—द्रुघणः, इन्द्रो वा। मुद्गल के युद्ध का प्रसङ्ग है। यास्क ने निरुक्त में ऋ० १०। १०२।९ पर यह इतिहास दिखलाया है कि मुद्गल भार्म्यश्व ने द्रुघण एवं वृषभ का प्रयोग करके युद्ध को जीत लिया था।[3] यहां द्रुवण से तो गदा अभिप्रेत है। वृषभ ऐसा कोई युद्धयन्त्र तोप आदि है जो मारक अस्त्रों की या गोलियों की वर्षा करता है। उस वृषभ या युद्धयन्त्र को गड्डे या टैङ्क पर रखा जाता है, यही वृषभ को रथ में जोतना है। उस यान का सारथि केशी अर्थात् बड़ा तेजस्वी योद्धा मुद्गल है। उसकी पत्नी मुद्गलानी युद्ध में उसका साथ दे रही है। वृषभ (युद्धयन्त्र) से निकलने या छूटनेवाले सब अस्त्र या गोलों को मुद्गलानी टैङ्क के कोषागार में भर रही है। अतः मन्त्र कहता है कि वृषभ (युद्धयन्त्र) से निकलनेवाले मारक अस्त्र या गोले मुद्गलानी को प्राप्त हो रहे थे—"ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्"। एवं 'ऋ (ऋच्छ)' धातु यहां गत्यर्थक है। वेङ्कट एवं सायण का मन्त्रार्थ भिन्न होते हुए भी 'ऋ (ऋच्छ)' धातु दोनों ने गत्यर्थक ही मानी है।[4]

---

१. वाचास्तेनं अनृतवचनम् शराः गच्छन्तु मर्मणि। वेङ्कट,
एनं यातुधानं शरवः शराः मर्मन् मर्मणि ऋच्छन्तु गच्छन्तु। सायण

२. ऋ (ऋच्छ) धातु भाष्यकारों ने क्वचित् हिंसार्थक मानी है। यथा—ऋच्छतु हिनस्तु, उवट-यजु० १३।४७, प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु प्रतिनिवृत्य पीडयतु॥ सायण, अथर्व० ४।१९।६१।

३. मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिर्वृषभञ्च द्रुघणं च युक्त्वा संग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय। निरु० ९।२३।१८॥

४. मुद्गलानीम् प्राप्नुवन्ति। वेङ्कट,
मुद्गलानीं मुद्गलस्य योषितं सारथिभूतां प्रति ऋच्छन्ति ष्म अगच्छन्नित्यर्थः। सायण

अजैष्माद्या सनाम चाभूमानागसो वयम् ।
जाग्रत्स्वप्नः संकल्पः पापो यं द्विष्मस्तं स ऋच्छतु यो नो द्वेष्टि तमृच्छतु ।।
ऋ० १०।१६४।५।।

देवता—विश्वेदेवाः । जीत गये हैं हम आज, पा लिया है प्राप्तव्य को हमने, जागते-सोते जो शुभ संकल्प हमारे अन्दर हैं, वह उस पापी के पास चला जाये (ऋच्छतु), जिससे हम द्वेष करते हैं, उसके पास चला जाये, जो हमसे द्वेष करता है । आशय यह है—शुभ संकल्प के कारण जैसे हम विजयी और निष्पाप हुए हैं, वैसे ही पापी मनुष्य भी शिव संकल्प को प्राप्त करे और विजयी हो। यहां वेङ्कट एवं सायण ने भी 'ऋ' धातु गति या प्राप्ति अर्थ में ही प्रयुक्त मानी है[1], यद्यपि उनकी अर्थयोजना कुछ भिन्न है ।

इस प्रकार 'ऋ' (ऋच्छ) धातु के ऋग्वेद में प्राप्त तीनों स्थलों में भाष्यकारों ने गति अर्थ ही लिया है । परिचरण अर्थ में इसका कोई उदाहरण हमें उपलब्ध नहीं हुआ, यद्यपि निघण्टु में परिचरणार्थक धातुओं में भी इसका पाठ है ।

इर्यति—

जुहोत्यादिगणी 'ऋ' धातु लकार-रूपों में ऋग्वेद में अट्ठारह स्थलों में प्रयुक्त हुई है । इसके रूप 'इयर्ति' और 'इयर्मि' ही प्राप्त होते हैं । भाष्यकारों ने इसे प्रायः प्रेरणार्थक गृहीत किया है। क्वचित् गति या प्राप्ति अर्थ भी मिलता है । नीचे हम ऋग्वेद के कुछ उदाहरण दे रहे हैं ।

प्रेरणा अर्थ में—

स्तोमाँ इयर्म्यभ्रियेव वातः ।। ऋ० १।११६।१।

देवता—अश्विनौ । मैं अश्वियुगल के लिए स्तोमों को प्रेरित करता हूं, (इयर्मि) जैसे वायु मेघ-समूह को प्रेरित करता है ।[2]

इयर्ति वाचमरितेव नावम् ।। ऋ० २।४२।१।।

देवता—शकुन्तः । शब्द करते हुए कपिंजल पक्षी का वर्णन है । पक्षी जिह्वा को प्रेरित कर रहा है (इयर्ति) जैसे नाविक नाव को प्रेरित करता है, खेता है ।[3]

एष ग्रावेव जरिता त इन्द्रेयर्ति वाचं बृहदाशुषाणः ।। ऋ० ५।३६।४।।

देवता—इन्द्रः । हे इन्द्र, यह स्तोता तेरे लिए स्तुतिवाणी को प्रेरित कर रहा है (इयर्ति), अर्थात् उच्चारण कर रहा है । जैसे सिलबट्टा शब्द को प्रेरित करता है ।[4]

---

१. स पापः स्वप्नः यम् वयम् द्विष्मः तम् सः ऋच्छतु यः च अस्मान् द्वेष्टि तम् ऋच्छतु इति ।। वेङ्कट
यं शत्रुं वयं द्विष्मः तम् ऋच्छतु प्राप्नोतु ।। सायण

२. इयर्तिरत्र सामर्थ्यादन्तर्णीतण्यर्थः । गमयामि । उच्चारणेन प्रेरयामीत्यर्थः । स्कन्द, स्तोमान् प्रेरयामि अभ्रसमूहान् इव वातः । वेङ्कट । स्तोमान् स्तुतीः इयर्मि संपादयामि । स्तोत्राणि इयर्मि बहुशः सम्पादयामि । सायण

३. प्रेरयति वाचः क्रमेण प्रेरयितेव नावम् अरित्रेण । वेङ्कट
कपिञ्जलः अरितेव कर्णधारः इव नावं वाचम् इयर्ति प्रेरयति । सायण

४. वाचम् प्रेरयति । वेङ्कट, हे इन्द्र, ते तुभ्यं वाचं स्तुतिम् इयर्ति प्रेरयतीत्यर्थः । सायण

इमां त इन्द्र सुष्टुतिं विप्र इयर्ति धीतिभिः ।। ऋ० ८।१२।३१।।

देवता—इन्द्रः । हे इन्द्र ! विप्र कर्मों के साथ तेरे लिए स्तुति को प्रेरित अर्थात् उच्चारित कर रहा है (इयर्ति) ।[1]

अयं विप्राय दाशुषे वाजाँ इयर्ति गोमतः ।। ऋ० १०।२५।११।।

देवता—सोमः । यह सोम दानी विप्र के लिए गौओं से युक्त अन्नों को प्रेरित करता है अर्थात् देता है (इयर्ति) ।[2]

इयर्ति धूममरुषं भरिभ्रद् ।। ऋ० १०।४५।७।।

देवता—अग्निः । आरोचमान रूप को धारण करता हुआ अग्नि धुएं को प्रेरित कर रहा है, अर्थात् ऊपर उठा रहा है (इयर्ति) ।[3]

गति अर्थ में—

वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा ।। ऋ० १।७।८।।

देवता—इन्द्रः । कमनीय गतिवाला वृषभ जैसे गोयूथों के पास जाता है, ऐसे ही कमनीय गति इन्द्र अपने ओज के साथ मनुष्यों के पास जाता है (इयर्ति) ।[4]

शुष्म इयर्ति प्रभृतो मे अद्रिः ।। ऋ० १।१६५।४।।

देवता—इन्द्रः । इन्द्र मरुतों को अपने विषय में कह रहा है। मेरा बलवान् या शत्रुओं का शोषक वज्र प्रहार किया हुआ सीधा लक्ष्य पर जाता है (इयर्ति)।[5] स्वामी दयानन्द के अनुसार मन्त्र में विद्वान् पुरुष मनुष्यों को कह रहा है कि बलवान् मेघ के समान शास्त्र-विज्ञान से भरा हुआ मेरा उपदेश सबको प्राप्त होता है (इयर्ति) ।[6]

प्रेरणा एवं गति उभय अर्थ में—

इयर्ति रेणुं मघवा समोहम् ।। ऋ० ४।१७।१३।।

देवता—इन्द्रः । इन्द्र एकत्र हुई धूल को प्रेरित करता है अर्थात् इधर-उधर बखेरता है ।[7] सायण ने यहां रेणु से पाप का ग्रहण करते हुए भाव लिया है कि इन्द्र समूहबद्ध पाप को स्तोता के

---

१. इमाम् ते इन्द्र, सुष्टुतिम् विप्रः प्रेरयति कर्मभिः । वेङ्कट । प्र इयर्ति प्रेरयति प्रगमयति । सायण,

२. इयर्ति गमयति ददातीत्यर्थः । उद्गीथ । गोमतः पशुयुक्तानि वाजान् अन्नानि इयर्ति प्रेरयति । सायण

३. उत् इयर्ति धूमम् अरुषम् आरोचनवर्णम् भरिभ्रत् अत्यर्थं धारयन् जगत् । उद्गीथ
सोऽग्रं प्रेरयति धूमम् आरोचमानं रूपं धारयन् । वेङ्कट । सोऽयमग्निः धूमम् इयर्ति प्रेरयति । साय ा

४. मनुष्यान् प्रति इयर्ति गतिकर्माऽयम् । गच्छति । स्कन्द । मनुष्यान् बलेन अभिगच्छति । वेङ्कट,
कृष्टीः मनुष्यान् इयर्ति प्राप्नोति । सायण । मनुष्यानाकर्षणादिव्यवहारान्वा इयर्ति प्राप्नोति । दयानन्द

५. मया विसृष्टः वज्रः शोषको भूत्वा गच्छति । वेङ्कट,
शुष्मः बलवान् मे मदीयः अद्रिः शत्रूणां भक्षको वज्रः प्रभृतः सन् इयर्ति गच्छत्येव लक्ष्यं प्रति, न च निवर्तते । सायण

६. हे मनुष्याः प्रभृतः शुष्मः बलवान् अद्रिः मेघ इव मे उपदेशः सर्वान् इयर्ति प्राप्नोति । दयानन्द

७. उत्क्षिपति प्रेरयति च सङ्ग्रामोत्थम् रेणुम् समूह्य । वेङ्कट

पास से प्रेरित करता है अर्थात् दूर कर देता है।[1] स्वामी दयानन्द यहां 'ऋ' धातु को प्राप्त्यर्थक मानते हैं, रेणु का अर्थ 'अपराध' लेते हैं। जो मनुष्य सुगूढ़ अपराध को प्राप्त करता है (इयर्ति) उसे हे राजन्, आप शिक्षा दीजिये।[2]

वरिष्ठो अस्य दक्षिणामियर्तीन्द्रो मघोनां तुविकूर्मितमः ।। ऋ० ६।३७।४।।

देवता—इन्द्रः। यहां स्कन्द 'ऋ' धातु गत्यर्थक मानते हैं। हविरूप धन के धनी यजमानों पर बहुत अनुग्रहों का कर्ता वरिष्ठ इन्द्र अपने लिए होनेवाले दक्षिणायुक्त याग में जाता है (इयर्ति)।[3] स्कन्द ने 'अस्य' पद को इन्द्र के लिए हो लिया है। किन्तु सायण 'अस्य' से यजमान का ग्रहण करते हुए यहां 'ऋ' धातु प्रेरणार्थक लेते हैं। वरिष्ठ इन्द्र यजमान की दक्षिणा को प्रेरित करता है (इयर्ति)।[4]

ऋतादियर्मि ते धियं मनोयुजम् ।। ऋ० ८।३।२६।।

देवता—इन्द्रः। हे इन्द्र, सत्याचरण से मैं तेरे लिए मनोयुक्त बुद्धि या स्तोत्र को प्रेरित कर रहा हूं (इयर्मि)।[5] सायण यहां 'ऋ' धातु प्राप्त्यर्थक मानते हैं। हे इन्द्र ! मैं तेरी अनुग्रहबुद्धि को प्राप्त करता हूं।[6]

इस प्रकार ऋग्वेद में आये जुहोत्यादिगणी 'ऋ' धातु के प्रयोगों पर दृष्टिपात करने से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यह धातु कहीं केवल प्रेरणा अर्थ को देती है, जिससे देना, उच्चारण करना, ऊपर उठाना आदि आशय सूचित होते हैं, कहीं केवल गति या प्राप्ति अर्थ को देती है, कहीं प्रेरणा एवं गति दोनों अर्थ सम्भव हैं।

गत्यर्थक 'ऋ' धातु से बने शब्द अरि, अरुस्, अरण्य, अरुण, अरणि, अर्य, ऋत, ऋति, ऋण आदि वेदों में प्रयुक्त मिलते हैं।।

★ अपने विचारों पर नियन्त्रण रक्खो क्योंकि विचारों से शब्द बनते हैं। अपने शब्दों पर नियन्त्रण रक्खो, क्योंकि शब्दों से कर्म बनते हैं, अपने कर्मों पर नियन्त्रण रखो क्योंकि कर्मों से स्वभाव बनता है, अपने स्वभाव पर नियन्त्रण रखो क्योंकि इससे संस्कार बनते हैं, अपने संस्कारों पर नियन्त्रण रखो क्योंकि इनसे प्रारब्ध बनता है।

---

१. मघवा इन्द्रः समोहं रुमूढं रेणुं पापम् इयर्ति स्तोतुः सकाशात् प्रेरयति। सायण

२ समोहं सम्यग् गूढं रेणुम् अपराधम् इयर्ति प्राप्नोति तं त्वं शिक्षय। दयानन्द

३. इयर्ति गच्छति। स्कन्द

४. अस्य यजमानस्य दक्षिणां यज्ञे दातव्याम् इयर्ति प्रेरयति। सायण

५. सत्यादेव प्रेरयामि तव मनोयुजम् स्तोत्रमिति। वेङ्कट

६. ते त्वदीयां धियम् अनुग्रहबुद्धिम् इयर्मि प्राप्नोमि। सायण

अग्नि विद्वान् है

[ले०—डा० कृष्ण लाल, आचार्य—संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली]

अग्नि वेदों का बहुस्तुत देव है। सायणप्रभृति विद्वान् प्रायः कर्मकाण्ड से सम्बन्ध जोड़कर इसे या तो भौतिक अग्नि (यज्ञाग्नि, जंगल की आग आदि) अथवा आधिदैविक अग्नि बताते हैं। परन्तु इसकी सार्वत्रिक संगति नहीं है। **"अयं कविरकविषु प्रचेता मर्त्येष्वग्निरमृतो निधायि"** (ऋ० ७।४।४) जैसे उल्लेखों में स्पष्ट ही अग्नि का आध्यात्मिक परमेश्वर-परक रूप प्रकट होता है। श्री अरविन्द भी इसकी पुष्टि करते हैं।[1]

इस विषय में ऋग्वेद दशम मण्डल का तिरेपनवां सूक्त विशेषरूप से द्रष्टव्य है जहां स्पष्ट-रूप से अग्नि को विद्वान् कहा गया है। प्रथम मन्त्र में ही कहा गया है कि—जिसे हम मन से (यज्ञ-सम्पादन हेतु) चाहते थे, वह यह यज्ञ का विद्वान् तथा उसको पूर्ण करनेवाले अंगों का ज्ञाता (यहां) आया है। वह पूज्य देव (दिव्यगुण) प्राप्ति रूप यज्ञ में हमसे यज्ञ करवाये। वह हमसे पहले (यज्ञ में) बैठे। क्योंकि वही उचित निर्देश देकर सुचारुरूप से यज्ञ करवायेगा।[2]

स्पष्टरूप से यहां पुरोहित को विद्वान् कहा गया है। यह विद्वान् एक ओर आध्यात्मिक यज्ञ के प्रति संकेत करता है जो निरन्तर हमारे जीवन में चलता रहता है, जिससे हम अन्धकार को छोड़कर ज्ञान और शक्ति को प्राप्त करते हैं, और दूसरी ओर इससे यज्ञ की वैज्ञानिकता अभि-प्रेत है। वह विद्वान् पहले ही आकर बैठता है, सब व्यवस्था का निरीक्षण करता है और सब उपस्थित जनों को यज्ञ का मर्म समझाता है। इस कारण वह सम्माननीय है, पूज्य है। उसके बैठने के प्रकार से, उसके बोलने की विधि से उपस्थित जन सभा में बैठना और सभ्य रूप में बोलना सीखते हैं।

उसी विद्वान् के विषय में आगे कहा गया है कि उसने आज देवों (दिव्य गुणों) की प्राप्ति को सुष्ठु रूप में सम्पन्न कर दिया है और (उसके कारण हमने यज्ञ की गुप्त जिह्वा को जान लिया है (प्राप्त कर लिया है)। वह विद्वान् (स्वास्थ्य के नियमों का पालन करता हुआ) आयु को धारण किये हुए (अपने गुणों को) सुगन्ध के समान फैलाता हुआ आज हमारी देवहूति (दिव्यगुणों अथवा विद्वानों के आह्वान) को हमारे लिये कल्याणकारी बना रहा है।[3]

---

१. क्षणिकानृतस्य मध्ये सोऽग्निदेव एव चिरन्तनसत्यस्य रक्षकः, अज्ञानावरणस्यान्तरेऽग्निरेव तस्य भगवतः सनातननिष्कलङ्कशुद्धता, जाड्यदौर्बल्ययोर्मलिनवेगेऽग्निरेव तस्य सर्वक्षमा, सर्ववाहिका, सुविशारदा च क्रिया-शक्तिः। अग्निमन्त्रमाला, पृष्ठ ३६७

२. यमैच्छाम मनसा सोऽयमागाद्यज्ञस्य विद्वान् परुषश्चिकित्वान्।
स नो यक्षद् देवताता यजीयान्नि हि षत्सदन्तरः पूर्वो अस्मत्॥

३. साध्वीमकर्देववीतिं नो अद्य यज्ञस्य जिह्वामविदाम गुह्याम्।
स आयुरागात्सुरभिर्वसानो भद्रामकर्देवहूतिं नो अद्य॥ ऋ० १०।५३।३॥

वह विद्वान् दिव्य गुणों की प्राप्ति को कैसे सुविधाजनक बनाता है—इसका सूत्र मन्त्र में **"यज्ञस्य जिह्वामविदाम गुह्याम्"** शब्दों में दिया गया है। वह यज्ञ की गुप्त जिह्वा (वाणी) का ज्ञान कराता है। यज्ञ की जिह्वा है क्या? आधिभौतिक दृष्टि से हवन करते समय अग्नि की जो लपटें उठती हैं वे ही यज्ञ की जिह्वायें हैं। विद्वान् उनका रहस्य बताता है कि हवन में प्रयुक्त सामग्री से वे कैसे उठती हैं और कैसे सामग्री को ग्रहण करके उसे सूक्ष्म रूप में परिणत कर समस्त वायुमण्डल में फलाती हैं। आध्यात्मिक रूप में जिह्वा वाणी है जो शब्द को ग्रहण भी करती है और निकालती भी है (हु दानादनयोः), निघण्टु (१।११) में भी जिह्वा वाणी (वाक्) के नामों में पठित है। यास्क (निरु० ५।२६) ने भी जिह्वा का निर्वचन हु धातु से किया है—जिह्वा जोहुवा अर्थात् वह वाणी जिस से मनुष्य शब्दों का उच्चारण करता है अथवा अन्न को ग्रहण करता है।[1] यह वाणी ही वेद-मन्त्रों के रूप में यज्ञ में उच्चारित होती है। विद्वान् उस मन्त्रमयी वाणी का गूढ़ ज्ञान कराता है कि किस प्रकार मन्त्र-ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान करा कर अपार शान्ति प्रदान करते हैं। मन्त्रों का गूढार्थ समझा कर विद्वान् व्यक्ति को परम तत्त्व के निकट ले जाता है। इस प्रकार वह विद्वान् जीवन के रहस्य को समझकर दीर्घायु होता है और सर्वत्र अपने ज्ञान की, प्रेम की सुगन्ध फैलाता है और दिव्यगुण सबको प्राप्त करा कर सबका कल्याण करता है।

जो हवन किया जा रहा है वह सबके कल्याणार्थ है। पंचजन अर्थात् चारों मुख्य दिशाओं के और मध्य दिशा के लोग उस यज्ञ के फल का उपभोग करें।[2]

पंचजन का अर्थ बहुत व्यापक है क्योंकि इससे पृथ्वी पर उत्पन्न सभी प्राणी अभिप्रेत है। यज्ञ सबके कल्याणार्थ होता है। इसके अतिरिक्त जो भी यज्ञयोग्य पृथ्वी, जल, वायु आदि तत्त्व हैं उन सबके शोधन के निमित्त भी यज्ञ होता है। इसीलिये पर्यावरण को ध्यान में रखकर प्रार्थना की गई है कि पृथ्वी पार्थिव दोषों से और अन्तरिक्ष द्युलोक के दोषों से हमारी रक्षा करे।[3] यज्ञ का यह विज्ञान विद्वान् ही सब को समझाता है।

सूक्त का षष्ठ मन्त्र बहुप्रचारित मन्त्र है। इसमें विद्वान् यजमान को जीवन का साररूप उपदेश देता हुआ कहता है कि "तू शुभ कर्मों, यज्ञादि के सूत्र का विस्तार करता हुआ सारे लोक के प्रकाशक (परमेश्वर) का अनुसरण कर। इसके लिये तू बुद्धि से निष्पादित ज्योतिष्मान् मार्गों की रक्षा कर। स्तुति-गान करनेवाले विद्वानों के उलझनरहित कर्म स्वरूप वस्त्र को बुन। तू मनु अर्थात् मननशील मनुष्य बन, अपने को, सन्तान को तथा समाज के अन्य लोगों को दिव्यगुण सम्पन्न बना"।[4]

---

१. जुहोति शब्दमन्नं वा यया सा जिह्वा (दुर्ग)।

२. पंच जना मम होत्रं जुषध्वम्। ऋ० १०।५३।४॥

३. पंच जना मम होत्रं जुषन्तां गोजाता उत ये यज्ञियासः।
पृथिवी नः पार्थिवात् पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात् पात्वस्मान्॥ ऋ० १०।५३।५॥

४. तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनय दैव्यं जनम्॥ ऋ० १०।५३।६॥

इस मन्त्र में विद्वान् सूत्ररूप में वैदिक मानववाद का सार बता रहा है। मनुष्य का लक्ष्य देवश्रेणी में पहुंचना है। और देव क्या है? देव वह है जो दान दे, जो अपने ज्ञान से तेजस्वी हो और दूसरों को भी तेजस्वी बनाये। देव त्यागी है, देव ऊपर उठा हुआ उदार है। ये श्रेष्ठ मानवता के गुण हैं। इसीलिये देवत्व तक पहुंचने से पहले मननशील मनुष्य बनने की प्रेरणा दी गई है—मनुर्भव। मानवता से युक्त मनुष्य वह है जो केवल अपने शारीरिक सुखों से ऊपर उठकर, पशुवृत्ति त्याग कर सोचता है—सबके लिये सोचता है, सबके सुखदुःख का चिन्तन करता है। त्याग करने को तत्पर रहता है। यह मार्ग अकर्मण्यता का मार्ग नहीं है। यह कर्म का मार्ग है—ऐसा कर्म जो निष्काम हो, जिसमें अपने पराये की उलझन नहीं। ऐसा ही मार्ग तो विद्वान् सदा बताते आये हैं। यह मार्ग मानवतावादी बुद्धि से बनता है और यही ज्योति का, प्रकाश का मार्ग है। यही देवमार्ग है क्योंकि देवता अथवा विद्वान्[1] पदार्थों के केवल प्रत्यक्ष रूप को नहीं देखता, उसे तो परोक्ष प्रिय होता है।[2] वह सम्पूर्ण मानवजाति को गहराई से देखता है, उसमें विद्यमान समान सूत्र को देखता है, उसके रंग-रूप, जाति-देश आदि के भेद तक स्वार्थ को सीमित नहीं करता। वह सर्वव्यापी भावना तो लोकमात्र की प्रकाशक है। अपने जीवनसूत्र का यज्ञ-कर्मों द्वारा विस्तार जब मनुष्य समष्टि में करता है तभी वह अपने गन्तव्य परम लक्ष्य तक पहुंच सकता है। मननशील, कर्मयुक्त, उलझनरहित, तेजस्वी उत्कृष्ट निःस्वार्थ भावना से युक्त मानवता ही देवत्व है। वही मानवता का लक्ष्य है। अपने भीतर विद्यमान उसी देवत्व को हमें उत्पन्न करना है, उसी को जगाना है। यही वेद का सन्देश है।

नेतृत्व करनेवाले अग्निसंज्ञक विद्वान् के माध्यम से वेद आगे मनुष्यों को कर्म करने की प्रेरणा देता है, गति की, चलते रहने की प्रेरणा देता है। रथ खड़ा न रहे, उसके घोड़े जुते रहें, लगामें बन्धी रहें और सब ओर वह रथ यथेष्ट गति से चलकर अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करता रहे।[3]

अगले मन्त्र में उक्त विद्वान् फिर सबको प्रेरित तथा सावधान करता हुआ कहता है कि यह जीवन—"नदी बाधाओं रूपी पत्थरों से युक्त है और निरन्तर प्रवाहशील है। उसको पार करने के लिये उद्योग करो, उठो और उसे पार करो मेरे मित्रो! यह ध्यान रखो कि जो सुख देनेवाले नहीं है उन्हें यहीं छोड़ देना है जिससे कि हम पार करके कल्याणकर गति को प्राप्त करें"।[4]

यह मन्त्र विद्वानों को सुविदित है। इस में जीवन का चिरन्तन सत्य उद्घाटित हुआ है। जीवन एक पाषाणों वाली नदी के समान है जिसका प्रवाह अनेक प्रकार की बाधाओं से बाधित होता रहता है। परन्तु विद्वान् साहसी व्यक्ति उससे विचलित हुए बिना उन बाधाओं को सहने और उन्हें पार करने को उद्यत रहते हैं। वे मित्र-भाव से व्यवहार करते हैं—अपने समवयस्कों से छोटों

---

१. विद्वांसो देवाः। श०ब्रा०

२. परोक्षप्रिया इव हि देवाः। श०ब्रा०

३. अक्षानहो नह्यतनोत सोम्या इष्कृणुध्वं रशना ओत पिंशत।
अष्टावन्धुरं वहताभितो रथं येन देवासो अनयन्नभि प्रियम्॥ ऋ० १०।५३।७॥

४. अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥ ऋ० १०।५३।८॥

से, ऊंच-नीच का भेद नहीं करते। गुरुओं, विद्वानों, पूर्वजों का आदर करते हैं जिससे वे उनके प्रति मित्रवत् व्यवहार करते हैं। परमेश्वर भी उनका मित्र होता है। वे दुःखदायी बुराइयों, दोषों और दुष्टों को छोड़, सज्जनों की संगति में अपना मार्ग बनाते हैं जिससे कल्याणमयी गति और शक्ति प्राप्त हो। जीवन नदियों की बाधाओं को पार करने का एकमात्र उपाय यही है।

आगे चलकर वह विद्वान् बताता है कि परमेश्वर ही त्वष्टा अर्थात् सब रूपों को घड़नेवाला तथा ब्रह्मणस्पति (मन्त्रज्ञान का रक्षक) है, वह एतश है अर्थात् सर्वत्र पहुंचा हुआ है। दोषों को काटने के लिये पैनी धार वाला कुल्हाड़ा भी उसके पास है।[1] वस्तुतः उसकी आसक्ति ही वह परशु है जिससे सब दोषों को काटा जा सकता है।

अग्नि विद्वान् है—यह बात सूक्त के दसवें मन्त्र में भी बहुत स्पष्ट रूप से उभर कर आई है। इस मन्त्र की व्याख्या के अन्त में सायण ने भी टिप्पणी की है कि इस प्रकार से (आचार्य अथवा विद्वान्) अपने शिष्यों को कहता है।[2] परन्तु पूर्ण मन्त्र के भाव से स्पष्ट है कि यह वचन केवल किसी आचार्य का अपने शिष्यों के प्रति नहीं है अपितु विद्वान् का जनसामान्य के लिये है जैसा कि ऊपर मन्त्रों में हम देख चुके हैं। यह समाज के सज्जनों (सतः) को सम्बोधित है जिनसे विद्वान् का निवेदन है कि 'आप मननशील मनु होकर कवि, क्रान्तदर्शी हो गये हैं। आप सब पदार्थों और प्राणियों को गम्भीरता से, गहराई से देखते हैं, आप अपनी बुद्धियों को और तीक्ष्ण करिये जिससे कि आप अपनी वाणियों से[3] अपने जीवन को अमृतत्त्व के लिये घड़ लें। हे विद्वानों, आप अपने लिये ऐसे रहस्यमय स्थान (वेद-विद्या द्वारा) बनाइये जिनसे देवों (विद्वानों) ने पहले अमृतत्व प्राप्त किया था।'' ये स्थान रहस्यमय इसलिये हैं क्योंकि अन्य सामान्य जनों को इनका ज्ञान नहीं होता।

इस सूक्त का अन्तिम मन्त्र अत्यन्त रहस्यमय है। यह रहस्यमय वाणी किसी अत्यन्त विद्वान् व्यक्ति की हो सकती है। इससे भी अग्नि का विद्वान् होना ही लक्षित होता है। मन्त्र का शब्दार्थ है—''गर्भ में स्त्री (योषा) को स्थापित किया, मुख में उसके पुत्र को तथा पूर्णतया समर्पित मन से, जिह्वा से (उसे स्थापित किया)। संविभागशील वह क्रियाशील (विद्वान्), शोभन मनवाला निरन्तर योग्य (क्रियाओं) को ग्रहण करता है और विजय प्राप्त करता है।[4]

सायणभाष्य के अनुसार मन्त्रार्थ निम्नलिखित होगा—

''उन मरुतों ने मृत गाय के मध्य (खाल में) मृत गौ की सम्बन्धिनी खाल में किसी अन्य गाय को रखा और मृत गाय के मुख में बछड़े को रखा। उन्होंने देवत्व की आकांक्षा करते हुए मन

---

१. त्वष्टा माया वेदपसामपस्तमो बिभ्रत्पात्रा देवपानानि शंतमा।
शिशीते नूनं परशुं स्वायसं येन वृश्चादेतशो ब्रह्मणस्पतिः॥ ऋ० १०।५३।९॥

२. एवं स्वशिष्यानाह।

३. वाशीभिः अश्ममयीभिरिति वा वाग्भिरिति वा। निरुक्त ४।१९॥

४. गर्भे योषामदधुर्वत्समासन्यपीच्येन मनसोत जिह्वया।
स विश्वाहा सुमना योग्या अभि सिषासनिर्वनते कार इज्जितिम्॥ ऋ० १०।५३।११॥

से और जिह्वा से रखा अथवा जिह्वा से युक्त गाय को रखा। संभजनशील वह ऋभुगण प्रतिदिन अपने योग्य स्तुतियों को बांटता है (उच्चारित करता है)। वह ऋभुगण शत्रु विजय करनेवाला ही है।"[1]

मन्त्र में दो शब्द योषा और जिह्वा विशेष ध्यान देने योग्य हैं। यास्क ने योषा का निर्वचन यु (मिश्रण और पृथक् होना) धातु से किया है—योषा यौतेः (निरु० ३।१५) पूर्ववर्ती साहित्य में योषा का अर्थ प्रायः वाणी बताया गया है। उदाहरणार्थ श० ब्रा० ३।२।१।१९, २२) में कहा गया है **"योषा वा इयं वाक्"** तथा श०ब्रा० १।४।४।४ में भी **"योषा हि वाक्"**। जै० उ० ४।२२।११ में वचन है **"वागिति स्त्री** [योषा]"। जिह्वा निघण्टु (१।११) में वाणी के नामों में पठित है। निरुक्त ५।२६ में जिह्वा का निर्वचन जोहुवा दिया गया है। तदनुसार वाणी-रूप में जिह्वा शब्दों के उच्चारण के रूप में देती है (अपने पास **से** शब्दों को निकालती है)।

विद्वान् बुद्धिरूपी गर्भ में वाणी को धारण करते हैं। यहां वाणी का परा-रूप अव्यक्त बुद्धिस्थितरूप संकेतित है। उस वाणी का शिशु, बछड़ा उसका प्रकट रूप मुख में है। अपीच्य अर्थात् निश्चित लक्ष्य से युक्त मन **से** वही पहले पश्यन्तीरूप में अनुच्चरित होकर फिर मध्यमारूप में हृदय को झंकृत करती हुई वह उच्चारित होकर जिह्वा के द्वारा वैखरी-रूप में प्रकट होती है। सबको सुनाई देती है। शोभन मनवाला विद्वान् सर्वदा अपने **अनु**रूप वाणी को प्राप्त कर, उसका यथोचित उच्चारण कर उचित कार्यों का कर्ता होकर (जीवन-संग्राम में) विजयी होता है।

यद्यपि सायण ने अपनी व्याख्या की पुष्टि में **"निश्चर्मणो गामरिणीत"** (ऋ० १।११०।८) मन्त्रांश उद्धृत किया है, किन्तु उससे सायण की व्याख्या की पुष्टि नहीं होती क्योंकि उसका तर्कसङ्गत अर्थ है—"हे शोभन स्थानवाले मनुष्यो, तुमने अपने कौशल से केवल धर्ममात्र से हृष्ट पुष्ट गौ प्राप्त की"।

☀ जितना अधिक हम अध्ययन करते हैं उतना ही अधिक ज्ञान आता है किन्तु जब किसी परीक्षा की कसौटी पर कस जाते हैं तब पता चलता है कि हम कितने अल्प ज्ञानी हैं।

---

१. ते मरुतः गर्भे मृतायाः गोर्मध्ये ग्राहके चर्मणि मृतायाः गोः सम्बन्धिनीं योषां काञ्चिद् गां धारितवन्तः। तथा आसनि मृतायाः आस्ये वत्सम् अदधुः केन साधनेन अपीच्येन मनसा देवत्वमाकांक्षता उत अपि च जिह्वया जिह्वावदायतया वाश्येत्यर्थः। यद्वा जिह्वया युक्तां योषामिति सम्बन्धः। सिषासनिः संभजनशीलः स ऋभुसंघः विश्वाहा सर्वेष्वहःसु सर्वदा योग्याः स्वोचिताः सुमनाः स्तुतीः अभि वनते। स च संघः जिति शत्रुजयं कामं कार इत् कर्तैव, शत्रुजयकर्तैव।

यज्ञ से कृषि को लाभ

[ले०—डा० उर्वी, प्रवक्ता संस्कृत—श्री वेङ्कटेश्वर महाविद्यालय धौला कुंआ, नई दिल्ली]

भारत एक कृषिप्रधान देश है। यहां कृषि से लगभग ७० प्रतिशत जनता को आजीविका प्राप्त होती है तथा इसके कुल भौगोलिक क्षेत्रफल (३२.६८ करोड़ हेक्टेयर भूमि) के लगभग ४५% भू-भाग (१३.६८ करोड़ हेक्टेयर भूमि) में कृषि होती है (भूगोल पृष्ठ ४१३)। इसी कृषि से अन्न की उत्पत्ति होती है जो मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकताओं में से एक है। अन्न ही प्राणियों का प्राण है।[1] प्राणों के संरक्षण के लिए कृषि कर्म को हम जितना अधिक विद्या, विज्ञान, विवेक और पुरुषार्थ के साथ करेंगे उतना ही अधिक और उत्तम अन्न-उत्पत्ति का लाभ प्राप्त कर सकेंगे। वेद कहता है कि हम उत्तम अन्नों की कृषि करें एवं करायें।[2] यहां तक कि काम न करनेवाले जुआरियों को भी कहा गया है कि हे जुआरियो! जुआ मत खेलो, कृषि करो।[3] कृषि कार्य करनेवाले को विद्वान्, योग्य, गम्भीर, विचार गुणयुक्त होना चाहिये।" हल चलानेवाले को कवि (क्रान्तदर्शी), भविष्य-ज्ञाता, दूरदर्शी, धीर, बुद्धिमान् तथा कृषि-विद्या को जाननेवाला कहा गया है।[4]

दरिद्रता के नाश करनेवाले सर्वप्रथम व्यवसाय खेती के लिए वेद कहता है कि खेत के स्वामी के हित के लिए हम गाय, घोड़े और पोषक पदार्थ देते हैं, उसी प्रकार यह किसान भी हमें सुख प्रदान करे।[5] हे कृषक! धनपति! आप गो-दुग्ध की भांति मीठा पवित्र जल, दूध और शुद्ध अन्न हम सब में वितरित कीजिये।[6] सभी कुछ शुद्ध हो इसके लिये यह आवश्यक है कि इन वस्तुओं के लिये सभी साधन अनुकूल हों अर्थात् उत्तम औषधियां, द्युलोक, जल और अन्तरिक्ष अनुकूल रहें, जिससे क्षेत्रपति हमारे लिए मधुर हो सके और सज्जन उसके अनुकूल रहें।[7] सभी कुछ अनुकूल रहेगा तो एक स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण होगा। कृषि के लिये आवश्यक सभी साधन उत्तम कोटि के हों जिससे वे उत्तम अन्न प्रदान कर सकें। बैल, मजदूर, हल के अङ्ग, रस्सी आदि सब सुखकारी हों और खेती के अन्य अवयव भी सुखकारी होकर चलाये जायें।[8] खेती उत्तम प्रकार से सम्पादित

---

१. अन्नं ह प्राणः। ऐ० ब्रा० १।१७।५। २. सुसस्याः कृषीस्कृधि। यजु० ४।१०।

३. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व। ऋ० अक्षसूक्त १०।३४।१३।

४. सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नया॥ यजु० १२।६७।

५. क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि।
गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृळातीदृशे॥ ऋ० ४।५७।१।

६. क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु॥ ऋ० ४।५७।२।

७. मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम्।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम॥

८. शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय॥ ऋ० ४।५७।३,४।

होगी तो वह उत्तम अन्न भी देगी अतः भूमि जोतने के साधन फाल से प्रार्थना की जाती है कि—हे सौभाग्यवती फाल ! नीचे की ओर चलनेवाली हो। जैसे तू हमारे लिये सौभाग्य देनेवाली और सुफला हो, वैसे ही हम तेरी याचना करते हैं।[1] हमें सुख देनेवाली फाल हमारी भूमि को जोते, हमारा जोतनेवाला बैलों से सुख प्राप्त करे, वर्षा उत्तम जलों से तृप्त कर दे और खेतो हम लोगों में सुख धारण करे।[2]

वेदों में खेती के वर्णन में अनेक प्रकार के अन्नों के नाम भी आये हैं, जिन्हें यज्ञ द्वारा समृद्ध करने के लिये कहा गया है—

व्रीहयश्चमे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽण-वश्चमे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।।[3]

अर्थात् हमारे सभी प्रकार के अन्न यज्ञों द्वारा सम्पन्न होने चाहिये।

कृषि-भूमि को संस्कारित करने के लिए आजकल हलों तथा ट्रैक्टरों के विशेष प्रयोग होते रहते हैं। हलों के प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से होते चले आ रहे हैं। वेदों में कहा गया है कि अच्छे-अच्छे फालयुक्त हल भूमि को सुखपूर्वक जोतें।[4] तत्पश्चात् हलों द्वारा जोती गई भूमि को विशेषरूप से संस्कारित करने के लिये वेद ने पुनः एक अद्भुत एवं उत्तम मार्ग बताया है कि पाटले को घी, मधु, पराक्रम देनेवाले दूध व जलादि से संयुक्त करना चाहिये।[5] इससे पाटले के घृत, मधु, दुग्धादि के अंश को रगड़ पार्थिव कणों से होगी जिससे उनका सूक्ष्म अंश मिट्टी में प्रविष्ट होकर पृथिवी में बल, माधुर्यादि प्रदान करने के गुणों की वृद्धि होगी। पृथ्वी के संस्कारों का प्रभाव उसकी उपज पर भी स्वभावतः पड़ेगा। यजुर्वेद में भी कहा गया है कि हे यज्ञाग्नि ! अपने आपको देदीप्यमान करते हुए तुम दीप्तिमान को सौ वर्षों तक हम प्रज्वलित करते रहें। अन्नवान् या दीर्घायु हम अन्न और दीर्घायुष्य को प्रदान करनेवाले बला एवं बलोत्पादक तुझे और अपराजित हम अपराजय एवं रोग तथा कामादि शत्रुओं के विजेता तुझे प्रज्वलित करते हैं।[6]

वेद में भूमि-संस्कार का सरल उपाय 'यज्ञ' बताया गया है। यहां यह कथित है कि यज्ञ के माध्यम से पृथिवी को सामर्थ्यवान् बनाना चाहिए।[7] जिस स्थान पर कृषि करनी हो वहां नित्य प्रातः एवं सायं काल में किया हुआ यज्ञ उस समय बहनेवाली वायु में मिलकर पृथिवी का स्पर्श

१. अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा।
यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि॥ ऋ० ४।५७।६॥

२. शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्॥ ऋ० ४।५७।८।

३. यजु० १८।१२

४. शुनं सुफाला वि कृषन्तु भूमिम्। यजु० १२।६९।

५. घृतेन सीता मधुना समज्यताम्। यजु० १२।७०।

६. इन्धानास्त्वा शतं हि मा द्युमन्तं समिधीमहि। वयस्वन्तो वयस्कृतं सहस्वन्तः सहस्कृतम्।
अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासो अदाभ्यम्॥ यजु० ३।१८

७. पृथिवीं च मे यज्ञेन कल्पताम्। यजु० १८।१२

करता हुआ पार्थिव कणों को सुगन्धित, पुष्टिकारक और रोगनाशक पदार्थों की आहुतियों के धूम से संस्कारित करेगा, क्योंकि यज्ञीय मन्त्र कहता है कि यह यज्ञाग्नि ! प्रत्येक प्रातःकाल और सायं काल हमें आरोग्य आनन्द तथा ऐश्वर्य देनेवाला है ।[1] प्रातःकाल पृथिवी की ऊपरी परत में आर्द्रता रहती है और उस समय की वायु की गति पृथिवी की कक्षा के अनुसार होती है। अतः उसका घर्षण उसकी ऊपरी भाग पर होने से आर्द्रता के कारण यज्ञ-धूम का उसमें विलीनीकरण या अवधारणा विशेषरूप से होगी। इस प्रकार अनायास ही यज्ञ के माध्यम से कृषि-भूमि उत्तरोत्तर संस्कारित होती जायेगी। इस संस्कारित भूमि में जो अन्न उत्पन्न होगा, वह भी उत्तम, आरोग्यप्रद तथा अधिक मात्रा में होगा। हे मनुष्यो ! मैं यज्ञ का विस्तार करता हूं[2] यह यज्ञ कैसा है (इस विषय में बताया जा रहा है) जिस प्रकार जल से उत्तम औषधियां उत्पन्न होती हैं, औषधियां रोगों का नाश करती हैं उसी प्रकार हम मनुष्यों को भी उत्तम संस्कारयुक्त विद्वानों से मेल करना चाहिये जिससे राष्ट्र की उन्नति हो, यज्ञ का विस्तार हो, यज्ञ से वायु एवं वर्षाजल की शुद्धि हो।

यज्ञ से वनस्पतियों को लाभ तथा भूमि में उत्पादन-वृद्धि—

यज्ञाहुति से वातावरण में एक विशेष प्रकार का वायव्य खाद प्रसारित हो जाता है, उससे वृक्ष, वनस्पति तथा कृषि को अत्यधिक लाभ होता है (यज्ञ-महाविज्ञान, पृ० ४६)। वेदविज्ञानाचार्य पं० वीरसेन वेदश्रमी यज्ञ का आश्चर्यजनक लाभ देखकर लिखते हैं कि "जिन वृक्षों में फल नहीं आते थे उनमें फल की उत्पत्ति हुई। तथा जिनमें छोटे और स्वादरहित फल आते थे, उनमें बड़े आकार के फलों और अधिक स्वादवाले फलों की उत्पत्ति का अनुभव किया।" (यज्ञमहाविज्ञान पृ० ४६)। "जिस प्रकार वायु में ऑक्सीजन और नाइट्रोजन प्रधान रूपेण होने पर ऑक्सीजन से चेतन प्राणियों को जीवन मिलता है और नाइट्रोजन से वानस्पतिक जगत् की पुष्टि होती है, उसी प्रकार यज्ञधूम से वानस्पतिक जगत् तथा उसके तेजस् सूक्ष्म प्राण से चेतन प्राणियों को विशेष लाभ मिलता है" (वही)।

वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर यह ज्ञात है कि पृथिवी में ऑक्सीजन, सिलिकन, आयरन, कैल्शियम, मैग्नीशियम, एल्युमीनियम, सोडियम तथा पोटेशियम आदि निम्नलिखित मात्रा में पाए जाते हैं।[3]

ऑक्सीजन ४८%, सिलिकन २६%, आयरन ०५%, कैल्शियम ०३.५%, मैग्नीशियम ०२.०%, एल्यूमीनियम ०८.५%, सोड़ियम ०२.८%, पोटेशियम ०२.५%।

उपर्युक्त तत्त्व कृषि में पौधों के आहार बन जाते हैं और इन तत्त्वों में यज्ञों से पौष्टिकता आती है। यदि यज्ञीय गैस को कुछ दिन तक खेत की मिट्टी पर से बहाया जाए तो ज्ञात होगा कि मिट्टी में नाइट्रेट्स बनाने की शक्ति बढ़ गयी है। अतः सिद्ध होता है कि यज्ञ गैस केवल हानिकारक

१. प्रातः प्रातः गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम ॥ अथर्व १९।५५।४।

२. सं वपामि समापऽओषधीभिः समोषधयो रसेन। यजु० १।२१।

३. भूमिका भास्कर, प्रथम भाग, पृष्ठ २१६।

कीटाणुओं को मार देती है जिनसे पृथिवी की उर्वरा शक्ति स्वयं ही बढ़ जाती है। यदि यज्ञ बहुत व्यापक स्तर पर किये जाएं तो यज्ञ-गैस स्वतः ही खेतों की मिट्टी पर अपना प्रभाव डालेगी, तब पृथक् रूप से इस गैस को मिट्टी पर बहाने की आवश्यकता नहीं रहेगी। इससे हानिकारक कीटाणु नष्ट हो जायेंगे और लाभदायक] कीटाणुओं की संख्या बढ़ जायेगी (यज्ञ महाविज्ञान)। इस प्रकार पृथिवी में नाइट्रेट बनाने की शक्ति बढ़ जाने से पृथिवी अधिक उर्वरक बन जाएगी।

वाशिंगटन (अमेरिका) में अग्निहोत्र विश्वविद्यालय अमेरिकी किसानों को बताता है कि रासायनिक खाद और कीटनाशक दवाओं के प्रयोग के स्थान पर यज्ञ से फसलों के सब रोग दूर किये जा सकते हैं। विश्वविद्यालय ने जो प्रयोग किये उनमें मन्त्रोच्चार और घी की आहुति से फसलों को चार गुणा करने में सफलता मिली है। उस यज्ञ का नया वैज्ञानिक नाम दिया गया है—होम थेरेपी फार्मिंग। इन प्रयोगों से यह पता चला है कि खेतों में नियमितरूप से यज्ञ करने से वातावरण शुद्ध होता है और पौधे शीघ्रता से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। एक यज्ञ २०० एकड़ के खेतों के पौधों का स्वरूप बदलने में सक्षम है। इस विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने अपने खेतों पर जो प्रयोग किये हैं, उनसे यह भी सिद्ध हो गया है कि यज्ञ का प्रभाव पौधों की जड़ों तक होता है और उससे जमीन में ज्यादा नमी बनी रहती है। यज्ञ के धूएं से विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने दक्षिण अमेरिका की फसलों को हानि पहुंचानेवाले आलूवीनी नामक कीटाणु को समूल नष्ट करने में सफलता प्राप्त की है। इन वैज्ञानिकों के दावे के अनुसार धुआं आठ किलोमीटर तक चक्कर लगाता है और वहां की वायु का प्रदूषण समाप्त होकर उस क्षेत्र की फसलों का विकास होता रहता है।[1]

यह सर्वविदित ही है कि पौधे दिन में कार्बनडाई-आक्साइड गैस खींच कर प्रकाश संश्लेषण की क्रिया द्वारा अपना भोजन बनाते हैं। यज्ञ करने से जो कुल कार्बनडाई आक्साइड निकलती है, वह पौधों का आहार बन जाती है। अतः पौधों की वृद्धि के लिये यज्ञीय गैस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जिस भूमि पर यज्ञ के धूम आदि का प्रभाव होता है, उसकी मिट्टी में घृत, दूध, पौष्टिक एवं रोगनाशक हविष् के सूक्ष्म तथा मधुर पदार्थों का मिश्रण स्वभावतः बढ़ जाता है। दिन के सौर ताप से एवं रात्रि की शीतलता, आर्द्रता एवं ओस के माध्यम से हव्य पदार्थों का क्रमशः पृथिवी के कुछ नीचे भाग में संग्रह भी होता जाता है और प्रभाव बढ़ता है। इस प्रक्रिया से भूमि बहुत उर्वरा हो जाती है और उसमें नमी का प्रभाव उत्पन्न होने लगता है जिससे कम सिंचाई में भी वनस्पतियों की वृद्धि होने में सहायता होती है तथा उपज भी अधिक होती है। अतः यज्ञीय मन्त्र में कहा गया है कि हमारी कृषि यज्ञ के द्वारा फले-फूले, समृद्धि को प्राप्त हो।[2] कृषि भूमि को उपयोगी बनाते समय यज्ञ-कार्य अपेक्षित है और पश्चात् भी यज्ञ किया जाना चाहिये। इससे पृथिवी में अपूर्व उत्पादन-सामर्थ्य उत्पन्न होगा। जहां कृषि के लिये इतना व्यय किया जाता है, रासायनिक खाद इत्यादि, खेतों में डालने के लिये, खरीदी जाती है वहां थोड़ा सा व्यय यदि यज्ञ के लिये भी किया जाए तो वह भूमि उत्तम फलदायी सिद्ध होगी।

---

१. सार्वदेशिक, ७ जुलाई १९९१।

२. कृषिश्च मे यज्ञेन कल्पताम्। यजु० १८।९।

यज्ञ में मन्त्रोच्चारण का महत्त्व तथा कृषि में लाभ—

कृषि के लाभार्थ यज्ञ में आहुति-द्रव्यों के अतिरिक्त मन्त्र-ध्वनियों का भी विशेष महत्त्व है। इसके लिये यज्ञों में मन्त्रोच्चारण परम आवश्यक है। यज्ञ प्रकरणों में वेद आदेश देता है कि हम यज्ञ में पहुंचकर दूर भी और हमारे समीप भी प्रार्थना को सुननेवाले, पूर्ण करदेनेवाले यज्ञाग्नि के प्रति वेदमन्त्र उच्चारण करें।[1] मन्त्र-ध्वनि का प्रभाव भी स्थावर-जंगम (जड़-चेतन) जगत् पर विशेष होता है। परीक्षणों के द्वारा मन्त्र-ध्वनि का प्रभाव कृषि-उत्पत्ति पर कुछ लोगों ने १० से २०% अधिक अनुभव किया है और कुछ ने इससे भी बहुत अधिक अनुभव किया है। यज्ञ द्वारा विना रासायनिक खाद डाले गए खेत में तथा केवल रासायनिक खाद डाले गए खेत में एक ही समय में, समान भूमि में एक ही प्रकार के चनों की फसल में बहुत अन्तर ज्ञात हुआ। यज्ञ की कृषि में चने अधिक बड़े तथा अधिक उत्पन्न हुए, अपेक्षाकृत रासायनिक खाद प्रयुक्त किए गए खेत से (यज्ञ-महाविज्ञान पृ० ४७) होम थेरेपी फार्मिंग विभाग का भी यही कहना है।

बीज-वपन कार्य के समय वेदवाणी तथा आहुति आदि का प्रयोग करना चाहिये।[2] बोते समय इसके लिये मन्त्र एवं आहुति के प्रयोग के लिये ही 'गिरा' एवं 'च' शब्द है। यजुर्वेद में भी पूर्वोक्त कार्य की पुष्टि की गई है कि विविध प्रकार के उत्तम अन्न के उत्पन्न करने में मातृवत् कारण-रूपा भूमि को वेदवाणी से युक्त करें।[3] पुनः आगे भी यह कथन है कि अन्न और उसकी उत्पत्ति यज्ञ के द्वारा समर्थ हो।[4] अर्थात् खेत में बीज-वपन काल में यज्ञ करने से मन्त्रध्वनि का संस्कार पड़ेगा तथा उसका उपज पर भी अच्छा प्रभाव होगा।

यज्ञ-राख का कृषि में उपयोग—

यज्ञीय भस्म का जहां शारीरिक रोगों पर अच्छा प्रभाव होता है वहां कृषि-कार्य में भी बहुत लाभ होता है। कृषि में कीटनाशक रसायनों के प्रयोग से उत्पत्ति के समय में यदि कीटों से, रोगों से बचाव होता है तो इसके विपरीत उन कीटनाशक विषों का प्रवेश अन्न में, फलों में हो जाने से उनका हानिकारक प्रभाव उपभोक्ताओं पर पड़ता है और ऐसे अन्न व फल के हानिकारक प्रभाव को दूर करने के लिए यज्ञ करने चाहिये। तथा उसकी भस्म को खेतों में फैला देनी चाहिए। वायु एवं जल के माध्यम से यह कार्य हो सकता है। पौधे में लग जानेवाले कीटाणुओं के नाश के लिए अग्निहोत्र विश्वविद्यालय द्वारा भी यही कहा गया है कि यज्ञ की राख एवं गोबर की खाद के प्रयोगों से पौधे के कीटों को नष्ट करने की शक्ति बढ़ जाती है। यज्ञ-भस्म को पानी में मिलाकर उसकी सिंचाई से भी अत्यधिक लाभ होता है। यज्ञ-भस्म में उन्हीं पदार्थों की सुगन्ध सूक्ष्म-रूप से विद्यमान रहती है। जहां उसका कृषि में प्रसारण होगा वहां के अन्नादि में विशेष

---

१. उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरे अस्मे च शृण्वते॥ यजु० ३।११।

२. युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्। गिरा च ··। यजु० १२।६८।

३. वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे। यजु० १८।३०।

४. वाजश्च मे प्रसवश्च मे·········यज्ञेन कल्पन्ताम्। वही १८।१।

प्रकार की सुगन्ध होगी और स्वाद भी मधुर होंगे। अन्न के दाने एवं फलादि बड़े होंगे और कृषि को हानि पहुंचानेवाले कृमि तथा रोग नहीं होंगे (यज्ञमहाविज्ञान, पृष्ठ १४३)। उस अन्न में यज्ञ द्वारा अमृत का अंश भी स्थिर हो जाता है अतः वेद ने कहा है कि पृथिवी को यज्ञ की भस्म से पूर्ण करना चाहिए।[1]

यज्ञ द्वारा कृषि को लाभ—अब कृषि की उन्नति के लिये विज्ञान एवं मन्त्रों का आश्रय लिया जा रहा है। यह भी वैज्ञानिक कार्य है। उनका उपयोग करके कृषि-कार्य में क्रान्ति उत्पन्न की जा सकती है। पृथिवी को रासायनिक खादों के अनिष्टकारी परिणामों से बचाया जा सकता है। है। प्रसिद्ध यज्ञाचार्य पं० वीरसेन वेदश्रमी ने सन् १९६४ की फरवरी में एक ऐसे आम के वृक्ष पर यज्ञ का प्रयोग किया जिसमें फल नहीं आते थे, यज्ञ के प्रभाव से उसमें उस वर्ष अत्यधिक मात्रा में फल आये। इसी प्रकार अमरूद, अनार, नींबू तथा विभिन्न शाक-सब्जियों के पौधों एवं लतिकाओं में यज्ञ का प्रयोग करने से उनमें फलोत्पत्ति तथा कीड़े का न लगना आदि परिणाम ज्ञात हुए। जिनके रसोईघर अथवा गार्डन, लॉन में नित्य यज्ञ होता है उनकी सब्जियों में स्वाद की विशेषता रहती है। यज्ञ-भस्म खेत में डालने से अनाज की किस्मों में अप्रत्याशित वृद्धि हुई, अपेक्षाकृत उन खेतों के जिनमें वर्तमान खादों का प्रयोग किया गया। यज्ञ द्वारा कृषि को वर्षा का लाभ तो होगा ही परन्तु सन्तुलित वर्षा होने से कृषि के नष्ट होने का भय ही नहीं रहेगा। यज्ञ कार्य अल्प समय तथा अल्प व्यय में हो जाता है और उसका शुभ परिणाम बहुत अधिक होता है। अतः वेद कहता है कि जो यजमान यज्ञ करता है उसके लिये मधुर एवं रसवाला हवाएं बहती हैं। नदियां मधुर जलयुक्त होकर बहती हैं और औषधि, अन्नादि मधुर, अनुकूल होते हैं।[2] रात्रि मधुर हो जाती है, उषाएं भी मधुर होती हैं। पृथिवीलोक माता के समान मधुर हो जाता है।[3] वनस्पतियां, वृक्षादि मधुर रसवाले हो जाते हैं। सन्तापरहित और माधुर्यगुणयुक्त हो जाती हैं। गवादि पशु भी मधुर गुण युक्त हो जाते हैं।[4] अतएव कृषि के लिये यज्ञ का उपयोग अधिकाधिक करना चाहिये और उस का लाभ संसार को देना चाहिये क्योंकि यज्ञ पवित्र है, पवित्रकर्ता है तथा सैकड़ों एवं सहस्रों प्रकार से विश्व का धारण एवं पोषण करनेवाला है।[5]

५० काम छोड़ कर स्नान करो, १०० काम छोड़ कर भोजन करो और १००० काम छोड़ कर प्रभु का भजन करो।

---

१. पृथिवीं भस्मना पृण। वही ६।२।

२. मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। यजु० १३।२७।

३. मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। वही १३।२८।

४ मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः। यजु० १३।२९।

५. वसोः पवित्रमसि शतधारम्। वही १।३।

वेदार्थ की मध्यकालीन तथा पाश्चात्त्य पद्धतियां : एक अनुशीलन

[ले०—डा० भवानीलाल भारतीय, ८/४२३ नन्दन वन, जोधपुर]

वेदों को लेकर भारतीय तथा पाश्चात्त्य विचारों में मौलिक भिन्नता है। भारतीय परम्परा के अनुसार वेद अनादि ईश्वरीय ज्ञान है जिसे सृष्टि के आरम्भ में मानव जाति के हितार्थ पवित्र अन्तःकरणवाले तपःपूत ऋषियों के माध्यम से प्रचारित/प्रेषित किया जाता है जबकि पश्चिमी वेदाभ्यासी विद्वान् उन्हें कालविशेष में पृथक्-पृथक् ऋषियों द्वारा निर्मित मानते हैं। तथापि यह तो वे भी मानते हैं कि ये ग्रन्थ संसार के सर्वाधिक प्राचीन वाङ्मय के रूप में स्वीकार किये जाने के योग्य हैं। मैक्समूलर ने ऋग्वेद को संसार के पुस्तकालय की प्राचीनतम पुस्तक कहा तो मैकडानल के अनुसार ऋग्वेद को भारत-यूरोपीय परिवार की भाषाओं का प्राचीनतम अवशेष मानना सर्वथा उपयुक्त है। वेदों का आविर्भाव काल जितना अनिश्चित है, उतना ही विवाद उस के अर्थ करने की प्रणालियों को लेकर भी है।

यह तो स्पष्ट है कि जिस समय वेदों की मन्त्रराशि मनुष्यों को अधिगत हुई होगी उस समय इन मन्त्रों के अर्थों के सहायक व्याकरण, निरुक्तादि वेदाङ्ग तथा अन्य उपाङ्ग तो पृथक विद्यमान थे ही नहीं। तथापि उस समय के वेदाभ्यासियों ने भी वेदमन्त्रों का अर्थ किया ही होगा। निश्चित रूप से तब वेद मन्त्रों के विभिन्न स्थलों का बार-बार विचार करने से ही उन्हें वेदार्थ का रहस्य ज्ञात हुआ होगा। उदाहरणार्थ—ऋग्वेद का प्रथम मण्डल का प्रथम सूक्त अग्नि को समर्पित है। इस सूक्त के नौ मन्त्रों में इस अग्नि को पुरोहित, यज्ञ का देव, ऋत्विक्, होता, रत्नों का धारण करनेवाला, पुष्टिकारक, यशप्रदाता, होता, कविक्रतु, यज्ञों में सुशोभित होनेवाला आदि कहकर सम्बोधित किया गया है। अब यह अग्नि क्या है, इसका वास्तविक रूप जानने के लिये यदि ऋग्वेद के ही कुछ अन्य मन्त्रों पर दृष्टि डालें तो हमें उसके कतिपय विशेषण दृष्टिगोचर होंगे जिससे अग्नि को व्याख्यात करना अधिक सरल हो जायेगा। ऋग्वेद १०।७०।२ में कहा गया है—

आ देवानामग्रयावेह यातु ····· 'दिव्य पदार्थों में से सबसे आगे होनेवाला (जानेवाला) यहां आवे।" ऋग्वेद ६।१६।४८ में आया है—**अग्नि देवासो अग्रियमिन्धते** ·· विद्वान् लोग आगे जाने वाले अग्नि को प्रकाशित करते हैं। उपर्युक्त दोनों मन्त्रांशों में प्रयुक्त 'अग्रयावा' तथा 'अग्रियम्' समानार्थक हैं।

इसी प्रकार '**गार्हपत्येन सन्त्य ऋतुना यज्ञनीरसि**' (ऋ० १।१५।१२) में अग्नि को यज्ञ के नेता, सञ्चालक अथवा यज्ञ में ले जाये जानेवाला 'यज्ञनीः' कहा है। ऋग्वेद (८।६०।२) में '**अच्छा हि त्वा ··ईमहेऽग्नि यज्ञेषु पूर्व्यम्**' कहा गया है जिसका भाव यह है कि यज्ञों में सबसे पूर्व जानेवाले या स्थित किये जानेवाले अग्नि को हम प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त मन्त्रों से अग्नि के विषय में जो कुछ कहा गया उसी से कालान्तर में उसकी जो व्युत्पत्ति यास्क द्वारा दी गई, उसकी पुष्टि हो जाती है। विभिन्न मन्त्रों में आये अग्रयावा, अग्रियम्, यज्ञनीः, यज्ञेषुपूर्व्यम्, पुरोनीयते (ऋ० १।१६३।१२)

आदि संकेतों ने आगे चल कर निरुक्तकार को '**अग्निः कस्मादग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयते**' (७।१४) इस प्रकार अग्नि की निरुक्ति बताने की प्रेरणा दी।

यह तो थी वेद से वेदार्थ करने का प्राचीनतम प्रणाली, किन्तु जब लोगों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति कम होने लगी और मन्त्रों के चिन्तनमात्र से उनमें निहित अर्थों को जानना उनके लिए सुगम नहीं रहा तो वेदार्थ में सहायक ग्रन्थों की रचना होने लगी। इस क्रम में ब्राह्मण ग्रन्थों का सर्वप्रथम स्थान है। दयानन्द सरस्वती तो ब्राह्मणों को वेदों के व्याख्या-ग्रन्थ ही मानते हैं। उनके अनुसार '**ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानादेव सन्ति, नैव वेदाख्यानीति। कुतः? 'इषेत्वोर्जेत्वेति' इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात्।**' अर्थात् ब्राह्मण-ग्रन्थों की वेदों में गणना नहीं हो सकती क्योंकि यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र की प्रतीक को धर कर इन ग्रन्थों में वेदों की व्याख्या की गई है। यदि हम उक्त मत से शब्दशः सहमत न भी हों तब भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि ये ब्राह्मण-ग्रन्थ वेदार्थ में सहायक हैं। इनके अध्ययन से वेदोक्त आधिदैविक सिद्धान्त, वैदिक यज्ञ एवं कर्मकाण्ड, वैदिक दर्शन, वैदिक समाज-व्यवस्था आदि विषय स्फुट होते हैं तथा वैदिक पदों के नाना अर्थ भी जाने जाते हैं।

कालान्तर में वेदार्थ में अप्रतिम सहायक निघण्टु तथा निरुक्त शास्त्र रचे गये। यों तो यास्कीय निरुक्त में ही आग्रायण, शाकपूणि आदि चौदह निरुक्तकारों के मतों का निर्देश मिलता है जिससे यह सिद्ध होता है कि यास्क से पहले भी नैरुक्त पद्धति की सहायता से वेदों का अध्ययन होता था। यास्कीय निरुक्त वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति के आधार पर उनका अर्थ करने पर जोर देता है। उनके विचार से वैदिक शब्दों के अर्थ उनकी मूल धातुओं के आधार पर किये जाने चाहिए किन्तु जब यह कहा जाता है कि धातुएं भी अनेकार्थक होती हैं, तो इसके समाधान में यास्क का कहना है कि मन्त्रों का अर्थ अलग-अलग न कर प्रकरणानुसार ही करना चाहिए। निरुक्त से यह भी संकेत मिलते हैं कि यास्क के पूर्व तथा उसके काल में नैरुक्त पद्धति से भिन्न वेदार्थ करने की अन्य प्रणालियां भी प्रचलित थीं। यथा—आधिदैवत, अध्यात्म, आख्यानसमय, ऐतिहासिक, नैदान, परिव्राजक, पूर्वयाज्ञिक तथा याज्ञिक। स्वयं यास्क ने सैंकड़ों वेदमन्त्रों का स्वयं अर्थ लिख कर वेदार्थ करने की विधि को सुकर बनाया है तथा परवर्ती भाष्यकारों के लिए उदाहरण पेश किया है।

उपर्युक्त ब्राह्मण तथा निरुक्त आदि ग्रन्थ तो वेदार्थ में प्रत्यक्ष सहायक थे, किन्तु इनके रचना-काल तक पृथक्-पृथक् वेदों के भाष्य लिखने की प्रथा नहीं चली थी। निरुक्त के पश्चात् सर्वाधिक प्राचीन वेदभाष्यकार स्कन्द स्वामी थे जिन्होंने ऋग्वेद के मन्त्रों का क्रमबद्ध अर्थ किया। इनके भाष्य में यत्र-तत्र 'केचित्' तथा 'केचित्तु' आदि शब्द आये हैं जिनसे अनुमित होता है कि उन से पूर्व भी किन्हीं ने वेदों पर भाष्य लिखे थे। पं० भगवद्दत्त के अनुसार ईसा की छठी शती के स्कन्द स्वामी से लेकर १९ वीं शताब्दी के दयानन्द सरस्वती तक ऋग्वेद के सत्रह भाष्यकार (दोनों को मिला कर) हो चुके हैं। इनमें नारायण, उद्गीथ, हस्तामलक, वेंकटमाधव, आनन्दतीर्थ, आत्मा-

नन्द, सायण, रावण आदि प्रमुख हैं। यजुर्वेद के भाष्यकारों में शौनक, हरिस्वामी, उवट, महीधर तथा दयानन्द सरस्वती मुख्य हैं। सायण ने यजुर्वेद को काण्व तथा तैत्तिरीय संहिता पर भाष्य लिखा है। सामवेद के प्राचीन भाष्यकारों में माधव भरत स्वामी तथा सायण के नाम उल्लेखनीय हैं जब कि सायण को छोड़ कर अन्य किसी प्राचीन भाष्यकार ने अथर्ववेद का भाष्य नहीं लिखा। इस प्रकार हम देखते हैं कि चारों वेद संहिताओं पर समग्र तथा व्यवस्थित रीति से भाष्य लिखने का श्रेय विजयनगर के हिन्दू साम्राज्य के प्रधानमन्त्री सायणाचार्य को ही है जिन्होंने हरिहर और बुक्क नामधारी राजाओं के संरक्षण में रहकर वेदभाष्य का बृहत् सारस्वत यज्ञ सम्पन्न किया।

यहां विचार का मुख्य बिन्दु यह है कि वेदों का कथ्य (विवेचनीय विषय) क्या है और मध्यकालीन भाष्यकारों की इसके बारे में क्या धारणा है ? देखा जाये तो वेद शब्द ज्ञान का वाचक है अतः वेद नाम से अभिहित होनेवाले इन ग्रन्थों में मानव समाज के लिये उपयोगी विविध विद्याओं तथा ज्ञान-विज्ञान का समावेश होना उचित है। इसी तथ्य को दृष्टि में रख कर दयानन्द सरस्वती ने चारों वेदों में क्रमशः विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान की उपस्थिति बताई है। इन चारों में भी वे विज्ञान को सर्वप्रमुख स्वीकार करते हैं। विज्ञान से उनका अभिप्राय परमेश्वर से आरम्भ कर तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षात् बोध है। इसमें भी वे ईश्वरानुभव को सर्वोपरि मानते हैं और स्पष्ट कहते हैं—**तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्ति। ईश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्।**

किन्तु मध्यकालीन वेद भाष्यकारों की दृष्टि में वेदों का चरम तात्पर्य यज्ञादि कर्मकाण्ड का विधान करना है। वस्तुतः वेदों पर जब मध्यकाल में भाष्यलेखन आरम्भ हुआ था उस समय तक वैदिक (श्रौत) कर्मकाण्ड विस्तार पा चुका था और वैदिकों में यह धारणा बल पकड़ चुकी थी कि वेदमन्त्रों का उद्देश्य नाना कर्मों तथा उनकी पद्धतियों का विवेचन करना ही है। सायण ने चारों वेदों का भाष्य करते समय सर्वप्रथम यजुर्वेद को जो लिया तो उसका कारण भी यही था कि यज्ञ में अध्वर्यु (यजुर्वेदाधारित कर्म करने वाला) का कर्म ही प्रधान होता है इसलिये उसने प्रथम यजुर्वेद की व्याख्या लिखी और तत्पश्चात् होता नामक ऋत्विक् को अभीष्ट ऋग्वेद का भाष्य लिखा—

आध्वर्यस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते॥

बात यह है कि सायणादि भाष्यकारों की दृष्टि में वेद वे हैं जो इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार के लिए अलौकिक (यज्ञादि) उपायों को बतलाते हैं। यही कारण है कि ये भाष्यकार प्रत्येक मन्त्र का अर्थ निर्देश करने के पहले उस मन्त्र का किसी न किसी यज्ञ-याग में विनियोग बताना नहीं भूलते। यहां मौलिक प्रश्न यह है कि क्या जिस समय इन मन्त्रों की रचना या दर्शन हुआ था उस समय इनके रचयिता (चाहे उसे ईश्वर कहें या भिन्न-भिन्न ऋषि) को यही अभीष्ट था कि प्रत्येक मन्त्र को किसी न किसी यज्ञ-कर्म में विनियुक्त किया जाना आवश्यक है। इसके साथ ही यह प्रश्न भी उत्पन्न होता है कि क्या श्रौत कर्म वेदों के आविर्भावकाल से भी पूर्व के हैं, जिन्हें दृष्टिपथ में रखकर ही इन मन्त्रों की रचना हुई थी। हमारे विचार से तो वेदमन्त्रों के आविर्भाव

के पश्चात् ही उन्हें अमुक-अमुक कर्म में विनियुक्त किये जाने का विचार याज्ञिकों के मन में आया। कहने को तो सायण भी वेदों को ब्रह्मकाण्ड (ज्ञान) तथा कर्मकाण्ड में विभक्त करता है—**तस्मिश्च वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यग्रन्थौ ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथ-ब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोः कर्मकाण्डत्वम्॥**

सायण के मत में शतपथ का अन्त्य भाग बृहदारण्यकोपनिषद् तो वेद का ज्ञानकाण्ड है जब कि शतपथ ब्राह्मण तथा संहिताभाग कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करते हैं। हमारे विचार में वेदों में कर्मकाण्ड की स्थिति मानना अथवा उपयुक्त कर्मों में मन्त्रों को विनियुक्त करना तो अनुचित नहीं है किन्तु विनियोग का निर्धारण करते समय यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि युक्तिसिद्ध विनियोग ही स्वीकार्य होगा। उसका वेदानुकूल होना आवश्यक है तथा वह मन्त्रार्थ का अनुसरण भी करता हो। विनियोग की युक्तियुक्तता के बारे में ऐतरेय ब्राह्मण का यह कथन ध्यान में रक्खा जाना चाहिये—

एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत् कर्मक्रियमाणमृग्भिर्वदति। १।१।४॥

अर्थात् यदि ऐसा मन्त्र बोला जाय जिसमें उस क्रिया का वर्णन हो जो यज्ञ में की जानेवाली हो तो इसको रूपसमृद्धता कहते हैं। मध्यकालीन भाष्यकारों द्वारा प्रत्येक मन्त्र के विनियोग का निश्चित रूप से निर्देश करने तथा सम्पूर्ण वेदों को यज्ञार्थक-कर्मकाण्ड में प्रयोजनीय मान लेने का ही परिणाम हुआ कि नाना प्रकार के पौराणिक कर्मकाण्डों के साथ भी वेदमन्त्रों के विनियोग को अनिवार्यतः नत्थी कर दिया गया। तब **'शन्नो देवीरभिष्टय'** आदि मन्त्र शनैश्चरादि नवग्रहों की पूजा में विनियुक्त होने लगे **'नमस्ते रुद्रमन्यवे'** आदि यजुर्वेद के रुद्रदेवताक मन्त्रों को बोलकर शिव-पिण्डी पर जल चढ़ाया जाने लगा, **'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे'** को गणेश पूजा अथवा अश्वमेध प्रकरण में विनियुक्त करने का आग्रह बढ़ा।

जब वेदों का परम प्रतिपाद्य यज्ञों को मान लिया गया तो बौद्धपूर्वकाल में प्रचलित याज्ञिक हिंसा की सिद्धि के लिए भी वेद मन्त्रों की ही तलाश हुई। यज्ञों में पशुहिंसा स्वीकार करने में मध्यकालीन वेदभाष्यकारों को कोई गुरेज नहीं है। इस हिंसाकाण्ड का तो सारा कारोबार ही मन्त्रों के गलत विनियोग पर आधारित है। जब यज्ञ के लिये अजा-शावक को मारने की तयारी होती है तो यजुर्वेद के **'अनुत्वा माता मन्यतामनुपितानु भ्राता'** (६।६) आदि मन्त्र बोलकर मृत्यु के निकट गये शावक के अज्ञात माता पिता, भाई, सखा आदि से अनुमति लेने का नाटक किया जाता है। इसी प्रकार **'वाचं ते शुन्धामि'** (६।१४) आदि मन्त्र पढ़ कर मृत पशु की वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, नाभि, उपस्थ आदि की शुद्धि की जाती है। वस्तुतः वैदिकी हिंसा में प्रयुक्त मन्त्रों का विनियोग स्वार्थी पुरोहितशाही का नृशंस विधान ही कहा जा सकता है। इसमें उचित-अनुचित, औचित्य-अनौचित्य का विचार कहीं भी दिखाई नहीं देता। ये ऐतरेय ब्राह्मण में कथित रूपसमृद्धि के सिद्धान्त के नितान्त विपरीत हैं।

वेदों के अनादि होने, ईश्वर द्वारा उपदिष्ट होने तथा किसी लौकिक पुरुष द्वारा उत्पन्न न होने के कारण अपौरुषेय होने के विचार को सभी मध्यकालीन वेदभाष्यकारों ने स्वीकार किया

है। सायण ने ऋग्वेद भाष्य की उपक्रमणिका में **'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे'** (ऋ० १०।९०।९) मन्त्र को उद्धृत कर मन्त्रवर्णित 'सहस्रशीर्षा पुरुष' को परमेश्वर माना है जो यज्ञ विशेषण के कारण पूजनीय है। यही परमेश्वर वेदों का उत्पन्न करनेवाला है। जब वेदों को नित्य परमात्मा की नित्य वाणी मान लिया जाता है तो उसमें किसी ऋषि, राजा, नदी, पर्वत अथवा स्थानविशेष के अस्तित्व या उल्लेख को मानना कदापि उचित नहीं है। सायण ने स्वयं तैत्तिरीय संहिता के **बबर प्रावाहणिरकामयत** (७।१।१०।२) को उद्धृत कर लिखा है कि यहां 'बबर' किसी पुरुष-विशेष को संज्ञा न होकर सामान्य संज्ञा है। इससे बबर नामक अनित्य पुरुष की विवक्षा नहीं है। बबर तो शब्द की अनुकृति का सूचक है इसलिए शब्द करनेवाला वायु ही इस शब्द से अभिप्रेत है। इस प्रकार एक ओर तो सायण तैत्तिरीय शाखा में प्रयुक्त बबर आदि शब्दों को भी नित्य अर्थ में विवक्षित मानते हैं और प्रकारान्तर से वेदों में अनित्य इतिहास की सत्ता को अस्वीकार करते हैं, किन्तु विडम्बना यह है कि मन्त्रों की व्याख्या करते समय वे इस सिद्धान्त को भूल जाते हैं और अपने वेद-भाष्य में राजाओं, ऋषियों और सामान्य मनुष्यों की शतशः कहानियां मन्त्रों के आधार पर वर्णित करने लगते हैं। उनके द्वारा वर्णित ऐसे लौकिक उपाख्यानों में से कुछ इस प्रकार हैं— भावयव्य और रोमशा का संवाद, तुग्र, भुज्यु और अश्विन् देवता का प्रसङ्ग, च्यवन, दधीचि आदि के उल्लेख, विश्पला की टूटी जांघ पर लोहे का पैर लगाना, दिवोदास, नहुष आदि राजाओं के कथानक, पणि द्वारा गायें चुराना, वामनावतार की कथा, शुनःशेप का आख्यान, इन्द्र और वृत्र का युद्ध, शम्बर द्वारा ९९ नगरों को नष्ट करना, विश्वामित्र-नदी संवाद आदि-आदि। मीमांसा के 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' सूत्र की व्याख्या करते हुए सायण ने यह तो सिद्धान्ततः माना कि वेदों में मानवीय (लौकिक) अनित्य इतिहास को मानना उचित नहीं है, किन्तु मन्त्रों की व्याख्या करते समय सायण के लिए इस सिद्धान्त का निर्वाह करना कठिन हो जाता है और वे एक के बाद एक नाना कथाओं, उपाख्यानों और कल्पनाप्रसूत प्रसङ्गों को मन्त्रों के साथ जोड़ते जाते हैं।

मध्यकालीन वेद-व्याख्याकार वेदों के संहिता भाग तथा ब्राह्मण भाग में कोई अन्तर नहीं कर सके। सायण ने वेद को 'मन्त्रब्राह्मणात्मक' कहा और अपने मत की पुष्टि में आपस्तम्ब के यज्ञ-परिभाषा सूत्र को उद्धृत किया—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आप० परि० ३१) किन्तु इस मत को स्वीकार करते हुए वे निम्न तथ्यों को दृष्टि से ओझल कर जाते हैं—शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थ याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा प्रणीत हैं जबकि संहिता भाग का कोई लौकिक निर्माता नहीं है। आपस्तम्ब यज्ञ परिभाषा में पठित सूत्र को भी कृष्ण यजुर्वेद के श्रौतसूत्रकारों ने विशेष पारिभाषिक अर्थ में ही पढ़ा है क्योंकि कृष्ण यजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता) में मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग का मिश्रण है तथा इस वेद से सम्बन्धित कर्मकाण्ड में मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों को ही वेद नाम से पुकारना उचित है।

मध्यकाल तक आते-आते वेदों का अध्ययन-अध्यापन त्रैवर्णिक द्विजों तक ही सीमित रह गया था। शूद्र तथा स्त्रियों के लिए वेद के पठन-पाठन के अधिकार समाप्त कर दिये गये थे। पुराण, महाभारत आदि ग्रन्थ पढ़ने की ही उन्हें इजाजत थी। इस काल के वेदभाष्य अपने युग की इस स्वीकृत धारणा से बंधे रहे। सायण ने स्पष्ट लिखा है—**"स्त्रीशूद्रयोः सत्युपाये बोधार्थित्वे हेत्वन्तरेण**

वेदाधिकारस्य प्रतिबद्धत्वात् । उपनीतस्यकाध्ययनाधिकारं ब्रुवच्छास्त्रमनुपनीतयोः स्त्रीशूद्रयोर्वेदाध्ययनमनिष्टप्राप्तिहेतुरिति बोधयति ।......अतएवोक्तम्—

स्त्रीशूद्रद्विजबंधूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
इति भारतमाख्यानं मुनिना कृपया कृतम् ।। (भागवत १।४।२५) इति ।

तस्मादुपनीतैरेव त्रैवर्णिकैर्वेदस्य सम्बन्धः ।"

यहां स्त्री और शूद्रों को वेदों में अनधिकारी बताने में सायण का हेतु यह है कि वेद के ज्ञान को आत्मसात् करने का सामर्थ्य होने पर भी इन दो वर्गों को वेद का पठनाधिकार नहीं दिया जा सकता क्योंकि मन्वादि स्मृतिकारों ने यज्ञोपवीतधारी को ही वेदाध्ययन का अधिकारी माना है। उसने भागवत के एक श्लोक को भी प्रमाणरूप से उद्धृत कर कहा कि वेदत्रयी का अधिकार उपर्युक्त दो वर्गों के लिए नहीं है, ऐसा जानकर कृपालु मुनि व्यास ने उनके लिए महाभारत जैसे आख्यान की रचना की है। उपनयन में तो त्रैवर्णिकों का ही अधिकार होता है। अन्ततः कहना पड़ता है कि वेदों के मध्यकालीन भाष्यकार इन ग्रन्थों की मौलिक अवधारणाओं से काफी दूर चले गये थे। वे समकालीन विश्वासों तथा रूढ़ियों से बन्धे होने के कारण वेदार्थ के साथ पूरा न्याय नहीं कर सके।

पाश्चात्य विद्वानों का वेदानुशीलन भारतीय वेद भाष्यकारों जितना पुराना नहीं है। एक दृष्टि से देखें तो वेद तथा वैदिक साहित्य में किया गया इन विद्वानों का पुरुषार्थ प्रशंसनीय है क्यों कि शतशः यूरोपीय, अमेरिकन तथा अन्य देशों के वेदज्ञों ने इस पुरातन साहित्य पर टीका, व्याख्या, विवेचना, अनुवाद, समीक्षा आदि का प्रभूत साहित्य लिखा है। यहां एक बात विचारणीय अवश्य है। क्या पश्चिम के ये विद्वान् वैदिक तथा इतर संस्कृत-साहित्य के गुणों पर मुग्ध होकर ही उसके अध्ययन में प्रवृत्त हुए थे अथवा उनके इस वैदिक अनुशीलन के पीछे कोई अन्य प्रयोजन भी था? निश्चय ही इनमें से कई अंग्रेज लेखक तो यह चाहते थे कि भारत उनके अधीन देश है और वहां उच्च पदों पर शासन करने के लिए जो अंग्रेज युवक जायें उन्हें भारत के धर्म, संस्कृति तथा परम्पराओं का ज्ञान होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनका संस्कृतज्ञ होना भी आवश्यक है। प्रो० मोनियर विलियम्स ने अपनी पुस्तक Indian Wisdom की भूमिका में इसी तथ्य को अंकित किया है। वे लिखते हैं—"हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि यह विशाल पूर्वीय (भारतीय) साम्राज्य हमारे शासन में राजनीतिक तथा सामाजिक प्रयोगों का स्थान होने के कारण अथवा अपना व्यापार बढ़ाने, अपने को गर्वान्वित अनुभव करने या अपना सम्मान कराने के प्रयोजन से नहीं सौंपा गया है। अपितु इसलिए कि एक विस्तृत जनसंख्या इसके द्वारा अनुरंजित, लाभान्वित एवं उत्थापित की जा सके और ईसाई धर्म के पुनरुद्धारक प्रभाव का इस देश में सर्वत्र प्रसार किया जा सके।"

इसी बात को प्रोफेसर मेक्समूलर ने और अधिक स्पष्ट कर लिखा—"निश्चय ही मैं वेदों के सम्पादनादि का कार्य पूरा कर दूंगा, तथा यह भी निश्चित है कि इस कार्य को देखने के लिए जीवित नहीं रहूंगा, तो भी मेरा ऋग्वेद का यह संस्करण और वेदों का अनुवाद भारत के लाखों

लोगों के भाग्य और आत्माओं के विकास पर प्रभाव डालनेवाला होगा। यह वेद भारतीयों के धर्म का मूल है और इस मूल को दिखा देने से ही उनके विगत तीन हजार वर्षों में प्राप्त ज्ञान को मूलसहित उखाड़ना शक्य हो सकेगा।"

उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि में अन्य प्रमाण भी दिये जा सकते हैं किन्तु उससे लेख के कलेवर को अनावश्यक वृद्धि ही होगी। हां, जर्मन विद्वान् इसके अपवाद अवश्य हैं। उनका भारत की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति से कोई लेना-देना नहीं था और न वे साम्राज्यवादी अंग्रेजों की भान्ति भारत के शासन अथवा शोषण में कोई दिलचस्पी ही रखते थे। अतः उन्होंने वेद-विषयक जो भी कार्य किया है उसमें त्रुटियां चाहे रही हों, किन्तु उनकी भावना को पूर्वाग्रह-ग्रस्त नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्त्य विद्वानों ने वेदार्थ को स्फुट करने में जो महनीय और विशद कार्य किया है उसकी संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करना भी शक्य नहीं है, तथापि उन सिद्धान्तों की आलोचना अवश्य की जानी चाहिए जिनसे प्रभावित और अनुप्राणित होकर इन लोगों ने यह ऐतिहासिक सारस्वत यज्ञ रचा था।

सर्वप्रथम तो यह बात स्पष्ट कर दी जानी चाहिए कि पाश्चात्त्य विद्वानों के लिये वेद वैसे पूज्य, प्रणम्य, आदर्श तथा अनुकरणीय ग्रन्थ नहीं थे जैसे वे आर्य मनीषियों के लिए ईश्वर के अनादि ज्ञान होने के कारण सम्मानार्ह तथा आदरास्पद रहे। आचार्य सायण वेदों को यजनीय, पूजनीय परमात्मा से उत्पन्न मानते हैं तो आचार्य शंकर के अनुसार ऋग्वेदादि शास्त्र दीपक की भान्ति सब पदार्थों का करानेवाले सर्वज्ञ (परमात्मा) के तुल्य हैं। उनसे भी पुराने मन्वादि स्मृति-कारों ने तो वेदों की प्रशंसा में अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा को ही व्यय कर दिया था। किन्तु पाश्चात्त्य वेदज्ञों की दृष्टि से वेदों का ऐतिहासिक, सामाजिक तथा समाजशास्त्रीय महत्त्व तो स्वीकार किया जा सकता है, इससे आगे जाकर वे इन ग्रन्थों को दिव्य धार्मिक ग्रन्थों का दर्जा देने के लिए कथमपि तैयार नहीं हैं। कारण स्पष्ट है। वे तो यह धारणा बना चुके थे कि वेद उन आर्यों द्वारा रचे गये हैं जो मूलतः मध्य एशिया या यूरोप के किसी स्थान से यायावरों की भांति भटकते हुए सप्तसिंधु देश में चले आये थे। इन वेदों के कुछ सूक्त तो उन्होंने भारत में आने से पहले ही रच लिए थे और कतिपय अन्यों की रचना उन्होंने उत्तर भारत की नदियों के किनारे बैठ कर की, जिसे वे सप्त सिन्धु देश कहते थे। उनके अनुसार वेदों के कुछ सूक्त तो आर्यों की इण्डो-यूरोपियन जीवन-पद्धति के द्योतक हैं जो भारत में स्थायी रूप से उनके बसने के पहले की स्थिति को बताते हैं। यूरोपीय पण्डित यह भी मानते हैं कि इन वेदों को रचना सहस्रों वर्षों की दीर्घावधि में हुई है इसलिये इन कालों के विभिन्न राजाओं, घटनाओं, स्थानों, परिस्थितियों आदि की चर्चा इनमें मिलती है। वे आर्यों के पुरातन इतिहास तथा उनकी सामाजिक स्थिति की जानकारी के लिए वेदों के अध्ययन को उपयोगी तथा आवश्यक समझते हैं।

एक अन्य बात यह भी है कि विगत शताब्दी में चार्ल्स डार्विन ने अपने विकासवाद के सिद्धान्त को प्रचारित कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि मानव जैसे प्राणी को वर्तमानरूप में आने में लक्षावधि वर्ष लगे थे तथा सृष्टि के इस सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव को उसके वर्तमान रूप में आने तथा अपने शारीरिक एवं मानसिक विकास को प्राप्त करने में भी अनेक पड़ाव रहे होंगे।

डार्विन के इस वैज्ञानिक सिद्धान्त ने धार्मिक विचारों को भी प्रभावित किया था। फलतः पश्चिम के वेदज्ञ पण्डित इस तथ्य को स्वीकार करने के लिये तैयार ही नहीं थे कि वेदों में एक अद्वितीय परमात्मा की उपासना का विधान है और वेद के धर्म को एकेश्वरवादी कहा जा सकता है। उनकी धारणा थी कि वेदकालीन आर्य सूर्य, नक्षत्र, वायु, जल, पृथ्वी आदि भौतिक पदार्थों को ही दैवी शक्तियां मान कर पूजते थे। प्राकृतिक जगत् के रहस्यों से पूर्ण परिचित न होने के कारण वे इन भौतिक चमत्कारों को देखकर आश्चर्यान्वित होते, तत् तत् पदार्थों को सम्बोधित कर प्रार्थनाएं निवेदित करते तथा उनकी प्रसन्नता के लिए नाना हवियां अर्पित करते। यही वेदों की बहुदेवोपासना है।

पाश्चात्त्यों की इस अवधारणा की पुष्टि में भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। ऋग्वेद के मन्त्र निश्चित रूप से अग्नि, वायु, इन्द्र, सविता, पूषा, मरुत, रुद्र, विष्णु, बृहस्पति, प्रजापति, आपः, अश्विन्, वरुण, सोम, विश्वेदेवा, रात्रि तथा यम आदि देवताओं की स्तुति में लिखे गये हैं। आगे चलकर वेदों के इस बहुदेववाद को मैक्समूलर ने 'हीनोथीज्म' का नाम दिया, किन्तु समस्त वैदिक देवता एक ही परमात्मा के भिन्न-भिन्न नाम हैं अतः वेद वास्तव में एकेश्वरवाद की ही पुष्टि करते हैं, इस मत को पाश्चात्त्य विद्वानों ने दबे स्वर से स्वीकार करते हुए भी स्पष्ट रूप से कभी नहीं माना। वेद के धर्म के बारे में प्रो० मैकडानल का कथन है—It is essentially a Polytheistic religion which assumes a pantheistic colouring only in a few of its latest hymns. (A Vedic Reader for students : Introduction.) वेदों का धर्म मूलतः बहुदेववादी है किन्तु अन्त के सूक्तों में वहां सर्वेश्वरवाद भी झलकता है।

वस्तुतः पाश्चात्त्यों का वेदाध्ययन निम्न वादों का आधार लेकर चलता है—१. विकासवाद जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। २. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान। ३. तुलनात्मक गाथा और धर्म। ४. आर्यों के सामाजिक जीवन विषयक निष्कर्ष जो वेदमन्त्रों पर आधारित हैं। तुलनात्मक भाषा विज्ञान ने वेदों के अध्ययन को एक नया आयाम दिया है। यूरोप की प्रमुख भाषाओं का संस्कृत तथा अन्य आर्य भाषाओं के साथ अध्ययन कर पश्चिम के वैदिक विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि संस्कृत भाषा ग्रीक से भी अधिक पूर्ण है, लैटिन से अधिक समृद्ध है तथा इन दोनों से अधिक परिष्कृत है। इस प्रकार लैटिन, ग्रीक तथा वैदिक संस्कृत में पाई जानेवाली अनेक समानताओं को स्वीकार कर ये भाषा वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ये तीनों भाषाएं किसी अन्य स्रोत से उत्पन्न हुई हैं जो आज विद्यमान नहीं है। भाषा विज्ञान के तत्त्व तो संस्कृत व्याकरण तथा निरुक्त आदि शास्त्रों में भी पाये जाते हैं इसलिये शब्द-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान तथा ध्वनि विज्ञान के सहारे वैदिक मन्त्रों का अर्थ करना कोई सर्वथा नवीन बात तो थी नहीं। भाषा-विज्ञान के अतिरेक ने विद्वानों को वैदिक शब्दावली में चाल्डिया जैसे मध्य एशियायी देशों की भाषाओं के शब्दों का पाया जाना सिद्ध करने की प्रेरणा दी। वस्तुतः यह उनके औचित्य-भ्रष्ट ज्ञान का विस्फोट ही था।

पश्चिमी विद्वानों ने वेदार्थ के लिए तुलनात्मक देवगाथा तथा तुलनात्मक धर्म का भी उपयोग किया। मुख्यतः उन्हें आर्यों के देवताओं तथा ग्रीक देवताओं में पर्याप्त साम्य दिखाई दिया। इसी प्रकार इण्डो यूरोपीय जातियों के रीति रिवाज, धार्मिक विश्वासों तथा सांस्कृतिक जीवन में

पाई जानेवाली समानताओं के आधार पर उन्होंने वैदिक आर्यों की जीवन-पद्धति के बारे में भी अनेक निष्कर्ष निकाले। परन्तु अध्ययन की यह पद्धति भी सर्वथा निर्दोष नहीं थी। निश्चय ही वेदों में जिस धर्म, समाज, संस्कृति तथा दर्शन का चित्रण हुआ है वह समग्रतः भारतीय परिवेश को ही अङ्कित करती है। आर्य मनीषियों ने जहां चारों वेदों का समन्वय दृष्टि से अध्ययन करते हुए उन में ज्ञान, कर्म, उपासना तथा विज्ञान की उपस्थिति मानी थी, वहां पाश्चात्य वेद व्याख्याकारों ने इन्हें खण्डित दृष्टि से देखा। उनके विचारानुसार ऋग्वेद का द्वितीय से लेकर नवम मण्डल तक अंश प्राचीन है जबकि प्रथम और दशम मण्डल अर्वाचीन तथा कालान्तर में सम्मिविष्ट हुए हैं। यजुर्वेद के कर्मकाण्ड प्रधानरूप को वे सर्वथा नवीन ही मानते हैं। सामवेद में तो ऋग्वेद के ही मन्त्रों की पुनरुक्ति हुई है। अथर्ववेद न केवल भाषा और भावों की दृष्टि से ही नया है अपितु उसमें जादू, टोना आदि अन्धविश्वासों को पुष्ट करनेवाले जो मन्त्र मिलते हैं, वे इसे सर्वथा नवीन तथा आर्यों से पूर्व के किन्हीं असभ्य लोगों के अन्धविश्वासपूर्ण कृत्यों का विधायक ग्रन्थ मानते हैं।

वस्तुतः पश्चिमी विद्वानों की वेदों की ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने में ही अधिक रुचि थी। उनके अनुसार वेदों के रचयिता आर्य ऋषि पश्चिमी सीमान्त से सप्तसिन्धु देश में प्रविष्ट हुए। यहां नदियों के किनारों पर उन्होंने अपने आश्रम बनाये। आर्य राजाओं ने अपने नगर, ग्राम तथा बस्तियां बसाईं। इस प्रदेश के मूल निवासी द्रविड़ आदि जातियों से उनका संघर्ष हुआ जिस में ये आर्य लोग विजयी हुए। जो आदिवासी जातियां आर्यों द्वारा पराजित की गईं उन्हें दस्यु तथा अनार्य नाम देकर हीन माना जाने लगा। इस प्रकार यूरोपीय विद्वानों ने आर्य और दस्यु शब्दों को, जो मूलतः गुणवाचक शब्द थे, नस्ल वाचक बना दिया और अपने विचार में विदेश से आये आर्यों और यहां के मूल निवासी दस्युओं के बीच शाश्वत शत्रुता के भावों को अङ्कित किया। इतना ही नहीं, वेद मन्त्रों में आये अनेक शब्दों के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों की अवज्ञा कर इन विद्वानों ने अनेक राजाओं, व्यक्तियों और ऋषियों के कथानक मनमाने ढंग से कल्पित कर लिये बिना इस बात का विचार किये कि भारतीय इतिहास के उपलब्ध और तथ्यपूर्ण घटनाक्रम से उनकी कोई पुष्टि या सङ्गति भी होती है या नहीं। वस्तुतः आर्यों के खान-पान, आचार-व्यवहार, गृहस्थ जीवन, दाम्पत्य व्यवहार सामाजिकता तथा जीवन के बहुविध पहलुओं का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिये ही वे वेदाध्ययन को उपयोगी समझते थे। वेदों में विद्यमान विराट् आध्यात्मिक अनुभूतियों, उदात्त दार्शनिक विचारों तथा मानव के उत्थान के लिए विवेचित सरोकारों से उन्हें कोई लेना देना नहीं था।

इस ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि ने ही आर० टी० एच० ग्रिफिथ को यह कहने के लिये विवश किया—Some of the hymns being rather Indo European than Hindu and representing the condition of the Ayans before their final settement in India. (Rigveda vol. I preface) अर्थात् वेदों के कुछ सूक्त हिन्दू (भारतीय) होने की अपेक्षा इण्डोयूरोपियन अधिक हैं तथा आर्यों के भारत में बसने के पूर्व की स्थिति को बताते हैं।

इन पाश्चात्य विद्वानों के लिए वेदार्थ को जानने के लिये न तो ब्राह्मण ग्रन्थों की उपयोगिता

है और न निरुक्त शास्त्र की। वे तो इन्हें व्युत्पत्ति शास्त्र को गल्प से अधिक महत्त्व नहीं देते। ग्रिफिथ ने यही तो लिखा है—"As the authors of Brahmans were blinded by the theology, the authors of the still later Niruktas were deceived by etymological fictious." इसकी दृष्टि में ब्राह्मण ग्रन्थों के रचयिता (याज्ञवल्क्य आदि) तो धर्म विश्वासों से प्रवंचित हुए जब कि उत्तर काल के निरुक्तों में व्युत्पत्तियों की कल्पित क्रीड़ा मात्र है।

जब ग्रिफिथ जैसा वेदानुवादक ब्राह्मण तथा निरुक्त आदि वेदार्थ में सहायक तथा समुचित मार्गदर्शक ग्रन्थों के प्रति ऐसी अनर्थपूर्ण धारणा रखता है तो वह भारत की परम्परा प्राप्त वेदार्थ-प्रणाली की सार्थकता को कैसे अनुभव करेगा ? उसने तो यहां तक लिख दिया—The Indian method of inter pretation becomes in its whole essence an entirely false one, ouring to the prejudice with which it choses to conceive the ancient circumstances and ideas which have become quite strange to it.

अर्थात् वेदार्थ की भारतीय प्रणाली पूर्णत: गलत तथा भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि इस प्रणाली में भारतीय स्थितियों तथा विचारों को विशेष महत्त्व दिया जाता है जब कि वेदार्थ में इनका कोई महत्त्व नहीं है। आश्चर्य है कि ग्रिफिथ वेदार्थ करते समय भारतीय स्थितियों और विचारों को ध्यान में रखने को अनावश्यक मानते हैं, तो क्या देश, काल तथा परिस्थितियों की अवज्ञा करके ही किसी ग्रन्थ के कथ्य को ठीक प्रकार से समझा जा सकता है ?

इन्हीं पूर्वाग्रहयुक्त धारणाओं के कारण जब ये पाश्चात्य विद्वान् वेदार्थ करने में प्रवृत्त हुए तो उन्हें वैदिक सूक्तों में जहां थोड़े से उदात्त तथा महनीय विचार मिले तो यत्र-तत्र अनावश्यक, थकाने वाले तथा बोझिल रचनाएं भी दिखाई दीं—The hymns vary greatly in value, by the spendid productions of a divinely inspired, poet we find a large number of unimportant. tiresome and over burdened, compositions.

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि पाश्चात्य विद्वानों का वैदिक अनुशीलन हेतु किया गया श्रम स्तुत्य और श्लाघनीय तो है, किन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि इनके इस प्रभूत परिश्रम से भी वेदार्थ के स्पष्टीकरण में उल्लेखनीय सहायता नहीं मिलती। वेदार्थ यथार्थता तथा वैदिक कथ्य की गरिमा को स्फुट करने में इसका कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं है। अनन्तकाल से भारतीय जनता वेद को अपना धर्मग्रन्थ मानती आई है तथा इसके आविर्भाव के पश्चात् मन्त्रार्थं को जानने के लिए ब्राह्मण, निरुक्त तथा अन्य वेदांगों की रचना हुई है। निश्चय ही ये ग्रन्थ वेदार्थ में सहायक हैं तथा मध्यकालीन भाष्यकारों ने अपनी बुद्धि और समझ के अनुसार इनसे सहायता भी ली है। पाश्चात्त्य वेदाभ्यासियों ने इन भारतीय वेदार्थ-स्रोतों की न केवल उपेक्षा ही की, अपितु उन्हें निरर्थक भी बताया। परिणाम यह हुआ कि मन्त्रों के शब्दार्थ को तो येन केन प्रकारेण वे लिख पाये, किन्तु उनके हार्द को समझने तथा स्फुट करने में वे असफल रहे। इसका नमूना प्रो०

मैकडानल के किये उन अर्थों में देखा जा सकता है जो उसने अपना पुस्तक A Vedic Reader for students में विभिन्न सूक्तों की व्याख्या में प्रस्तुत किये हैं।

ऋग्वेद २।१२ के प्रथम मन्त्र का ऐसा ही अर्थ देखें– The ctiet wise god who as soon as born surpassed the gods in power before whose vehemence the two Works trembled by the reason of the greavness of his valour he, o men is India.

उपनिषद् : वेद

[लि० – श्री अनन्त शर्मा, निदेशक, गोदावरी आर्य कन्या शिक्षण समिति, ब्यावर-३०५६०१ (राज.)]

भगवान् मनु के **'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'** (स्मृति १२।६७) जैसे तथा ऐसे ही अनेक आर्ष-वचनों से ऋषि दयानन्द का सिंह-गर्जन है कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि समस्त आर्ष-ज्ञान-विज्ञान वेद की ही देन है। वेद के साथ ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि नामों का व्यवहार विषयभेद को लेकर है तथा अभिप्राय की स्पष्टता के लिए है। इस प्रकार वेद विषय होने से उपनिषद् भी वेद ही है इस विषय पर संक्षिप्त विचार वेदविद्वानों की सेवा में विचारार्थ प्रस्तुत हैं।

बृहदारण्यकोपनिषत् का निम्नलिखित वाक्य वेदों के साथ इतिहास पुराण आदि को महान् भूत का निःश्वास कहते हुए इनकी सरूपता को बता रहा है—

अरेऽस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि इष्टं हुतम् आशितं पायितम् अयञ्च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि अस्य एव एतानि सर्वाणि निःश्वसितानि। ४।५।११॥

महर्षि याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को कहते हैं कि—इस महाभूत का निःश्वास ही है जो यह ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास और पुराण हैं, विद्याएं, उपनिषत्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, आशित, पायित यह लाक-परलोक और सभी भूत इसी के ये सभी निःश्वास हैं।

इसका कोई अन्य अभिप्राय सम्भव नहीं है। इसमें प्रमाणरूप में गोपथ ब्राह्मण का निम्नलिखित वचन प्रस्तुत है—

एवम् इमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्याताः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्याः। (पूर्व २।१०)।

इस प्रकार ये सभी वेद निर्मित हुए कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषत्, इतिहास, अन्वाख्यात, पुराण, स्वर, संस्कार, निरुक्त, अनुशासन, अनुमार्जन और वाकोवाक्य सहित।

जैसे सस्वराः का अर्थ स्वरसहित है ससंस्काराः का अर्थ संस्कारसहित है और इसका अभिप्राय भी स्पष्ट है कि मन्त्रस्वरयुक्त ही प्रकट हुए हैं स्वर बाद में नहीं लगाये गये हैं, प्रकृति-प्रत्ययरूप संस्कार भी मन्त्र का सहभावी ही है। किसी अस्पष्ट संस्कारवाले पद को बाद में स्पष्ट संस्कार नहीं दिया गया है अथवा संस्कार-शून्य को बाद में संस्कारित नहीं किया गया है। इसी भांति कल्प, ब्राह्मण, रहस्य आदि को भी, लिये हुए ही मन्त्र प्रकट हुए हैं।

इन दोनों ब्राह्मण वाक्यों को अनादरणीय कोटि में भी नहीं रखा जा सकता है। शुक्ल यजुर्वेद के ऋषि याज्ञवल्क्य शतपथ ब्राह्मण के प्रवक्ता हैं इसी भांति अथर्ववेद के कतिपय सूक्तों के ऋषि गोपथ ही गोपथ ब्राह्मण के प्रवक्ता हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषि का यह दर्शन न प्रौढिवाद है और न किसी अन्य का प्रक्षिप्त वचन ही है। मन्त्रों में भी इस प्रकार के वचन विद्यमान हैं। यथा—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥ ४।५८।३॥

यह ऋचा यजुर्वेद (माध्यन्दिनी संहिता १७।९१) में भी पठित है। गोपथ-ब्राह्मण पूर्वभाग २।१९ में इसके व्याख्यान में कहा गया है—'**त्रिधा बद्ध इति मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणम्**' तीन प्रकार से बन्धा है वे बन्धन हैं मन्त्र, कल्प और ब्राह्मण। यही अर्थ भगवान् यास्क ने निरुक्त में '**त्रिधा बद्धः त्रेधा बद्धः मन्त्रब्राह्मणकल्पैः**' (१३।७) किया है।

वेद मन्त्र में आया प्रत्यक्ष शब्द अथवा परोक्षरूप में सूचित शब्द जिस अर्थ का प्रतिपादन करता है वह अर्थ वेद में होना चाहिये वेद से बाहर नहीं। फलतः कल्प और ब्राह्मण किसी वेदबाह्य अथवा वेदपरवर्ती अर्थ के सूचक नहीं हैं। भले ही आज उपलब्ध ब्राह्मण पर्याप्त परवर्ती प्रोक्त हो सकते हैं किन्तु इन ब्राह्मणों में जिन शतशः ऋषियों के वचन उपलब्ध होते हैं तथा उनके ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं, वे वचन निश्चयतः पूर्ववर्ती ब्राह्मणों के प्रवचनों से ही लिये गये हैं जो ब्राह्मणों की अजस्र परम्परा के सूचक हैं। वेद इस परम्परा की सूचना देता है—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे॥ यजु० ४०।१०॥

अर्थात् सम्भव का क्षेत्र और फल अन्य है असम्भव का अन्य है, यह उन धीर-मननशील विद्वानों के मुख से सुनते आये हैं जो इस प्रकार व्याख्या करते रहे हैं। विद्या-अविद्या के सम्बन्ध में पठित मन्त्र का उत्तरार्द्ध भी इस मन्त्र का उत्तरार्ध ही है।

ब्रह्म=वेद का व्याख्यान ब्राह्मण ही है। अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र में इस अर्थ में साक्षाद् ब्राह्मण शब्द पढ़ा गया है—

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव॥ ७।३७।१।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (पुनर्जन्म विषय) में ऋषि दयानन्द ने 'ब्राह्मण' के इस अर्थ को लिया है—'ब्राह्मणं च=और सदा के लिए ब्रह्म जो वेद है, उसका व्याख्यानसहित विज्ञान तथा आप ही में हमारी निष्ठा बनी रहे'।

'पुराण' के विषय में अन्यत्र विस्तृत विचार किया जा चुका है, यहां इतना ही बताना अभीष्ट है कि पुराण भी वेद है।

ऋचः सामानिच्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिविदेवा दिविश्रितः ॥ अथर्व० ११।७।२४।

यहां पुराण शब्द प्रथम तो वेदमन्त्र में पठित है, पुनः ऋक् से यजुः तक के चारों वेदों के मध्य पठित है अतः वेद ही है। व्रात्यकाण्ड में ऋचः सामानि यजूंषि और ब्रह्म (अथर्ववेद) की भाँति ही इतिहासः पुराणं नाराशंसी गाथा (इनसे भिन्न भी अन्य गाथा) का उल्लेख है। (अथर्ववेद १५। ६।=,६।११।१२)।

अपौरुषेय वेद में आया पुराण शब्द ब्रह्मादि द्वारा प्रोक्त पौरुषेय ग्रन्थों का जो अत्यन्त पर-वर्ती भी हैं निर्देश करे यह सम्भव नहीं है।

वस्तुतः इतिहास पुराण आदि वेद के विषय अथवा वेदविद्या ही हैं। इसे समझने के लिए वेद के विभाजन स्वरूप को सामान्य दृष्टि से देखना आवश्यक है।

ज्ञान-विज्ञान की अलौकिक ईश्वरोपज्ञ राशि को जाति रूप में लें तो 'वेद' एकवचन का शब्द प्रयुक्त होता है जो मनु आदि के **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** (२।६) जैसे व्यवहार का निमित्त है।

बाह्य (रचनामूलक) रूप को दृष्टि में रखकर वेद को देखें तो उसके तीन भेद सम्भव हैं। अर्थानुसार पादव्यवस्था को लेकर की गई पद्य रचना 'ऋक्' कहलाती है, गीति का पारिभाषिक नाम साम है, इनसे भिन्न जो कुछ भी है वह यजुः कहलाता है, इस प्रकार ऋचाओं की संहिता ऋग्वेद, सामों की संहिता सामवेद तथा यजुषों की संहिता यजुर्वेद है। इस दृष्टि से चौथा नाम सम्भव नहीं है।

तीसरा सुप्रसिद्ध विभाजन यज्ञ के आधार पर है। होता अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा ये चार यज्ञनिर्वाहक ऋत्विक् होते हैं। इनके व्यवहार्य मन्त्रों का संकलन कुल चार भागों में है। होता के मन्त्रों की संहिता ऋक् संहिता या ऋग्वेद है, अध्वर्यु के कर्म के सम्पादक मन्त्रों का संकलन यजुः संहिता या यजुर्वेद है। उद्गाता द्वारा विविध सामगानों से गाई जानेवाली सामयोनि ऋचाओं का संग्रह साम संहिता या सामवेद है। ब्रह्मा का सम्बन्ध तीनों ही ऋत्विजों के कार्य का निरीक्षण करने के साथ-साथ यज्ञभ्रेष को दूर कर यज्ञ को पूर्णता तक पहुंचाना है अतः पूर्व तीन वेदों से तो सम्बन्ध है ही उसका प्रातिस्विक वेद अथर्व है, थर्व का अर्थ विचलित होना और अथर्व का अर्थ है विचलित न होने देना। इस प्रकार अथर्व में ब्रह्ममन्त्रों का संग्रह है अतः यह ब्रह्मवेद है। इस यज्ञ-प्रक्रिया की दृष्टि से वेद चार ही हैं इनमें न्यूनाधिकता सम्भव नहीं है। यही विभाजन प्रधान है अतः यह सनातन सर्वसम्मत व्यवहार है कि वेद चार हैं। इनकी शाखाएं अनेक हो सकती हैं किन्तु वेदत्व समान है।

जब रचनामूलक भेद को अथवा यज्ञ-विनियोग मूलक भेद को प्राधान्येन लिया जाता है तो अर्थ की अपेक्षा नहीं रहती है किन्तु जब वेदाध्ययन होता है तो अर्थ-ज्ञान प्रधानरूप से अपेक्षित होता है। इस अर्थ को विषयरूप में ही लिया जा सकता है। ये विषय अनेक हैं अतः एक निश्चित

संख्या में उन्हें गिनाना अथवा नियमित करना सम्भव नहीं है अतः **'अनन्ता वेदाः'** जैसा शिष्ट व्यवहार प्रचलित है। इसका यह आशय नहीं है कि वेद के साथ सम्बद्ध चार की सख्या को नकारा जाये या उसका प्रत्याख्यान किया जाये।

अर्थ को लेकर वेदगणना पञ्चमवेद से होती है। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में भगवान् सनत्-कुमार को अपने अधीत शास्त्रों को बताते हुए देवर्षि नारद कहते हैं—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्, पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यम् एकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्याम् एतद् भगवोऽध्येमि। (७।१।२)।

यहां चारों वेद गिनाकर आथर्वण के साथ चतुर्थ शब्द का विशेषण दिया गया है जो चारों संहिताओं को बताता है। इसके पश्चात् विषय का निर्देश प्रारम्भ होता है जिसे 'वेदों का वेद' कहा गया है। इतिहास पुराण को 'पञ्चम' विशेषण से विशेषित करना उपलक्षण है। इस प्रकार पित्र्य षष्ठ दैव सप्तम है जो क्रम अन्त तक चलता है। इसी अभिप्राय से नाटचवेद को भी पञ्चम वेद कहा गया है। वहां चारों वेदों का वेद्य नाटच है जो एतद्विषयक अध्येता का पञ्चम वेद है। आयुर्वेद को भी पञ्चमवेद इसी अभिप्राय से कहा गया है—

कृत्वा तु पञ्चमं वेदं भास्कराय ददौ विभुः।
स्वतन्त्रसंहितां तस्माद् भास्करश्च चकार सः॥ (ब्रह्मवैवर्त ब्रह्मखण्ड १६।१०)।

ब्रह्मा द्वारा पञ्चमवेद आयुर्वेद का निर्माण कर भास्कर को दिया भास्कर ने अपनी संहिता तैयार की।

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के सृष्टि-विद्या-विषय में ऋग्वेद के नासदीय-सूक्त, यजुर्वेद के उत्तर-नारायणीयसहित सम्पूर्ण पुरुषसूक्त तथा अथर्ववेद के उच्छिष्टसूक्त के दो मन्त्र, ऋग्वेद के हिरण्य-गर्भसूक्त के प्रथम मन्त्र मे संक्षेप में सृष्टिविद्या विषय का प्रतिपादन किया गया है। सृष्टिविद्या को वैदिक पारिभाषिक शब्द 'पुराण' बताता है। फलतः पुराण वेदविद्या है। वेद वेद्य अर्थ है।

स्वयम्भू ब्रह्मा से लेकर कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास तक पचासों व्यासों ने इसी प्रकार वेदमन्त्रों को लेकर क्रमबद्ध सृष्टिविद्या का प्रवचन किया। मन्त्रों का यह संकलन 'पुराणसंहिता' था। दुर्भाग्य से ऐसी संहिता प्राप्य नहीं है। वेदव्यास के शिष्य रोमहर्षण ने व्याख्या सहित यह संहिता अपने छह शिष्यों को दी, उनमें से तीन ने अपनी संहिताओं का निर्माण किया। आज ये चार संहितायें भी अप्राप्य हैं। इनके आधार पर वर्तमान पुराण बने हैं जो न कृष्णद्वैपायन व्यास के हैं न उनके साक्षात् शिष्य रोमहर्षण के हैं और न उनके शिष्यों में किसी के हैं। इनका पुराणत्व इसी-लिए है कि इनका मूल 'पुराणवेद' है। चूंकि ये व्याख्याग्रन्थ हैं अतः इनमें ग्राह्याग्राह्यत्व आर्षा-नार्षत्व के आधार पर है। कसौटी वेद ही है।

ठीक इसी प्रकार उपनिषत् हैं। उपलक्षणरूप में 'ईशावास्योपनिषत्' प्रस्तुत किया गया है। शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनी संहिता तथा काण्व संहिता का यह ४०वां अध्याय है तथा परम्परागत

रूप से यह 'उपनिषद्' रूप मे स्वीकृत है। इसमें एक भी वर्ण का व्यत्यय नहीं है तथा अपने इसी रूप में यह उपनिषद् नाम से स्वीकृत है।

इसी भान्ति माध्यन्दिनी संहिता के ३४ वें अध्याय के प्रथम छः मन्त्र 'शिवसंकल्पोपनिषद्' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन मन्त्रों के ऋषि 'शिवसंकल्प' और देवता 'मन' है।

निघण्टु (२।२२) में पठित 'इन' के निर्वचन में प्रवृत्त महामति यास्क ने उदाहरण के रूप मे निम्नलिखित मन्त्र को उद्धृत किया है—

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स माधीरः पाकमत्र विवेश।। (ऋ० १।१६४।२१)।

इस मन्त्र की अधिदैवत अर्थ में व्याख्या कर महर्षि यास्क कहते हैं—**'इत्युपनिषद्वर्णो भवति इति अधिदैवतम्'** (निरुक्त ३।१२।१) इसका स्पष्टीकरग करते हुए निरुक्त के सर्वप्राचीन टीकाकार भगवद्दुर्ग लिखते हैं कि 'उपनिषद्भावेन वर्ण्यते इति उपनिषद्वर्णः' विक्रमपूर्व प्रथम शताब्दी में उद्भुत स्कन्दस्वामी भी इसे 'रहस्यविद्या का वर्णन करनेवाला मन्त्र' के रूप में व्याख्यात करते हैं। स्वामी ब्रह्ममुनि जी तथा पं० भगवद्दत्त जो आदि सभी यास्क के कथन का यही अर्थ करते हैं।

महर्षि शौंनक ने बृहद्देवता में ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों को उपनिषद् नाम दिया है जो सर्वानुक्रमणी आदि से समर्थित है, यथा—

बृहस्पतेरनर्वाणं कङ्कतोपनिषत् परम्। (४।६३)।

'अनर्वाणं वृषभं' आदि आठ ऋचाओंवाले बार्हस्पत्य सूक्त का परवर्ती सूक्त 'कङ्कतोपनिषत्' है। यह ऋग्वेद का १।१९१ क्रमाङ्क का सूक्त है। इसमें १६ मन्त्र हैं। इसका प्रथम मन्त्र **'कङ्कतो न कङ्कतो०'** है। मन्त्रप्रतीक से जैसे 'ईशावास्योपनिषत्' नाम है वैसे ही मन्त्रप्रतीक से 'कङ्कतोपनिषत्' नाम है। यहां अनुक्रमणिका का वचन है—**'कङ्कतः षोडशोपनिषदानुष्टुभमप्तृणसौर्यं विषशङ्कावान् अगस्त्यः प्राब्रवीद्०'** इसके ऋषि अगस्त्य हैं।

षडाश्विनानि गर्भार्थं पञ्चर्चोपनिषत् स्तुतिः। बृहद्दे० ५।८२।।

ऋग्वेद पञ्चम मण्डल के ७३ से ७८ तक छह आश्विन सूक्त हैं। इनमें ७८वां सूक्त ९ ऋचाओं का है। इनमें पञ्चम मन्त्र से नवम तक पांच मन्त्रों का सम्बन्ध ग्रर्भ से है। इनमें भी अन्तिम तीन अर्थात् ७-९ मन्त्र गर्भोपनिषत्स्तुति अर्थात् गर्भस्राविण्युपनिषत् है।

इमां खनामीति सूक्तम् इन्द्राणी यत् स्वयं जगौ।। बृहद्दे० ८।५५।।
तदौपनिषदं षट्कं भाववृतं प्रचक्षते।। वही ८।५६।।

'इमां खनाम्योषधिं वीरुधम्०' से आरम्भ होनेवाला यह छह ऋचाओं का सूक्त स्वयम् इन्द्राणी द्वारा गाया गया है। इस (१०।१४५) सूक्त को औपनिषद भाववृत्त कहते हैं। यहां बृहद्देवता ने सर्वत्र प्रचक्षते आदि जैसी क्रियाओं द्वारा अनुक्रमणिका की तथा देवतानिर्देश करनेवाले यास्क शाकपूणि आदि निरुक्तकारों की सम्मति सूचित की गई है। यहां अनुक्रमणिका का वचन है—

'**इमामिन्द्राण्युपनिषत् सपत्नीबाधनमानुष्टुभं तु पङ्क्त्यन्तम्**' ऋषि—इन्द्राणी देवता—सपत्नीबाधन, छन्द-प्रथम पांच का अनुष्टुप् तथा अन्तिम का पंक्ति है।

ऐसे अभिप्राय को लेकर ही भगवान् मनु ने अपनी स्मृति में कहा है—

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ ६।२९॥

औपनिषदीः श्रुतीः अर्थात् उपनिषद्‌विषयक वेदमन्त्रों को नित्य अभ्यास में ले। आचार्य वररुचि निरुक्तसमुच्चय में कहते हैं कि '**विभुत्वात् मन्त्रपदानां सर्वथा योजना कर्तव्या**' अर्थात् मन्त्रपदों के विभु-व्यापक होने से सम्भव सभी विषयप्रकारों में उनके अर्थ की योजना करनी चाहिये। (मन्त्र ६६)।

वर्त्तमान प्रसिद्ध उपनिषदों में मुण्डकोपनिषत् तथा श्वेताश्वतरोपनिषत् ब्राह्मणभाग से सम्बद्ध नहीं हैं। मुण्डक का सम्बन्ध अथर्ववेद की किसी लुप्तशाखा से है। इसी भान्ति श्वेताश्वतरोपनिषत् भी कृष्ण यजुर्वेद की मन्त्रोपनिषद् ही है। पं० भगवद्दत्त जी का विचार है कि श्वेताश्वतरों की एक दूसरी भी मन्त्रोपनिषत् थी। आत्मानन्द ने अस्यवामीय सूक्त (ऋग्वेद १।१६४) के १६वें मन्त्र के भाष्य में श्वेताश्वतरोपनिषत् का एक मन्त्र उद्धृत किया है जो प्रचलित उपनिषद् में नहीं मिलता है। (वैदिक वाङ्मय का इतिहास प्रथम भाग पृ० २३२, सन् १९७८, प्रणव प्रकाशन, नई दिल्ली)। कठोपनिषत् कृष्ण-यजुर्वेद कठ-शाखा का है।

वेदों का व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। स्वाभाविक है कि वेदोपनिषद् की ब्राह्मणान्तर्गत व्याख्या ब्राह्मणोपनिषत् है। उपलब्ध प्रसिद्ध उपनिषत् ब्राह्मणों के ही भाग हैं। जैसे वेद से अध्ययन सुविधा हेतु ईशावास्योपनिषत् को पृथक् पुस्तक रूप दिया गया है वैसे ही शतपथ ब्राह्मण से बृहदारण्यकोपनिषत् को पृथक् कर पुस्तक रूप दिया गया है। वस्तुतः वह ब्राह्मण ही है।

इसी भान्ति तैत्तिरीयोपनिषत् कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक के ७-९ प्रपाठ है।

केनोपनिषत् छान्दोग्योपनिषत् सामवेद तलवकार शाखा के ब्राह्मण के भाग हैं केनोपनिषत् ९ अध्याय है तथा छान्दोग्योप० उसी की अष्टाध्यायी है। अथर्ववेदव का केनसूक्त इसका आदर्श है।

प्रश्नोपनिषत् और माण्डूक्योपनिषत् भी अथर्ववेदीय ब्राह्मण के भाग हैं।

ऐतरेयोपनिषत् ऐतरेय ब्राह्मण के आरण्यक भाग के अन्तर्गत है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कोई भी उपनिषत् मन्त्रभाग अथवा ब्राह्मणभाग से भिन्न, उनके बाहर अस्तित्व वाली नहीं है। वेद हो अथवा ब्राह्मण हो उपनिषद् उनमें ही विद्यमान विषय-विशेष का नाम है। उपनिषत् नाम दे देने मात्र से ईशावास्योपनिषद् पौरुषेय नहीं हो जाती है और ईशावास्य-उपनिषत् तुल्य नाम रखने मात्र से बृहदारण्यकोपनिषत् अपौरुषेय नहीं हो जाती है। वेदोपनिषत् अपौरुषेय हैं ब्राह्मणोपनिषत् तत्तद् ऋषियों का प्रवचन होने से पौरुषेय हैं यद्यपि उपनिषत्त्व दोनों में तुल्य है।

उपनिषदों में आये मन्त्र वेद के ही हैं, जिन्हें प्रवचन कर्त्ता ऋषि अपने प्रतिपाद्य के समर्थन में उद्धृत करता है, यह एक भिन्न बात है कि वे वर्तमान संहिताओं में मिलें या न मिलें अथवा यथावत् न मिलें। परिवर्तित रूप में मिलने का अर्थ है प्रवचन भेद। शाखाभेद प्रवचन भेद ही है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महीमानमिति वीतशोकः ॥

ये दोनों श्लोक मुण्डकोपनिषत् (३।१।१-२) में, श्वेताश्वतरोपनिषत् (४।६-७) में पठित हैं। इनमें प्रथम अस्यवामीय सूक्त (ऋग्वेद १।१६४।२०) में तथा अथर्ववेद (९।९।२०) में पठित है।

उपनिषत् में प्रोक्त होने पर भी मन्त्र अपौरुषेय ही है, वेद से पृथक् कर लेने मात्र से इसका वेदत्व नष्ट नहीं हो जाता है। ऋग् यजुः साम अथर्व नाम से इनका संहिता बद्ध होना अर्थ की दृष्टि से प्रकरण विशेष से मुक्त रखने वाला है किन्तु जब इन मन्त्रों को 'पुराण' 'इतिहास' आरण्यक उपनिषत् आदि के रूप में ग्रथित-ग्रन्थ बद्ध अथवा संहिता बद्ध कर लिया जाता है तो ये प्रकरण विशेष तक नियमित होकर उसी से सम्बद्ध अर्थ के प्रतिपादक हो जाते हैं। निरुक्तकार जब याज्ञिक नैरुक्त, ऐतिहासिक, अध्यात्म, अधिदेव आदि कहकर मन्त्रार्थ करते हैं तो यह प्रकरण ही उनकी बुद्धि में रहता है। उनके निर्वचन भी इसी दृष्टि को लेकर भिन्न-भिन्न होते हैं, जिन्हें अबहुश्रुत मूढ मिथ्या शास्त्राभिमान से दोषपूर्ण देखते हैं अथवा यास्क को विकल्प प्रधान अनिर्णीत बुद्धि वाला मानते हैं। 'मासकृत्' को स्वतन्त्र रूप में लेकर वास्तविक अर्थ करना दुरुह है। प्रकरणवश मास-कृत् मा-सकृत् के रूप में साधु अर्थ योजना सम्भव है। ज्योतिष में सूर्य-चन्द्र नक्षत्रों के सम्बन्ध से मास योजना है। चन्द्र है तो मास पूर्णमास और अर्धमास अर्थ देता है सूर्य सम्बन्ध से अर्धमास अर्थ अनुपपन्न है। काठक का **अन्नं मासाः**, ताण्डच का **उदाना मासाः**, जैमिनीय ब्राह्मण का **मासा रश्मयः** गोपथ ब्राह्मण का **'मासा वै देवा अभिधवः'** तैत्तिरीय सं० का **'मासा वै वाजाः'** जैसे अर्थ संकेतक वाक्य इसी प्रकरण मूलक प्रवृत्ति निमित्त भेद से हैं।

यास्क निरुक्त १४।३० में द्वा सुपर्णा की आत्मगतिपरक व्याख्या उपनिषत् मान कर ही करते हैं। परवर्ती वाङ्मय में इसे अर्थरूप में अनेकत्र लिया गया है। अन्नपूर्णोपनिषत् में—

द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिन् जीवेशाख्यौ सह स्थितौ।
तयोर्जीवः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः ॥ (४।३२)।

केवलं साक्षिरूपेण विना भोगो महेश्वरः।
प्रकाशते स्वयं भेदः कल्पितो मायया तयोः ॥(४।३३)।

इन पद्यों से अपनी व्याख्या की गई है। वायुपुराण में इस प्रकार है—

दिव्यौ सुपर्णौ सयुजौ सशाखौ पटविद्रुमौ।
एकस्तु यो द्रुमं वेत्ति नान्यः सर्वात्मनस्ततः ॥ (९।११९)।

महाभारत द्रोणपर्व में भी इस मन्त्र को इस निम्नलिखितरूप में लिया गया है—

दिव्यामृतौ मानसौ द्वौ सुपर्णौ वाचा शाखाः पिप्पलाः सप्तगोपाः ।
दशाप्यन्ये ये पुरं धारयन्ति त्वया सृष्टास्त्वं हि तेभ्यः परो हि ॥ (२०२।७६) ।

श्रीमदभागवत पुराण में इसे निम्नलिखित रूप में लिया गया है—

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे ।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥ (११।११।६) ।

आत्मानमन्यं च स वेद विद्वानपिप्पलादो न तु पिप्पलादः ।
योऽविद्ययायुक् स तु नित्यबद्धो विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः ॥ (७।) ।

इस प्रकार वेद का यह विषय अनादिकाल से अर्थात् ईशावास्यादि उपनिषत् तन्त्रों की प्रवृत्ति से अद्यावधि उपनिषत् के रूप में गृहीत है। उपनिषदों में **तदेतद् ऋचाभ्युक्तम्, तदेष श्लोकः** आदि द्वारा वेदमन्त्र उद्धृत हैं। श्लोक नाम से **'पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिम्०'** ऋक् १।१६४।१२ अथर्ववेद ६।६।१२, मन्त्र उद्धृत है। श्लोक को लौकिक संस्कृत पद्यों तक ही सीमित कर देखने-वालों को ऐसे प्रसंग ध्यान से देखने चाहिये।

वेद के ये विषय वेद ही हैं इस तथ्य को न जानने से पाश्चात्त्य और भारतीय विद्वान् अनेक तथ्य-विरुद्ध मतों की स्थापना करते जा रहे हैं। महान् विद्वान् पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने स्वसम्पादित 'निरुक्तसमुच्चय' की भूमिका में सर्वथा स्पष्ट लिखा है—

वस्तुतस्तु वैदिकवाङ्मये मन्त्रप्रकरणे ऋग्-यजुः-साम-ब्राह्मण-इतिहास-गाथा-कल्पनाराशंसी-इत्यादिपदैः तत्तद् विभिन्नया भाषाशैल्या निबद्धा मन्त्रा एव गृह्यन्ते, ब्राह्मणप्रकरणे च ब्राह्मण-वचनानि इति वैदिकानां राद्धान्तः। इमं प्राचीनं सिद्धान्तमनवबुद्ध्यैव पाश्चात्त्या अस्मद्देशीयाश्च विद्वांसो बहुधातथ्यं मतं कल्पयन्ति। (द्वितीयावृत्तेर्भूमिका पृ० ६, संवत् २०२२, भारतीय प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर)।

अभिप्राय स्पष्ट है कि वास्तविक स्थिति यह है कि वदिक वाङ्मय में मन्त्रप्रकरण में ऋक्, यजुः, साम, ब्राह्मण, इतिहास, गाथा, कल्प, नाराशंसी आदि पदों से उस-उस विभिन्न भाषाशैली में निबद्ध मन्त्र ही लिये जाते हैं और ब्राह्मण प्रकरण में ब्राह्मणवचन ही गृहीत होते हैं यह वैदिकों का सिद्धान्त है। इस प्राचीन सिद्धान्त को न जानकर ही पाश्चात्त्य और भारतीय विद्वान् प्रायः तथ्यहीन मत की कल्पना करते हैं।

साधारण लोगों की बात न लें, कुछ विशिष्ट विद्वानों ने भी इस दृष्टि के अभाव में ऐसी ही स्थापनायें की हैं। पं० रघुनन्दन जी शर्मा की 'वैदिक सम्पत्ति' एक असाधारण अतिश्रेष्ठ अमर कृति है। किन्तु ऐसे स्थलों पर उनसे विषम त्रुटियां हुई हैं। बृहदारण्यकोपनिषत् के निम्नलिखित उद्धरण की श्री शर्मा जी की आलोचना द्रष्टव्य है—

अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानीति व्याख्यानान्यस्यैवैतानि ।

इस वर्णन में उपनिषत् श्लोक सूत्र और व्याख्यान आदि पर ध्यान देने की आवश्यकता है। इनमें भी सूत्रग्रन्थ तो बहुत ही आधुनिक हैं। कोई भी सूत्रग्रन्थ, चाहे वह गृह्य हो या श्रौत, दर्शन या व्याकरण, ब्राह्मणग्रन्थों से पूर्व का नहीं है। उन सूत्रों की व्याख्या तो बहुत ही नवीन है। परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों से सम्बन्ध रखनेवाले ये उपनिषद् सूत्रों और उनकी व्याख्याओं का वर्णन करते हैं, इससे प्रतीत होता है कि इनका यह भाग बहुत ही नवीन है।·········इसके अतिरिक्त वेदों में न श्लोक हैं और न सूत्र ही हैं। ऐसी दशा में उपनिषदों का यह भाग बहुत ही आधुनिक सिद्ध होता है। (पृ० ३६१, पञ्चम संस्करण दयानन्द दीक्षा शताब्दी महोत्सव)। श्री शर्माजी की दृष्टि से यह प्रक्षिप्तांश है।

इस भ्रान्ति के निवारण हेतु वेदों के अनेक मन्त्र उद्धृत किये जा सकते हैं किन्तु विस्तार से बचने के लिए केवल एक ही मन्त्र का एक अंश महर्षि दयानन्द के भाष्य के साथ प्रस्तुत है—

सरस्वत्यै स्वाहा······घोषाय स्वाहा श्लोकाय स्वाहा······ । यजुर्वेद १०।५॥

सरस्वत्यै = वेदार्थसुशिक्षाविज्ञापिकायै वाचे, स्वाहा व्याकरणाद्यङ्गविद्या, घोषाय = सत्-प्रियभाषणादियुक्तायै वाण्यै, स्वाहा = तथ्योपदेशे वक्तृत्वविद्या, श्लोकाय = तत्त्वसंघात-सत्काव्य-गद्यपद्यछन्दोनिर्माणादिविज्ञानाय, स्वाहा - तत्त्वकाव्यशास्त्रादिविद्या ।

हिन्दी में पदार्थ भी द्रष्टव्य है—सरस्वत्यै = वेदों का अर्थ और अच्छी शिक्षा जनानेवाली वाणी के लिए, स्वाहा = व्याकरणादि वेदों के अङ्गों का ज्ञान, घोषाय = सत्य और प्रिय भाषण स युक्त वाणी के लिये, स्वाहा = सत्य उपदेश और व्याख्यान देने की विद्या, श्लोकाय = तत्त्वज्ञान का साधक शास्त्र श्रेष्ठ काव्य गद्य और पद्य आदि छन्द रचना के लिए, स्वाहा = तत्त्व और काव्य शास्त्र आदि की विद्या।

क्या यह एक उद्धरण ही यह बताने को सर्वथा पर्याप्त नहीं है कि वेदाङ्ग और काव्य-शास्त्र आदि की विद्याओं की शिक्षा देनेवाले ग्रन्थ श्लोक और सूत्रों के विना नहीं होते थे। श्लोक अथवा सूत्र शब्द के आ जाने मात्र से क्या ऐसे सभी मन्त्रों को अति आधुनिक प्रक्षेपयुक्त मान लिया जावे।

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥
वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥ अथर्व० १०।८।३७,३८॥

'सूचनात् सूत्रम्' के अनुसार सम्पूर्ण प्रजाएं जिसमें पिरोई हुई हैं उस सूत्र का सूचक सूत्र यह वेद ही है। वेद ज्ञान की सार्थकता उस सूत्ररूप परमात्मा के ज्ञान में ही है अतः यहां सूत्र तथा सूत्र के सूत्र को जानने की बात कही गई है। चरकसंहिता तथा सुश्रुतसंहिता में सूत्रस्थान अथवा श्लोक स्थान पर्यायवाचक रूप में पढ़े गये हैं। अतः 'ब्रह्मसूत्र' नाम होने मात्र से इस ब्रह्मसूत्रग्रन्थ को नवीन समझ लेना भी भ्रान्ति ही है।

ईशावास्योपनिषत् के १७वें मन्त्र—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥

के मध्य निम्नलिखित डेढ श्लोक मिलाने की चर्चा भी 'वैदिक सम्पत्ति' (पृष्ठ ३८७) में की गई है। वह श्लोक है—

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥

शर्मा जी इसे प्रक्षिप्त मानते हैं। सीधी सी बात है माध्यन्दिन यजुर्वेद संहिता तथा काण्व यजुर्वेद संहिता का ४०वां अध्याय ईशोपनिषत् है। इस प्रकार दो ईशापनिषत् परम्परा में हैं। शांकर भाष्य काण्व ईशोपनिषत् पर है तथा सर्वत्र प्रचलन में यही है। ऋषि दयानन्द ने माध्यन्दिन ईशोपनिषत् को लिया है। इसी भांति शतपथ भी दो है—१. माध्यन्दिन और २. काण्व। ईशोपनिषद् के ब्राह्मणभाष्य के रूप में बृहदारण्यकोपनिषत् है। यह काण्व-शतपथ के १७वें काण्ड से है। यही सर्वत्र प्रचलित है। ऋषि दयानन्द ने भी इसे ही अपनाया है फलतः काण्व शाखा की प्रामाणिकता भी ऋषि को मान्य है। शङ्कर आदि आचार्यों के भाष्य इसी पर हैं। परन्तु उपनिषद्रूप में माध्यन्दिन भी मान्य रही है। आचार्य शङ्कर से भी प्राचीन भर्तृप्रपञ्च ने माध्यन्दिन ईशोपनिषत् तथा बृहदारण्यकोपनिषत् पर व्याख्याएं लिखी हैं। इस प्रकार यहां प्रक्षेप जैसा प्रश्न कहां उठता है।

इसी भांति इसी उद्धरण में वेदचतुष्टय को साक्षात् निःश्वास तथा इतिहास से अनुव्याख्यानानि तक को परोक्ष निःश्वास मानते हुए दोनों निःश्वासो में अन्तर मानकर इन शास्त्रों में भेद बताने के लम्बे-चौड़े व्याख्यान की आवश्यकता शेष नहीं रहती है जब इन्हें मन्त्रवेद के विषयों में देखने की दृष्टि प्राप्त हो जाती है। उसके अभाव में स्वनामधन्य गुरुदेश्य विद्वद्वर्य पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु को ऐसा ही समाधान देना पड़ा। (यजुर्वेदभाष्य-विवरण एवं भूमिकायुक्त संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रकाशन सन् १९५९, भूमिका पृष्ठ ३ टिप्पणी २)। ऋग्वेद से पुराणम् तक एकवचनान्त शब्दों का निःश्वसितम् एकवचनान्त से तथा विद्याः से सर्वाणि भूतानि तक के पदों का जो प्रायः बहुवचनान्त हैं, बहुवचनान्त निःश्वसितानि से अन्वय है, श्वासभिन्नता जैसा कोई हेतु नहीं है।

शास्त्रों के व्यापक अध्ययन और तदनुकूल व्यापक-दृष्टि के अभाव में लिये गये निर्णय जो वस्तुतः वैयक्तिक निष्कर्षों के अनुकरण की परम्परा पर आश्रित होते हैं अकारण शास्त्र-निन्दा का रूप ले लेते हैं। वेदनिष्ठा का प्रबल आग्रह है कि इस दोष मे बचें। एक उदाहरण देकर इस प्रसङ्ग को पूर्ण किया जा रहा है। श्री विद्यानन्द जी सरस्वती की जावन भर की सारस्वत-साधना का परिणाम उनके भूमिका-भास्कर आदि श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि मूल वैदिक वाङ्मय का उनका अध्ययन न्यून है तथा विधिवत् परीक्षा किया विना ही दिये गये पूर्व लेखकों के विचार अधिक हैं। उर्वशी के पौराणिक आख्यान को लेकर वे भूमिका-भास्कर की भूमिका (पृष्ठ

७७) में लिखते हैं कि—"पुराणों में उर्वशी को नारायण की जङ्घाओं से उत्पन्न बताया है। उरु को ऊरु मानकर किया गया निर्वचन और उस पर आधारित उर्वशी की उत्पत्ति की कथा दोनों अशुद्ध हैं क्योंकि ऊरु के अर्थ में उरु का प्रयोग कहीं नहीं मिलता है।"

यहां प्रयुक्त 'कहीं नहीं मिलता है' अंश आपत्तिजनक है। वेदाभ्यासियों के लिए प्रथम वरणीय और अवश्य अभ्यसनीय निघण्टु निरुक्त जैसे ग्रन्थ की विद्यमानता में यह वाक्य साहसमात्र ही है। निरुक्त (५।१३) में स्पष्ट प्रवचन है कि—**उरु अभ्यश्नुते, ऊरुभ्याम् अश्नुते, उरुर्वा वशोऽस्याः**। उर्वशी का निर्वचन ऊरुभ्यां से है, तीनों का प्रवृत्ति-निमित्त भिन्न है।

ऋषि दयानन्द तैत्तिरीयवचन 'एषा वेदोपनिषत्' का अर्थ 'इयमेव वेदानाम् उपनिषद् अस्ति' करते हैं, इसी का स्पष्टीकरण स्वामी विद्यानन्द जी 'यही वेद और उपनिषत् का सार है' के रूप में करते हैं। (भूमिका भास्कर पृ० ३४६, ३५१)। स्पष्ट है कि ऋषि का 'वेदानामुपनिषत्' स्वामी जी को अनुकूल नहीं लगा, प्रसिद्धि उपनिषदों को वेदों के बाहर ब्राह्मण-ग्रन्थों में देखने की है।

विद्वानों से विनीत निवेदन है कि मन्त्रब्राह्मणात्मक वैदिकवाङ्मय के अनन्त विषयों को दोनों में पृथक्-पृथक् देखने की वृत्ति अपनायें तथा व्याख्येय और व्याख्या में सामञ्जस्य कर वेद के **'सर्वज्ञानमयो हि सः'** की रक्षा करें। कोई भी प्रवृत्ति वेद के विना परवर्ती वाङ्मय में उद्भूत हुई है जैसे विचार को पोषण न दें। इत्यलं विज्ञेषु।

वैदिक साहित्य में नारी के विशिष्ट रूप

[ले०—डा० मञ्जुला गुप्ता, जाकिर हुसैन महाविद्यालय, दिल्ली]

"यस्यां भूतं समभवद् यस्यां विश्वमिदं जगत्।
तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः॥"

जिसमें (भूतकाल के) प्राणियों ने जन्म पाया, जिस पर यह सम्पूर्ण जगत् आश्रित है, जो स्त्रियों का उत्तम यश है, उस गाथा को आज हम गायेंगे।[1]

यह सत्य है कि भूत, भविष्यत् और वर्तमान प्राणीजगत् के जन्म का कारण नारी ही है। उसके उत्तम यश की आराधना भारतीय-संस्कृति में हुई है। वेदों में नारी का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। पुरुष और नारी समाजरूपी और राष्ट्ररूपी रथ के दो चक्र हैं। जैसे एक चक्र से रथ नहीं चल सकता, ऐसे ही अकेले पुरुष या नारी से समाज और राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता। नारी के विविध रूपों यथा—पत्नी, माता, भगिनी, कन्या का उल्लेख वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है किन्तु उसके कुछ विशिष्टरूप भी हैं। यथा—आत्रेयी, जाया, योषा इत्यादि। सर्वप्रथम आत्रेयी का वर्णन करेंगे।

१. पारस्कर-गृह्यसूत्र १।७।२॥

आत्रेयी—

अत्रि+ढक् प्रत्यय से व्युत्पन्न आत्रेयी शब्द का उल्लेख वेदों में प्राप्त नहीं होता है। सर्वप्रथम शतपथब्राह्मण में यह शब्द आया है जिसका तात्पर्य है—"वह स्त्री जिसका अभी-अभी गर्भपात हुआ हो।[1] सायण आत्रेयी की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जिसके गर्भाशय से बहा हुआ गर्भ अत्रि हो गया उस सृतगर्भा रजस्वला स्त्री का नाम आत्रेयी है—

"यतो गर्भाशयात् सृतो गर्भोऽत्रिः सम्पन्नः, तस्मात् सृतगर्भा रजस्वला स्त्री नाम्ना 'आत्रेयी' इत्याख्यायते।"[2]

मनुस्मृति में कहा गया है—

"जन्म से लेकर मन्त्रपूर्वक संस्कारों से संस्कृत स्त्री अथवा गर्भिणी को विद्वान् लोग आत्रेयी कहते हैं।"[3]

इसके सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में एक कथा प्राप्त होती है जिसके माध्यम से इसके स्वरूप को सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है—

"एक बार मन और वाणी में श्रेष्ठता के लिए झगड़ा हो गया। मन और वाणी दोनों कहने लगे कि मैं श्रेष्ठ हूं, मैं श्रेष्ठ हूं।[4] मन ने कहा—मैं तुझ से अच्छा हूं। मेरे विचार किये बिना तू कुछ नहीं कहती। तू मेरे किये का ही अनुकरण करती है। तू मेरा अनुसरण करती है इसलिए मैं बड़ा हूं।[5] वाणी बोली—मैं तुझ से अवश्य बड़ी हूं क्योंकि जो तू जानता है उसे मैं ही प्रकाशित करती हूं, फैलाती हूं।[6] वे प्रजापति के पास निर्णय के लिए गये। प्रजापति ने मन-अनुकूल निर्णय दिया कि मन ही तुझ से श्रेष्ठ है क्योंकि तू मन का ही अनुकरण करती है और उसी के मार्ग पर चलती है। निश्चय ही वह छोटा है जो बड़ों का अनुसरण करता है और उनके मार्ग पर चलता है।[7] वह वाणी अपने विरुद्ध निर्णय को सुनकर खिन्न हो गयी और उसका गर्भपात हो गया। उस वाणी ने प्रजापति से कहा कि मैं कभी तुम्हारे लिए हवि नहीं ले जाऊंगी क्योंकि तुमने मेरा विरोध किया है। इसलिए यज्ञ में जो कुछ प्रजापति के लिए किया जाता है वह मौन होकर पढ़ा जाता है

---

१. शतपथ-ब्राह्मण १।४।५।१२-१३॥ २. इसी पर सायण-भाष्य।

३. जन्मप्रभृतिसंस्कारैः संस्कृता मन्त्रवाचया।
गर्भिणी त्वथवा स्यात्तामात्रेयीं च विदुर्बुधाः॥ मनुस्मृति ७८॥

४. अथातो मनसश्चैव वाचश्च। अहम्भद्रऽउदितं मनश्च ह वै वाक्चाहम्भद्रऽऊदाते। श०ब्रा० १।४।५।८॥

५. तद्ध मन उवाच। अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि न वै मया त्वं किं चनानभिगतं वदसि सा यन्मम त्वं कृतानुकरानुवर्त्मास्यहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति। वही १।४।५।९॥

६. अथ ह वागुवाच। अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद्वै त्वं वेत्थाहं तद्विज्ञपयाम्यहं संज्ञपयामीति।
वही १।४।५।१०॥

७. ते प्रजापतिं प्रतिप्रश्नमेयतुः। स प्रजापतिर्मनसऽएवानूवाच मन एव त्वच्छ्रेयो मनसो वै त्वं कृतानुकरानुवर्त्मासि श्रेयसो वै पापीयान्कृतानुवर्त्मा भवतीति। वही १।४।५।११॥

क्योंकि वाणी प्रजापति के लिए हवि का वाहक नहीं होती है ।[१] तब देव उस रेतस् को चमड़े में या किसी अन्य वस्तु में ले आये । उन्होंने पूछा-अत्र । इस प्रकार अत्रि उत्पन्न हुआ इसीलिए आत्रेयी स्त्री से समागम करने से दोष लगता है । क्योंकि देवी वाणी रूपी स्त्री से ये सब उत्पन्न हुए हैं ।[२]

सायण आत्रेयी की एक अन्य व्याख्या 'रजस्वला स्त्री' करते हैं और अपने मत की पुष्टि में वसिष्ठ का प्रमाण भी देते हैं—

"आत्रेयी च रजस्वला ऋतुस्नातोच्यते । तथा च वशिष्ठः—रजस्वलामृतुस्नातामात्रेयीम् इति ।"

जैमिनीयब्राह्मण में दो स्थलों पर आत्रेयी-पद विशेष-स्त्री के रूप में वर्णित हुआ है । इसी ब्राह्मण के एक अन्य स्थल पर आत्रेयी स्त्रियों को मारने का निषेध किया गया है—

"योऽप्यात्रेयीं स्त्रियं हन्ति, तं पर्येव चक्षते ।"[३]

सूर्यकान्त आत्रेयी पद को 'मृतगर्भा रजस्वला' से परिभाषित करते हैं ।[४] आप्टे ने मात्र 'रजस्वला स्त्री' वर्णित किया है ।[५] मोनियर विलियम्स ने आत्रेयी पद का अर्थ किया है—'वह स्त्री जिसने रजोदर्शन के पश्चात् स्नान कर लिया है ।'[६] रॉथ और बॉतलिंक ने संस्कृत-वोर्तरबुख में आत्रेयी का 'रजस्वला स्त्री'[७] अथवा 'गर्भपात के कारण रजस्वला हुई स्त्री'[८] अर्थ किया है ।

जाया—

जन् उत्पन्न करना धातु से औणादिक यक् प्रत्यय निष्पन्न जाया शब्द नारी के विशिष्टरूप को द्योतित करता है । ऐतरेयब्राह्मण में जाया की निरुक्ति इस प्रकार दी गयी है—

"पति रेतस् रूप में पत्नी में प्रवेश करता है जिसके कारण वह गर्भधारण करने से माता हो जाती है । उस माता में पुनः नवीन होकर दसवें मास में बालक के रूप में वह (पति) स्वयं उत्पन्न होता है । इसलिए वह पत्नी जाया अर्थात् पति इसमें उत्पन्न होने से जाया शब्द की वाचक होती है ।[९]

---

१. सा ह वाक्परोवक्ता विसिष्मिये । तस्यै गर्भः पपात सा ह वाक्प्रजापतिमुवाच अहव्यवाडेवाहं तुभ्यं भूयासं यां मा परावोचऽइति तस्माद्यत्किं च प्राजापत्यं यज्ञे क्रियतऽउपांश्वेव तत्क्रियतेऽहव्यवाड्ढि वाक्प्रजापतयऽ-आसीत्, वही १।४।५।१२।। २. तद्वै तद्देवाः । रेतश्चर्मन्वा यस्मिन्वा बभ्रुस्तद्ध स्म पृच्छन्त्यत्रैव त्या३दिति ततोऽत्रिः सम्बभूव तस्मादप्यात्रेय्या योषितैनस्व्येतय्यै हि योषायै वाचो देवतायाऽएते सम्भूताः । शतपथब्राह्मण १।४।५।१३।।

३. जैमिनीयब्राह्मण २।२१६।। ४. ए प्रैक्टिल वैदिक डिक्शनरी, सूर्यकान्त, पृ० १३३।

५. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ० १४६ ।

६. A woman who has bathed after her courses. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, मोनियर विलियम्स, पृ० १३६ ।।

७. Ein menstruirendes weib.

८. Ein nach einer Fehlgeburt mentruirendes weib. संस्कृत-वोर्तरबुख, भाग १, रॉथ व बॉतलिंक, पृ० ६२७ ।

९. पतिर्जायां प्रविशति, गर्भो भूत्वा स मातरम् ।
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा, दशमे मासि जायते ।।
तज्जाया जाया भवति, यदस्यां जायते पुनः । ऐतरेयब्राह्मण ७।३३।१।।

मैक्डॉनल और कीथ के अनुसार—'जाया नियमित रूप से 'स्त्री' का द्योतक है और पत्नी के विपरीत स्त्री को वैवाहिक प्रेम की वस्तु तथा जाति के विकास का साधन माना गया है।'[1]

गोपथ ब्राह्मण में जाया शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि पुरुष (जीव) के उत्पन्न होने के कारण जाया का जायात्व है।[2] शतपथ-ब्राह्मण में कहा गया है कि जाया ही पुरुष की आत्मा का अर्द्ध भाग है। उससे रहित पुरुष सन्तानोत्पत्ति करने में समर्थ नहीं। उसका जीवन अधूरा व अपूर्ण है। पत्नी की प्राप्ति तदनन्तर सन्तानोत्पत्ति ही पुरुष में पूर्णता उत्पन्न करती है।[3] ऐतरेय ब्राह्मण में भी यही भाव व्यक्त हुआ है—

पुरुषो जायां वित्त्वा कृत्स्नतरमिव आत्मानं मन्यते।[4]

शतपथब्राह्मण में एक अन्य व्याख्या देते हुए कहा गया है कि नारी यजमान की जाया इस लिए कहलाती है क्योंकि वह पति के साथ यज्ञ में भाग लेती है।[5]

मनु ने भी जाया रूप को श्रेष्ठता को सिद्ध किया है।[6] इसी आशय का स्पष्टीकरण महर्षि व्यास द्वारा भी किया गया है।[7]

ऋग्वेद संहिता में प्राप्त जाया शब्द लगभग समस्त स्थानों पर पत्नी अर्थ को द्योतित करता है। प्रस्तुत मन्त्र में भी जाया पत्नी अर्थ का वाचक है—

"इच्छा करनेवाले निस्सन्देह अपने प्राप्तव्य को प्राप्त करते हैं, पत्नी पति के साथ मिलती है, तब वे दोनों पति-पत्नी मिलकर बलवान् वीर्य को प्रेरित करते हैं और वह पत्नी रसरूपी वीर्य को प्राप्त करके पुत्र प्रसव करती है।[8]

ऐतरेय ब्राह्मण में जाया को (सखा) सम्बोधित किया गया है—

"सखा ह जाया।[9]

---

१. वैदिक इण्डेक्स, भाग II, मैक्डॉनल व कीथ, पृ० ३१९।

२. तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते। गोपथ ब्राह्मण १।१।२॥

३. अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया। यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायतेऽसर्वो हि तावद् भवत्यथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति। शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।१०॥

४. ऐतरेय ब्राह्मण १।२।५

५. पति वा अनुजाया तदेवास्यापि पत्नी। शतपथ ब्राह्मण १।६।२।१४

६. पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः॥ मनु० ९।४॥

७. भार्यां पतिः सम्प्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः।
जायाया इति जायात्वं पौराणा कवयो विदुः॥ महाभारत १।६८।३६॥

८. अर्थमिद् वा उ अथिन आ जाया युवते पतिम्।
तुञ्जाते वृष्ण्यं पयः परिदाय रसं दुहे॥ ऋ० १।१०५।२॥

९. ऐतरेय ब्राह्मण ७।३३।१॥

सायण इस पर भाष्य करते हुए कहते हैं कि 'जाया भोग में सहयोगी होने के कारण सखा स्वरूप है।'[1]

जाया पत्नी के सामान्य अर्थ में ऐतरेय ब्राह्मण[2], गोपथ ब्राह्मण[3] तथा शतपथब्राह्मण[4] में प्रयुक्त है।

ऐतरेय ब्राह्मण की एक कथा के प्रसङ्ग में राजा हरिश्चन्द्र की सौ जायाओं का उल्लेख है किन्तु उनके कोई पुत्र नहीं था[5]।

शतपथब्राह्मण में जाया द्वारा सम्पन्न किये जानेवाले एक विशेष संस्कार का वर्णन है।[6]

अनेक कोशकारों ने भी जाया शब्द की व्याख्या की है[7], सूर्यकान्त जाया का अर्थ जनयित्री तथा पत्नी करते हैं।[8] विलसन ने जाया को परिभाषित करते हुए कहा है—'वह (स्त्री) जिसका पूर्ण याज्ञिक क्रियाओं के अनुसार विवाह हुआ हो।'[9] रॉथ जाया को स्त्री अथवा विवाहित स्त्री सम्बोधित करते हैं।[10]

यद्यपि जाया का अनेक स्थलों पर पत्नी अर्थ में प्रयोग हुआ है किन्तु यह तो सिद्ध है कि जाया नारी का वह रूप है जिसमें वह सन्तानोत्पत्ति के योग्य है।

योषा—

यु धातु से निष्पन्न 'योषा' शब्द एक स्त्रीवाची शब्द है।[11] यास्क इसका निर्वचन **'योषा यौतेः'** करते हैं अर्थात् योषा स्त्री को कहते हैं क्योंकि वह पुरुष से अपने को मिश्रित कर लेती है।[12] इसको युष् प्रसन्न करना धातु से भी निष्पन्न किया जा सकता है।[11] इसके अतिरिक्त किसी भी वयस्क स्त्री (female) को योषा कहा जा सकता है। सम्भवतः ऑसेटिक (ossetic) के digor uosoe (पत्नी, स्त्री) तथा लैटिन के luno एवं yoh इससे सम्बद्ध हैं।[13]

सामान्य रूप से योषा 'स्त्री' शब्द का द्योतक है। शतपथब्राह्मण में इसको वाक् से सम्बद्ध करते हुए इसकी निरुक्ति याज्ञिक आख्यान के अन्तर्गत दी गयी है। कथा इस प्रकार है—

---

१. जाया भोगे सहकारित्वात् 'सखा ह' सखिस्वरूपैव। सायणभाष्य

२. ऐतरेय ब्राह्मण ३।१२।१ ३. गोपथ ब्राह्मण २।३।२० ४. शतपथ ब्राह्मण ६।४।१।१६॥

५. हरिश्चन्द्रो ह वैधस ऐक्ष्वाको राजपुत्र आस, तस्य ह शतं जाया बभूवुः (तासु पुत्रं न लेभे)। ऐतरेय ब्राह्मण ७।३३।१ ६. शतपथ ब्राह्मण १।१।४।१३।

७. Bringing Forth, Wife ए प्रैक्टिकल वैदिक डिक्शनरी, सूर्यकान्त, पृ० ३०१।

८. One wedded according to the perfect ritual, संस्कृत-इग्लिश डिक्शनरी, विल्सन। पृ० २८८।

९. Weib, Eheweib (neben पति) संस्कृत वोर्तरबुख, भाग III रॉथ व बॉथलिंक, पृ० ८६।

१०. यु मिश्रणे, सिद्धान्तकौमुदी, पृ० ३००। ११. निरुक्त ३।३॥

१२. The root √ युष् to please is a sautra root, not to be found in the original, Dhatu-Patha. √ युष् 2153 सौत्रो धातुः। The etymologies ln the Satapatha-Brahmana Nargis Verma. P. 425.

१३. माय० कोश, उद्० ऋग्वेद एवं अथर्ववेद का तुलनात्मक अर्थवैज्ञानिक अध्ययन, शीला डागा, पृ० ४४।

"देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान अपने पिता प्रजापति के दायभाग को प्राप्त हुए। देवों ने मन को प्राप्त किया और असुरों ने वाणी को। देवों ने उस (द्यु) लोक को पाया और असुरों ने इस (पृथ्वी) लोक को।[१] उन देवों ने यज्ञ से कहा—यह वाक् स्त्री है। तू इसको संकेत कर। वह तुझे अपने पास बुलायेगी। उसने स्वयं विचार किया कि वाक् स्त्री है। मैं इसको संकेत करूं। यह मुझे अपने पास बुला लेगी। उसने उसकी ओर संकेत किया। परन्तु उसने दूर से उसको तिरस्कृत कर दिया। इसीलिए स्त्री पहले पुरुष का दूर से तिरस्कार कर देती है।[२] वे देवता बोले—'फिर संकेत कर वह तुझे बुला लेगी। उसने इशारा किया, लेकिन (वाक् ने) उसकी ओर सिर हिला कर इन्कार कर दिया। इसलिए जब कोई पुरुष स्त्री को बुलाता है तो वह सिर हिलाकर इन्कार कर देती है।[३] उन्होंने कहा—'फिर संकेत कर, यह तुझे बुला लेगी। उसने उसकी ओर इशारा किया। अब उसने उसको बुला लिया। इसीलिए जब मनुष्य इशारा करता है तो स्त्री उसको बुला ही लेती है।[४] अब देवों ने सोचा—यह वाणी स्त्री है। यह कहीं रिझा न ले (और कहीं यज्ञ भी इस प्रकार असुरों के पास न चला जाये) उससे कहा कि 'जहां मैं खड़ा हूं, वहीं आ और जब वह आ जाए तो सूचना दे। अब वह वहीं चली आई जहां वह खड़ा था।[५] तब देवों ने उसे असुरों से पृथक् करके अग्नि में लपेटकर अनुष्टुप् छन्द में देवताओं के लिए आहुति। वाणी को देवताओं द्वारा स्वीकार कर लेने पर असुर कुछ न कह सके और पराजित हो गये।[६]

इस प्रकार एक स्त्री जितना अधिक रिझा सकती है, वह ही योषा कहलाती है। सायण इस पर भाष्य करते हुए कहते हैं कि 'यह वाणी ही योषा है, उसने उसको (यज्ञ को) ग्रहण नहीं किया है इसलिए उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता है।[७]

---

१. देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुर्मन एव देवा उपायन्वाचमसुरा यज्ञमेव तद्देवा उपायन्वाचमसुरा अभूमेव देवा उपायन्निमामसुराः। शतपथब्राह्मण ३।२।१।१८

२. ते देवा यज्ञमब्रुवन्। योषा वा इयं वागुपमन्त्रयस्व ह्वयिष्यते वै त्वेति स्वयं वा हैवैक्षत योषा वा इयं वागुपमन्त्रयै ह्वयिष्यते वै मेति तामुपामन्त्रयत सा हास्माऽआरकादिवैवाग्र आसूयत्तस्मादु स्त्री पुंसोपमन्त्रितारकादि नैवागेऽसूर्यति। वही ३।२।१।१९

३ ते होचुः। उपैव भगवो मन्त्रयस्व ह्वयिष्यते वै त्वेति तामुपामन्त्रयत सा हास्मै निपलाशमिवोवाद तस्मादु स्त्री पुंसोपमन्त्रिता निपलाशमिवैव वदति। वही ३।२।१।२०

४. ते होचुः। उपैव भगवो मन्त्रयस्व ह्वयिष्यते वै त्वेति तामुपामन्त्रयत सा हैनं जुहुवै तस्मादु स्त्री पुमांसं ह्वयत एवोत्तमम्। वही ३।२।१।२१

५. ते देवा ईक्षांचक्रिरे। योषा वा इयं वाग्यदेनं न युवितेहैव मा तिष्ठन्तमभ्येहीति ब्रूहि तां तु न आगतां प्रतिप्रब्रूतादिति सा हैनं तदैव तिष्ठन्तमभ्येयाय तस्मादु स्त्री पुमांसं संस्कृते तिष्ठन्तमभ्यैति। वही ३।२।१।२२

६. तां देवाः असुरेभ्योऽन्तरायंस्ता स्वीकृत्याग्नावेव परिगृह्य सर्वहुतमजुहवुः आहुतिर्हि देवानां स यामेवामूमनुष्टुभाजुहवुस्तदेवैनां तद्देवाः स्वव्यकुर्वत तेऽसुरा आत्तवचसः। वही ३।२।१।२३

७. इयं वाक् 'योषा' खलु। अस्तु नामेत्यत आह 'यत्' यस्मात् 'एनं' यज्ञं न युविता न मिलितवती। अतो न विश्वसितव्येत्यर्थः। सायणभाष्य

ऋग्वेद संहिता में योषा शब्द उपलब्ध होता है। प्रस्तुत मन्त्र में योषा कन्या अर्थ का द्योतक है—

'हे शत्रुविनाशक अश्विदवों ! गर्भवती न होनेवाली दुबली, दूध न देनेवाली गाय को शयु का हित करने के लिए तुम दोनों ने पुष्ट बना दिया। तुम दोनों ने अपनी शक्तियों से पुरुमित्र की कन्या को विमद के लिए पत्नी के रूप में पहुंचा दिया।''[1]

एक अन्य मन्त्र में योषा का अर्थ तरुणी स्त्री किया गया है—

''माता द्वारा पवित्र बनी तरुणी स्त्री के समान तेजस्विनी तू अपने सुन्दर शरीर को लोगों को दिखाने के लिए प्रकट करती है।''[2]

अनेक कोशकारों ने योषा शब्द की व्याख्या की है—सूर्यकान्त योषा का जवान स्त्री, लड़की अर्थ करते हैं। वह एक अन्य अर्थ देते हुए कहते हैं कि 'वह स्त्री जो पुरुष को बांधती है अथवा परिवार को विभाजित कर देती है।'[3] आप्टे, मोनियर विलियम्स इत्यादि कोशकार भी योषा को जवान स्त्री, तरुणी, लड़की के रूप में वर्णन करते हैं।[4]

ब्राह्मण-ग्रन्थों में योषा का बहुधा वृषा (पुरुष) के साथ युगपद् रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। स्थान-स्थान पर उसे विभिन्न यज्ञ के पात्रों से जोड़ते हुए तदनन्तर पुरुष के साथ संयुक्त करके, सन्तानोत्पत्ति का हेतु माना है—

'योषा जल है, वृषा अग्नि है, गार्हपत्य घर है इसीलिए घर में ही इन दोनों के द्वारा प्रजनन क्रिया की जाती है।''[5]

उपर्युक्त स्थल में योषा शब्द का प्रयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। योषा स्त्री का युवा रूप है। तात्पर्य यह कि प्रौढ़ावस्था की अपेक्षा युवावस्था में उत्पन्न सन्तान का स्वास्थ्य श्रेष्ठ होता है। शरीर-विज्ञान की दृष्टि से भी यह उत्तम है। इसी उद्धरण में जल और अग्नि का प्रयोग उद्देश्यपूर्ण हैं। ऋग्वेदिक काल से ही ऋषियों ने यह कल्पना कर ली थी कि इस समस्त ब्रह्माण्ड का मुख्याधार जल और अग्नि है। अन्तरिक्ष, द्यौ और पृथ्वी इन तीन स्थानों पर आधाररूप अग्नि पुरुषस्वरूप और इन्हीं तीन स्थानों पर जल स्त्रीस्वरूपा था।[6]

इस प्रकार वैदिक साहित्य में प्राप्त होनेवाले आत्रेयी, जाया व योषा नारी के विशिष्टरूपों की ओर संकेत करते हैं।

---

१. अधेनुं दस्रा स्तर्यं विषक्तामपिन्वतं शयवे अश्विना गाम्।
युवं शचीभिर्विमदाय जायां न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषाम्॥ ऋग्वेद १।११७।२०

२. सुसंकाशा मातृमृष्टेव योषाविस्तन्वं कृणुषे दृशे कम्। वही १।१२३।११

३. ऋष्यस्य योषिहित् पुरुषस्य योषित्, She binds the man or she divides the family. A sanskrit english Dictionary. Surya Kanta P. 479.

४. (फ) संस्कृत हिन्दी कोश, आप्टे। पृ० ८४१
(ख) संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, मोनियर विलियम्स। पृ० ८५८

५. योषा वापो वृषाग्निर्गृहा वै गार्हपत्यस्तद्गृहेष्वेवैतन्मिथुनं प्रजननं क्रियते। श० ब्रा० १।१।१।१८

६. The Rgvedic rsi visualized that the main forces in the cosmos were the fire

'सर्वमेध' यज्ञ का आध्यात्मिक स्वरूप

[ले०—डा० राजेश्वर मिश्र, संस्कृत, पालि एवं प्राकृतविभाग कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र]

'यज्ञ' शब्द देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान (आत्मत्याग) अर्थवाली यज् धातु से निष्पन्न है, जिसका तात्पर्य है—प्राणरूप देवशक्तियों को प्रसन्न करना, दो तत्त्वों के मेल से नूतन तत्त्व का निर्माण करना अथवा अखिल जगत् में प्रवर्तित आदान-प्रदान की सतत प्रक्रिया। दानरूप यज्ञ की यह प्रक्रिया प्रकृति मे निरन्तर वर्तमान है, जिसके परिचालक देवता आदित्यरूप अग्नि और सोम हैं। इस यज्ञ में अग्नि (आदित्य) आदाता (अत्ता) तथा सोम अन्न (हवि) हैं। आदित्य अनवरत प्रकृति से सोमरूपी अन्न की आहुति ग्रहण करता रहता है ओर उससे अनन्त तेज या अग्नि (प्रकाश) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैलता रहता है और यह आदित्य समृद्ध होता रहता है (सोमेन आदित्या बलिनः)। यह प्रक्रिया सतत ब्रह्माण्ड में चलती रहती है। इसी कारण जगत् को 'अग्नीषोमात्मक' कहा जाता है।[1] यही प्राकृतयज्ञ है, जो अव्यवहित रूप से प्रकृति में चल रहा है। प्राकृतयज्ञ से ही जगत् का निर्माण एवं धारण-पोषण होता है। मानव शरीर में विद्यमान वैश्वानर अग्नि (जठराग्नि) भी नित्यशः अन्न (भोज्यपदार्थ) की आहुति ग्रहण करता है, जिससे शक्तिसंवर्द्धन होता रहता है।[2] भौतिकयज्ञ इन्हीं सूक्ष्मयज्ञों के प्रतीक हैं और लोक-व्यवहार के लिए नितान्त आवश्यक हैं। अतः देवता (शक्ति) के लिए अथवा जगत्-कल्याण हेतु अपनी प्रियतम वस्तु का त्याग (आत्मसमर्पण) ही इसका मूलमन्त्र है।

सामान्यतया देवशक्तियों के उद्दश्य से द्रव्य-त्याग को ही यज्ञ कहा जाता है। जगत् को सञ्चालित करनेवाली ये सूक्ष्म एवं गुप्त शक्तियां देवता कहलाती हैं, जो स्वभावतः निराकार होने पर भी संकल्पवश तथा प्रयोजन के अनुसार आकारसम्पन्न भी हैं। शक्ति वस्तुतः एक होने पर भी उपाधिभेद से नाना प्रकार की है। उसी प्रकार देवता भी मूलतः एक और अभिन्न होने पर भी बाह्य दृष्टि से अनेक एवं भिन्न हैं[3] तथा अनेक शरीर धारण करने में समर्थ होते हैं। ब्रह्मसूत्र के 'शारीरक भाष्य' में आचार्य शङ्कर का मत है कि एक ही देवता स्वयं को विविधरूपों में विभक्त कर एक समय में बहुत से यागों में उपस्थित होकर उन्हें स्वीकार करता है और अन्तर्धानादि क्रिया के

---

and the waters, and they, in themselves formed a mithuna (sex-pair) The principle of Fire at the three places-heaven, midregion and the earth was the male, and the waters at these three places were the femles.

Sexual symbolism from the vedic Ritual S. A. Dange, Introduction, P-10

१. बृहज्जा० उप० २।७ अग्नीषोमात्मकं जगत्; तुल०—रामपू० उप० ४।६।

२. गीता, १५।१४ अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः···।

३. ऋ० १।१६४।४६ एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। नि० ७।४ महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयत एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

कारण अन्य व्यक्ति उन्हें नहीं देख पाते ।[४] शक्ति व्यक्त तथा अव्यक्त भेद से दो प्रकार की है । अव्यक्त शक्ति द्वारा कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता; अतः कार्य-सम्पादन के लिए शक्ति को उद्बुद्ध करना पड़ता है । समुचितरूप से उद्बुद्ध तथा विनियुक्त होने पर शक्ति अपना कार्य स्वभावतः अवश्य करती है । कार्य करने पर शक्ति का ह्रास होता है । इस अपक्षय की आपूर्ति के लिए अर्थात् शक्ति की पुष्टि के लिए उसमें भक्ष्य का समर्पण आवश्यक होता है। अतः अग्नि में ईंधन की भांति शक्ति के संवर्द्धनहेतु भक्ष्यपदार्थ या आहुति का डालना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि सुप्तावस्था में शक्ति को किसी आहार की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु वह निष्क्रिय होने के कारण किसी कार्य को सिद्ध भी नहीं करती । कार्य-सिद्धि के लिए उसे उद्बुद्ध कर तदनुरूप आहार प्रदान करना होता है । यही देवता के उद्देश्य से द्रव्य त्याग है और यज्ञ है ।[५]

स्थूल दृष्टि से देखने पर तो यज्ञ बाह्य कर्मकाण्ड प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः यह गुह्य रहस्य का प्रतीक है । 'शतपथ-ब्राह्मण' में प्रदत्त यज्ञ के निर्वचनात्मक स्वरूप पर दृष्टिपात करने से यह रहस्य स्वतः उद्घाटित हो जाता है, जहां स्पष्टतया यह उल्लेख किया गया है कि "जब इसे फैलाते हैं तो उत्पन्न करते हैं । यह विस्तारित किया जाता हुआ उत्पन्न होता है; अतः 'यन् जायते' से इसे यज्ञ के नाम से जाना जाता है ।[६] यहां यह बात ध्यातव्य है कि स्रष्टा के रूप में प्रजापति में सर्वप्रथम सर्ग-रचना की इच्छा का विस्तार होता है, पुनः वही उत्पन्न होता है और उसी की अभिव्यक्ति (विस्तार) से इस जगत् का आविर्भाव होता है । इसी ब्राह्मण में अनेकत्र यज्ञ को वाक्[७], पुरुष[८], प्राण[९], प्रजापति[१०], विष्णु[११] आदि से अभिन्न स्वीकार किया गया है ।

यज्ञ वस्तुतः ब्रह्माण्ड का केन्द्रबिन्दु एवम् उद्भवस्थल भी है[१२] और 'तैत्तिरीय-ब्राह्मण' में इसी को भुवनरूप स्वीकार किया गया है ।[१३] अनेक मन्त्रों से ऋत तथा यज्ञ की अभिन्नता सिद्ध है ।[१४]

---

४. ब्रह्मसूत्र १।३।२७ पर शारीरकभाष्य एकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु युगपदङ्गतां गच्छतीति परैश्च न दृश्यते अन्तर्धानादिक्रियायोगात् ।

५. वाचस्पति—भामती—देवतामुद्दिश्य हविरमृश्य चत द्विषयसत्त्वत्याग इति यागशरीरम् ।

६. शत० ब्रा० ३।९।४।२३ अथ यस्माद्यज्ञो नाम । घ्नन्ति वाऽएनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तद्यदेन तन्वते । तदेनं जनयन्ति स तायमानो जायते स यन्जायते तस्माद्यञ्जोयञ्जो ह वै नामैतद्यद्यज्ञ इति ।

७. शत० ब्रा० १।५।२।७ वाग्घि यज्ञो; वही, १।७।१।१५ वाग्वै यज्ञो ।

८. वही ३।५।३।१ पुरुषो वै यज्ञः, वही १।३।२।१, गो० ब्रा० २।५।४; वही १०।२।१।२, पुरुषो वै यज्ञस्तेनेदं सर्वं मितम् ।

९ वही १४।३।२।१ सर्वेषां वाऽएष भूतानां सर्वेषां देवानामात्मा यद्यज्ञः, वही ११।२।७।३२॥

१०. वही ४।३।४।३ एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः, वही १।७।४।४; १।१।१।३, ११।६।३।९; गो० ब्रा० ३०।२।१८ प्रजापतिर्वै यज्ञः; ऐ० ब्रा० २।१७।४।२६; तै० ब्रा० १।३।१०॥

११. शत० ब्रा० १।१।२।१३ यज्ञो वै विष्णुः; वही १।९।३।९; ५।२।३।८; गो० ब्रा० २।६।७; तां० ब्रा० १३।२।३॥ १२. तै० ब्रा० २।४।७५ यज्ञः बभूव भुवनस्य गर्भः, जै० ब्रा० १।७४ यज्ञो वै विश्वरूपाणि यज्ञमेवैतेन सम्भरति । १३. वही ३।३,७५॥ यज्ञो वै भुवनम् । १४. मैं० सं० १।१०।१२ ऋतं वै सत्यं यज्ञः ।

'शतपथ-ब्राह्मण' के अनुसार यज्ञ ऋत का कारण है।[१५] यह ऋतरूप यज्ञतत्त्व ब्रह्म से अभिन्न है। अतः 'शतपथ-ब्राह्मण' में यज्ञ को ब्रह्म माना गया है।[१६] 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भी ब्रह्म को यज्ञ में प्रतिष्ठित माना गया है।[१७] विश्व की सत्ता यज्ञ में निहित है तथा सृष्टि के अन्त में यही अवशिष्ट रहता है।[१८] अतः 'शतपथ-ब्राह्मण' में यज्ञ तथा विष्णु की अभिन्नता[१९] स्वीकार करते हुए इसे प्रजापति तथा आदित्य से भी अभिन्न माना गया है।[२०] 'भागवतमहापुराण' में भी ध्रुव को वरदान देते हुए यज्ञ को भगवान् की प्रियमूर्ति बतलाया गया है[२१] तथा उसी पुराण में अन्यत्र यज्ञ को साक्षात् विष्णु का स्वरूप स्वीकार किया गया है।[२२] इस प्रकार यज्ञ अव्यक्त ब्रह्म के रूप में जगत् का कारण भी है और व्यक्त ब्रह्म के रूप में स्वयं नानारूपात्मक जगत् भी। इस दृष्टि से ब्रह्म की भांति यज्ञ सब कुछ है—यजन क्रिया भी, हविर्द्रव्य भी, यजनीय भी, याजक आदि भी। इस बात की पुष्टि ऋग्वेद के **"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः"**[२३] इस मन्त्र से हो जाती है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भगवान् कृष्ण ने भी ब्रह्माग्नि में यज्ञ से यज्ञ का यजन करने का उल्लेख करते हुए इसी रहस्य का संकेत किया है।[२४]

जगत् का आदिकारण अव्यक्त ब्रह्मरूप तथा नानारूपात्मक जगत्रूप जिस यज्ञ का विशद-वर्णन संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रौतकल्पों में उपलब्ध होता है, उनमें 'सर्वमेध' यज्ञ का अपना आध्यात्मिक महत्त्व है। दश दिन (दशरात्र) में सम्पन्न होनेवाले इस यज्ञ का सम्बन्ध वस्तुतः ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' में वर्णित सर्वहुत् यज्ञ से है, जिसमें पुरुष (परब्रह्म) ने मानस यज्ञ में स्वयं को आहूत कर स्वयं से इस नानारूपात्मक जगत् को आविर्भूत किया[२५], जिसका प्रतिपादन 'यजुर्वेद'[२६] और 'अथर्ववेद[२७]' में भी किया गया है। तदनन्तर इस सृष्टि-यज्ञ का वर्णन उपनिषदों में भी देखा जा सकता है।[२८]

प्रायः श्रौतसूत्रों में श्रेष्ठत्व, स्वाधिपत्य की प्राप्ति अथवा सर्वविध कामनाओं की पूर्तिहेतु

---

१५. शत० ब्रा० १।३।४।१६ यज्ञो वै ऋतस्य योनिः।

१६. श० ब्रा० ३।१।४।१५ ब्रह्म यज्ञः।

१७. गीता ३।१५ ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।

१८. तै० ब्रा० १।८।१।२ यज्ञ एव अन्ततः प्रतितिष्ठति।

१९. शत० ब्रा० १।१।२।१३ यज्ञो वै विष्णुः।

२०. वही ४।३।४।३ एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः; वही स यः यज्ञोऽसौ आदित्यः।

२१. भाग० पु० ४।९।२४ इष्ट्वा मां यज्ञहृदयं यज्ञैः पुष्कलदक्षिणैः।

२२. वही ४।:।४ यस्तयोः पुरुषः साक्षाद्विष्णुर्यज्ञस्वरूपधृक्।

२३. ऋ० १०।९०।१६; तुल०—यजु० ३१।१६।

२४. गीता ४।२५ ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।

२५. द्रष्टव्य ऋ० १०।९० (सम्पूर्णसूक्त)।

२६. यजु० अध्याय ३१ (सम्पूर्ण)।

२७. अथर्व० १९।६ (सम्पूर्णसूक्त)।

२८. तै० उप० २।६ सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रावि-त; तुल०—छा० उप० ६।२।१-४।

'सर्वमेध' यज्ञ का विधान किया गया है[२९]; परन्तु 'सत्याषाडश्रौतसूत्र' में परिदृश्यमान सर्वजगद्रूप ब्रह्म की प्राप्ति की कामना से इस यज्ञ का विधान विहित है।[३०] अतः ऐसा प्रतीत है कि सम्भवतः यह यज्ञ सर्वरूप प्रजापति की प्राप्ति की कामना से किया जाता है, जिसमें सभी प्राणियों में स्वयं को तथा स्वयं में सभी प्राणियों को आहूत कर (समर्पित कर) ब्रह्मभाव को प्राप्त किया जाता है। इस बात की पुष्टि सर्वमेध यज्ञ के प्रसङ्ग में 'सत्याषाड' एवं 'शांखायन' श्रौतसूत्रों में विहित इन वचनों से हो जाती है, जिसमें क्रमशः यह उल्लेख किया गया है कि "सब कुछ की प्राप्ति हेतु सबका हवन किया जाता है[३१] तथा सभी प्राणियों में स्वयं को आहूत (समर्पित) कर सभी भूतों को सर्वमेध (प्रजापति) में आहूत करता है[३२]" क्योंकि 'सर्व' ही प्रजापति ब्रह्म है[३३] और वही सृष्टि के आदि में स्वयं को सभी प्राणियों में तथा सभी भूतों को स्वय में परिव्याप्त कर स्थावर-जङ्गमरूप ब्रह्माण्ड का अधिपति एवं परमेष्ठी हुआ।[३४] इस प्रसङ्ग में शाङ्खायन-श्रौतसूत्र के वरदत्तपुत्रानर्तीय-भाष्य में स्पष्टतः परमात्मदर्शनसम्पन्न यजमान द्वारा इस यज्ञ का विधान विहित है।[३५] श्रुतियों[३६], ब्राह्मण-ग्रन्थों[३७] एवम् उपनिषदों[३८] में उपलब्ध साक्ष्यों से भी यह बात सत्यापित हो जाती है। यही कारण है कि सर्वमेध सभी यज्ञों में श्रेष्ठ माना जाता है।[३९]

सर्वमेध एक महत्त्वपूर्ण सोमयाग है। सम्पूर्ण पदार्थ की कामना करनेवाला द्विज अथवा क्षत्रिय राजा इसका अधिकारी माना जाता है। इस याग में १२ दीक्षा, १२ उपसद् तथा दस सुत्या-दिवस होते हैं, इस प्रकार यह याग चौंतीस दिन में सम्पन्न होता है; परन्तु दस सुत्या-दिवसों में ही इसके प्रमुख अनुष्ठान सम्पन्न होते हैं. अतः यह दशरात्र (दश दिन में पूरा होनेवाला) यज्ञ है।[३९*] दश दिन में सम्पन्न होने के कारण भी यह यज्ञ विराट् (प्रजापति) से साम्य रखता है, क्योंकि

---

२९. का० श्रौ० २१।२।१ सर्वमेधः सर्वकामस्य, शांखा० श्रौ० १५।१ स सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पयति। ३०. सत्या० श्रौ० १४।१५ सर्वमेध दशरात्रः। यः कामयेत सर्वमिदं भवेयमिति।

३१. सत्या० श्रौ० १४।२६ सर्वं जुहोति सर्वस्याऽऽप्त्यै ··।

३२, शांखा० श्रौ० १५।१ सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा सर्वाणि भूतानि सर्वमेघे जुहवाङ्कगेति।

३३. शत० ब्रा० ७।३।१।४२ सर्वम् ब्रह्म प्रजापतिः; तुल०—पा० ४।२।२५ पर महाभाष्य सर्वस्य सर्वनाम संज्ञा क्रियते। सर्वश्च प्रजापतिः। प्रजापतिश्च कः।

३४. शांखा० श्रौ० १५।१ ब्रह्म स्वयंभु तपोऽतप्यत। ···सर्वेषु भूतेष्वात्मानं जुहवानीति···तत्सर्वेषु······ तत्सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैत।

३५. वही १६।४ पर आवर्तीयभाष्य—तस्यायं संक्षेपार्थः—ज्ञानकर्मसमुच्चयकारिणा यजमानेन परमात्मदर्शनसम्पन्नेन सर्वमेधः कर्त्तव्यः।

३६. ऋ० १०।१२१।१ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

३७. शत० ब्रा० १३।७।१।१।

३८. श्वेता० उप० ६।११; तै० उप० ६।१; ईश० उप० ६ इत्यादि।

३९. शत० ब्रा० १३।७।१।२ परमो वाऽएष यज्ञक्रतूनां यत्सर्वमेधः। ३९. *का० श्रौ० २१।२।१ दशरात्रः; सत्या० श्रौ० १४।१५ सर्वमेधो दशरात्रः; तुल०—शत० ब्रा० १३।७।१।२॥

विराट् में दश अक्षर होते हैं और यही पूर्णान्न माना जाता है[४०], अत: विराट् (प्रजापति) रूप सम्पूर्ण की प्राप्ति के लिए इसमें सबसे बड़ी वेदि का निर्माण किया जाता है और उत्तम अर्थात् एक सौ एक गुणी याग-चिति बनाई जाती है।[४०†]

सर्वमेध यज्ञ के पहले दिन अग्निष्टुत् नामक अग्निष्टोम सोमयाग सम्पन्न होता है। दूसरे, तीसरे और चौथे दिन क्रमश: इन्द्रस्तुत्, सूर्यस्तुत् और वैश्वदेवस्तुत् नामक उक्थ्य सोमयाग किये जाते हैं।[४१] इस यज्ञ में पहले चार दिन क्रमश: अग्नि, इन्द्र, सूर्य (आदित्य) और वैश्वदेवों देवताओं के लिए अनुष्ठान इसलिए किये जाते हैं, क्योंकि ये सभी देवता 'सर्वदेव' माने गये हैं; अत: सर्वदेव (प्रजापति) की प्राप्ति के लिए इनका अनुष्ठान होता है।[४२] पांचवें और छठे दिन क्रमश: आश्वमेधिक और पौरुषमेधिक यज्ञ किये जाते हैं, जिनमें क्रमश: अश्व और पुरुष सवनीय यज्ञ-पशुओं का आलम्भन (स्पर्श करना अथवा प्राप्त करना) किया जाता है।[४३] यहां ध्यातव्य है कि इन सवनीय पशुओं की प्राप्ति के लिए इनको यज्ञ-यूप में बांधा जाता है। तदनन्तर पर्यग्निकृत (इनके चारों ओर अग्नि का घुमाया जाना) पुरुषादि पशुओं को उत्तर वेदि की ओर ले जाकर छोड़ दिया जाता है और उन पशुओं के अभिमानी देवताओं को आज्य की आहुति दी जाती है[४४], क्योंकि यज्ञों में पुरुषों (पशुओं) की बलि का निषेध करते हुए स्पष्टत: 'शतपथ-ब्राह्मण' में यह उल्लेख किया गया है कि ऐसा करने पर पुरुष ही पुरुष को खाएगा।[४५] वस्तुत: ये यज्ञपशु कोई सामान्य अश्व और पुरुष नहीं है अपितु स्वयं प्रजापति हैं।[४६] इस यज्ञ में छठे दिन पुरुषमेध करने का विधान सम्भवत: इसलिए किया जाता है, क्योंकि यह 'सर्व' अर्थात् प्रजापति से अभिन्न है[४७] और यही प्रजापति पुरुषमेध के द्वारा 'विराड्' नाम से भी प्रसिद्ध हैं[४८], क्योंकि ये सभी लोक पुरुषमेध हैं।[४९]

सातवें दिन सभी यज्ञों की प्राप्ति के लिए इस यज्ञ में 'अप्तोर्याम' नामक सोमयाग किया

---

४०. शत० ब्रा० १३।७।१।२ दशाक्षरा विराड् विराडु कृत्स्नमन्नम्···।

४०. †का० श्रौ० २१।२।३ अग्निरुत्तम: (अन्तिम एकशतविधोऽग्निर्भवति २०।४।१५), सत्या० श्रौ० १४।१।६ त्रिस्तावा वेदिरेकशतविधोऽग्निरग्निष्टुत्, तुल०—शत० ब्रा० १३।७।१।२ कृत्स्नस्येवान्नद्यस्यावरुद्धयै तस्मिन्नग्निं पराध्यं चिनोति।

४१. का० श्रौ० २१।२।४, शांखा० श्रौ० १५।३; सत्या० श्रौ० १४।१७-२०; वैता०श्रौ० ६।३।११(३८)।

४२. सत्या० श्रौ० १४।१७।२० सर्वमाग्नेयं क्रियते, सर्वमैन्द्रं क्रियते, सर्वं सौर्यं क्रियते, सर्वं वैश्वदेवं क्रियते; तुल०—शत० ब्रा० १३।७।१।३-६।

४३. सत्या० श्रौ० १४।२१-२२; शांखा श्रौ० १५।४; तुल०—शत० ब्रा० १३।७।१।७-८।

४४. वही १४।६।६ पर्यग्निकृतात्पुरुषानुदीचो नीत्वोत्सृज्याऽऽज्येन तद्देवता आहुतीर्हुत्वा··, तुल०—शत० ब्रा० १३।७।२।१३।

४५. शत० ब्रा० १३।६।२।१३ पुरुष मा संतिष्ठिपो यदि संस्थापयिष्यसि पुरुषऽ एव पुरुषमत्स्यतीति।

४६. वही १०।२।१।१ सर्वे वै पशव: प्रजापति: पुरुषोऽश्वोगौरविरज:···।

४७. शत० ब्रा० १३।६।१।६ सर्वं पुरुषमेध:।

४८. गो० ब्रा० (पूर्व) ५।८ स प्रजापति: पुरुषमेधेनेष्ट्वा विराड् इति नामधत्त।

४९. शत० ब्रा० ११।६।१।६ इमे बै लोका पुरुषमेध:।

जाता है, जिसमें अवशिष्ट सभी स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणिसमूहों का आलम्भन[५०] तथा सब प्रकार के अन्नों[५१] और ओषधि-वनस्पतियों की आहुति दी जाती है।[५२] वस्तुतः ये अन्न अथवा स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणिसमूह स्वयं प्रजापति हैं[५३] और वही सर्वपदवाच्य हैं[५४], अतः उन्हीं की प्राप्ति के लिए इस यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है।[५५] आचार्य सायण ने भी इस प्रसङ्ग में अपने भाष्य में प्रधान-पुरुषहिरण्यगर्भ के निमित्त यज्ञ करने का उल्लेख किया है।[५६] यही इस यज्ञ का रहस्य है।

आठवें दिन त्रिणवस्तोम अर्थात् २७ स्तोमों की इष्टि तथा नवें दिन ३३ स्तोमों की इष्टि की जाती है और अन्तिम दसवें दिन विश्वजित् नामक सर्वपृष्ठ अतिरात्र सोमयाग सम्पन्न किया जाता है।[५७] इस यज्ञ में सम्पादित होनेवाले विश्वजित् सोमयाग के प्रसङ्ग में यह बात अवधेय है कि 'शाङ्खायन श्रौतसूत्र' एवं 'शतपथब्राह्मण' के अनुसार सर्वपृष्ठ अतिरात्र 'सबकुछ' अर्थात् प्रजापति (ब्रह्म) है तथा सर्वमेध भी सब कुछ (प्रजापति) है; अतः सबके द्वारा सबकुछ प्राप्त करने[५८] का अभिप्राय है—"ब्रह्म अथवा प्रजापति के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करना" जिसका समर्थन स्वयं श्रुति एवं स्मृति करती हैं।[५९]

इस यज्ञ के अन्त में पुरुषमेधवत् दक्षिणा-प्रदान की जाती है। यदि यज्ञकर्ता यजमान क्षत्रिय हो तो ब्राह्मण की भूमि तथा सम्पत्ति को छोड़कर पूर्वदिशा की पुरुषों (दास पुरुषों) सहित भूमि होता को, दक्षिण दिशा की ब्रह्मा को, पश्चिम दिशा की अध्वर्यु को और उत्तर की उद्गाता को दक्षिणा दी जाती है तथा अन्य ऋत्विक् इन्हीं में अपना अंश ग्रहण करते हैं।[६०] परन्तु यदि यज्ञकर्ता

---

५०. शांखा० श्रौ० १५।८ तत्र सर्वान्मेधानालभन्त ये के च प्राणिनः, सत्या० श्रौ० १४।२३, का० श्रौ० २१।२।४, वैता० श्रौ० ७।३।१२ एतस्मिन् सर्वान् मेधान् आलभन्ते, तुल०—शत० ब्रा० १३।७।१।९।

५१. सत्या० श्रौ० १४।२६ प्रातः सवने सन्नेषु नाराशंसेषु चान्नमन्नं जुहोति, का० श्रौ० २१।२।७ अन्नं-अन्नं जुहोति, तुल०—शत० ब्रा० १३।७।१।९।

५२. शांखा० ब्रा० १५।११ मंत्रश्चमोषधि वनस्पतीनां प्रकिरन्ति, सत्या० श्रौ० १४।२५, का० श्रौ० २१।२।६, तुल०—शत० ब्रा० १३।७।१।९। ५३. शत० ब्रा० ५।१।३।७ अन्नं वै प्रजापतिः पशुर्वा अन्नम्।

५४. वही ७।३।१।४२ सर्वम् ब्रह्म प्रजापतिः।

५५. वही १३।७।१।९ सर्वं जुहोति सर्वस्मै जुहोति सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्धय।

५६. वही १३।७।१।९ पर सायणभाष्यः सर्वस्मै सर्वात्मने प्रधानपुरुष हिरण्यगर्भाय जुहोति।

५७. का० श्रौ० २१।२।११-१२, सत्या० श्रौ० १४।२७, शांखा० श्रौ० १५।१२-१३, वैता० श्रौ० ७।३।१३, तुल०—शत० ब्रा० १३।७।१।१०-१२।

५८. शांखा० श्रौ० १५।१४ सर्वं वै विश्वजित्सर्वस्तोमः सर्वपृष्ठोऽतिरात्रः सर्वं सर्वमेधः। सर्वेण सर्वमाप्नवानीति, तुल०—शत० ब्रा० १३-७-१-१२।

५९. ऋ० १०-९०-१६ यज्ञेन यज्ञमजयन्त देवाः··· । एवम्

मनु स्मृ० १.३३ तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मा वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः॥

६०. का० श्रौ० २१।२।१३ पुरुषमेधवद्दक्षिणा स भूमिः, शांखा श्रौ० १५।१८, तुल०—शत० ब्रा० १३।७।१।१३।

यजमान ब्राह्मण हो तो उसे दक्षिणा में अपना सर्वस्व दान करने का विधान है।[६१] 'शाङ्खायन' एवं 'वैतान' श्रौतसूत्रों के अनुसार सर्वस्व दान करने के उपरान्त ब्राह्मण यजमान '**अयं ते योनिः**' (यजु० ३।१४) मन्त्र के साथ स्वयं आहवनीय और दक्षिणाग्नियों का समारोपण करके उत्तरनारायण मन्त्रों (यजु० ३१।१७-२२) से आदित्य की उपासना करके वन में गमन करे।[६२] इस यज्ञ में सर्वस्व दान के पश्चात् सर्वदा के लिए अरण्यगमन भी प्राजापत्य इष्टि का सूचक है, जिसमें सबकुछ समर्पित करके ब्राह्मण यजमान प्रजापति (ब्रह्म) की प्राप्ति के लिए सर्वदा के लिए गृहत्याग कर देता है।[६३] अतः सर्वमेध यज्ञ आत्मयाग का प्रतीक है।

यदि 'सर्वमेध' यज्ञ पर नामकरण की दृष्टि से विचार करें तो इसके पूर्वपद 'सर्व' में इसका अपना आध्यात्मिक-स्वरूप निहित प्रतीत होता है, क्योंकि 'सर्व' पद प्रजापति (ब्रह्म) का वाचक है।[६४] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी पाणिनि के 'कस्येत्' (पा० ४।२।२५) सूत्र के भाष्य में स्पष्टरूप से 'सर्व' पद को प्रजापति का वाचक माना है और इसी को अनिर्वचनीय सुखात्मक 'क' संज्ञक ब्रह्म बतलाया है।[६५] ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त से भी यह स्पष्ट है कि हिरण्यगर्भ ही 'क' संज्ञक ब्रह्म है और वही प्रजापति है।[६६] शतपथ-ब्राह्मण में तो अनेकत्र प्रजापति को 'क' संज्ञा से अभिहित किया गया है।[६७] अन्यत्र ब्राह्मण-ग्रन्थों में इसी को 'विश्वकर्मा'[६८], 'विश्वम्'[६९], 'सहस्रम्'[७०] आदि पदों से भी अभिहित किया गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेकत्र इसी प्रजापति की यज्ञ से अभिन्नता बतलाई गई है।[७१] इसी प्रजापति ने सृष्टि के प्रारम्भ में एक से अनेक होने की कामना की और सृष्टि-यज्ञरूप श्रेष्ठतम कर्म में स्वयं को आहूत कर अपने चतुर्थांश को नानारूपात्मक जगत् के रूप में प्रकट किया।[७२]

---

६१. का० श्रौ० २१।२।१५ सर्वस्वं ब्राह्मणस्य।

६२. शांखा० श्रौ० १६।१ आत्मन्यग्नीन्समारोप्य अरण्यं प्रव्रजेत, वैता० श्रौ० ७।३।१४ (३८) संवत्सरान्ते गार्हपत्येऽधरारणिं प्रहृत्याऽऽहवनीय उत्तराऽरणिम् इत्यात्मन्नग्निं संस्पृष्य अरण्याय प्रव्रजेत।

६३. मनु स्मृ० ६।३८ प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्नग्नी समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत् गृहात्॥

६४. शत० ब्रा० ७।३।१।४२ सर्वम् ब्रह्म प्रजापतिः, कौ० ब्रा० ६।१५ प्रजापतिरेव सर्वम्।

६५. पा० ४।२।२५ पर महाभाष्यः सर्वस्य सर्वनामसंज्ञा क्रियते। सर्वश्च प्रजापतिः। प्रजापतिश्च कः।

६६. ऋ० १०।१२१ (सम्पूर्ण सूक्त)।

६७. शत० ब्रा० ११।५।४।१-३ प्रजापतिर्वै कः, वही ७।३।१।२० प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा विधेम।

६८. वही १३।२।१।१० प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा।
६९. वही ३।१।२।११ यद्वै विश्वं सत्सर्वम्।

७०. वही ४।६।१।१५ सर्वं वै सहस्रम्, कौ० ब्रा० ११।७; २५।१४ सर्वं वै तद्यत्सहस्रम्।

७१. वही ४।३।४।३ एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत्प्रजापतिः; वही, ११।६।३।९ यज्ञः प्रजापतिः; कौ० ब्रा० १०।१।१३।१; तै० ब्रा० ३।३।७।३; गो० ब्रा० (उत्तर), २।१८, ऐ० ब्रा० २।१७, ४।२६ इत्यादि।

७२. शत० ब्रा० ७।५।२।६ प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीदेक एव; तुल०—जै० ब्रा० २।२२४, तै०उप० २।६,

'सर्वमेध' यज्ञ में आये हुए 'मेध' पद पर भी आध्यात्मिक-दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में यह पद-स्थावरजङ्गम प्राणियों, सब प्रकार के अन्नों तथा याज्ञिक-पशुओं का वाचक माना गया है। 'शतपथ-ब्राह्मण' में प्रजापति को अन्न और मेध्य-पशु को भी अन्न स्वीकार किया गया है[७३], परन्तु इसी ब्राह्मण में अन्यत्र पुरुष, अश्व, गो, अवि और अज इन पांच यज्ञ-पशुओं को ही 'सर्व' कहा गया है।[७४] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं पांच पशुओं का आलम्भन (स्पर्श) होने के कारण इसका नाम सर्वमेध रखा गया है। परन्तु यहां यह बात ध्यातव्य है कि सभी मेध्य-पशु प्रजापति से अभिन्न हैं। इस प्रकार इस यज्ञ का मेध (अर्थात् अन्न अथवा यज्ञ-पशु) भी स्वयं प्रजापति हैं और वही अग्नि भी है।[७५] 'गोपथ-ब्राह्मण' के अनुसार अन्न ही सभी प्राणियों का आत्मा है।[७६] अतः इस यज्ञ में याजक, हविर्द्रव्य, अग्नि, ऋत्विक् और देवता सभी प्रजापति विश्वकर्मा है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सर्वमेध' वह यज्ञ है, जो सृष्टि के आदि में प्रजापति के द्वारा सर्ग-रचना एवं संहार के लिए प्रवर्तित होता है। इसकी पुष्टि प्रायः सभी श्रौत-ग्रन्थ करते हैं तथा संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों में इसके प्रभूत प्रमाण उपलब्ध हैं। शतपथ-ब्राह्मण में स्पष्ट उल्लेख है कि स्वयम्भू ब्रह्मा (प्रजापति) ने तपस्या की। उन्होंने सोचा कि "तप तो अनन्त हैं, अतः मैं भूतों में स्वयं की आहुति (समर्पण) तथा स्वयं में भूतों की आहुति दूं" और ऐसा करके अर्थात् स्वयं को समर्पित कर (अपने चतुर्थांश से) स्थावरजङ्गम-जगत् को आविर्भूत किया।[७७] इस प्रकार वे जड-चेतन सभी पदार्थों में परिव्याप्त हो गए और चराचर-जगत् के परमेष्ठी एवं पालक बन गये। 'गोपथ-ब्राह्मण' में भी यही बात प्रकारान्तर से उपलब्ध होती है, जहां प्रजापति द्वारा बहुत यज्ञों को करने के उपरान्त आत्मिक-यज्ञ से अत्यन्त सौख्य-प्राप्ति का उल्लेख है।[७८] निरुक्तकार यास्क ने भी सर्वमेध-यज्ञ प्रजापति (परमेश्वर) के द्वारा सम्पादित स्वीकार किया है तथा इसका सम्बन्ध विश्व की रचना और संहार से स्थापित किया है।[७९] ऋग्वेद में भी इसके प्रभूत प्रमाण उपलब्ध हैं।[८०] 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' भी इसे पुष्ट करती है।[८१] अतः सर्वमेध यज्ञ प्रजापति द्वारा सम्पादित आदिसृष्टि-यज्ञ का प्रतीक है।

छा० उप० ६।२।१-४, शत० ब्रा० ४।६।१।४ प्रजापतिर्वाऽअतीमाँल्लोकाँश्चतुर्थस्ततप्रजापतिमेव चतुर्थ्याप्नोति। तुलनीय—ऋ० १०।९०।४ त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत्सा[illegible]नान..ने अभि॥

७३. शत० ब्रा० ५।१।३।७ अन्नं वै प्रजापतिः पशुर्वा अन्नम्, वही १०।२ १।१ सर्वे वै पशवः प्रजापतिः पुरुषोऽश्वो गौरविरजः। ७४. वही ६।२।१।१५ पुरुषोऽश्वो गौरविरजो भवन्ति। एतावन्तो वै सर्वे पशवोऽन्नम्।

७५. वही ६।२।१।२३ पुरुषः प्रजापतिः प्रजापतिरग्निः।

७६. गो० ब्रा०, उत्तरभाग १।३ अन्नं वै सर्वेषां भूतानामात्मा।

७७. शत० ब्रा० १३।७।१।१। ७८. गो० ब्रा० (पूर्वभाग) ५।८॥

७९. नि० १०।३।२६ विश्वकर्मा भौवन सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार। ८०. ऋ० १०।८१।६ विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्। मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सुरिरस्तु।

८१. श्वेता० उप० ४।१०-१७ एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

वैदिक सुरा

[ले०—सुश्री सूर्या कुमारी व्याकरणाचार्या, पाणिनि कन्या महाविद्यालय तुलसीपुर, वाराणसी]

पृथिवी पर बहुत सी ऐसी चीजें हैं जिनका नाम पढ़ते-सुनते ही हर्ष, उल्लास, स्फूर्ति के भाव मानस-पटल पर आने लगते हैं उनमें एक 'सोम' भी है। सोम का नाम समक्ष आते ही अद्भुत शीतलता, अपूर्वशान्ति, सौम्यता की अनुभूति होती है, किन्तु कुछ ऐसी भी चीजें हैं जिनका नाम स्मरण होते ही घृणा, वितृष्णा, लज्जा के भाव उभरने लगते हैं उनमें सुरा भी है। सुरा नाम सुनते ही सर्वनाशकारी हेय वस्तु की विकराल स्थिति समक्ष खड़ी हो जाती है। आज सुरा के द्वारा समाज की जो स्थिति बन रही है वह हम सबसे छिपी नहीं है। सुरा के इसी बीभत्स ताण्डव को देखकर विचारशील मानव के मन को एक प्रश्न सर्वदा कुरेदता है कि आखिर इस भयङ्कर पेय का क्यों उत्पादन किया गया ? जब हम इस प्रश्न का समाधान खोजते हैं तो पता लगता है कि इस महामारी स्वरूप सुरा को तो परमात्मा ने हमें दिया है। पुनः विचार उठता है कि उस परमात्मा ने अपने इन अमृत पुत्रों के लिये इस बीमारी को क्यों दिया, तो ये सभी प्रश्न पर्याप्त पर्यषणा के विषय बनते हैं।

निरुक्तकार महर्षि यास्क ने सुरा शब्द का निरूपण **'सुरा सुनोतेः'** निरु० १।१० षुञ् अभिषवे धातु से किया है, तात्पर्य हुआ जो भी वस्तु निचोड़कर उपलब्ध हो वह सुरा है। वैदिक कोष निघण्टु १।१२ में सुरा शब्द जल के १०१नामों में पठित प्राप्त होता है। गोपथब्राह्मण तथा अथर्ववेद के भाष्यकार पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी ने सुरा शब्द की निष्पत्ति **'षु प्रसवैश्वर्ययोः'**, **'षुञ् अभिषवे'** तथा **'षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः'** (षु+क्रन्+टाप्, षुर्+क+टाप्=**सुरा**) धातुओं से एवं **सुर** शब्द से **'सुराणां शक्तिः'** सुरा की है।

महर्षि दयानन्द ने **'सुरा'** शब्द को सोम शब्द के पर्याय के रूप में, सोम निष्पादन की क्रिया के रूप में, कहीं उदक पर्याय के रूप में, तो कहीं अन्य भेषज आदि के करण के रूप में, कहीं सोम के विशेषण रूप में अर्थात् महर्षि ने बल, वर्चस् के उत्पादक सोम के सदृश ही सुरा को भी उत्तम पदार्थ माना है, घृणित, हेय रूप में नहीं।

वेदों में सुरा शब्द लगभग ३४ बार आया है। परमर्षि दयानन्द ने वेदमन्त्रों में आये सुरा शब्द के जो अर्थ किये हैं, उन्हें पढ़कर मस्तक श्रद्धावनत हो जाता है। महर्षि ने अपनी अलौकिक मेधा से सुरा के गूढ़तम रहस्यों का उद्घाटन किया है। महर्षि के उन अद्भुत अर्थों को उनके शब्दों में ही देखें—

सोम पर्याय—

तिस्रो रात्रीः सुरा सुता० । यजु० १९।१४।। **सुरा=सोमरसः ।।**

सुरा त्वमसि शुष्मिणी सोम एष मा मा हिंसीः । यजु० १९।७।

सुरा=सोमवल्यादिलता, अत्र षुञ्-अभिषवे इत्यस्माद् धातोः औणादिको र प्रत्ययः, त्वं शुष्मिणी=बहु शुष्म बलं यस्यास्ति सा, सोमः=महौषधिगणः, मा माहिंसीः=मां मा हिंस्याः ।।

सुराकारं भद्राय गृहप श्रेयसे० । यजु० ३०।११।।

सुराकारं=सोमनिष्पादकम्, भद्राय=कल्याणाय, गृहपम्=गृहाणां रक्षकम्, श्रेयसे=धर्मार्थकामप्राप्तये ।।

पयसा शुक्रममृतं जनित्रं सुरया मूत्राज्जनयन्त रेतः० । यजु० १९।८४।।

पयसा=दुग्धेन जलेन वा, शुक्रम्=शुद्धम्, अमृतम्=अल्पमृत्युरोगनिवारकम्, जनित्रम्=अपत्यजन्मनिमित्तम्, **सुरया**=सोमलतादिरसेन, मूत्रात्=मूत्राधारेन्द्रियात्, जनयन्त रेतः=उत्पादयेयुः वीर्यम् ।।

सुरा को यहाँ मृत्युनिवारक और वीर्यजनक अर्थात् सन्तानोत्पत्ति का निमित्त बताया है।

कुम्भी सुराधानी० । यजु० १९।१६।।

सुराधानी=सुरा सोमरसो धीयते यस्यां सा गर्गरी, कुम्भी=धान्यादिपदार्थाधारा ।

सुरावन्तं बर्हिषदं सुवीरं यज्ञम्० । यजु० १९।३२।।

सुरावन्तम्=सुराः प्रशस्ताः सोमा विद्यन्ते यस्मिन्, तं (यज्ञम्) ।।

सुरायै बभ्र्वै मदे० । यजु० २०।२८।।

सुरायै=सोमाय, बभ्र्वै=बलधारकाय (बिभर्ति सर्वामिति इति बभ्रुः), मदे=आनन्दाय ।।

सोम विशेषण— सुत्राणे सुरासोमान्० । यजु० २१।५९।।

सुत्राण्णे=सुष्ठुरक्षकाय, **सुरासोमान्= सुरया रसेन युक्तान् सोमान् पदार्थान् ।।**

सुत्रामा सुरासोमान्० । यजु० २१।६०।।

सुत्रामा=सुष्ठुरक्षकः, **सुरासोमान्= सुरया अभिषवेण सूयन्ते तान् (उत्तमान् रसान् इति भावार्थ)।**

सोम निष्पादन का कारण—

यस्ते रसः सम्भृत ओषधीषु सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्य० । यजु० १९।३३।।

यः ते=तव, रसः=आनन्दः, सम्भृतः=सम्यग् धृतः, ओषधीषु=सोमलतादिषु, सोमस्य=अंशुमदादिसंज्ञस्य चतुर्विंशतिधाभिद्यमानस्य, शुष्मः=शुष्मं बलं विद्यते यस्मिन् सः **सुरया=शोभनदानशीलया स्त्रिया** सुतस्य=निष्पादितस्य ।

सुरया सोमः सुत आसुतो मदाय० । यजु० १९।५।।

सुरया=या सूयते सा सुरा तया (**'क्रिया से' इति पदार्थ**) सोमः=ओषधिरसः, सुतः=सम्पादितः आसुतः=समन्तात् रोगनिवारणे सेवितः, मदाय=हर्षाय ।।

रस पर्याय— कुम्भाँ असिञ्चतं सुरायाः । ऋ० १।११६।७।।

कुम्भान् असिञ्चतम्=सिञ्चतम्, **सुरायाः=अभिषुतस्य रसस्य ।**

उदक पर्याय— सुरया भेषजम्० । यजु० २१।३१।।

सुरया=उदकेन, सुरा इति उदकनाम निघ० १।१२।। भेषजम्=औषधम्, यक्षत्=यजेत् (सङ्गत करे)

सुरया भेषजं श्रिया न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज० ।

यजु० २१।३८।

सुरया = जलेन, भेषजं = औषधम् ॥

उपर्युक्त मन्त्र में मासर—पके हुए अन्न, पयः = रसः, सोम = ऐश्वर्य, घृत = घी, मधु = शहद आदि को पुरुषार्थ द्वारा प्राप्तव्य बताया है। उन प्राप्तव्यों में सुरा = जल से युक्त औषध को भी बताया गया है।

निष्पादन क्रिया का पर्याय—

सुरावतो गृहे० । ऋ० १।११६।१०॥ **सुरावतः = सवं कुर्वतः**, गृहे ॥

उपर्युक्त मन्त्रों में आये **सुरा** शब्द का महर्षि दयानन्द ने लोकप्रचलित **'शराब'** शब्द से जानी जानेवाली त्याज्य वस्तु अर्थ न करके अपूर्व अर्थ प्रदर्शित किया है जो वेदविदों के लिये भी एक बार को ठिठका देने वाला है, पर है यथार्थ। महर्षि दयानन्द साक्षात्कृतधर्मा पुरुष थे। उन्होंने सुरा शब्द का वाच्य एक विशिष्ट उत्तम पदार्थ माना है यह उनके भाष्य से स्पष्ट है।

अथर्ववेद में भी सुरा शब्द उत्तम-पदार्थ के रूप में ही आया है—

यच्च वर्चो अक्षेषु सुरायां च यदाहितम् ।
यद् गोष्वश्विना वचस्तेनेमां वर्चसावतम् ॥ अथर्व० १४।१।३५॥

भावार्थ—यत् = जो, वर्चः = तेज, अक्षेषु = व्यापकता में, उत्तम व्यवहारों में (अक्षू व्याप्तौ), च = और यत् = जो, **सुरायाम् = ऐश्वर्य, उत्पत्ति आदि में (षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः)** आहितम् = स्थित है। यत् = जो, गोषु = गौओं में, गतिशीलों में, अश्विनौ—सूर्य, चांद आदि युगल पदार्थों में, वर्चः = तेज (है), तेन वर्चसा = उस तेज से, आवतम् = रक्षित करो।

मन्त्र में परमात्मा से वर्चः = तेज से रक्षा की प्रार्थना की गई है, और वह वर्चस् = कई प्रकार का है, उसमें सुरा = ऐश्वर्य आदि का तेज भी गिनाया गया है।

यद् गिरिषु पर्वतेषु गोष्वश्वेषु यन्मधुना ।
सुरायां सिच्यमानायां यत् तत्र मधु तन्मयि ॥ अथर्व० ६।१।१८॥

यद् = जो, गिरिषु = उपदेष्टाओं में, पर्वतेषु = पूरित करने वाले जन एवं मेघ आदि में, गोषु—अश्वेषु = गौ, अश्वादि में, यन्मधु = जो ज्ञान (**मन्यते-बुद्धचते यत् येन वा तत् मधु**), तथा सिच्यमानायां सुरायाम् = प्रवहमान बढ़ते हुये ऐश्वर्य में, उदक में, यन्मधु = जो ज्ञान है, तन्मयि = वह मुझे प्राप्त हो।

मन्त्र में जहां गिरि आदि पदार्थों के ज्ञान-प्राप्ति की कामना की गई है, वहीं सुरा = ऐश्वर्य आदि उत्तम पदार्थों के ज्ञान की भी याचना की गई है।

अथर्ववेद के मन्त्रों से भी सुस्पष्ट हुआ कि सुरा उस पदार्थ का नाम है जो वर्चस् = बल, वीर्य, रस आदि को देनेवाला है। विस्तरभिया यहां पर कुछ मन्त्रों का ही दिग्दर्शन है। जब सुरा का अर्थ बलकारी द्रव्य मानेंगे तभी—

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम् ।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते ॥ ऋ० ८।२।१२॥

इस मन्त्र से उत्तम पदार्थ खाने से अपराजेय बल प्राप्ति होती है यह तात्पर्य निकाला जा सकता है, अन्यथा मन्त्र में आये 'सुरा' शब्द का शराब अर्थ करने पर नहीं।

मन्त्रार्थ—दुर्मदासः न=दुर्मद अभिमान में पड़ा व्यक्ति जैसे अव्यवस्थितक्रिय या निष्क्रिय होता है और हार जाता है, वैसे जो सुरायाम्=सोमादि उत्तम पदार्थों को, हृत्सु पीतासः=जी भरकर पीनेवाले हैं वे युध्यन्ते=युद्ध करने में सक्षम रहते हैं अर्थात् उस दुष्क्रिय को हरा देते हैं, और ऊधर्न=ऊधस् के समान, नग्नाः=ब्रह्मचर्य से परिपूरित, जरन्ते=पूजित होते हैं।

मन्त्र में बताया गया है कि जैसे दुर्मद=अभिमानी की दुष्क्रियता उसे हरा देती है वैसे उत्तम-पदार्थ सेवन करनेवालों को उत्तम-पदार्थ सब ओर से सफलता प्राप्त कराते हैं।

इस प्रकार वेदमन्त्रों के आधार पर निःसंकोच कहा जा सकता है कि सुरा सेवनीय उत्तम-पदार्थ है जो उदक, ओषधि, सोमलता आदि प्रकार नामवाला है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि जिस प्रकार वेद में द्यूतक्रीडा, मांसभक्षण, हिंसा आदि कार्य वर्ज्य बताये गये हैं और उनके साथ निषेधात्मक शब्द लगे हुये हैं, वैसे जहां कहीं पर भी वेदों में सुरा शब्द आया है उसके साथ कोई भी निषेधात्मक शब्द नहीं है जिससे सुरा को त्याज्य माना जा सके।

महर्षि दयानन्द ने सुरा शब्द के ओषधि, सोमरस, उदक आदि अर्थ करके जिन रहस्यों की ओर संकेत किया है उन रहस्यों का विस्तृत वर्णन वेदों के व्याख्यानभूत ब्राह्मण-ग्रन्थ, मैत्रायणी संहिता आदि में उपलब्ध होता है, बस आवश्यता है समझने और परखने की।

मैत्रायणीसंहिता में सुरा, सोम आदि के गम्भीरतम तात्पर्य का आलङ्कारिक बड़ा मनोहारी वर्णन है—

विश्वरूपो वै त्वाष्ट्र आसीत् त्रिशीर्षासुराणां स्वस्रीयः, स सोममेकेन शीर्ष्णापिबत् सुरामेकेनाऽन्नमेकेनावयत् स इन्द्रोऽमन्यताऽयं वावेदं भविष्यतीति, तेन समलभत, तेन युगशरमपतत्, स तक्षाणं तिष्ठन्तमब्रवी,दाधावेमान्यस्य शीर्षाणि छिन्द्धीति, तस्य तक्षोपस्कद्य परशुना शीर्षाण्यछिनत्, तस्मात्तक्षणे शिरो धृतं तस्मादस्यान्नमन्नाद्यं, तस्य यत् सोमपं शिरा आसीत् स कपिञ्जलोऽभवद् यत् सुरापं स कलविङ्को, येनान्नमावयत्स तित्तिरिः। मै० सं० २।४।१।। सम्पूर्ण प्रकरण।

संहिता के इस स्थल में प्रारम्भिक मेघ-निर्माण से लेकर बरसने तक के बृहत्तम विज्ञान का व्याख्यान किया गया है जो व्यक्त्याकृति से वर्णित है—

विश्वरूप[1] तीन सिरवाला सुरों का भान्जा त्वाष्ट्र=त्वष्टा का पुत्र था। उसने एक सिर से सोम को पिया, एक से सुरा को, और एक से अन्न को फेंका। उस इन्द्र ने विचार किया, यह इस प्रकार का होगा, वह उससे स्पृष्ट हुआ। उससे एक शर गिरा। वह काटनेवाले को खड़ा देखकर बोला, दौड़ो इसके सिर को काट दो, इस प्रकार काटनेवाले परशु से सिर काट दिये, उससे काटनेवाले में सिर स्थित हुआ। उसका जो सोमपा सिर था वह कपिञ्जल हो गया, जो सुरापा सिर था वह कलविङ्क हो गया, जिससे अन्न फेंका वह तित्तिरि हो गया।

१. तुलना—जैमिनि ब्राह्मण २।१५४।।, तै० सं० २।५।१।। शतपथ ब्राह्मण १।६।३।१ व ५।६।४।१-६।।

इस कथानक के त्वष्टा, विश्वरूप त्वाष्ट्र, इन्द्र, सोमपासिर, सुरापासिर, अन्नसिर गवेषणीय शब्द हैं। जिनका विशिष्टार्थ इस प्रकरण से ही स्पष्ट हो जाता है।

त्वष्टा—वायु से आवेष्टित अन्तरिक्षस्थ वैद्युत् अग्नि त्वष्टा है।

त्वाष्ट्र—विद्युत्‌रहित वायु त्वाष्ट्र है जो सर्वत्र व्याप्त है।

इन्द्र—सौर अग्नि इन्द्र है।

सोमपादिसिर-सोम—सोम सुरा आदि जलों के तीन प्रकार हैं। सोम बहनेवाला जल है जो सूर्य लोक तक पहुंचता है।

सुरा—सुरा वे गहरे सघन जल हैं जो विभिन्न विद्युतों के जनक तथा मेघ बनते हैं।

अन्न—अन्न[1] नामक वे जल हैं जो भुके भारी, वैद्युत् अग्नि रहित हैं तथा पृथिवी पर बरसते हैं।

इन तीनों जलों का सेवन-कर्त्ता सुरापा आदि सिरोंवाला कहा जाता है। वायु जब वैद्युत् अग्नि से युक्त था तब तक तीनों जल उसमें ही थे। वायु के वैद्युत् अग्नि रहित होने पर अग्निकण =बाष्पकण, जल कैसे बने ? कपिञ्जल, कलविङ्क आदि पशुरूप कैसे हुये, यह पृथक् विवेच्य विषय है।

इस प्रकार ज्ञात हुआ कि सुरा नामक जल गम्भीरतम रूपवाले हैं, अतः शास्त्रों में अनृत[2], पाप्मा, तमः आदि शब्द प्रयोग किये गये हैं और सोम के लिये सत्य, श्री, ज्योतिः शब्द प्रयुक्त किये हैं। वस्तुतः अनृतादि नाम सुरा पदार्थ की गहनता गम्भीरता एवं विविध कर्म के द्योतक हैं।

लोक में तमः=अन्धकार को, अनृत=झूठ को और पाप्मा=पाप को कहा जाता है, लेकिन वेदादि ग्रन्थों में प्रयुक्त 'सुरा' शब्द के साथ लोकप्रचलित तमः आदि शब्दों का जो अर्थ है वह न होकर विशिष्ट अर्थ ही सङ्गत होगा। ये तमसादि शब्द भी विशिष्ट अर्थवाले हैं—

कृष्णं वै तमः। शत० ब्रा० ५।३।२।२॥
पाप्मा वै तमः। तै० सं० ५।१।८।६॥
एतद् वै पाप्मारूपं यद् तद् कृष्णम्। मै० सं० २।५।६॥
यत्तद् कृष्णं तद् अपां रूपमन्नस्य मनसो यजुषः०। जै० ब्रा० १।८।१।६॥
पाप्मा वै वृत्रः। शत० ब्रा० ११।१।५।७॥
एतद् अनृतं वा एतद् तपति वर्षति। तै० ब्रा० १।७।५।३॥

उपर्युक्त वचनों से सुस्पष्ट हुआ कि गहनतम जलों का कृष्णरूप होने से वे कृष्ण कहलाये तथा तमः सादृश्य से ही पाप्मा कहलाये क्योंकि पाप भी कृष्णरूप कहा जाता है। ये गहनतम जल बरसने से पूर्व ग्रीष्मता देने से और बरसने के बाद शीतलता प्रदान करने से दो रूपवाले होने के कारण झूठ के सदृश ही हैं। जहां द्वैध-भाव होता है वह अनृत कहाता है। जलों के इस रहस्य को

१. अन्नं वृष्टिः। गोपथ ब्राह्मण १।४।४,५॥
२. सत्यं श्रीर्ज्योति सोमो, अनृतं पाप्मा तमः सुरा। शत० ब्रा० ५।१।२।१०॥

समझाने के लिये श्रौतादि ग्रन्थों में सौत्रमणी इष्टि द्वारा नाटकीय ढंग अपनाया गया है जिसमें सुरा=[1]विशिष्ट द्रव्यों के चूर्ण से बने उत्तमपेय की आहुति दी जाती है।

जिस प्रकार ये सुरा पेय विभिन्न द्रव्यों से निर्मित है, वैसे ही सुरा नामक जल भी अग्नि, विद्युत्, वायु तथा आपों का एक समुदाय-विशिष्ट है जिससे ही सोमरूप जल पृथक् होकर आदित्य तक पहुंचता है और पृथिवी पर अन्नरूप में बरसकर सभी वनस्पति आदि का जनक बनता है अर्थात् सुरा और सोम नाम से विभाजित जल ही अन्नरूप[2] में पृथिवीस्थ वनस्पतियों तथा जीव-जन्तुओं का प्राणाधार है, वे दोनों जोड़े हैं, पृथक् नामवाले होते हुये भी युगल हैं। इनके इसी जनकत्व भाव को तैत्ति० ब्रा० १।३।४ में **'पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा'** इन शब्दों से प्रकट किया गया है। ये भिन्न पदार्थ नहीं है जैसे पुरुष और स्त्री दोनों उत्पत्ति के आधार हैं वैसे वनस्पति आदि के जनक ये सुरा और सोम दोनों हैं।

कुछ विद्वत्प्रवर **'पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा'** इस वाक्य का अर्थ करते समय उसके अगले वाक्य को छोड़कर अर्थ करते हैं वह महती भूल है। अगला वाक्य है **'तन्मिथुनंमिथुनमेवास्य तद् यज्ञे करोति प्रजननाय'** अर्थात् साम और सुरा मिथुन हैं, जोड़ा हैं, अतः यज्ञ में प्रजनन के लिये अर्थात् जनन प्रक्रिया को दर्शाने के लिये इस जोड़े को करता है, सुरा-सोम की आहुति देता है।

इस प्रकार सम्पूर्ण विवेचन से ज्ञात होता है कि वेदों में सुरा को कहीं पर भी त्याज्य नहीं माना गया है और वेद के व्याख्यान ब्राह्मणादि ग्रन्थों में जहां सुरा को त्याज्य माना है वह ब्राह्मण के लिये वर्जित है राजन्य के लिये नहीं। यह त्याज्य भेद भी ध्यातव्यविषय है। पहले तो ब्राह्मण-राजन्यादि को ही समझें। ब्राह्मण आदित्य को कहा जाता है और राजन्य पर्जन्य को—

असौ खलु वा वैष आदित्यो यद् ब्राह्मणः । तै० आ० २।१३।१॥
वृषा वै राजन्यः । ता० ब्रा० ६।१०।६॥
वृषा पर्जन्यः । मै० सं० २।४।८॥

इन वाक्यों से भली प्रकार स्पष्ट हुआ कि मेघों का स्थान अन्तरिक्ष है सूर्य नहीं। तो जो सौत्रामणि इष्टि में ब्राह्मण के लिये सुरापान वर्जित किया गया है वह इसी रहस्य को समझाने के लिये ही है कि सुरा नामक जल पर्जन्य में ही रहते हैं और सोम नामक जल आदित्य[3] तक पहुंचते हैं।

वेद तथा वैदिक ग्रन्थों के विवेचन से यह भी पता चलता है कि वेदोक्त सुरा लोकप्रचलित नशीला द्रव्य नहीं है अपितु शुभ=कल्याण करनेवाला पदार्थ है जैसा कि तैत्तिरीयब्राह्मण में कहा है—

---

१. सुरा-निर्माण के विशिष्ट द्रव्य—शष्प=अङ्कुरित धान, तोक्म=अङ्कुरित जौ, लाजा, नग्नहु=त्रिफला आदि औषधियां तथा मासर आदि, कात्यायन श्रौतसूत्र १४।१।१५ तथा १६।१।१८ में द्रष्टव्य हैं।

२. इस रहस्य को बतानेवाले ही 'अन्नं वै सुरा' मै० सं० २।३।६, 'अन्नं सुरा' तै० ब्रा० १।२।४ अर्थात् वृष्टि सुरा है 'यन्माल्व्यं सुरा वै सा' मै० सं० २।३।२ अर्थात् मालु=ओषधि (अमरकोष) ओषधियों के लिये जो हितकर है वह सुरा है। 'अन्नमलं सुरा'=वृष्टि को धारण करनेवाली (मल धारणे) सुरा है, इत्यादि वाक्य हैं।

३. सोम एव अस्य (ब्राह्मणस्य) राजा भक्षितो भवति। शतपथब्राह्मण १२।८।१।५॥

युवं सुरामाश्विनानमुचावासुरे सचा। विपिपाना शुभस्पती ॥ तै० ब्रा० १।४।२॥

अर्थात् हे अश्विओं ! नमुचि नामक असुर के साथ सुरा पीने से शुभ कर्मों के पालक हो।

इस प्रकार वेद तथा वैदिक ग्रन्थों का और महर्षि के भाष्य का अनुगमन करते हुए वेदोक्त सुरा शब्द का अर्थ समझना चाहिये। लौकिक अर्थ करना 'सुरा' शब्द के साथ अन्याय होगा। जो आधुनिक विद्वान् **'सुरा त्वमसि शुष्मिणी'** (यजु० १९।७)। आदि मन्त्रों में आये सुरा शब्द का अर्थ–'सुरा-शोषण करनेवाली है' यह करते-लिखते हैं वे सम्भवतः वेद में वर्णित गम्भीरतम पदार्थों से नितान्त अनभिज्ञ हैं और वैदिक-कोष निघण्टु से भी अपरिचित हैं। ऐसी स्थिति में मैं समझती हूं कि वे विद्वान् **'अन्नपते०'** यजु० ११।८३ मन्त्र मे आये 'शुष्मिणः' पद का 'शोषण करने वाला अन्न' यह अर्थ न करने की भी भूल नहीं करेंगे।

अब रही बात लोक में प्रचलित सुरा नामक बोतल-बन्द द्रव्य की जिसका घर-घर में निःसंकोच सेवन हो रहा है। क्या वह भी सेव्य है ? तो उत्तर में उसके लिये शत-सहस्र मुख से यही कहा जायेगा कि वह असेव्य ही नहीं, वह अस्पृश्य, अदर्शनीय द्रव्य है, जैसा कि मनु महाराज ने भी कहा है—

सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥ मनु० ११।९३॥

वेद-विहित नाम को ओढ़नेमात्र से ही कोई भी वस्तु ग्राह्य नहीं हो सकती। यह सुरा= शराब तेजाबयुक्त गन्दा पानी है जिसका सेवन मृत्युरूप है। जो सभी को, सभी कालों में सर्वथा उपेक्ष्य है, निन्द्य है, समाज से बहिष्करणीय है। और जो चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थों में महुआ आदि पदार्थों से निष्पादित द्रव्य का विधान है, जिसका सौत्रामणी इष्टि में प्रयुक्त पेय के निष्पादन-सादृश्य के कारण सुरासव नाम दिया गया है, वे आसव भी कुशल वैद्यों के कथनानुसार ही सेव्य है अन्यथा वे भी मृत्यु के कारण हैं यह तथ्य है।

सामान्य-विवेचनमयी पूर्वपीठिका (पूर्वार्द्ध)

अनार्य तथा ऊनार्य-द्राविड़

[ले०—पं० रमेशचन्द्र शालिहास, धानाकटली, सिरसा—१२५०५५]

भारतीय इतिहास की पाठ्य पुस्तकों में "आर्य मध्य एशिया से आए" का असत्य पाठ पढ़ाया जाता है। इसी प्रसङ्ग में 'आर्य'—'द्रविड़' दो 'जातियों' का उल्लेख कर द्रविड़ों को मूल निवासी बताकर आर्यों को घुमक्कड़-आक्रान्ता सिद्ध करके भारतीय बालकों की मानसिकता को घृण्यरूप में प्रदूषित किया जाता है। काले-गोरे वर्ण के आधार पर उत्तर-दक्षिण वासी के रूप में फूट के बीज का वपन भी किया जाता है।

'आर्य' को एक पृथक् जाति (नस्ल) बताकर द्रविड़ों का 'उच्छेदक' सिद्ध किया जाता है, किन्तु चारों वेदों का अनुशीलन करने पर भी कहीं 'द्रविड़' शब्द उपलब्ध नहीं है। शायद इंगलिश उपनेत्रधारी कहीं किसी मन्त्र-ब्राह्मण में इसे खोज पाये ? यदि कोई ऐसी शोध 'एक' भी, "अंग्लो-इण्डियन" (इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः) [न पूर्ण भारतीय, न पूर्ण इंग्लिश (आधे तीतर आधे बटेर)] सज्जन यदि उपस्थित करें तो हम उपकृत होंगे।

'द्रविड़' जाति की काल्पनिक उत्पत्ति, छद्म साम्राज्यवादियों की देन है, जो भारत को बहिरागत-जातियों का 'देश' सिद्ध कर उसकी 'राष्ट्रीयता' का हनन करते हैं। 'द्रविड़' देश वाची शब्द है जो भारत (आर्यावर्त) के दक्षिण-समुद्र-तटस्थ है। किसी भी देश में मात्र एक जाति का ही निवास हो यह आवश्यक नहीं। यूरोप-एशिया-अमरीका—द्वीप में किसी भी देश में 'एक' जाति नहीं। प्रायः निष्कासित, कलङ्कित, समाज-बहिष्कृत आर्य (ऊनार्य) वहां जाकर बसते रहे हैं, अतः भारत में अनार्य 'कृष्ण' 'अनासा' लोगों का "आर्य आगमन से पूर्व" राज्य था, यह मात्र कपोल-कल्पना तथा तमिल के प्रथम व्याकरण-लेखक 'पादरी' की सोची समझी 'फूटनीति' का प्रतिफलन है। साम्राज्यवादी अनार्य यायावर यूरोपीय (हरिवर्षीय) लोगों ने कूट-नीति के तमस्-प्रसारणार्थ यह निर्मूल, शास्त्रीय-प्रमाण-हीन परिकल्पना भारतीय-ऐतिह्य क्षेत्र को इसलिए दी, ताकि वे अपने को भी भारत पर प्रभुत्व जमाने में भागीदार बना सकें। कल्पनानुसार आर्य-हूण-मुगल-पठान आदि आक्रान्ता बन भारत-भोक्ता बने। जब छठी-सातवीं सदी का 'इसलाम' वर्षों भारत का भोग कर चुका तो वास्कोडिगामा के अनुयायी फ्रेञ्च-पुर्तगाली-ब्रिटिश-ईसाई=जो 'इसलाम' से तेरह सौ वर्ष पूर्व अपनी साम्राज्य-लिप्सा के लिए 'बाइबल' लेकर समुद्र-विजयार्थ चले थे। भारत की "सोने की चिड़िया" की शोध में पाताल (अमरीका) लोक के "रैड-इण्डियनों" को विजित कर 'भारत' प्राप्ति की कल्पना में मस्त रहे। जब अन्धकार का पर्दा उठा तो फिर असली 'भारत' में व्यापारी के छद्म वेश में पहुंचे। दक्षिण-समुद्र-द्वार से प्रविष्ट ये गौरे (दिल के काले) नदियों की सुवर्णमयी रेत से मुग्ध हो अपना कूट-नीति जाल फैलाने लगे। पाण्डिचेरी-गोवा-दमन-दीव-सूरत आदि में अड्डे बना कर 'मीरजाफरों' को द्रव्यक्रीत कर सारे भारत को "लाल" बना दिया [म० राजा रणजीतसिंह के शब्दों में]। भारत पर अपने प्रभुत्व को न्याय पूर्ण सिद्ध करने के लिए मद्रास-बङ्गाल में भारतीय संस्कृति की विनाशक 'पादरी-पोप वाद' की विस्तार-नीति का प्रसारण कर यह दुर्वाद फैलाया कि भारत अनार्य-आदिवासियों की स्वभूमि है। ईरान-ईराक (मध्य-एशिया) के घुमन्तू आर्यों ने सिन्ध-नदीस्थ मोहञ्जोदड़ो-हड़प्पा में प्रथम आक्रमण कर यहां के मूल निवासियों को दक्षिण की ओर धकेल कर सप्त सिन्धु-गङ्गा-यमुना के सिञ्चित भागों पर कब्जा कर लिया। फिर हूण-पारथ-मुसलिम भी भारत को लुण्ठित करने के लिए आये। इस विदेशीय बर्बरों से पद-दलित-भारत को उद्धारित करने के लिए **असभ्य 'गड़रियों को 'सभ्य' बनाने के लिए** १७वीं शताब्दी में बाइबल और तलवार लेकर "पादरी-वृन्द" पधारे और मद्रास-बङ्गाल को 'शुद्ध' कर घोषणा की कि दक्षिण के 'द्रविड़' [क्योंकि प्रथम ईसाई वर्ग इसी प्रदेश में उतरा था] ही भारत के मूल निवासी हैं। कलकत्ता से मध्य-भारत पंजाब की ओर बढ़ते हुए इन पूर्वाग्रहियों ने विकसित आर्यसभ्यता से चमत्कृत हो यह दुर्वाद रचा कि भारत में दो संस्कृतियां हैं—द्रविड़+आर्य। एक विजित एक विजेता। पूर्व-पूर्व

को उत्तरागत विजित करते रहें अतः हम भी विजेता रूप में भारत के उतने ही स्वत्वाधिकारी हैं जितने प्रथमागत "आक्रान्ता" आर्य। भारत की मूल गुरु-शिष्य-परम्परागत शिक्षण-पद्धति को विनष्ट (निरस्त) कर 'मैकाले' की शिक्षा-पद्धति से, शरीर से भारतीय, मस्तिष्क से अधकचरे यूरोपीय (एंग्लो-इण्डियन) 'तथाकथित-भारतीयों' का निर्माण कर घोषित कर दिया कि भारत एक 'राष्ट्र' नहीं (आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे) एक उपमहाद्वीप है जिसमें स्थानीय तथा बहिरागत जातियों का जमघट है। यहां की 'मिश्रित' संस्कृति में सभी का उपादान है अतः भारत धर्म निरपेक्ष (सैक्युलर) देश है। अधकचरे शिक्षित भारतीयों ने भी 'तथास्तु' 'बाबा वाक्यं प्रमागम्' मानकर वेदोपनिषद् पुराण-रामायण, महाभारत की ऐतिह्य परम्परा का नकार कर इंगलिश की खिड़की से प्राप्त 'वेद-ज्ञान' ? (अन्धज्ञान) के प्रसार कर नई नई भारतीय इतिहास की पुस्तकें 'शोधपूर्वक ?' लिखनी शुरु की। और भारतीय इतिहास का प्रारम्भ सिकन्दर के हमले से शुरू किया। भारतेतिहास के सत्य तथ्यमय पूर्व भाग को अन्धयुग ? (डार्कएज) में डाल दिया। आर्य मानव तथा 'द्रविड़' देशीय लोगों ने अपने को उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारत से 'प्राप्त-ज्ञान' 'ईसा' तथा तत्पूर्व यहूदी-ज्ञान के मिश्रित ग्रन्थ (ओल्ड टेस्टामेण्ट+न्यू टेस्टामेण्ट) बाइबल को ही प्रामाणिक माननेवाले, रोमन कैथोलिक-प्रोटस्टेण्ट (द्विधा विभक्त) तथा क्रूसेड जसे क्रूरकर्मों द्वारा 'ईसाइयत' का प्रचार करनेवाले लोगों ने भारत के विशाल ज्ञान-भण्डार के सामने अपने को तुच्छ-निकृष्ट न होने हेतु (क्योंकि वे शासक थे और भारत शासित) परिकल्पनाएं व दुर्वाद का गठन किया। वेदों को पढ़ने की आड़ में वेदार्थ-भ्रंशन तथा स्वकल्पित वाद की उद्भावना द्वारा वेदोपनिषद् पुराण महाभारतादि में **आर्यपतन**-अनाचरण-दुराचरण को ढूंढ-ढूंढ कर दुष्प्रचार प्रारम्भ किया। भारतीयेतिहास (वर्तमान) में आर्यों की पराजय ही मुखर है। पुरु-पौरुष, दाहर-नाहर की दहाड़, राणा प्रताप-शिवा-पृथ्वीराज को कहां महत्त्व दिया है? राणा की अपेक्षा विलासी-जार अकबर को अधिमान दिया जाता है। नौराजे मेले के नाम पर क्षत्राणियों को (क्योंकि इस मेले में हिन्दु स्त्रियां ही जा सकती थीं और अकबर उनके साथ अवसर पाकर दुराचार करता था='कविता-कौमुदी')दूषित करने के लिये हिन्दू वेश में अकबर इस मेले (एकमात्र पुरुष) में सम्मिलित होता था। बाबर-तुगलक-मुहम्द गौरी आदि नेता रूप में 'इतिहास' में प्रस्तुत हैं। 'यह सब ईसाई-गौरों की ऐतिहासिक **खोज** है' बताकर भारत को अपमानित किया जाता है। स्वतन्त्रता के लिए यत्न करनेवाले देशभक्तों को 'गद्दार' तथा 'ग़दर' कर्ता लिखा जाता है। लार्डों के समय को भारत का सर्वोत्तम काल (उत्थान काल) सिद्धकर भारतीयों को स्वतन्त्रता के अयोग्य घोषित कर दिया है इस पूर्वपीठिका तथा पं० भगवद्दत्त जी के 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' के पृष्ठ ३२७-३४० में उद्धृत —'वेस्टर्न इण्डोलोजिस्ट—ए स्टडी इन मोटिवस्' को ध्यान में रखकर पाठक अनार्य-ऊनार्य-द्रविड़ शब्दों पर विवेचन को समझने में सक्षम होंगे, अतः प्रथम आर्य शब्द की व्याख्या ध्यातव्य है। इसी से सम्बद्ध अनार्य तथा ऊनार्य स्वयं व्याख्यात होंगे।

आर्य—'ऋ सृ=गतौ' जुहोत्यादि, 'ऋ=गतौ' क्र्यादि(ऋणाति)तथा 'ऋ=गतिप्रापणयोः' भ्वादि (ऋच्छति) 'ऋच्छत्यृताम्' अ० ७।४।११ पाणिनिसूत्र-पठित धातुओं से गतिशील प्रापण (आप्लृ व्याप्तौ)कर्मा, मानव(मननशील प्राणी)का विशेषण आर्य जाति (संज्ञा)नहीं मनुज के विशेष

गुण'दानी' आदि का बोधक है। कृण्वन्तो विश्वमार्यम् अपघ्नन्तो अराव्णः (ऋक् ९।६३।५) मन्त्र में "अराव्णः" (रा दाने) अदानी "अदानी" का विपरीत दानी, उदार अर्थ में 'आर्य' मान्य है। अनार्य में भी नञ्=अल्प-अभाव-व्यर्थ-दुर्बल-रिक्त-निषेध (नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः) आदि अर्थों के कारण 'ऊनार्य' के निकटतम है। आर्य गुण कर्मों में अल्पता [जैसे छोटी आंख वाले को कहते हैं आंख तो है ही नहीं] नितान्त अभाव, निषेध-दुर्बलता आदि के कारण पूर्व आर्यपदवाच्य ही अनार्य/ऊन र्य हो गए। द्रविड़-देश में (जलधितटस्थता के कारण) बाहर से (सीमान्त से) आए आर्य-कर्मानभिज्ञ (निषेध) तथा आर्यमानव जाति से दुश्चरित-कुचरित्रादि के लाञ्छन से अंकित बहिष्कृत-निष्कासित 'आर्य' ही दुर्बल व मनोविकृति के विवश द्रविड़ देश में 'ऊनार्य' होकर आ बसे। यह एक सीमित प्रदेश था। इस का सिन्ध या मोहन्जोदड़ो (हड़प्पा) से कोई सम्बन्ध नहीं। दस्यु(दास) आर्य युद्ध की संघटना भी अपने आर्य-द्रविड़ सिद्धान्त के समर्थन में वेदों में जबरन शोधी गई है। मनुस्मृति के अनुसार—"**या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाच ते सर्वे दस्यवः स्मृताः।**" दस्यु, आर्यभाषा-भाषी, बहिष्कृत आर्य हैं। आज के समाज में भी निष्कासित-बहिष्कृत लोग समाजविरोधी बन कर विवाद करते हैं। ऐसा ही दस्यु-आर्य युद्ध का भाव विदेशियों ने आर्य-द्रविड़ युद्ध में अतिरंजित रूप में वर्णित किया है। महाभारत में द्रविड़ जनपद को सहदेव ने स्व-दिग्विजय में संदेशमात्र से जोता है। 'ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड' (मुम्बई प्रकाशन) में वेंकटाचल से कन्याकुमारी तक का भाग द्रविड़ देश है। वेंकटाचलमारभ्य कुमारी कन्यकावधि। द्रविड़ाख्यो महा-देशः सर्पाकारेण संस्थितः॥ (पृष्ठ ६-७ श्लोक १३८)। इसी ग्रन्थ में तैलंगाः द्रविड़ाश्चैव दयावन्तो जनाः भुवि (पृष्ठ ८) द्रविड़ों को दयालु कहा है। 'पद्मचन्द्र कोश' (लाहौर) में द्रविड़ शिशु=शैव सम्प्रदायी सन्त (शंकराचार्य) के अर्थ में माना है। जगद्गुरु शंकराचार्य ने सौन्दर्य लहरी स्तोत्र में स्वयं को द्रविड़ शिशु लिखा है—"दयावत्यादत्तं द्रविड़शिशुरास्वाद्य तव यत्" "आंध्र-द्रविड़-कर्नाट-केरलादिप्रमाणतः। शृंगेरी+अधीनादेशास्ते ह्यवाचीदिगवस्थिताः" इस पद्य से 'द्रविड़' देशस्थ-मट, शृंगेरी मठ (शंकराचार्य) के अधीन बताए हैं। अतः द्रविड़ जनपद (देश) सारे भारत का सूचक नहीं अपितु भारत के दक्षिण दिग् भागस्थ जनपद, जहां बहिष्कृत 'आर्य' बाहर के लोगों के साथ रह कर कर्मभ्रष्ट पतिताचारी के रूप में रहते थे। अतः भारत "आर्यावर्त" ही था, यहां आर्य, ऊनार्य, अनार्य ही रहते थे। द्रविड़ जाति नहीं 'ज्ञाति' है [जाति-ज्ञाति भेद लेख के उत्तरार्द्ध में पढ़ें)। लेख के उत्तरार्द्ध में द्रविड़-आर्य-दस्यु आदि शब्दों तथा मोहंजोदड़ो मानव-नर-पुरुष शब्दों का सूक्ष्मार्थ सप्रमाण-विवेचन विवरण सहित किसी अग्रिम अङ्क में पाठक पढ़ेंगे।

★

★ यदि आप हरना नहीं जानते तो चाहे आप किसी झोपड़ी में पैदा हुए हो या महल में आप सफलता के अवसर स्वयं पैदा कर लेंगे।

थोड़ा सा सम्मान मिला तो पागल हो गए, थोड़ सा धन मिला तो आपे से बाहिर-बाहिर होने लगे, थोड़ा सा ज्ञान मिला तो उपदेश झाड़ने लगे, थोड़ा यश मिला तो दुनिया पर हंसने लगे, थोड़ा रूप मिला तो दूसरों को तबाह करने पर तुल गए, इस तरह जीवन भर छलनी से पानी भरते रहे अपनी समझ से बहुत बड़ा काम करते रहे।

वेदमन्त्रेषु राष्ट्रिय-भावना

[ले०—प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री, आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काङ्गड़ी
विश्वविद्यालय, हरिद्वार]

समस्तभूतलवासिनां मानवानां बहुविद्याभ्युत्थानविषये स्वस्थचिन्तैर्विद्वद्भिर्वेदानधिगत्यैव विश्वजनीनं सकलजनहृदयग्राह्यं निर्मलं विचारान्वेषणमकारि । "सर्वज्ञानमयो हि सः" इति निगद्य वेदानां महत्त्वमुद्भावयता मनुना मानवानां मनसि वेदानुरागबीजं व्युप्तम् । निखिलज्ञानविज्ञानाधिगमाय वेदे विमलां सुवरदां ब्रह्मस्वरूपां मतिं वितन्वद्भि सुमेधोभिर्या याः कामनाः कृतास्ताः सर्वा अपि पूर्णाः । यथा तरंगाश्रयः सलिलाशयो भवति यथा व्यभिचारिणां भावानामाश्रयः स्थायिभावाशग्रस्तथैव जगति वर्तमानानां सर्वासां प्रवृत्तीनामाश्रयो वेद एव विद्यते । अत एव समुदीर्यते भारतीभासा-समुद्भासिते महाभारते—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥ म० भा० शान्तिपर्व अ० २३२।२४॥

नानारूपं च भूतानां, कर्मणां च प्रवर्तनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ, निर्मिमीते स ईश्वरः ॥
नामधेयानि चर्षीणां याश्च वेदेषु दृष्टयः ।
शर्वर्यन्ते सुजातानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः ॥ म०भा० शान्तिपर्व २३२।२५-२६॥

यथार्थज्ञानाय वेदार्थावगमे सततं प्रयत्नो विधेयः । यथा—

यो वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः ।
न ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञः तस्य तद्धारण वृथा ॥
भारं स वहते तस्य ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः ।
यस्तु ग्रन्थार्थतत्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा ॥ म०भा० शान्तिपर्व ३०५।१३-१४॥

यं देशं समलंकरोति स्वजन्मना जनः, स जनो नूनमेव तं देशं पितरं मातरं च मत्वा समर्चति । स्वराष्ट्रस्य विष्वगुन्नतिं द्रष्टुं कर्त्तुं च नक्तन्दिवं कामयते राष्ट्रभावभरितहृदयो मनुष्यः । राष्ट्रं निरुपद्रवं निरवखण्डनं च कर्त्तुं सैन्य-सञ्चालने, राज्यस्थितिसमवेक्षणे, निरन्तराये दण्डविधाने, निःस्वार्थभावे नेतृत्वे, निखिलजनचिन्तानुरञ्जनकरे सर्वलोकाधिकारे च दृष्टिं निक्षिपद्भिर्मनीषिभिर्वेदसंदेशादेशपरिपालने निश्चलमतिभिर्भाव्यमेव । स्मृतिशास्त्रे मनुना समीचीनो विचारः समुन्मषितः—

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ मनु० १२।१००॥

स्वराष्ट्रे जन्म प्राप्य ये जनाः शैशवावस्थाया युवावस्थाया वृद्धावस्थायाश्च आनन्दमनुभवन्ति, ते क्वचित्सरिज्जलं पिबन्ति, क्वचित् पृथिव्यन्नमश्नन्ति, क्वचिद्वृक्षफलान्यदन्ति, क्वचिद् वने सञ्चरन्ति, क्वचिच्चाटन्ति दुर्गमे पर्वते । अस्मिन्नेवार्यराष्ट्रे मुनिभिस्तपस्विभिर्महर्षिभिश्च सततं महत्तपस्तप्त्वा राष्ट्रस्य समृद्धिमयं सुखप्रदं स्वरूपं दृष्टम् । यथा—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥

राष्ट्रमुन्नेतुं ब्राह्मणा राजन्याः स्त्रियो गावो वनस्पतय ऋतवः पर्जन्याः कामा निकामाश्च कीदृशा स्युरित्याकांक्षायां समुदितायां राष्ट्रभक्ताः प्रतिदिनं राष्ट्रगानपदवेद्यमेकं वेदमन्त्रं प्रमुदितेन मनसा मधुरेण स्वरेण मधुराक्षरया च वाचा प्रातरुत्थाय समुद्गायन्ति । यथा—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ यजु० २२।२२॥

स्वराष्ट्राभ्युदयं कामयमानेन केनापि राष्ट्रवादिना मनस्विना कदाचिदपि क्वचिदपि निजेतरत्वभावो न कल्पनीयः । समस्तेषु राष्ट्रवासिषु, समस्तासु राष्ट्रक्रियासु योगक्षेमभावेन प्रचलितेषु सर्वेषु क्रियाकलापेषु शमवृत्तिवत्सु वृत्तेषु च निजादरभाव आत्मभावश्च सर्वदेव वर्धनीयः । यथा—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ।। अथर्व० १९।६२।१॥

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ।। यजुर्वेद १८।४८॥

ये राष्ट्रवासिनो जनाः प्रातःकाले शय्यां विसृज्य स्वमातृभूमेर्निर्मलेन रजसा ललाटं लासयन्ति ते धन्याः । मातृभूमिं प्रति नमन्तः सन्तस्तस्याः सुखकारिणीं शत्रुहारिणीं निवासदायिनीं च सत्तां कीर्तयन्तः सुखं लभन्ते ।

पृथिवी, स्योना अनृक्षरा निवेशनी भव । ऋक् १।१२।१५॥

कस्मिन्नपि राष्ट्रे तिस्रो देव्यः सुखमातरो भवन्ति । यत्र तिसृणां देवीनामभिनन्दनमनवरतं प्रतन्यते तत्र सुखवर्षा भवन्ति राष्ट्रं परिवर्धते, न वहति व्यथां क्वचित् कश्चिज्जनः । अस्माकं मातृभूमिः प्रथमा देवी, द्वितीया देवी मातृसंस्कृतिः, मातृभाषा च तृतीया देवीति निगद्यते । एतासां निर्विशेषप्रतिपत्त्युत्पादितं समर्चनमेव राष्ट्रार्चनमस्तीति मन्तव्यम् । यथा—

इडा सरस्वती मही तिस्रोदेवीर्मयोभुवः ॥ ऋ० १।१३।९॥

अद्यत्वे जनाः प्रवदन्ति यत् 'संघे शक्तिः कलौ युगे', परं वेदेषु संघशक्तेर्महिमा सुमहान् विद्यते । युगे-युगे संघशक्तिरपेक्ष्यते । राष्ट्रस्य साफल्याय संघशक्तिर्नितरामिष्यते । वेदमन्त्रे राष्ट्रकल्याणाय प्रार्थना विद्यते यत्—

युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम् ।। ऋ० १।१७।४।

यस्मिन् राष्ट्रे सैनिकाः शौर्यौदार्ययोः समन्वयकरणे सुदक्षा भवन्ति त एव भवन्ति राष्ट्रवीराः वीरास्ते घात्यान् निघ्नन्ति अवन्ति चाव्यान् । ये चिरं राष्ट्रं रक्षितुमीहन्ते तैः शौर्यं प्रकटनीयमौदार्यमपि च प्रकटनीयम् । यथा—

नमस्विन उप स्वराजमासते ।। ऋक् १।३६।७।।

ये जना अलभ्यं कवित्वपदमुपेत्य स्वराष्ट्रं पितरं मातरं च मत्वा तद्वर्णने स्वप्रतिभोन्मेषं कुर्वन्ति, मातृभूमेर्महिमानं गायन्ति, तद्वैभवं वर्णयन्ति, तत्कीर्तिं प्रसारयन्ति, तद्यशो गाथां च लिखन्ति ते चिरं जीवन्ति जगत्याममृताश्च भवन्ति । यथा वेदे—

यद्यूयं पृश्निमातरो मर्तासः स्यातन । स्तोता वो अमृतः स्यात् ।। ऋ० १।३८।४।।

ये जना राष्ट्रे नेतृत्वमीहन्ते ते राष्ट्रहितमेव पुरो निधाय कार्याणि वर्धयन्तु प्रज्ञानां विश्वासं कदाचिदपि मा शिथिलयन्तु, स्वराष्ट्रकल्याणमाकलयन्तु, सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय च स्वबुद्धि-चातुर्यं परिष्कुर्वन्तु । यथा वेदे—

दाधार क्षेममोको न रण्वो यवो न पक्वो जेता जनानाम् ।
ऋषिन स्तुभ्वा विक्षु प्रशस्तो, वाजी न प्रीतो वयो दधाति ।। ऋ० १।६६।२।।

यत्र राष्ट्रनायकाः प्रजानां दैन्यं दूरीकर्तुं प्रयतन्ते, सर्वविधमज्ञानतिमिरं नाशयन्ति, बुभुक्षा-मपाकर्तुं भवन्ति च प्रयासरतास्तत्र जना राष्ट्रियभावनां स्वमनसि स्थापयन्ति । ये राष्ट्रोन्नायकाः सन्ति ते स्वराज्यभावनां द्रढयन्तु समूलमुत्पाटयन्तु च राष्ट्रस्य शत्रून् । स्वराज्यं स्थिरयितुं सर्वासु दिक्षु सुनेत्रैः दृष्टिनिक्षेपो विधेयः । स्वराष्ट्रप्रगत्यर्थं, नानाविधानि साधनानि अन्वेष्टव्यानि । सत्-कर्तव्या राष्ट्रभावाः, जेतव्याः शत्रवः, पुरस्करणीयाश्च वीराः । यथा वेदमन्त्राः—

विद्वान् अग्रे वयुनानि क्षितीनां, व्यानुषक्छुरुधो जीवसे धाः ।। ऋ० १।७२।७।।
इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम् ।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या नि शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् ।।
प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते ।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ।।
इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन्वीर्यम् ।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधीरर्चन्ननु स्वराज्यम् ।। ऋ० १।८०।१,३,७।।
गोमातरो यच्छुभयन्ते अञ्जिभिस्तनूषु शुभ्रा दधिरे विरुक्मतः ।
बाधन्ते विश्वमभिमातिनमप वर्त्मान्येषामनु रीयते घृतम् ।। ऋ० १।८५।३।।

तदेव राष्ट्रमक्षुण्णं भवति यज्जना न भवन्ति निर्धनाः । यदा मनुष्या धनधान्यवन्तो भूत्वा भवन्ति दानिनः, परिपुष्टाः सन्तो भवन्ति परजनपोषकाः, संयमयानेन तृष्णाटवीमतीत्य भवन्ति वितृष्णाः, कठोरं श्रमं कृत्वा कर्मकुशला भवन्ति, धनं गृहीत्वा अपि भवन्ति च दातारस्तदा राष्ट्रिय-भावना प्रजाजनमनसि प्रतिष्ठापदमाप्नोति । यथा—

दधन्नृतं धनयन्नस्य धीतिमादिदर्यो दिधिष्वो विभृत्राः ।
अतृष्यन्तीरपसो यन्त्यच्छा देवाञ्जन्म प्रयसा वर्धयन्तीः ।। ऋ० १।७१।३।।

ये शत्रवो राष्ट्रविघातं मनसि निधाय गुप्तरूपेण कार्यं कुर्वन्ति । राष्ट्रवासिनां बुद्धिमत्तां तेजस्वितां बलिदानभावनां सच्चरित्रतां च नाशयितुमीहन्ते ते राष्ट्रवीरैः सत्वरमेव हन्तव्याः । उक्तं वेदमन्त्रे—

वियात विश्वमत्रिणं ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ॥ ऋ० १।८६।१०॥

यया यज्ञभावनया राष्ट्रपुरुषा राष्ट्रस्य श्रियं प्राणम् आयुष्यम्, तेजो बलं च जिन्वन्ति तामेव यज्ञभावनां दूषयितुं केचन शत्रवो नष्टार्यरूपा सन्तिः प्रयतमानाः। यज्ञरिपवो येऽनार्याः प्रकाशं वा अप्रकाशं वा असमञ्जसचरित्रं चित्रयन्ति, ते सदैव पराभवनीयाः। अमुमेव भावं प्रकाशयति वेद-मन्त्रः—

अभितिष्ठेम पृत्सुतीरसुन्वताम् ॥ ऋ० १।११०।७॥

ये लोकनायका राष्ट्रनायका वा राष्ट्रस्य स्पन्दनं जानन्ति तदन्तर्गतं तत्त्वं परिचिन्वन्ति जानन्ति च तत्प्रकृतिं त एव राष्ट्रं परिपुष्णन्ति, रक्षन्ति, सत्कुर्वन्ति च सर्वदा। तादृशा लोकनायका राष्ट्रस्येतिवृत्ते लिखिता इव चित्रिता इव भान्ति। यथा—

अस्तावि साम्राज्याय प्रतरं दधानः ॥ ऋ० १।१४१।१३॥

ये राष्ट्रे निवसन्ति जीविकां प्रसारयन्ति परं ते स्वाभिमानमहिमानं न विदन्ति, उदरदरीं पूरयितुं ते सत्येऽसत्यमसत्ये च सत्यं पश्यन्ति। केवलं देहप्रधानैः पुरुषैर्न प्रसार्यते राष्ट्रभावना। नापि च तैर्दीयते किमपि राष्ट्ररक्षार्थम्। ये स्वाभिमानं रक्षन्ति त एव राष्ट्रबाधां दूरीकर्त्तुं क्षमन्ते। राष्ट्रं तैरेव सर्वदा स्वाभिमानिभिरभिरक्षितं यैः स्वाभिमानं रक्षितुं तप्तं महत्तपः, अनुभूतं प्रभूतं कष्टम्, गीतं राष्ट्रगीतं, त्यक्तं च भौतिकं सुखम्। अत एव वेदे स्वाभिमानस्याखण्डतां रक्षितुमुपदेशः सम्प्राप्यते। यथा—

त्वं मानेभ्य इन्द्र विश्वजन्या रदा मरुद्भिः शुरुधो गो अग्राः।
स्तवानेभिः स्तवसे देव देवैर्विधामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥ ऋ० १।१६९।८॥

राष्ट्रे वर्तमानाः सर्वेऽपि जना दूरं यावत् स्वजीविकां प्रसारयितुं समर्थाः स्युरित्युपदेशो वेदर्षिणा प्रदीयते। राष्ट्रशरीरे व्याप्तिं व्युपगते सति जीविका साधनानि स्वत एव विस्तृतिमुपयन्ति। अतो मातृभूमेर्विस्ताराय राष्ट्रस्य शुभचिन्तकैः प्रयासाः करणीयाः। अस्मिन् विषये प्राप्यते वेदमन्त्रः-यथा—

पृश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी भवा तोकाय तनयाय शं योः।
अग्ने त्वमस्मद्युयोध्यमीवा अनग्नित्रा अभ्यमन्तः कृष्टीः ॥ ऋ० १।१८९।२३॥

राष्ट्रे द्विविधा जनाः प्रादुर्भवन्ति, कचन प्रजानां भद्रमिच्छन्ति केचन चाभद्रमिच्छन्ति। ये प्रजानां प्रियंकरास्ते लालनीयाः पालनीयाश्च, ये खल्वप्रियंकरास्ते दण्डनीयाः। उक्तमेव वेदे यथा—

अरोरवीद्वृष्णो अस्य वज्रोऽमानुषं यन्मानुषो निजूर्वात्।
नि मायिनो दानवस्य माया अपादयत्पपिवान्त्सुतस्य ॥ ऋ० २।११।१०॥

वेदे परान्नभक्षणस्य निषेधो वरीवर्ति। परान्नाशनात् बुद्धौ मनसि कामे वदने संवादे संगमने ज्ञाने संज्ञाने च युगपद् प्रोद्भवन्ति विविधा दोषाः। परान्नभोक्तारं परान्नदोषाः शनैः शनैस्तेजोविहीनं निरुत्साहं कान्तिहीनं राष्ट्रियभावनाविरहितं च कुर्त्तुमर्हन्ति। यदा यदा यस्मिन् राष्ट्रे राष्ट्रजनैः परप्रदत्तमन्नमशितं तदा तदा तस्मिन् राष्ट्रे राष्ट्रजनानां हृदयानि राष्ट्रियभावनावियुक्तानि जातानि। यथा—

पर ऋणा सावीरध मत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम् ।
अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषास आ नो जीवान् वरुण तासु शाधि ।। ऋ० २।२८।९।।

राष्ट्रसंरक्षणसंसिक्तचित्तैः पुरुषैः प्रत्यहं सरस्वती समर्चनीया सरस्वत्या अर्चनं विना मनसि नैर्मल्यमात्मोल्लासश्च नोत्पद्यते । येषामात्मनि पवित्रता न विद्यते चित्ते च नास्ति स्थैर्यं ते राष्ट्रविषये शुद्धं न चिन्तयन्ति । शुद्धचिन्तनं विना राष्ट्रियचेतनोद्भवः कुतः । राष्ट्रनायकैः सरस्वत्या विस्ताराय विविधा उपाया अन्वेष्टव्याः । तद्विस्तारे विरोधं जनयन्तो जना पापिष्ठा भूत्वा भवन्ति दुःखभाजः । ये सारस्वतास्त एष सरस्वतीदत्तवरप्रसादा विविधविद्यापारङ्गता भूत्वा राष्ट्रविषये सततं भवन्ति सचिन्ताः । सरस्वत्याः स्तोतारं प्रचारकं प्रवाचकम् उद्गातारं वा यो मन्दः समवरुणद्धि सः पापीयान् जायते । स्वगत्यवरोद्धारं दुर्जनं जनं प्रत्याह सरस्वती—

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे ।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम् ।।
अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः ।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः ।।
न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव ।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ।।
ये सहस्रमराजन्नासन्दशशता उत ।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्या पराभवन् ।। अथर्व० ५।१८।१,२,६,१०।।

राष्ट्रियभावनापूतितान्तःकरणैः स्वदेशभक्तैः सरस्वत्याः प्रसादनाय वेदमन्त्रैस्तत्स्तवनं विधेयम् । यथा—

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति ।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ।।
त्वे विश्वा सरस्वति श्रितायूंषि देव्याम् ।
शुनहोत्रेषु मत्स्व प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ।। ऋ० २।४१।१६,१७।।

राष्ट्रियभावनां चिरं जीवयितुं त एव जनाः प्रभवन्ति ये स्वकर्तव्यं जानन्ति । कर्तव्यबोधाभावे राष्ट्रियता हीयते । ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च स्वस्वकर्तव्यं विज्ञाय यद्यत्कुर्वन्ति तत्तद्राष्ट्रहितेच्छयैव । यदा जनाः स्वकर्तव्यावबोधे प्रसुप्ताः परकर्तव्यावबोधे च प्रबुद्धा भवन्ति तदैव राष्ट्रं विपद्ग्रस्तं भवति । राष्ट्रस्य क्षेत्रे क्षेत्रे नगरे नगरे देशे देशे विभागे विभागे च विषण्णता विपन्नता खिन्नता दीनता हीनता असहिष्णुता निर्मनस्विता जडता अन्धता स्वार्थता च परिदृश्यते श्रूयते च । अतः स्वराष्ट्ररक्षणप्रहितेक्षणा ये सुजनाः सन्ति ते स्वकर्तव्यसम्पादने सन्तु निरालसाः । उक्तं वेदे—

केतुं यज्ञानां विदथस्य साधनं विप्रासो अग्निं महयन्त चित्तिभिः ।
अपांसि यस्मिन्नधि सन्दधुर्गिरस्तस्मिन्त्सुम्नानि यजमान आ चके ।। ऋ० ३।३।३।।

ये परदेशीयाः कथयन्ति यद् भारतं वयं रक्षामः, वयं पालयामः, वयं पाठयामः, वयं साधयामः, वयं सञ्चालयामश्च, मन्येऽहं यत्ते जना न जानन्ति। भारतीयाः परमुखापेक्षिणो न सन्ति भारतीयानां यद् ब्रह्मज्ञानं विद्यते तेनैव काले काले रक्षार्थं रक्षाकवचायितम्। भारतीयो जनो मनः प्रसूतिर्विद्यते, "स्ववीर्यगुप्ता हि मनःप्रसूतिः" कालिदासस्य सूक्तिरियमद्यापि वेदमन्त्रानुगामिनी सत्यार्थवती च विभाति। वेदानुसारं भारतीयैर्ज्ञानबलेनैव संसारे सर्वमर्जितम्। भारतीया न परबलाश्रिता नापरान्नाश्रिता नापि परिविद्याश्रिता आसन्। वेदे यथोक्तम्—

य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम्।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्॥ ऋ० ३।५३।१२॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकम्।
स्वरास्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्॥
अथर्व० १६।८।१॥

स्वयं वाजिस्तन्वं कल्पयस्व, स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व महिमा तेऽन्येन न सन्नशे।
यजु० २३।१५॥

वेदे राष्ट्रजीवनाधायकानि सप्ततत्त्वानि वर्णितानि। यत्र प्रतिपलं जायते सप्ततत्त्वोन्मेषस्तत्र राष्ट्रिय-भावना कदापि न क्षीयते। राष्ट्रजना यदा सत्यान्वेषणनिपुणाः सुव्यस्था चतुराः शत्रुसंहारव्युग्राः, सुदक्षविपश्चिद्गुरुजनदीक्षिताः तपोवहितापपरिपूतान्तःकरणाः, ब्रह्मज्ञानप्रकाशविनष्टाज्ञानतिमिराः, यज्ञानुष्ठानकर्मकुशलाश्च भवन्ति तदा राष्ट्रभूमिः सर्वान् स्वक्रोडस्थान् पुत्रान् परिपाति। यथोक्तं वेदे—

सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥ अथर्व० १२।१।१॥

या अस्माकं मातृभूमिरस्ति तत्र वैश्वानरोऽग्निर्विभाति। सा भूमिर्विधते विश्वंभरा वसुधानी च। यस्या मातृभूमेः क्रोडस्था जना दैवायमाना अमृतं पिबन्ति रक्षन्ति चाप्रमादं स्वराष्ट्रम्, सा भारतभूमिरस्माकं मातृभूमिर्विद्यते। अस्माकं राष्ट्रस्य संस्कृतिः प्रथमा संस्कृतिः सैव विश्ववारेति निगद्यते। यत्र वयं वसामस्तत्र कलकलनादवाहिन्यो नद्यो नवीनममृतं वहन्ति। राष्ट्रभूमिरियं त्रयाणां वर्णानां शोभामावहति। हिमवन्तो गिरयस्तद्यशोगाथां गायन्ति। उक्तं वेदमन्त्रे—

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥ अथर्व० १२।१।११॥

अस्माकं मातृभूमिस्तान् जनान् बिभर्ति ये विविधभाषाभाषिणः सन्ति। यथा धेनुरनेकाभिर्दुग्धधाराभिर्वत्सं पालयति तथैव मातृभूमिरियं सर्वान् पाति। यथा—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥ अथर्व० १२।१।४५॥

राष्ट्रवासिभिः राष्ट्राभ्युदयमभिलक्ष्य प्रार्थना करणीया यदस्माकं राष्ट्रे सर्वे जना सधनाः सपुत्राः सद्वृत्ताश्च सन्तु।

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ।। अथर्व० १२।१।५०।।

एकस्मिन् वेदमन्त्रे राष्ट्रभूमिं मातरं मत्वा प्रार्थयते मनुष्यो यद् हे पृथिवि तव मध्यभागं यानि वस्तूनि भूषयन्ति यानि नाभि-मण्डलं मण्डयन्ति, यानि च वस्तुजातानि तवाखिलं वपुः शोभायुक्तं कुर्वन्ति तान्यस्माकं कुरु। हे भूमे त्वमसि मम माता, पृथिव्या अहमस्मि पुत्रः पर्जन्यो मम पिता चास्ति। यथा—

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ।। अथर्व० १२।१।१२।।

यस्मिन् राष्ट्रे राष्ट्रनायका धर्मकेतुं हस्ते निधाय शासनं कुर्वन्ति ते जानन्ति राष्ट्रमहत्तां। धर्मविहीना नरा नात्मानं रक्षन्ति न रक्षन्ति राष्ट्रभूमिम्। यथा—

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनुचरेम विश्वहा ।। अथर्व० १२।१।१७।।

अस्माकं राष्ट्रे महतामृषीणां परम्पराः परिचकासति। पूर्वजा नो मन्त्रसारविदस्तत्त्वविदस्तपस्विनो वर्चस्विन ऊर्जस्विनश्च बभूवुः। तैरेव महर्षिभिः राष्ट्रस्य रचनां विधाय तद्रक्षणायमृतमयी राष्ट्रियभावना सम्भाविता। यथा—

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ।। अथर्व० १२।१।३९।।

भारते देशे षण्णामृतूनामागमनं काले काले भवति। भारतं विहाय नान्यत्र क्वचिद् ऋतूनां षट्कं शोभां विकिरति। अस्माकं भारतभूमिः कापि विलक्षणा अत एव देवभूमीति निगद्यते। ऋतुनिर्मितः कालः समये समये भारते भवति सुखकरः। यथा वेदमन्त्रे—

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ।। अथर्व० १२।१।३६।।

एवं वेदमन्त्रेषु पदे पदे राष्ट्रियभावना विभाति। वयं धन्याः स्मः। अन्ते भगवन्तमभ्यर्थयामहे यद् यस्मिन् भारते वयं जातास्तस्य भारतराष्ट्रस्य भावना अस्माकं जीवने दिने दिने प्रतिष्ठां लभतामिति।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।। यजु० २५।१९।।

निरुक्तकार यास्क द्वारा प्रदर्शित वेद-व्याख्या की विधाएं

[ले०—ब्र० धर्मेश शर्मा, पाणिनि महाविद्यालय, बहालगढ़-हरयाणा]

वेद परमपिता परमेश्वर की ऐसी अद्भुत, अद्वितीय तथा अनुपम कृति है जिसका भारतीय समाज में ही नहीं अपितु विश्व-समाज में भी परमपूज्य स्थान है। उदाहरण के लिए हम अपने भारतीय समाज को ही ले लें जहां के एक अनपढ़ पांशुलपाद व्यक्ति से भी, जिसने केवल 'वेद' शब्द को सुना है न कि उनकी संख्याओं तथा नामों को, दर्शन की तो पूछिए ही मत, पूछें कि वेद के विषय में तुम्हारे क्या विचार हैं तो वह व्यक्ति हमें निस्सङ्कोच उत्तर देगा कि वेद तो भगवान् की वाणी है जिसके द्वारा भगवान् ने हमें परमकल्याण का मार्ग बताया है। किसी-किसी अतिश्रद्धालु से तो हमें यहां तक सुनने को मिल जाता है कि वेद तो भगवान् है इसलिए हम हिन्दुओं तथा भारतवासियों को उसकी पूजा करनी चाहिए। वेद के विषय में सामाजिक अनपढ़ पांशुलपाद व्यक्तियों के विचारों को जानकर हमारा यह अनुमान प्रबल हो जाता है कि अवश्य ही वेद में कोई ऐसी अद्भुत शक्ति है जिसका प्रभाव वेदों के उत्पत्ति-काल के इतने अधिक काल बाद भी उन वेदों से पूर्णतया अनभिज्ञ व्यक्तियों में भी देखा जाता है। एक सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति जो तर्क को ज्ञान का विरोधी मानता है, हमारे इस अनुमान को बड़ी सरलता से स्वीकार कर लेगा परन्तु एक तर्कशील व्यक्ति जो कि तर्क को ज्ञान का एक पर्याय मानता है, वह इस बात को कदापि स्वीकार नहीं करेगा कि शब्दों में भी कोई अद्भुत शक्ति होती है जो इतने दीर्घकाल बाद भी मनुष्यों के हृदयों को प्रभावित कर सकती है जबकि आज लगभग पूर्णतया वेदों का पठन-पाठन लुप्तप्राय हो चुका हो। हमें भी यह अनुमान तर्क का विरोधी प्रतीत होता है। इसलिए अपनी बुद्धि का विलोडन करके हम अपने अनुमान का परिष्कार करते हैं। परिष्कार यह है कि अवश्य ही हमारे देश में प्राचीन काल में वेदों का पर्याप्त पठन-पाठन होता होगा जिसके ज्ञान का प्रभाव हम भारतवासियों के रक्त में घुलकर परम्परा से सामान्य मनुष्यों के हृदयों में बहुत न सही परन्तु आंशिकरूप से अद्यापि सुरक्षित है जो कि उनसे वेद-सम्बन्धी बातें करने पर प्रकट होता है।

प्राचीन काल में वेदों का पर्याप्त पठन-पाठन हुआ करता था, इस बात से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में वैदिक विद्वानों की भी कोई कमी नहीं थी तथा वेद को ही प्रत्येक कर्म की साधुता तथा असाधुता के विषय में परमप्रमाण माना जाता था। प्रमाण तो वेदों को आज भी माना जाता है परन्तु केवल कहने के लिए। वस्तुतः आज वेदों का पठन-पाठन लुप्तप्राय होने से बहुत ही अल्प व्यक्ति वेद-सम्बन्धी मत को जानते हैं। सामान्य मनुष्य तो स्मृति, पुराण आदि सरल ग्रन्थों को ही प्रमाणरूप में स्वीकार कर सन्तोष कर लेते हैं। परन्तु जिस काल में इन ग्रन्थों का प्रायः अभाव था, उस काल में वेद ही एकमात्र आश्रय था। इसलिए वैदिक विद्वान् प्रजा के लिए प्रत्येक विषय सम्बन्धी उपयोगी ज्ञान वेद से ही निकाल कर दिया करते थे जिसके आधार पर प्रजा तत्सम्बन्धी कार्य कुशलता पूर्वक किया करती थी। यह सर्वविदित है कि वैदिक शब्द यौगिक होते हैं अतः कोई भी विद्वान् अपने लिए अथवा प्रजा के लिए जिस प्रकार के ज्ञान को आवश्यक मानता था, उसे निकाल लिया करता था। यही वेदों की महत्ता का एक जीवन्त प्रमाण था तथा आज भी

है। उन्हीं वैदिक विद्वानों की परम्परा में महर्षि यास्क का नाम अत्यन्त सम्मान पूर्वक लिया जाता है। उन्होंने वेद-मन्त्रों के भिन्न-भिन्न प्रसङ्ग में भिन्न-भिन्न अर्थ करके समाज का जो उपकार किया है, वह अविस्मरणीय है। प्रस्तुत लेख में उनके द्वारा की गई वेद-व्याख्याओं की कुछ विधाएं प्रस्तुत की गई हैं।

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्।
तेषामिष्टानि स मिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन्पर एकमाहुः ॥१।

(ऋ० सं० १०।८२।२, निरु० १०।२६)

यह ऋग्वेद का मन्त्र है। निरुक्तकार महर्षि यास्क इस मन्त्र का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक दो प्रकार का अर्थ करते हैं।

आधिदैविक अर्थ—**'विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्द्रष्टा भूतानाम्। तेषामिष्टानि वा, कान्तानि वा, क्रान्तानि वा, गतानि वा, मतानि वा, नतानि वाद्भिः सह सम्मोदन्ते यत्रैतानि सप्तऋषीणानि ज्योतींषि। तेभ्यः पर आदित्यः। तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यधिदैवतम्' ॥**

इस अर्थ का विस्तार करने से पूर्व यह बात ध्यातव्य है कि किसी पदार्थ के लिए किसी शब्द का प्रयोग सामान्यतः उस पदार्थ के किसी गुणविशेष अथवा क्रियाविशेष के आधार पर होता है। ऐसा नहीं है कि उस पदार्थ में एक ही क्रिया अथवा एक ही गुणविशेष होता है। जिसके आधार पर उस शब्द का उस पदार्थ का बोध कराने के लिए प्रयोग हुआ है। यथा—'गौः' यह शब्द। निरुक्तकार महर्षि यास्क इस शब्द के अनेक अर्थमूलक निर्वचन करते हैं। 'गौरिति पृथिव्या नामधेयम्। यद् दूरङ्गता भवति। यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। गातेर्वौकारो नामकरणः। अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव' (निरु० २।५)। अर्थात् पृथिवी को गौ भी कहा जाता है क्योंकि इस पर प्राणी गमन करते हैं अथवा यह दूर तक गई हुई होती है अर्थात् इसका अन्त उपलब्ध नहीं होता है। यह स्वयं भी गमन करती है, इसलिए भी इसे गौ कहा जाता है। गौ पशु का भी नाम है जो कि इन दोनों धातुओं (गम्, गा) से बनता है। इस प्रकार इस उदाहरण से स्पष्ट है कि पृथ्वी अथवा पशुविशेष में क्रियाविशेष देखकर गौ शब्द का प्रयोग होने लगा। इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि इन दोनों द्रव्यों में केवल यही क्रियाविशेष अथवा कारकविशेष है और कुछ नहीं। यदि ऐसा होता तो स्वयं पृथिवी के लिए 'पृथिवी' शब्द प्रयोग में न आता जो कि उस पदार्थ में किसी अन्य क्रियाविशेष को लेकर प्रयुक्त हुआ है—'प्रथनात् पृथिवीति' (नि० १।१४)।

एक अन्य बात भी ध्यातव्य है कि निर्वचन अर्थमूलक होता है। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि किसी शब्द का यदि कोई निर्वचन किया गया है तो किसी अन्य अर्थ के लिए भी यदि उस शब्द का प्रयोग किया जाए तो उसका भी वही निर्वचन किया जाए। शब्द एक होने पर भी अर्थ बदलने पर निर्वचन बदल भी सकता है तथा कहीं-कहीं उस पूर्व-निर्वचन से भी काम चल जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग पर पाठकों का ध्यान इसलिए आकर्षित करना पड़ा क्योंकि निरुक्तकार महर्षि यास्क के एक ही मन्त्र के भिन्न-भिन्न अर्थ इसी आधार पर किये गए हैं जिनका विस्तार आगे किया जा रहा है।

निरुक्तकार उपर्युक्त मन्त्र का पहले आधिदैविक (आदित्यपरक) अर्थ करते हैं। इसलिए इस मन्त्र में आए हुए 'विश्वकर्मा' आदि शब्द उसी आदित्य के विशेषण हैं तथा आदित्य को ध्यान में रखकर ही उनका निर्वचन किया गया है परन्तु वे निर्वचन परमेश्वर में भी पूर्णरूप से घट जाने से उस अर्थ के भी वाचक बन सकते हैं जिसके विषय में आगे विचार करेंगे।

वह आदित्य 'विश्वकर्मा' अर्थात् 'विश्वस्य कर्त्ता'—अनेक प्रकार के कर्मों का करनेवाला है जसे—प्रकाश का करनेवाला, वृष्टि करनेवाला आदि। 'विमना:' अर्थात् 'विभूतमना:'—विभूत-प्रज्ञानवाला है। 'विहाया:' अर्थात् 'अन्तरिक्षमिवव्याप्ता'—अन्तरिक्ष के समान व्याप्त होनेवाला है। 'धाता' अर्थात् 'धारयिता सर्वभूतानाम्'=सभी प्राणियों अथवा पदार्थों को धारण करनेवाला है तथा साथ ही साथ 'विधाता च' अर्थात् 'पोषयिता च'—उनका पोषण करनेवाला भी है। और 'परमोत सन्दृक्' अर्थात् 'परमश्च सन्द्रष्टा भूतानाम्'—उन भूतों का परम अर्थात् प्रकृष्टरूप से दर्शन करनेवाला है। यहां पर टीकाकार दुर्ग तथा भाष्यकार सायण ने भी सन्द्रष्टा के अर्थ को विशेषरूप से नहीं खोला है तथा इन दोनों में इस स्थल पर कुछ मतभेद भी दृष्टिगोचर होता है। यहाँ पर उस मतभेद का प्रदर्शन करना अप्रासङ्गिक होगा। अत: लेखक यहां पर अपनी कल्पना-शक्ति के आधार पर इस अर्थ को विवृत करने का प्रयास कर रहा है। इसमें उसका कोई आग्रह नहीं है। केवल इतना तात्पर्य है कि संभवत: टीकाकार तथा भाष्यकार एवं निरुक्तकार को ऐसा अभीष्ट हो। यहां पर आदित्य को भूतों का सन्द्रष्टा कहा है। यदि हम सामान्यरूप से विचार करें तो कोई व्यक्ति द्रष्टा तब कहलाता है जब उसकी चक्षुओं का प्रकाशद्वारक किसी पदार्थ के साथ संयोग हो। इस आधार पर आदित्य को भी भूतों का द्रष्टा कहा जा सकता है यदि यहां आलङ्का-रिक वर्णन समझकर आदित्य को चेतनवत् समझ लें। परन्तु यहां पर आदित्य को सन्द्रष्टा अर्थात् प्रकर्षरूप से देखनेवाला कहा गया है। उसका प्रकर्ष यह हो सकता है कि वह आदित्य अर्थात् उस की रश्मियां उन भूतों के बाह्य स्वरूप का तो दर्शन करती हैं तथा साथ ही साथ अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उन भूतों के अन्दर भी समाविष्ट होकर उनके आभ्यन्तर अवयवों का भी दर्शन कर लेती हैं। यहां दर्शन को संयोगमात्ररूप में लें तो यह अर्थ लगाने में अधिक सुविधा हो सकती है। सामान्य व्यक्ति या वस्तु का किसी पदार्थ के बाह्यस्वरूप के साथ ही संयोग हो पाता है न कि सूक्ष्म-रूप से उसके आभ्यन्तर अवयवों के साथ। इस आधार पर आदित्य का अन्य व्यक्तियों अथवा पदार्थों से दर्शन अर्थात् संयोग में प्रकर्ष स्पष्ट हो जाता है। संभवत: यही भाष्यकार, निरुक्तकार तथा टीकाकारों को अभिप्रेत हो। भाष्यकार सायण आगे आनेवाले 'सप्तऋषीन्' पद का यहां अनुकर्षण करके उन सात रश्मियों का सन्द्रष्टा आदित्य को मानते हैं जिसकी सङ्गति लगाना अत्यन्त क्लेशप्रद है। लेखक को निरुक्तकार तथा टीकाकार का ही मत अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। उनके अनुसार पहले धाता, विधाता शब्दों का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है—भूतों का धारण तथा पोषण करनेवाला, अत: प्रकृत प्रसङ्ग से उन्हीं भूतों का सन्दर्शन करनेवाला अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। 'सप्तऋषीन्' (द्वितीयान्त) पद को 'इष्टानि' (द्वितीयान्त) पद के साथ सम्बद्ध करना सुसङ्गत है। जब कि भाष्यकार सायण को 'सप्तऋषीन्' द्वितीयान्त पद का षष्ठयन्त में विपरिणाम करना पड़ेगा जो कि अर्थ को क्लिष्ट करने के साथ-साथ द्राविड़ प्राणयाम का भी

परिचायक है। यह भी हो सकता है कि हमें सायण का अर्थ समझ में नहीं आ रहा है, इसलिए असङ्गत प्रतीत हो रहा है। इसलिए इसमें कोई आग्रह नहीं है कि हमारा उपर्युक्त काल्पनिक सम्भावित दृष्टिकोण हो उचित है। यह केवल अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कल्पनामात्र है। यदि किसी को यह दोषप्रद प्रतीत हो तो अवश्य हो त्याज्य है।

अब आगे उस मन्त्र के आधिदैविक आदित्यपरक अर्थ को विस्तार प्रदान करते हैं। 'तेषामिष्टानि' अर्थात् 'तेषामिष्टानि वा, कान्तानि वा, क्रान्तानि वा, गतानि वा, मतानि वा, नतानि वा'—उन भूतों के इष्टों को अथवा प्रियों को, किन प्रियों अथवा अभीप्सितों को—'सप्तऋषीन्' अर्थात् 'सप्तऋषीणानि ज्योतींषि'—सात रङ्ग की रश्मियों अर्थात् किरणों को 'मिषा' अर्थात् 'उदकेन'—जल से (सह), 'सः' अर्थात् आदित्य 'सम्मोदन्ते' अर्थात् अच्छी प्रकार से हर्षित करता है। यहां पर वे 'सप्तऋषीन्' सात रङ्ग की रश्मियां कैसे हैं' वे किस प्रकार भूतों को प्रिय हैं तथा वह आदित्य उन रश्मियों को किस प्रकार उदक से हर्षित करते हैं—इन विषयों पर निरुक्तकार, टीकाकार तथा भाष्यकार आदि ने विशेषरूप से कुछ नहीं लिखा है। अतः इस सम्बन्ध में भी लेखक की कल्पना द्रष्टव्य है—

'ऋष्यन्ति गच्छन्तीति ऋषयः' अर्थात् रश्मियों को ऋषि इसलिए कहा जाता है क्योंकि वे अपने स्रोत से निकलकर दूसरे स्थानों पर गमन करती हैं। वे सात प्रकार की होती हैं। उनके सात प्रकार उनके सात रङ्ग ही हैं—लाल, नारङ्गी, पीला, हरा, आसमानी, नीला, बैंगनी। यह बात आधुनिक विज्ञान में भी प्रिज्म (Spectrum) के द्वारा सूक्ष्मता से अध्ययन करके स्वीकार की जाती है। सम्भवतः वेद में उन्हीं सात रङ्ग की रश्मियों की ओर इशारा किया गया है। यूं तो आधुनिक विज्ञान इससे भी अधिक सूक्ष्म निरीक्षण करके रश्मियों के कई प्रकार निकाल चुका है परन्तु वेद में सामान्यतया ही निर्देश प्रतीत होता है। अब हम मन्त्रार्थ की सङ्गति लगाते हैं। 'तेषां भतानां प्राणिनां पदार्थानाम् इष्टानि अभीप्सितानि सप्तऋषीणानि सप्त रश्मयः सप्त ज्योतींषि वा मिषोदकेन सह स आदित्यः सम्मोदत्ते हर्षितं करोतीत्यर्थः।' अर्थात् उन भूतों-प्राणियों अथवा पदार्थों की अभीष्ट ये सात रश्मियां हैं। उनकी अभीष्टता का कारण सम्भवतः उन रश्मियों के द्वारा प्राणियों तथा पदार्थों की वृद्धि तथा अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति है। यदि सूर्य की रश्मियां इस पृथ्वी पर न आएं तो मानव-जीवन के साथ-साथ वनस्पति-जीवन भी असम्भव हो जायेगा। मानव-जीवन की वृद्धि के लिए तो सूर्य-रश्मियां आवश्यक हैं ही तथा साथ ही साथ वनस्पति-जीवन के लिए तो ये अत्यावश्यक हैं। हम सभी जानते हैं कि वृक्ष तथा अन्य सभी वनस्पतियां प्रकाश-संश्लेषण क्रिया द्वारा अपना आहार प्राप्त करते हैं। यदि उन्हें प्रकाश अर्थात् सूर्य-रश्मियां ही प्राप्त न हों तो वे अपना आहार प्राप्त करके स्वयं को पुष्ट कैसे कर सकेंगे और यदि वे स्वयं ही पुष्ट नहीं होंगे तो मानव-जीवन की पूर्ति कैसे कर पाएंगे ? इस प्रकार हम सूर्य-रश्मियों द्वारा मानव तथा वनस्पति-जीवन के लिए लाभ पर संक्षिप्त प्रकाश डालकर इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि सूर्य-रश्मियां सभी भूतों अर्थात् प्राणियों तथा वनस्पतियों आदि की अभीप्सित अथवा इष्ट हैं क्योंकि जो जिसकी वृद्धि तथा लाभ करता है, वह उसका अभीष्ट कहलाता है। तो भूतों की इष्ट उन सात रश्मियों को वह आदित्य जल से हर्षित करता है। वह कैसे ? सम्भवतः इसकी

सङ्गति ऐसे लगाई जा सकती है कि आदित्य की रश्मियां जब अन्तरिक्ष में से होती हुई पृथ्वी पर आती हैं तो वे अपनी उष्णता के कारण अन्तरिक्ष में तथा पृथ्वी पर उपलब्ध जल को वाष्प में परिणत अथवा रूपान्तरित कर देती हैं। वह वाष्प हलका होने के कारण रश्मियों के साथ ही मिश्रित हो जाता है। जल भले ही वाष्प में रूपान्तरित हो चुका है परन्तु उसे जल भी कहा जा सकता है। इस कारण वाष्प के रश्मियों में मिश्रित अथवा संयुक्त होने पर भी यह कहा जा सकता है कि सूर्य-रश्मियां उदक-युक्त हैं। सूर्य-रश्मियां वाष्प में युक्त होती हैं—इसका एक प्रत्यक्ष प्रमाण हम सभी वर्षा के रूप में देखते हैं। वर्षा होने की प्रक्रिया हो इन सूर्य-रश्मियों पर आधृत है। जब ये सूर्य-रश्मियां जल को वाष्प बनाकर उसको हल्का हो जाने के कारण ऊपर ले जाकर अन्तरिक्ष में सञ्चित कर देती हैं, तब वही सञ्चित वाष्प पुनः जल में परिणत होकर पृथ्वी पर बरसता है। इस प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि सूर्य अर्थात् आदित्य अपनी रश्मियों को जल से हर्षित करता है। यहां सम्भवतः हर्षित करने से तात्पर्य तुष्ट करने से है क्योंकि सूर्य-रश्मियां अपनी स्वाभाविक उष्णता के कारण तभी तुष्ट हो सकती हैं जब उनकी उष्णता से प्रभावित होकर जल वाष्प बनकर उनके साथ ऊपर चले। मानव-जीवन के आहार के लिए वर्षा की अत्यन्त आवश्यकता होती है—इस लाभ को भी हम सूर्य-रश्मियों का मानव तथा वनस्पति-जीवन के लिए बताए गए लाभों में संयुक्त कर सकते हैं।

अब मन्त्र के अन्तिम चरण की सङ्गति लगाते हैं।'यत्रा सप्तऋषीन्पर एकमाहुः'। हम मन्त्र के तृतीय चरण की अर्थ करते समय 'सप्तऋषीन्' पद को उसी स्थान पर ले गए थे परन्तु अर्थाग्रहवश हम पुनः उसको यहां लाएंगे, अत एव निरुक्तकार यास्क इसका अर्थ करते हैं—'यत्रैतानि सप्तऋषीणानि ज्योतींषि तेभ्यः पर आदित्यस्तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यधिदैवतम्'। अर्थात् जो ये सप्त रश्मियां हैं, उनसे परे जो आदित्य है, उसमें ये सातों रश्मियां एक हो जाती हैं अथवा एक होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये सात रश्मियां जिन्हें हम देख रहे हैं तथा जो ये सूर्य से निकल रहीं हैं, इनसे परे जो आदित्य है अर्थात् इनका स्रोत वस्तुतः ये सातों रश्मियां उसी आदित्य में एकरूप अर्थात् समूहरूप में रहती हैं। शब्दान्तरों में हम यह कह सकते हैं कि सूर्य कोई एक द्रव्य नहीं है जिसकी ये सात रश्मियां अवयव हों अपितु इन सात रश्मियों का समूह ही सूर्य होता है अर्थात् प्रकाश-पुञ्ज का ही दूसरा नाम सूर्य अर्थात् आदित्य है। इस तथ्य को मन्त्र में प्रकट करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी क्योंकि पूर्व के चरणों से ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे सूर्य भिन्न है तथा सूर्य की रश्मियां भिन्न हैं। जैसे पिछले चरण में कहा गया था कि वह आदित्य अपनी रश्मियों को जल से हर्षित करता है। इस वाक्य से यही प्रतीत होता है कि आदित्य एक भिन्न वस्तु है तथा रश्मियां उसके अवयव तो हैं परन्तु सूर्य नहीं अर्थात् उस आदित्य में अन्य भी अवयव हो सकते हैं। इसी भ्रम की निवृत्ति के लिए मन्त्र द्वारा यह स्पष्ट करना पड़ा कि इन रश्मियों का स्रोत जो आदित्य है वस्तुतः वह इन रश्मियों का एकरूप अर्थात् समूहरूप ही है और कुछ नहीं–ऐसा विद्वान् मनीषी कहते हैं।

इस प्रकार इस मन्त्र में आये पदों से निरुक्तकार यास्क ने प्रकाश-स्रोत सूर्य का ग्रहण करके सभी पदों तथा वाक्यों की उसी आदित्य में सङ्गति लगाकर आदित्यपरक अर्थात् आधिदैविक अर्थ

किया है और हमने देखा भी कि इस मन्त्र में आए हुए सभी पद बड़ी ही सरलता से आदित्य अर्थात् सूर्य के वाचक बन गए। यह तो निरुक्तकार यास्क की वेद-व्याख्याओं की एक विधा है। इसी प्रकार उन्होंने अनेक मन्त्रों के आधिदैविक अर्थ किये हैं। यहां पर एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। अब हम उनकी एक अन्य विधा का दर्शन करते हैं। इस मन्त्र का उन्होंने अध्यात्मपरक अर्थ भी किया है। ऐसा इसलिए कि इन सभी पदों से परमेश्वर का भी ग्रहण हो सकता है तथा सभी पद परमेश्वर में विद्यमान उन सभी गुणों अथवा क्रियाओं के कारण उसके भी वाचक बन सकते हैं।

अत एव निरुक्तकार महर्षि यास्क इस मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ करते हुए लिखते हैं--

'अथाध्यात्मम्—

विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्दर्शयितेन्द्रियाणामेषामिष्टानि वा, कान्तानि वा, क्रान्तानि वा, गतानि वा, मतानि वा, नतानि वाऽन्नेन सह सम्मोदन्ते यत्रेमानि सप्त ऋषीणानीन्द्रियाण्येभ्यः पर आत्मा तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे ॥'

पिछले अर्थ में इन सभी पदों का अर्थ तथा उनकी सङ्गति विस्तार से बताई गई थी। यहां पर संक्षेप से ही उन अर्थों की परमेश्वर में कैसे सङ्गति लग सकती है—यही बताना पर्याप्त होगा।

विश्वकर्मा, विमना-विभूतमना, विहाया-व्याप्ता, धाता च विधाता च परमश्च—इन पदों के अर्थ परमेश्वर अर्थात् ब्रह्म में भी घट सकते हैं क्योंकि परमेश्वर भी सभी कर्मों का करनेवाला है। जैसे—सृष्टि की उत्पत्ति, पालन, प्रलय, जीवों को कर्म-फल प्रदान करना आदि, वह विभूतमना अर्थात् अप्रतिहत ज्ञानवाला भी है, वह अन्तरिक्ष के समान व्यापक भी है, प्राणियों का धारण तथा पोषण करनेवाला भी है तथा परमपुरुष है। आगे इस मन्त्र में निरुक्तकार यास्क ने अध्यात्मपरक अर्थ की सङ्गति लगाने के लिए चतुर्थ चरण में आए सप्तऋषीन् पद को यहां (द्वितीय चरण) षष्ठ-यन्त में विपरिणाम किया है तथा सप्तऋषियों से इन्द्रियों का ग्रहण किया है। 'ऋष्यन्ति गच्छन्तीति ऋषयः' अर्थात् जो गमन करते हैं अथवा किसी पदार्थ की प्राप्ति या बोध कराते हैं, वे ऋषि कहलाते हैं। इसके अनुसार इन्द्रियां भी सप्तऋषियों का वाचक बन सकती हैं क्योंकि इनके द्वारा हमें विषयों अथवा पदार्थों का बोध होता है। यूं तो इन्द्रियां ज्ञान तथा कर्मभेद होने से अनेक प्रकार की होती हैं परन्तु मुख्यतः पांच ज्ञानेन्द्रियों, एक मन तथा सम्भवतः एक बुद्धि का ही ग्रहण किया गया है। तो इन इन्द्रियों का वह (ब्रह्म) सन्दर्शयिता है क्योंकि वह सूक्ष्म होने के कारण इन इन्द्रियों के प्रत्येक विषय का दर्शन करनेवाला है। तथा वह इन इन्द्रियों के जो इष्ट अथवा अभीप्सित हैं उनको अन्न से हर्षित करता है। यहां पर इन्द्रियों के अभीष्ट से तात्पर्य उनके विषयों से है जैसे—नेत्र का विषय—रूप, श्रोत्र का विषय—शब्द, नासिका का विषय—गन्ध, जिह्वा का विषय–स्वाद तथा त्वचा का विषय–स्पर्श। ये सभी विषय स्व-स्व इन्द्रियों के अभीष्ट हैं क्योंकि इन विषयों के कारण ही इन इन्द्रियों का इन्द्रियत्व है तथा इन्हीं विषयों से ये तृप्त होती हैं। उनके विषयों को परमेश्वर 'इषा' अर्थात् अन्न से तृप्त करता है। पिछले मन्त्र में 'इषा' का अर्थ 'उदकेन' किया था तथा इस मन्त्र में 'अन्नेन' किया है। ऐसा इसलिए क्योंकि 'इष्यत इति इट्, तेन इषा' अर्थात् जिस

की इच्छा की जाती है, उसे 'इष्' कहा जाता है। रश्मि-प्रसङ्ग में वह उदक भी हो सकता है तथा विषय प्रसङ्ग में वह अन्न भी हो सकता है। उन विषयों को परमेश्वर अन्न से हर्षित अर्थात् तृप्त करते हैं। यूं तो अन्न से सामान्यतया भोजन लिया जाता है परन्तु यहां भोजन अर्थ की विषयों की तृप्ति से सङ्गति नहीं लग पाएगी। अतः यदि यहां अन्न से लक्षणा-वृत्ति स्वीकार की जाए तो यथा-कथञ्चित् अर्थ समझ में आ सकता है। वस्तुतः अन्न का प्रयोजन होता है—शरीर को पुष्ट करना, इसलिए यदि अन्न को पुष्टिकारकों का उपलक्षण अथवा लक्षक मान लिया जाए तो विषयों की तृप्ति से सम्बन्ध लग सकता है। जैसे—चक्षुः का विषय रूप है। रूप को परमेश्वर उन गुणों से युक्त करता है जिससे वह अत्यन्त पुष्ट हो जाए अर्थात् अत्यन्त प्रखर हो जाए, यही उस विषय की तृप्ति भी है क्योंकि विषय जितना स्वयं में पूर्ण होगा, वह उतना ही तृप्त होगा। इसी प्रकार अन्य विषयों में भी ऐसी सङ्गति लगायी जा सकती है। अब मन्त्र के अन्तिम चरण की सङ्गति लगाते हैं। 'यत्रा सप्तऋषीन्पर एकमाहुः' अर्थात् 'यत्रेमानि सप्तऋषीणानीन्द्रियाण्येभ्यः पर आत्मा तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे'। ये जो सात इन्द्रियां हैं, इनसे परे जो आत्मा है, उसमें ये सब एकरूप में ही रहती हैं। इस वाक्य की सङ्गति लगाना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि सात इन्द्रियां आत्मा में किस प्रकार से एकरूप में रहती हैं–यह कहना कठिन प्रतीत होता है। पुनरपि अर्थ को स्पष्ट करने के लिए यहां पर एक छोटी सी कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है जो सम्भवतः दुर्ग ने भी लिया है। परन्तु उन्होंने स्पष्टरूप से कुछ विशेष नहीं कहा है। जब कहीं किसी वाक्य में अभिधा-वृत्ति से काम नहीं चलता है तो वहां पर अनन्यगतिक होकर लक्षणावृत्ति से काम चलाना पड़ता है। जैसे—मीमांसक लोग जाति को पदार्थ मानते हैं, उनके अनुसार 'घटमानय' ऐसा कहने पर घट जाति का आनयन प्राप्त होता है परन्तु घटजाति के आनयन के असम्भव होने से लक्षणावृत्ति का आश्रय लेकर व्यक्तिघट का आनयन कर वाक्य को चरितार्थ करना पड़ता है। इसी प्रकार सात इन्द्रियों का उस ब्रह्मरूपी आत्मा में एकरूप में रहना असङ्गत सा प्रतीत होता है पुनरपि लक्षणा का आश्रय लेकर यहां 'सप्तेन्द्रियाणि' से 'सप्तेन्द्रियवान्' लें तो अर्थ कुछ स्पष्ट हो सकता है अर्थात् सात इन्द्रियोंवाला मनुष्य अर्थात् जीवात्मा उस ब्रह्मरूप आत्मा में त्यागभाव से इन्द्रियों को उनके योग्य विषयों का भोग करता हुआ परम श्रद्धावान् होकर तप द्वारा एकत्व अर्थात् एकवद्भाव ताद्-भाव्य को प्राप्त होता है। उस ब्रह्म के कुछ गुणों का समावेश हो जाने के कारण वह ब्रह्म ही हो जाता है तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी क्योंकि ऐसा आलङ्कारिक प्रयोगों में देखने में आता ही है। तो यह तथ्य विद्वान् ऋषि मनीषी कहते हैं। इस प्रकार निरुक्तकार यास्क ने एक ही मन्त्र के भिन्न-भिन्न प्रसङ्ग में भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। यह उनकी दूसरी प्रमुख विधा है।

अब हम उनकी तीसरी प्रमुख विधा का दर्शन करते हैं। इसके लिए हमें एक अन्य मन्त्र पर दृष्टिपात करना होगा। मन्त्र इस प्रकार है—

सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥ (ऋ० १०।८५।३)

प्रस्तुत मन्त्र में 'सोम' की व्याख्या की गई है कि वस्तुतः सोम क्या है। निरुक्तकार महर्षि यास्क 'सोम' शब्द के दो अर्थ स्वीकार करते हैं—पहला ओषधिसोम तथा दूसरा चन्द्रमा। 'सोम'

शब्द का ओषधि अर्थ स्वीकार करते हुए महर्षि यास्क लिखते हैं—**'ओषधिः सोमः सुनोतेर्यदेनमभिषुण्वन्ति'** अर्थात् सोम को ओषधि सोम इसलिए कहते हैं क्योंकि इसका अभिषव करते हैं। 'सोम' शब्द का 'चन्द्रमा' अर्थ भी स्वीकार करते हुए वे लिखते हैं—**'अथैषापरा भवति चन्द्रमसो वैतस्य वा'** अर्थात् सोम को चन्द्रमा भी कहते हैं पर कैसे? वस्तुतः जिसे हम ओषधि सोम कहते हैं, वह मनुष्यों द्वारा अभिषुत की जाती है, ठीक इसी प्रकार देवताओं के द्वारा जिसका अभिषव किया जाता है—वह चन्द्रमा कहलाता है। अथवा सोम को चन्द्रमा का प्रतीक भी माना जाता है। अतः सोम से चन्द्रमा का ग्रहण सम्भव है क्योंकि सोम पृथ्वी पर विद्यमान सभी पदार्थों में शीतल रसयुक्त है एवं चन्द्रमा आकाश में विद्यमान सभी पदार्थों में शीतल तथा रसयुक्त है। इस प्रकार 'सोम' शब्द के दोनों ही अर्थ स्वीकार करते हुए निरुक्तकार महर्षि यास्क इस मन्त्र के 'अधियज्ञ' तथा 'अधिदेव'—दोनों प्रकार के अर्थ करते हैं।

अधियज्ञोऽर्थः—'सोमं मन्यते पपिवान्यत्सम्पिषन्त्योषधिमिति वृथासुतमसोममाह सोमं यं ब्रह्माणो विदुरिति न तस्याश्नाति कश्चनायज्वेत्यधियज्ञम्' ॥ (निरु० ११।४)

इसका भावार्थ यह है कि सोम का पान करनेवाले जिस अभिषुत औषधि को सोम समझते हैं वस्तुतः वह सोम नहीं है। वास्तविक सोम तो वह है जिसे विद्वान् ब्राह्मण जानते हैं तथा जिसे कोई अनधिकृत यजमान नहीं पी सकता है। यहां पर वह सोम क्या है जिसे ब्राह्मण जानते हैं—यह विचारणीय है। सम्भवतः यहां निरुक्तकार का यह अभिप्राय हो सकता है कि लोग समझते हैं कि जिस ओषधि को पीसकर वे पी रहे हैं, वह सोम है तथा उसे पीसकर पी लेने मात्र से उन्हें सोमपान का फल मिल जाएगा परन्तु ऐसा नहीं है। वस्तुतः सोम का पान करने का यथेष्ट फल तभी प्राप्त हो सकता है जब उसको खरीदने से लेकर पान तक की सभी क्रियाओं को वेद-मन्त्रों से सुसंस्कृत किया जाता है और ऐसा कोई विद्वान् याज्ञिक ही जानता है तथा करता है। अविद्वान् तो यह सब जानता नहीं है—इसी अभिप्राय से यह लिखा गया है कि अयज्वा उस सोम का पान नहीं कर सकता है। चूंकि यहां ओषधि सोम का ग्रहण है अतः प्रस्तुत मन्त्र का निरुक्तकार ने अधियज्ञ अर्थ किया है। क्योंकि सोमौषधि का प्रयोग प्रायः यज्ञों में ही हुआ करता है।

इसी प्रकार जब सोम का चन्द्रमा अर्थ करते हैं तो निरुक्तकार महर्षि यास्क इस मन्त्र का आधिदैवत अर्थ करते हैं जो कि यहां पर पुनरुक्ति-दोष से बचने के लिए नहीं दिया जा रहा है। क्योंकि पिछले मन्त्र में उनकी आधिदैवत विधा प्रदर्शित की जा चुकी है। तो अधियज्ञ विधा उनकी तीसरी प्रमुख विधा है।

अब हम एक अन्य मन्त्र द्वारा उनकी चौथी तथा अन्तिम प्रमुख विधा का परिचय प्राप्त करते हैं। वह विधा है—ऐतिहासिक विधा। निरुक्तकार किसी-किसी मन्त्र का इतिहासपरक अर्थ भी प्रदर्शित करते हैं। इसके लिए हम एक नया मन्त्र लेते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥ (ऋ० १०।१७।२)

निरुक्तकार इस मन्त्र का ऐतिहासिक अर्थ भी करते हैं।

'तत्रेतिहासमाचक्षते—त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद्यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार। सा सवर्णामन्यां प्रतिनिधायाऽश्वं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव। स विवस्वानादित्य आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसृत्य सम्बभूव। ततोऽश्विनौ जज्ञाते सवर्णायां मनुः' (निरु० १२।१०)।

इस अर्थ की विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह अर्थ स्वयं ही लगभग स्पष्ट है। पाठकगण इतनेमात्र से ही निरुक्तकार की ऐतिहासिक विधा का अवलोकन कर सकते हैं।

इस प्रकार हमने इस लेख के माध्यम से निरुक्तकार महर्षि यास्क की वेदव्याख्याओं की कुछ प्रमुख विधाओं के दर्शन किये। यास्क की इन विधाओं से हम सुतराम् अनुमान कर सकते हैं कि वैदिक शब्द बहुविध अर्थों के वाचक हैं। अतः इन मन्त्रों से भिन्न-भिन्न विषयों को आधार बना कर तत्सम्बन्धी अर्थ किये जा सकते हैं। यास्क के द्वारा एक ही मन्त्र के भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों में भिन्न-भिन्न अर्थ करके समाज को वेदार्थ की जो अद्भुत दिशा प्रदान की गई है, समाज उसका चिरकाल तक ऋणी रहेगा। इत्यलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्यशिरोमणिषु॥

नदीसूक्तम् : विश्वामित्र और नदियों का संवाद

[ले०—वेदमुनि आर्य, पाणिनि महाविद्यालय, बहालगढ़, सोनीपत-हरयाणा]

परमकारुणिक परमेश्वर ने मानव-रचना से पूर्व समस्त जड़ जगत्, वनस्पतियों एवं पशु-पक्षियों का निर्माण किया था।[1] जिस-जिस पदार्थ में जो-जो गुणधर्म रचे हैं उन सकल ज्ञानों[2] को वेदवाणी[3] के माध्यम से कल्पादि[4] में ही पवित्रतम चार ऋषियों के अन्तःकरण में[5] प्रकाशित किया था। अपने ज्ञानरूपी वेद में कालत्रय[6] के सम्पूर्ण ज्ञान को मानों माला में मणियों के समान ग्रथित किया।[7] इसके कर्त्ता के सर्वज्ञ एवं नित्य परमेश्वर[8] होने के कारण वह भी नित्य[9] एवं अपार ज्ञान

१. ऋ० १०।१९०।१-३। २. सर्वज्ञानमयो हि सः। मनु० २।७।

३. वेदा निहिता विश्वरूपाः। अथर्व ४।३५।६। ४. बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम्। ऋ० १०।७१।१।

५. द्र०—शत० ब्रा० ११।५।८; मनु० १।२३; मीमांसा० शाबर० ३।३।२।

६. भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति। मनु० १२।९७।; यद्यत् किञ्चिद् भूगोलमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृदयान्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत् भवति भविष्यति च, तत्सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्। ऋ० भा० भू० पठनपाठनवि०। ७. चतस्रः संहिताश्चक्रे सूत्रे मणिगणा इव। भागवत० १२।६।

८. ब्रह्मकृतो बृहदुक्थादवाचि। ऋ० १०।५४।६; ब्रह्मकृतो विपश्चिते पनस्यवे। सा० १०२५। ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म न हीदृशस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञाद [ईश्वराद्] अन्यतः सम्भवोऽस्ति। वेदान्त० १।१।३—शाङ्करभाष्यम्।

९. वाचा विरूपया नित्यया ऋ० ८।६४।६; अत एव च नित्यत्वम् ब्र० सूत्र १।३।२९।२९; एवं य एव वेदा अस्मिन् कल्पे त एव कल्पान्तरे (ब्र० सूत्र, भामती० १।१।३०); अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम् (वा० पदीयम् १।१३५); प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या० (वायु० पु० ६१।७५)।

भण्डार है।[1] न इसके समान वा अधिक और अन्य कोई ज्ञान होने की सम्भावना ही नहीं है।[2] समस्त धर्मों का मूल[3] एवं मनुष्यमात्र[4] के लिये यह सनातन मार्गदर्शक ग्रन्थ है।[5] यह एक अत्यन्त विलक्षण बुद्धि के द्वारा निर्मित[6] होने के कारण परम प्रामाणिक ग्रन्थ है।[7] एतदर्थ अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है। सूर्य की भान्ति स्वतः प्रमाणित है[8] और यह ज्ञान सार्वकालिक[9] होने के कारण मनुष्य को सदा सर्वदा उपलब्ध होता रहता है। मानव भी इसका आलस्य एवं प्रमाद आदि से रहित होकर अभ्यास करता है। ऐसा आदेश भी है।[10] फलतः इहलोक में कीर्त्तिमान होकर परलोक में परमानन्द को भी पा लेता है।[11] इस अभीष्ट की प्राप्त्यर्थ वेदानुकूल आचरण के अतिरिक्त अन्य कोई भी उपाय नहीं है।[12] अतः केवल वेदोक्त को ही सत्य माना जाता है।[13] तद्विरुद्ध असत्य, अधर्म तथा अप्रामाणिक माना जाता है।[14] अस्तु।

उक्त महिमा से मण्डित वेद में विविध प्रकार के मन्त्र अक्षीलक्षित होते हैं।[15] वे इस प्रकार हैं—स्तुति, प्रशंसा, निन्दा, संशय, परिदेवन, स्पृहा, आशिस्, दम्भ, याचना, प्रश्न, प्रैष, पवल्हिका, नियोग, अनुयोग, श्लाघा, विलाप, वृत्तान्तकथन, वार्त्तालाप, पवित्र आख्यान, कामना, नमस्कार, प्रतिराध, सङ्कल्प, प्रलाप, उत्तर, प्रतिषेध, उपदेश, प्रमाद, उपह्लव, आमन्त्रण, सङ्क्षोभ, शापात्मकादि।[16] प्रकृत लेख में लेखक केवल वार्त्तालाप अर्थात् संवादात्मक मन्त्रों का ही अनुसरण करता है। ऋग्वेद एवं निरुक्तादि के परिशीलन से कतिपय संवादात्मक सूक्त उपलब्ध होते हैं। जो निम्न प्रकार है—

१. मारुतैन्द्र संवाद—ऋ० १।१६५; ऋ० सर्वानुक्रमणी (११।८); बृहद्देवता (४।४४-५५)।

२. लोपमुद्रा और अगस्त्य का संवाद[17]—ऋ० १।१७९; ऋ० सर्वा० १२।४४; बृ० दे० ४।५७-६१॥

---

१. अशक्यञ्चाप्रमेयञ्च वेदाशास्त्रमिति स्थितिः। मनु० १२।९४।

२. नास्ति वेदात्परं शास्त्रम्। अत्रिसंहिता १५०।

३. वेदोऽखिल धर्ममूलम्। मनु० २।६।

४. सुमतिं विश्वजन्याम्०। ऋ० ७।१००।२, अपि च द्र०—यजु० २६।२।

५. वेदचक्षुः सनातनम्। मनु० १२।९४।

६. बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे। वै० ६।१।१।

७. धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। मनु० २।१३।, तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वै० १।१।३।

८. निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्। सांख्य० ५।५१।

९. देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति। अथर्व० १०।८।३२।

१०. वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः। मनु० ४।१४७।

११. वेदशास्त्रार्थतत्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्। इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ मनु० १२।१०२।
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवाः। इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥ मनु० २।९।

१२. नान्यः पन्था विद्यते अयनाय। यजु० ३१।१८।

१३. यद्वेदेष्वभिहितं तत्सत्यम्। मैत्रा० उप० ७।१०।

१४. विरोधे त्वनपेक्षं स्याद् असति ह्यनुमानम्। मीमांसा १।३।३।

१५. मन्त्रा नानाप्रकाराः स्युर्दृष्टा ये मन्त्रदर्शिभिः। बृ० दे० १।३४।

१६. द्र०—बृहद्देवता। १।३५-४०।

१७. इस संवाद में एक ब्रह्मचारी (शिष्य) भी सम्मिलित है।

३. विश्वामित्र और नदियों का संवाद– ऋ० ३।३३; नि० २।२४; नि० श्लोकवार्त्तिक (२।७।२०-६६); ऋ० सर्वा० १८।४; ऋग्विधान (२।४-९); बृ० दे० ४।१०५-१०८।

४. ऐन्द्रसूक्तम्: सपुत्र वसिष्ठ और अगस्त्य का इन्द्र के साथ संवाद—ऋ० ७।३३; ऋ० सर्वा० ३५।१४, बृ० दे० ५।१४९-१६४।

५. यम-यमी सूक्तम्—ऋ० १०।१०; अथर्व० १८।१।१-६; नि० ४।२०, ६।२८, ११।३४; ऋ० सर्वा० ५४।५॥

६. इन्द्र और वसुक्र का संवाद—ऋ० १०।२८; ऋ० सर्वा० ५५।११; बृ० दे० ७।२९॥

७. अग्नि और देवों (भ्राताओं) का संवाद—ऋ० १०।५१-५३; ऋ० सर्वा० ५७।८-११; बृ० दे० ७।६१-८१।

८. पुरुरवस् एवं उर्वशी का संवाद–ऋ० १०।९५; ऋ० सर्वा० ६१।१; बृ०दे० ७।१४७-१५२

साम्प्रतिक लेख में हम केवल विश्वामित्र और नदियों के संवाद की ओर अग्रसर होते हैं। इस सूक्त में तेरह मन्त्र हैं जिनमें से चार मन्त्र निरुक्त में भी व्याख्यात हैं—प्रथम मन्त्र—नि० ९।३९. पञ्चम, षष्ठ, दशम मन्त्र नि० २।२५, २६, २७। इस सूक्त का द्रष्टा विश्वामित्र है और देवता (पतिपाद्य विषय) नदियां हैं। यहां विश्वामित्र ऋषि विशेष का एवं भौगोलिक नदी विशेषों का वर्णन होने से इतिहास की झलक दिखाई देती है। जो कि नित्य वेद में सम्भव नहीं है। दूसरा विषय यह है कि ऋषि का नाम मन्त्रों में आ जाता तो यौगिक प्रक्रिया के अनुसार संवाद सम्भव हो सकता था। पर मन्त्रों से बाह्य विषयक ऋषि का मन्त्रगत विषय के साथ सम्बन्ध कदापि सम्भव नहीं है। लेकिन निरुक्तकारादि सभी मुक्तकण्ठ से ऋषि-देवता का सम्बन्ध दिखा रहे हैं। इससे एक महत्त्वपूर्ण विषय प्रकाशित होता है। वह यह है कि मन्त्रद्रष्टाओं के रूप में लिखित ऋषिवाची सभी नाम यौगिक हैं और वे देवता के साथ सम्बन्धित होकर मन्त्रार्थ-प्रत्यायन में सहायक हैं।[1] अन्यथा विश्वामित्र तथा नदियों का सम्बन्ध (संवाद) सिद्ध नहीं हो सकता और न ही निरुक्तकार को 'विश्वामित्र' ऋषिवाची नाम का निरुक्त करने की कोई आवश्यकता ही पड़ती है। ऋषियों के जो भी नाम हैं वे उनके मन्त्रद्रष्टृत्व रूप कर्मों के कारण उपाधिभूत हैं। उनके वास्तविक नाम नहीं हैं। यह सिद्धान्त भलीभान्ति यहां निरूपित होता है। बृहद्देवता (१।२२-३३) में कहा भी गया है कि वैदिक व्यक्तियों अथवा अन्य लोगों के नाम नाना कर्मों के आधार पर रखे जाते हैं। इन नामों को उपाधिभूत मानने पर अनेक समस्याओं का समाधान भी होता है और महर्षि दयानन्द जी के ऋषिविषयक सिद्धान्तों की भी कोई हानि नहीं होती अपितु अक्षुण्ण ही रहते हैं। यद्यपि यह विषय अनुसन्धान पूर्वक पृथक् से मीमांसनीय है पुनरपि अतिसंक्षेप में दिङ्निर्देश करना प्रसङ्ग-

१. तत्रार्षदेवतयौरर्थावबोधने उपयुज्यमानत्वात् ते दर्शयिष्येते। स्कन्द ऋ०भाष्य भूमिका।

यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा · (आर्षेयब्रा०, दुर्ग के द्वारा निरुक्त-भाष्यारम्भ में उद्धृत)। मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दोदैवतविद् याजनाध्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छति (ऋ० सर्वा० परि० ३, प्रारम्भ में)। अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च। योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः॥ बृ० दे० ८।१३६। अपि च द्र०—१३४, १३५। मन्त्र के ऋषि और देवता के परिज्ञान के बिना मन्त्र का अर्थ करना दुस्तर है। ऐसा सभी प्राचीन वेदज्ञ मानते हैं (चन्द्रमणि विद्यालङ्कार, नि० भाष्य, पृ० ३८७)।

विरोध न होगा। निरुक्तकार ने यहां मन्त्रद्रष्टा विश्वामित्र की निरुक्ति की है और अन्यत्र भी अनेकों स्थानों पर ऋषि नामों का निर्वचन किया है। तद्यथा—ऋ० १।१०५ का ऋषि 'त्रित' है और उसका निर्वचन करते हैं—"**त्रितः तीर्णतमो मेधया**" (नि० ४।६)। वैसे ही ऋ० १०।१०।२,४, ८-१०, १२, १४ का ऋषि 'यम' है और मन्त्र १,३,५-७,११,१३ की ऋषिका 'यमी' है। "**यमो यमी वा यच्छतीति सतः**" (नि० १०।१९)। ऋ० १०।८६।२१ का ऋषि 'वृषाकपि' है। "**अथ यद्रश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेति तद् वृषाकपिर्भवति**" (नि० १२।२७)। अपि च द्रष्टव्य भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, भारद्वाज (नि० ३।१७), अथर्वा (नि० ११।१८)। "**नामास्य [वसिष्ठस्य] गुणतो जज्ञे वसतेः श्रेष्ठ्यकर्मणः**" (बृ० दे० ५।१५६)। यह शैली नामविशेष के लिये आवश्यक नहीं है प्रत्युत नामसामान्य के निर्देश के लिये है। यह शैली लोक में भी देखी जा सकती है—"**विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः**" (म० भा० आदि० ६४।१३०)। 'भट्टिकाव्य' (१।१४) के 'कैकयी' शब्द की व्याख्या करते हुये 'डॉ० श्री गोपालशास्त्री दर्शनकेशरी' लिखते हैं कि "**केकयाः [तन्नामजनपदः] ईदृशास्तादृशा इति स्वदेशं बहु प्रशंसति स्मेति तदाख्येयं जाता।**"[1] ऋष्यादि नामों का विषय निम्न स्थलों से और भी अधिक प्रस्फुट होता है। ब्रह्मसूत्र (१।३।२८) के शाङ्करभाष्य में ये उद्धृत हैं—

"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥
(म० भा० शान्ति० २३२।२४)।
नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्त्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥
सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥"
(मनु० १।२२)

ब्रह्मसूत्र (१।३।३०) के शाङ्कर-भाष्य से—
"तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे। तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥
यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भवा युगादिषु॥
यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह। देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च॥"

मन्त्रों में आगत नदी, पर्वत देशादि के वाचकों को भी उक्त श्लोकों के आधार पर यौगिक ही हैं ऐसा समझ लेना चाहिये। वेद के सभी शब्द यौगिक हैं—ऐसा वैयाकरण शाकटायन एवं यास्क का मत है।[2] पर गार्ग्याचार्य कुछ शब्दों को रूढ़ भी मानते हैं।[3] पाणिन्यादि वैयाकरणों का भी मत वैसा ही है।[4]

१. केकयान् आचष्टे इति विग्रहे 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिचि केकयिधातोः 'अच इः' इति उणादि-सूत्रेण इप्रत्ययः। 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीषि केकयी शब्दसिद्धिः" (तत्रैव)।

२. तत्र नामाख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। नि० १।१२, नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। म० भा० ३।३।१; नामानि सर्वाणि सामान्येनाख्यातजानि हि नैरुक्तसमयत्वात् क्रियायोगमङ्गीकृत्य प्रयोगः। नि० समुच्चय १।१, पृष्ठ ३।

३. सर्वाणीति गार्ग्यः। नि० १।१२।

४. वैयाकरणानां चैके। नि० १।१२।

वैदिक शब्दों को यौगिक मानते पर समस्त शङ्काओं का निराकरण होता हैं। एतदर्थ एक उदाहरण पर्याप्त है। 'वैयाकरण-भूषण-सार' (१।२१) की व्याख्या में "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण-स्थानसमाख्यानाम्०" (मीमांसा ३।३।१४) की व्याख्या करते हुये 'प्रभा' टीकाकार लिखते हैं कि "समाख्या यौगिकः शब्दः। प्रकृतिप्रत्ययरूपयोगात् = अवयवादर्थ प्रकाशकः। .. ज्योतिःष्टोमयागे सोमरसो भक्षणीयो नवेति संशयः, तत्र 'प्रैतुहोतुश्चमसः' 'प्रब्रह्मणः' 'प्रोद्गातॄणाम्' 'प्रयजमानस्य प्रयन्तु सदस्यान्' इति श्रुत्या होत्रादिना सह चमसस्य सम्बन्धमात्रं प्रतीयते, न तु सोमभक्षणमिति पूर्वपक्षे सिद्धान्तसूत्रम्—'चमसेषु समाख्यानात् संयोगस्य तन्निमित्तत्वम्' इति। होत्रादेः चमसे यः सम्बन्धः स भक्षणनिमितक एव, कुतः ? समाख्यानात् = चमसो यज्ञपात्रम्, यौगिकत्वात्। तथाहि—चमधातुर्भक्षणार्थः, चमु अदने इत्युक्तेः। तस्मात् चमति = भक्षयत्यस्मिन्निति अधिकरणे औणादिकोऽसच्प्रत्ययः। एवञ्च सोमस्य भक्षणाभावे होतुश्चमस इति सम्बन्धो नोपपद्येतेति समाख्यया सोमस्य भक्षगमावश्यकमिति निर्णीतम्" (पृ० १३६)। इसके विपरीत वैदिक शब्दों को रूढ़ मानने पर "**पिता दुहितुर्गर्भमाधात्**" (ऋ० १।१६४।३३) इत्यादि अनेक स्थानों पर महती समस्या उत्पन्न होगी। अतः यौगिक पक्ष ही साधीयान् है। इस प्रकार ऋपिवाची (विश्वामित्र) नाम और मन्त्रों में आगत नदीवाची विपाट्, शुतुद्री आदि शब्द सभी यौगिक हैं ऐसा प्रतिपादन कर यहां अनित्य इतिहास का सम्यक्तया वारण किया गया है। अब सूक्त की ओर प्रस्थान करते हैं।

निघण्टु (१।१३) में ३७ नदी वाचक शब्द पठित हैं।[1] नदियों का गौणरूप से अन्यदैवत मन्त्रों में तो प्रयोग बहुत है पर प्राधान्येन अर्थात् जिन मन्त्रों का नदीमात्र देवता हो ऐसे मन्त्र अतिन्यून ही है।[2] ऋ० ३।३३।१-१३ मन्त्रों का देवता नदी है। महर्षि दयानन्द ने इस सूक्त का ऋषि-विश्वामित्र और देवता-नदीयां मानी है। पर सायण का विचार है कि—"अत्र चतुर्थीषष्ठ्यष्टमीदशमीनां नदीवाक्यात्वान्नद्य एव ऋषयः। शिष्टानां विश्वामित्रवाक्यत्वात्स एव ऋषिः।"[3] सो मन्त्र ४, ६, ८, १० का देवता विश्वामित्र होगा और शेषों का देवता नदियां होंगी।[4] अपवाद—मन्त्र ६, ७ का देवता इन्द्र है।[5] ऐसा ही मत सर्वानुक्रमणीकार आदियों का भी हैं। पर ध्यातव्य है निरुक्तकार ने तो इस सम्पूर्ण सूक्त को नदी देवता मानकर ही उद्धृत किया है। क्योंकि इस सूक्त के चार मन्त्र निरुक्त में उल्लिखित हैं। जिन में से दो मन्त्र (१, ५) विश्वामित्र के वचन हैं और

---

१. नदीनामान्युत्तराणि सप्तत्रिंशत्। नि० २।२४।

२. प्रायो नैघण्टुकस्त्वासां प्रयोगोऽन्यपरत्वतः। क्वचित् प्राधान्यतश्चैव०। नि० श्लो० वार्त्तिकम् २।७।२२।

३. यहां सायण ने शिष्टों में अन्यतम सप्तम मन्त्र को विश्वामित्र का वचन माना है। जब कि अष्टम मन्त्र के भाष्यारम्भ में लिखते हैं कि "नद्यः प्रसङ्गादिन्द्रस्तोत्रं कृत्वा विश्वामित्रं प्रत्यूचुः" अर्थात् मन्त्र ६ और ७ दोनों से इन्द्र-स्तुति करके अब प्रत्युत्तर दे रहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि मन्त्र ७ को भी नदी का वचन मान रहें हैं। जो आपस में विरोधाभास प्रतीत होता है।

४. यस्य वाक्यं स ऋषिः, या तेनोच्यते सा देवता (ऋ० सर्वा० परि० २।४,५)। संवादेषु च सर्वेषु स ऋषिर्यस्य वाक्यं तत्। आत्मस्तवेषु य ऋषिर्देवता स एवोच्यते। तेन वाक्येन यः प्रतिपाद्यते स स्याद् देवता॥ षड्गुरुशिष्य—ऋक्सर्वा० ११।८।

५. मन्त्र-६ में इन्द्र और सविता तथा मन्त्र-७में इन्द्र परिकीर्त्तित हैं। द्र०—बृ०दे० ४।१०९।

शेष दो मन्त्र (६, १०) नदियों के वचन हैं। इन सभी का प्रधान देवता नदी मानकर ही उद्धृत किया गया है।

इस सूक्त में विश्वामित्र और नदियों के पारस्परिक संवाद का वर्णन है। जिसका उल्लेख निरुक्तादि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। प्रकृत सूक्त का निदानभूत[1] ऐतिह्य इस प्रकार मिलता है—पुरा काल में पिजवान का पुत्र पैजवन सुदास् राजा हुआ था। ऋषि विश्वामित्र उस राजा का पुरोहित बना था। पौरोहित्य से अर्जित धन लेकर अश्वों से युक्त रथ वाले[2] वह ऋषि विपाट् और शुतुद्री नदियों के सङ्गम[3] पर आये और उनके साथ शिष्य व सैनिकादि भी थे।[4] अतिवेग से प्रवाहित होने वाली एवं जल से परिपूर्ण नदियों को पार करने के इच्छुक ऋषि ने उनकी स्तुति की है। जिससे कि वे स्वल्वोदकवाली हो जावे तथा विश्वामित्रादि की रक्षा करनेवाली हो जावे। क्योंकि कहा भी गया हैं कि—

नमः स्रवद्भ्य इत्येतद् यो नित्यं हि समाचरेत्। तं नद्यः स्रोतसः पान्ति स्वं पुत्रमिव मातरः ॥
भयं चास्य न विद्येत नदीतीरचरेष्वपि। जलचरेभ्यो भूतेभ्यश्शोतोष्णैर्न च बाध्यते ॥
(ऋग्विधान २।५, ६)

और वह स्तुति कभी एकवचन से संयुक्त मन्त्र से[5], कभी द्विवचन (मन्त्र १, २, ३, १३-उत्तरार्ध) व बहुवचन (मन्त्र ५, ६, ११, १२, १३) से संयुक्त मन्त्रों से की है। जब ऋषि ने द्विवद् मन्त्रों से स्तुति की तो प्रत्युत्तर भी दो नदियों से ही प्राप्त किया (मन्त्र ४) और जब बहुवद् मन्त्रों से सम्बोधित किया तो उत्तर भी बहुत नदियों से मिला (मन्त्र ६, ८, १०)। प्रथम तीन मन्त्रों से दो महानदियों को विश्वामित्र ने सम्बोधित किया कि—

---

१. नि=निश्चयो दीयतेऽनेनेति निदानम् अथवा प्राग्रूपं येन लक्ष्यते इति वा। 'निदानं त्वादिकारणम्' अमर० १।५।२८।

२. 'अश्वों से···वाले' का सङ्केत मन्त्र ९ एवं १० से मिलता है।

३. इन दो नदियों के सङ्गम का उल्लेख इसी सूक्त के द्वितीय मन्त्र में भी है—"अन्यावामन्यामप्येति।" यह मन्त्र द्विवद् होने के कारण दो नदियों के सङ्गम का वर्णन है और ये दो नदियां प्रधानभूत होने के कारण निरुक्तकार ने भी इन्हीं के सङ्गम का वर्णन किया है—'विपाट्छुतुद्र्योः सम्भेदमाययौ।' पर सङ्गम अनेक नदियों का समझना चाहिये—'विपाट्छुतुद्र्यौ इतराभिः सिन्ध्वादिभिर्नदीभिः सम्भिन्ने एकीभूते इत्यर्थः' (दुर्गः)।

४. विश्वामित्र अकेले नहीं प्रत्युत अपने अनुयायियों के साथ आये थे। ऐसा संकेत सूक्त में भी है—'विपाशम् **अगन्म**' मन्त्र-३।

५. यद्यपि निरुक्तादि में द्विवद् और बहुवद् मन्त्रों का ही वर्णन है—'गाथा भवतीत्यपि द्विवद् अपि बहुवद्' (नि० २।२४)। पर बृहद्देवता में एकवद् का भी उल्लेख है—'प्रवादास्तत्र दृश्यन्ते द्विवद्बहुवदेकवत्' (४।१०७)। परन्तु कोई भी सम्पूर्ण मन्त्र एकवचन से युक्त नहीं है। हां मन्त्रांश अवश्य हैं। तद्यथा—'मातृतमां **सिन्धुम्** [स्रवन्तीं शुतुद्रीम्] अच्छा अयासम्' (मन्त्र-३)। 'उर्वी सुभगां **विपाशमगन्म**' (मन्त्र ३)। 'कुशिकस्य सूनुः [अहम्] बृहती मनीषावस्युर्**सिन्धुम**च्छा प्राह्वे' (मन्त्र ५)। 'यदङ्ग **त्वा** [त्वां नदीम्]' (मन्त्र ११)।

१. पर्वतों के समीप वा गोद से समुद्र की कामना करती हुईं विपाट् और शुतुद्री ये दो नदियां जल से परिपूर्ण होकर ठीक वैसे ही प्रवाहित हो रहीं थी जैसे अश्वशाला से विमुक्त घोड़ा एवं घोड़ी परस्पर स्पर्धा करती हुईं वा प्रेम करती हुईं और जैसे बैल एवं गौ लिलिक्षया बछड़े की ओर अतिवेग से दौड़ रहीं है।

२. जैसे रथी और सारथी अपने गम्य देश की ओर वेग से जाते हैं वैसे ही हे नदियों ! तुम दोनों इन्द्र से प्रेरित होकर उसकी अनुज्ञा की याचना करती हुईं, परस्पर सङ्गत होती हुईं तथा तरङ्गों से परिसर प्रान्तों को सन्तृप्त करती हुईं और सुशोभित होती हुईं समुद्र की ओर जा रहीं हो।

३. मातृवत् भलीभांति पालन करनेवाली तुझ शुतुद्री नदी को मैं विश्वामित्र प्राप्त हो गया हूं। महती सौभाग्यवती तुझ विपाश् नदी को हम लोग प्राप्त हो गये हैं और जैसे (दो) गौवें अपने बछड़े को जिह्वा से चाटने की इच्छा से दौड़ पड़ती हैं वैसे ही एक गम्यस्थान समुद्र को सम्यक्तया जाती हुईं तुम दोनों को मैं प्राप्त हो गया हूं।

नदियां अगाध (स्वल्प जलवाली) हो जावें इस आशय से इन तीन ऋचाओं में विश्वामित्र ने उनकी स्तुति की और अपने आगमन की सूचना भी दे दी है। तब वे दो नदियां (विपाट् और शुतुद्री) उत्तर देती हैं कि—

४. [हे विश्वामित्र !] इस जल से खेती आदियों को तृप्त करती हुईं, इन्द्रदेव के द्वारा संकेतित स्थान समुद्र को लक्षित करके हम [दोनों][1] जा रहीं हैं और प्रवाह में प्रवृत्त हमारा पुरुषार्थ निवर्त्तन के लिये नहीं है। किस इच्छा से यह ब्राह्मण हम नदियों का आह्वान कर रहा है ?

'पूर्णां तितीर्षुः सरितं रमध्वमिति संस्मरेत्' (ऋग्विधान २।७) अर्थात् जल से पूर्ण नदियों को तैरने के इच्छुक 'रमध्वम्' इस [अग्रिम] मन्त्र से स्तुति करें, उसे स्मरण करें। अतः विश्वामित्र पुनः नदियों को सम्बोधित करते हैं कि—

५. जल से परिपूर्ण हे नदियों ! सोमसम्पादक (तुम्हें पार करके सोम का सम्पादन करूंगा, अतः) मेरे वचनों, स्तुतियों के लिये अपनी वेगगतियों से मुहूर्तभर शान्त हो जाओ। (सामान्य परिचय से नदियों के न सुनने की अवस्था को देखकर अपने विशेष परिचय को कहते हैं कि—) कुशिक राजा का पुत्र मैं महती स्तुति से आत्मरक्षा की चाह से तुझ सुन्धु (=शुतुद्री) नदी को सम्यक्तया पुकारता हूं।

६. पुनः नदियां प्रत्युत्तर देती हैं कि—हे विश्वामित्र ! जलों को अपने अन्दर समाहित कर चारों दिशाओं में विद्यमान वृत्र (मेघ) का वज्रबाहु इन्द्र ने हनन किया। इस प्रकार हमें उन्होंने खोदा और सुपाणि प्रेरक देव ने हमें ले आया (समुद्र में मिलाने हेतु)। ऐसे पराक्रमी इन्द्र की अनुज्ञा हम जलों से पूरित होकर जा रही हैं। आपके वचनों से हम उपरत नहीं होगीं। [यहां इन्द्र-स्तुति है]।

१ 'वयम् = द्वयोर्बहुवचनं पूजार्थम्' इति सायणः।

७. जो इस इन्द्र ने जल के प्रेरणार्थ मेघ का छेदन किया, ऐसे छेदनरूप कर्म का जो उस इन्द्र का सामर्थ्य है वह सदा प्रशंसनीय है। उस इन्द्र ने चारों ओर स्थित जल के प्रतिबन्धक असुर मेघों को वज्र से मारा। उससे स्थान (समुद्र) की इच्छा करते हुये जल जा रहे हैं। [यहां भी इन्द्र-स्तुति है]।

८. स्तुति करनेवाले हे विश्वामित्र ! तुम हमें प्राप्त होकर जो संवादात्मक वाणी का प्रयोग कर रहे हो, उसे मत सहो। यतोहि आगे के याज्ञिक युग व दिनों में संवादात्मक वाणी से हमारी सेवा करो। सम्प्रति उक्तिप्रत्युक्तिरूप संवाद से पुरुषों में हमारा तिरस्कार व अपकार मत करो। तुझे नमस्कार हो।

९. अब पुन: ऋषि नदियों को सम्बोधित करते हैं—हे वहन तुल्य नदियों ! मेरे स्तुतिवचनों को साधुतया सुनो कि मैं शकट और रथ से अतिदूर से तुम्हारे समीप आया हूं। अतः तुम लोग नम्र हो जाओ और सरलता से पार करने योग्य बन जाओ। शकटादि के अक्षभाग से न्यूनपरिमाणवाली हो जाओ।

१०. पहिले नदियां ऋषि के वचनों का प्रत्याख्यान कर चुकीं थी। अब उनके अभीष्ट को सिद्ध करने के लिये कहतीं हैं कि—हे स्तुति-कर्त्ता ऋषे ! आपके वचनों को हम सुनती हैं। क्योंकि आप अतिदूर से आये हैं। आप शकट और रथ से चले जाइये। हम ठीक वैसे ही नीचे को हो जाती हैं जैसे अपनी सन्तान को दूध पिलाने की इच्छा से माता और अपने पतिदेव के परिष्वजन के लिये नवोढा स्त्री लज्जा से झुक जाती है।

११. इस ऋचा से विश्वामित्र उत्तर देते हैं कि—हे नदियों ! यदि हमारा तैरना तुम्हें स्वीकार्य है तो भरतकुलज मेरे अनुयायी तुम्हें पार करें। जलों को तैरने व पार करने की इच्छा करते हुये तुम्हारे द्वारा स्वीकृत, इन्द्र के द्वारा प्रेरित भरतों का समूह पार कर चले जायें। यतोहि गमन के लिये प्रवृत्त उनका उद्योग पहिले ही तुम्हें अनुज्ञात है। मैं तो यज्ञार्ह तुम्हारी सुमति का सर्वथा सम्भजन करता हूं।

१२. उस पार की भूमि की इच्छा करते हुए सभी भरतकुलज नदियों को तैर लिये वा पार किये हैं। ब्राह्मण विश्वामित्र नदियों की सुमति का सम्भजन किया कि उत्तम रीति से निर्मित, जलों को प्रवाहित करनेवाली तुम नदियां अन्न को उत्पन्न करती हुई कृषकों को विशेषतया सन्तृप्त करो और नहरों को जलों से पूरित करो तथा समुद्र की ओर शीघ्र प्रवाहित हो जाओ।

१३. हे नदियों ! जैसे जुए में लगे कील और उसमें जुते हुये बैलों में स्थित रस्सी जुए से ऊपर रहती हैं वैसे ही तुम्हारे तरङ्गें भी ऊपर-ऊपर चलती हैं। हे आप ! तुम उन तरङ्गों को त्याग दो अर्थात् ऐसी गति करो जिससे कि जल हमें स्पर्श न कर सकें। तुम दोनों (विपाट् और शुतुद्री) पाप रहित हो। अतः तुम कल्याणकारिणियां किसी के द्वारा भी अतिरस्करणीय हो। रथों की समृद्धि कराओ। ऐसी स्तुति कर उनसे अनुज्ञात विश्वामित्र उस पार चले गये।

इस सूक्त में वर्णित संवाद के स्वरूप का अवलोकन कर यथार्थता की ओर चलते हैं। इस सूक्त की अस्पष्टता वा अनित्य इतिहास की प्रतीति का कारण ये शब्द हैं—विश्वामित्रः, पैजवनः

सुदाः, कुशिकस्य सूनुः, रथ एवं अनस्, नदी, सिन्धुः, समुद्रः, वक्षगा, विपाट्, शुतुद्री। अतः इनके नैर्वचनिक शब्दबोध्य के बोध से तथ्य के समीप में पहुंचा जा सकता है।

१. **विश्वामित्र**—इस सूक्त का द्रष्टा (ऋषि) विश्वामित्र है। पर जैसे कि कहा जा चुका है कि यह कोई ऋषिविशेष वाची नहीं है प्रत्युत ऋषिसामान्य वाची है। ऋषिविशेषार्थ निर्वचन करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन महामुनि यास्क इसकी निरुक्ति करते हैं— "**विश्वामित्रः सर्वमित्रः**" (नि० २।२४)। अर्थात् जो सबका मित्र है वा सब जिसके मित्र हैं वह 'विश्वामित्र' कहा जाता है।[1] और वह है कौन ? इसका स्पष्टीकरण निरुक्तभाष्यकार स्कन्द स्वामी करते हैं कि—"**विश्वामित्रः सर्वमित्रो भगवानादित्यः**" (२।२७)। स्पष्ट है यहां विश्वामित्र से आदित्य (सूर्य) का ही ग्रहण है। यह स्कन्द की अपनी कोई कल्पना मात्र नहीं है। ऋ० ३।५३।९ में भी स्पष्ट रूप से आदित्य को विश्वामित्र कहा गया है और उसका कारण भी बताया गया है कि "(**यन्महानृषिर्देवजा देवजूतो नृचक्षा विश्वामित्र इन्द्रः**) बड़प्पनरूप परिमाण से सब पदार्थों से बड़ा, तत्वों का द्रष्टा व कर्त्ता, द्योतमान किरणों का जनयिता अथवा किरणों में उत्पन्न होने वाला और उन किरणों से प्रेरित, मनुष्यों को कर्मों में प्रवृत्त कराने हारा, अत्यन्त ऐश्वर्य का करने वाला विश्वामित्र [सब का मित्र आदित्य अपने] (**कुशिकेभिः**) किरणों से[2] (**सिन्धुम् अर्णवम्**) नदी और समुद्र को (**अस्तभ्नात्**) आकर्षित व धारण करता है और (**सुदासमवहत्**) कल्याणकारी वायु का वहन करता है। इस प्रकार वह विश्वामित्र आदित्य सबका (**अप्रियायत**) मित्र हो जाता है।[3] इससे यह प्रस्फुटित होता है कि नदी (जल) आदि सब पदार्थों को अपनी ओर आकर्षित करने का जो गुण आदित्य का है उसे ही विश्वामित्र कहते हैं। इस विद्या को इस सूक्त से जानने वाला द्रष्टा (ऋषि) भी विश्वामित्र है। इस उपाधिभूत नाम से ऋषि का स्मरण भी होता है और जिस निमित्त से उसे यह नाम प्राप्त हुआ, उससे मन्त्रार्थ जानने में सहायता भी मिलती है।

२. **पैजवन सुदास्**—इस शब्द का अर्थ है पिजवन का पुत्र सुदास्—"**पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः**" (नि० २।२४)। पिजवन कौन है ? "**पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवो वामिश्रीभावगतिर्वा**" (नि० २।२४)—स्पर्धा के योग्य गति अथवा अन्य वेगवानों के द्वारा अमिश्रितगति अर्थात् अतिशीघ्रता से युक्त गति ही पिजवन है।[4] और इस पिजवन (वेग) का पुत्र है सुदास् (वायु)। 'सुदास्' नामक एक ऐतिहासिक व्यक्ति (राजा) भी हुआ है। अतः यहां उस व्यक्तिविशेष के इतिहास का भ्रम नहीं होना चाहिये। अन्यथा वेद-नित्यत्व की हानि होगी। यहां व्यक्ति विशेष का आख्यान नहीं है क्योंकि वेद में अन्यत्र (ऋ० १।१८५।९) "**सुदास्तराय**" ऐसा तरप्प्रत्ययान्त सुदास् का प्रयोग है।

---

१. विश्वस्य ह वै मित्रं विश्वामित्र आस विश्वं हास्मै मित्रं भवति य एवं वेद। ऐ० ब्रा० ६।२०। विश्वामित्राय=विश्वं सर्वं जगन्मित्रं यस्य तस्मै (ऋ० ३।५३।७–दयानन्दः)। सर्वस्यैव हि स मित्रं सर्वमेव वा तस्य मित्रमिति विश्वामित्रः (नि० २,२४-दुर्गः)।

२. कुष्णन्त्याकर्षन्तीति कुशिकास्तैः।

३. तुलना—महर्षि दयानन्द भाष्य (ऋ० ३।५३।९)।

४. तस्य हि स्पर्धार्हो जवो वेगः। अथवा—न तस्य मिश्रीभूतपूर्वा गतिरन्यैर्वेगवद्भिरतिशैघ्र्यात् (दुर्गः)। पिजवनः=सम्पदा जवस्य शैघ्र्येण च स्पर्धनीयजवः। अथवा न मिश्रीभावो गतेः। अतिशयवतः शैघ्र्यात् तस्य, न केनचित् सह गतः पूर्वम् (स्कन्द स्वामी)।

इससे यह स्पष्ट होता है कि 'सुदास्' विशेषणवाची है. न कि व्यक्तिवाची। अत एव यास्क मुनि को कहना पड़ा कि '**सुदाः कल्याणदानः**'' (नि० २।२४)। अर्थात् जो नित्य अत्यधिक सुन्दर कल्याणतम दान सुपात्रों को देता है वह सुदास् है।[1] इस प्रकार विशेषणवाची मानकर कल्याणतमदाता वायु सुदास् हुआ है। जो कि वेग (पिजवन) से उत्पन्न होता है। अतः 'पैजवन सुदास्' का अर्थ हुआ 'वायु'। इस नैर्वचनिक अर्थ से जो भी सात्विक दानी राजा, यजमान आदि सत्पुरुष होंगे, वे भी सुदास् कहलायेंगे।[2] महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार क्षमाशील पुरुष भी पिजवन है और उसका पुत्र पैजवन है।[3] इस सुदास् शब्द से विश्वामित्र का परिचय भी मिलता है। जो निम्न प्रकार है—

३. विश्वामित्र का पौरोहित्य—"विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव" (नि० २।२४) अर्थात् विश्वामित्र पैजवन सुदास् का पुरोहित बना। जैसे कि लिखा गया है कि विश्वामित्र आदित्य है और सुदास् वायु है। इससे यही ज्ञात होता है कि आदित्य (विश्वामित्र) वेग से उत्पन्न वायु (पैजवन सुदास्) का पुरोहित बना है। ऐतरेय ब्राह्मण में आदित्य को पुरोहित कहा भी गया है—"**आदित्यो वाव पुरोहितः**" (ऐ० ८।८७)। और पुरोहित किसे करते हैं? यजमान लोग जिसको पहिले धारण करते हैं व चयन करते हैं उसे पुरोहित कहते हैं।[4] और पुरोहित यजमान का हित साधक एवं सर्वसुख-साधनों के सम्पादयिता होता है।[5] विना पुरोहित (विश्वामित्र=आदित्य) के यजमान (सुदास्=वायु, राजा, यज्ञकर्त्ता) के कार्य वा इष्ट-सिद्धि नहीं होती। अतः पुरोहित का चयन यजमान को अनिवार्य है।[6] अर्थात् सुदास् वायु (यजमान) अपने कल्याणदानरूपी कार्य को विना विश्वामित्र (आदित्य-पुरोहित) के सम्पन्न नहीं कर सकता है। उसके कार्य का सम्पादक आदित्य ही है। इतना ही नहीं सुदास् के अस्तित्व का आधार भी आदित्य है। क्योंकि सुदास् (वायु) पिजवन (वेग)[7] का पुत्र है। और पिजवन (वेग) का प्रेरक वा कारण विश्वामित्र (आदित्य वा अग्नि)[8] ही होता है। विश्वामित्र का पौरोहित्य कार्य यही है कि पैजवन सुदास्

---

१. ०तस्य हि नित्यमेव प्रशस्तं दानं भवति (दुर्गः)। सुष्ठु पात्रेभ्यो ददाति (स्कन्दः)। सुदासे=यः सुष्ठु ददाति तस्मै (ऋ० ७।२५।३—दयानन्दः)।

२. सुदासम्=शोभना दासाः दातारः सेवका वा यस्य तम् [सत्पुरुषम्] (ऋ० ७।१९।३—दया०)। सुष्ठु दातारं सेवकं वा [जनम्] (ऋ० ७।३३।३—दया०)। श्रेष्ठा दासाः सेवका दानानि वा यस्य सः [प्रजाजनः] (ऋ० ७।३२।१०—दया०)। उत्तमविद्यादानः [राजा] (ऋ० ७।१८।२५—दया०)।

३. पैजवनस्य=क्षमाशीलस्य पुत्रस्य, क्षमाशीलाज्जातस्य पुत्रस्य। ऋ० ७।१८।२३,२५।

४. पुरोहितः पुर एनं दधति (नि० २।१२)। यं यजमानः पुरः पूर्वं दधाति सः (यजु० ११।८१—दया०)।

५. पुरोहितः=सर्वेषां हितसाधकः (ऋ० ३।११।१—दया०)। पुरस्ताद्धितकारी (यजु० ३३।४०—दया०)। सर्वसाधनसुखसम्पादयिता (ऋ० १।४४।१०—दया०)।

६. तुलना—"न ह वा अपुरोहितस्य राज्ञः देवा अन्नमदन्ति; तस्माद्राजा यक्षमाणो ब्राह्मणं पुरो दधीत' ऐ० ब्रा० ८।२४।

७. महर्षि दयानन्द ने भी 'पिजवन' का अर्थ 'वेग' किया है—"पैजवनस्य=वेगयुक्तस्य' ऋ० ७।१८।२२

८. अग्निर्वा पुरोहितः। ऐ० ब्रा० ८।२७।

को अस्तित्व में लाना और उसके कार्य (कल्याण-दानत्व) में सहायक होना है। इस पैजवन सुदास के दान की स्तुति ऋ० ७।१८।२२-२५ में की गई है।

४. **कुशिक**—कुशिक शब्द से भी विश्वामित्र का परिचय मिलता है। यतोहि वह कुशिक का पुत्र है।[1] और यह कुशिक कौन है ? इसका समाधान निरुक्तकार देते हैं—"**क्रोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वा स्यात्प्रकाशयतिकर्मणः**" (नि० २।२५)। अर्थात् शब्दार्थवाले 'क्रुश्' धातु से अथवा प्रकाशार्थक 'क्रंश्' धातु से कुशिकशब्द बना है। अतः अर्थ होगा जो नित्य सत्योपदेशादि धर्मों का उपदेश व प्रेरणा देता है वह 'कुशिक' कहलाता है।[2] और जो सब को प्रकाशित करता है वह भी 'कुशिक' कहा जाता है। यास्क तीसरा अर्थ यह भी करते हैं कि "**साधुविक्रोशयितार्थानाम्** (नि० २।२५)। अर्थात् जो साधुजन ब्राह्मणों में अर्थों (धनों) का दाता है[3], वह भी कुशिक है। जब कुशिक शब्द का अर्थ धर्ममार्ग का उपदेशक वा प्रेरक और सत्पात्र ब्राह्मणों को दान देनेवाला होगा तब विश्वामित्र का अर्थ व्यक्ति सामान्य पुरोहित होगा और जब कुशिक का अर्थ प्रकाश होगा तब विश्वामित्र का अर्थ आदित्य होगा। यहां स्कन्दस्वामी और अधिक स्पष्ट करते हैं कि उषा का जो प्रकाश है वह कुशिक है और उसका पुत्र[4] विश्वामित्र है।[5] इस नैर्वचनिक अर्थ से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहां व्यक्ति विशेषों का कथन नहीं है। कोई कहें कि यहां यास्क के "**कुशिको राजा बभूव**" (नि० २।२५) इस वचन में भौतकालिक क्रिया से अनित्य इतिहास प्रतीत होता है। इसका उत्तर यह होगा कि यहां यास्क ने इतिहास को मानने वाले के पक्ष को दिखाया है। अपने पक्ष में तो निर्वचन कर दिये हैं। ऐतिहासिक पक्ष में भी नित्य इतिहास ही समझ लेना चाहिये। अन्यथा नदियों के साथ संवाद सम्भव ही नहीं है। यदि यह यास्क का पक्ष मान भी लें तब भी कोई अनिष्ट की आपत्ति नहीं होती है। क्योंकि यहां 'बभूव' का अर्थ भूतकाल ही हो यह कोई अनिवार्य नहीं है, वर्तमान काल भी हो सकता है। यह शैली निरुक्त में अन्यत्र भी देखी जाती है। तद्यथा—"**ऋषिः कुत्सो भवति** (नि० ३।११), **नोधा ऋषिर्भवति** (नि० ४।१६), **च्यवन ऋषिर्भवति** (नि० ४।१६)।" अतः "**कुशिको राजा बभूव**" का अर्थ '**कुशिको राजा भवति**' होगा। अर्थात् जो ब्राह्मणों को दान देनेवाला राजा होगा वह 'कुशिक' कहा जायेगा। अथवा यह भी कहा जा सकता है—यास्क ने जो तीन नैर्वचनिक अर्थ दिखाये हैं। उनके अनुसार जो अन्वर्थक राजा हुआ हो और उसका नाम 'कुशिक' पड़ गया हो। जिस को यास्क ने अपने ग्रन्थ में स्मरण किया हो। क्योंकि सभी नाम वेद से ही ग्रहण किये गये हैं, ऐसा कहा जा चुका है।

---

१. 'कुशिकस्य सूनुः' ऋ० ३।३३।५। ध्यातव्य है—ऐतिहासिक विश्वामित्र कुशिक का पुत्र नहीं अपि तु पौत्र है और गाधि का पुत्र है। द्र०—महाभाष्य ४।१।१०४)।

२. स हि साध्वेव क्रियतामिति नित्यकालमेव क्रोशयति (दुर्गः)।

३. साधुषु ब्राह्मणेषु विक्रोशयिता अर्थानां दातेत्यर्थः (दुर्गः)।

४. जड़ पदार्थों में भी माता, पिता, पुत्रादि का व्यवहार वेद में देखा जाता है। जैसे कि द्र०—ऋ० १।१६४।३३, १०।७२।४ तथा च 'सूर्या(उषा) सूर्यस्य पत्नी' (नि० १२।७); 'सूर्यस्य दुहिता [उषा]' ऋ० ३।५३।१५

५. क्रंशतेरौषसः प्रकाशः कुशिकः। कुशिकस्य प्रकाशस्य सूनुरहमादित्यः, तस्य पुत्रस्थानीय इत्यर्थः। [स्कन्दः २।२७]।

५. रथ और अनस्—रथ शब्द पृथिवी-जल-आकाशादिगमनप्रसङ्गों में, मरुतेन्द्राश्विन्यादि देवता-प्रसङ्गों में एवं अन्य प्रसङ्गों में भी प्रयुक्त हुआ है। अतः बहुत्र बहुधार्थ दृष्ट इस शब्द की निरुक्ति यास्क इस प्रकार करते हैं—"**रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा**" (नि० ९।११)। अर्थात् जो चलता है वा स्थिर रहता है या रमणीयता से विद्यमान रहता है वह रथ कहलाता है। इस निर्वचन के आधार पर महर्षि दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य में इस शब्द के काष्ठमय यानविशेष रथ[1], विमान[1], नाव[1], विद्वान्[2], संसार[3], सूर्य[4], किरण[5], ज्ञान[6], विद्या[7], व्यवहार[8], शरीर[9], जगत्[10] आदि अनेक अर्थ किये हैं। दुर्गाचार्य ने 'योद्धा' अर्थ भी किया है।[11] वेद ने रथ को सुखप्रदवाचीशब्द का विशेषण भी जोड़ दिया है।[12] अस्तु। 'अनस्' शब्द का अर्थ सामान्यरूप से 'शकट' है, पर नैर्वचनिक विशेषार्थ तो यह है कि—"**अनो वायुरनितेः, अपि वोपमार्थे स्यादनस इव शकटादिव। अनः शकटमानद्धमस्मिंश्चीवरम्। अनितेर्वा स्याज्जीवनकर्मणः। उपजीवन्त्येनत्**" (नि० ११।४७)। यहां पर धातु और उपमादि से दर्शित अर्थ से स्पष्ट है कि 'अनस्' का अर्थ 'वायु' है। महर्षि दयानन्द ने भी ऐसा ही अर्थ किया है—"**अनः=शकटमिव**" (ऋ० ४।३०।११)। इन कथनों से रथ और अनस् के स्वरूप का परिचय भली-भान्ति मिलता है। प्रकृत प्रकरण में विश्वामित्र रथों तथा शकटों के साथ नदियों के सङ्गम पर आया है—"**ययौ वो दूरादनसा रथेन**" (ऋ० ३।३३।९)। जब 'विश्वामित्र' का अर्थ राजा, पुरोहितादि होगा तब 'रथ' का अर्थ रमणीय एवं सुखप्रद यानविशेष होगा और 'अनस्' का अर्थ शकट। जब 'विश्वामित्र' का अर्थ आदित्य होगा तब 'रथ' का अर्थ किरण[13] होगा अथवा स्वयं आदित्य भी हो सकता है—'**रथः रमणीयः सुखकर आदित्यः**'।[14] और अनस् का अर्थ वायु है। आदित्य के स्तम्भक तत्त्व वा शक्ति विश्वामित्र है। वह शक्ति शकटतुल्य वायु के द्वारा तथा किरण व आदित्यरूपी रथ के द्वारा दूर से अर्थात् सौर-मण्डल से आकर नदियों के सङ्गम को प्राप्त हो गयी है। यही अभिप्राय इस सूक्त के नवम एवं दशम मन्त्रों में जान लेना चाहिये।

६. नद्यादयः—नदीवाची शब्दों के दर्शनमात्र से भौगोलिक इतिहास का भ्रम नहीं होना चाहिये। यतोहि यास्क इनका निर्वचन करते हैं। तद्यथा—"**नद्यः कस्मान्नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः**" (नि० २।२४)। महर्षि दयानन्द ने भी ऋ० ५।४५।२ पर इसी प्रकार का निर्वचन दिखाया है। जो निरन्तर अव्यक्त शब्द करती हुई चलती है वह नदी कहलाती है। और ये नदियां पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में प्रवाहित होती हैं। जैसे कि वेद ने कहा कि—"प्र सप्त सप्त त्रेधा हि

---

१. ऋ० १।११२।२; ५।७३।१; ६।४७।२७, यजु० १७।३७।
२. यजु० २९।५४। ३. ऋ० १।७०।४। ४. ऋ० ६।४४।२४।
५. ऋ० ६।६३।५। ६. ऋ० १।८२।४। ७. यजु० ८।३३।
८. ऋ० ६।४९।५। ९. ऋ० ६।४७।२९। १०. ऋ० ६।५५।६।
११. स्थिरः सन् रथ इत्युक्तः। तत्र हि स्थिरः सुप्रतिष्ठितो योद्धा भवति (नि० ९।११)।
१२. सुखं रथम् (ऋ० १०७५।९, नि० ७।७; ऋ० ६।११२।४, नि० ९।२)।
१३. रमणीयं किरणम्। ऋ० ६।६३।५—दया०। १४. रमणीयं सूर्यलोकम्। ऋ० ६।४४।२४—दया०।

चक्रमुः'' (ऋ० १०।७५।१)।[1] औपमिक अर्थ को दिखाते हुये महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में नदी के समान विद्यमान विद्वान्[2], शूरजन[3], आदि अर्थ भी किये हैं। अध्यात्म में नदियों का अर्थ 'नाड़ियां' हैं।[4] 'सिन्धु' शब्द निघण्टु के नदी वाचियों में पठित है। ''**सिन्धुः स्यन्दनात्**''(नि० ९।२६) अर्थात् जो नदी विस्तृत[5] होकर अतिवेग[6] से प्रवाहित होती है वह 'सिन्धु' है। अध्यात्मादि में इस शब्द के परमात्मा[7], सभाध्यक्ष[8], शत्रु[9] आदि अर्थ भी हैं। नदीवाचकों में समुद्रशब्द भो है। यह पृथिव्यादिस्थ जलमय सागर का भी सूचक है। अतः यास्कमुनि इसकी निरुक्ति करते हैं—'**समुद्रः कस्मातसमुद्द्रवन्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि समुदको भवति समुनत्तीति वा**'' (नि० २।१०)। आधिभौतिक में इसके द्युलोक[10], अन्तरिक्ष[11], वायु[12], जल[13], मेघ[14] एवं सागर[15] आदि, आध्यात्मिक में ईश्वर[16] अर्थ है। 'वक्षणा' शब्द भी नदीवाचकों में पठित है। '**वहन्ति जलानि यास्ताः [नद्यः]**' (ऋ० १।३२।१ दया०), '**वक्षणा वक्षन्ति कुध्यन्तोव हि ता वर्षासमये वेगेन गच्छन्त्यः।......प्राप्यन्ते हि ताः प्राणिभिः प्राप्नुवन्ति वा समुद्रं निम्नं वा**' (देवराजयज्वा नि० नि० १।१३।९)। नद्यभिधेयक 'विपाट्' का निर्वचन इस प्रकार है—'**विपाड् विपाटनाद्वा, विपाशनाद्वा, विप्रापणाद्वा पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतस्तस्माद्विपाडुच्यते**' (नि० ९।२६)। इस नैर्वचनिक अर्थ का अनुकरण कर स्वामी दयानन्द ने नदी[17], विदूषी[18] तथा मार्ग[19] अर्थ भी किया है। इस प्रकार अपर शब्द 'शुतुद्री' का भी निर्वचन किया गया है कि—'**शुतुद्री शुद्राविणी क्षिप्रद्राविण्याशु तुन्नेव द्रवतीति वा**'' (नि० ९।२६)।

---

१. ता नद्यः सप्त सप्त भूत्वा त्रेधा पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि चेति त्रेधा त्रिप्रकारं चक्रमुः प्रावहन्। 'सायण-भाष्यम्। ऋ० १०।७५।१।

२. सरितामिव वर्तमानानां विदुषीणाम्। ऋ० ३।३३।१२–दया०।

३. नदी इव वर्त्तमानौ [शूरजनौ] ऋ० १।१३५।९—दया०।

४. नदीभिः=सरिद्भिरिव नाडीभिः (ऋ० ५।४१।१९–दया०)। विशेष द्र०–ऋ०भा०भू० प्रामाण्या०।

५. सिन्धुः=विस्तीर्णा नदी (ऋ० १।९२।११—दया०)।

६. प्रसृत्वरीणामिति सिन्धुरोजसा (ऋ० १०।७५।)—प्रावहन् सृत्वरीणामासां मध्ये सिन्धुरेतन्नामिका नदी ओजसा स्वबलेन अति सर्वा अपि नदीरतिक्रम्य प्रवहतीति शेषः (सायणः)।

७. सिन्धुः=यः स्यन्दते प्रस्रवति सुखानि स परमात्मा (ऋ० १।११।६।—दया०)।

८. सिन्धुम्=स्यन्दते प्रस्रवति सुखानि समुद्र इव गम्भीरस्तम् [सभाध्यक्षम्] ऋ० १।११।६—दया०।

९. सिन्धवः=समुद्रनदीवत् कठिनाऽवगाहाः शत्रवः। ऋ० १।६१।११—दया०।

१०. शत० ब्रा० ९।४।२।५।

११. ऋ० १।११६।४—दया०।

१२. यजु० ३८।७; शत० ब्रा० १४।२।२।२; जै० उ० १।२५।४।

१३. गो० पू० १।७।

१४. दया० भाष्य ऋ० ६।६९।६; यजु० ३३।२।

१५. ऋ० १।५६।१—दया०।

१६. दया० भाष्य यजु० ५।३३; १७।९९; १८।५५।

१७. ऋ० ३।३३।१।

१८. ऋ० ३।३३।३।

१९. ऋ० ४।३०।११।

उपर्युक्त नैर्वचनिक विवेचन से इस सूक्त का अधिकांश भाग स्पष्ट हो जाता है और इतिहासादि भ्रमों का निराकरण भी। यहां पर आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिकादि विज्ञान की प्रतीति भी होती है। विस्तरभिया इस सूक्त के सभी मन्त्रों का उक्त विविधार्थ में सङ्गति लगा कर नहीं दिखा पा रहे हैं। तदर्थ जिज्ञासुवृन्द महर्षि दयानन्द सरस्वती एवं श्री पं० जयदेव जी शर्मा के वेदभाष्य का तथा श्री प्रियरत्न जी आर्ष कृत "वेद में इतिहास नहीं" का अवलोकन करें। इस सूक्त में आत्मा-परमात्मा, आचार्या (उपदेशिका)-शिष्याओं, पति-पत्नी, राजा-प्रजा एवं सेनापति-सेना आदि के पारस्परिक सम्बन्धों तथा कर्त्तव्य कर्मों का वर्णन है। जिसे उक्त भाष्यों में देखा जा सकता है। महर्षि दयानन्द ने अपने 'चतुर्वेद-विषय-सूची' में इस सूक्त का विषय बतायें है कि प्रारम्भिक पांच मन्त्रों में 'पदार्थ-विद्या' और शेष मन्त्रों में 'शिल्पविद्या' है। जो कि इन मन्त्रों में स्पष्ट प्रतीत होता है। जैसे कि—'**ऊर्मिभिः पिन्वमाने** (मन्त्र २)-**ऊर्मिभिस्तरङ्गैः पिन्वमाने परिसरप्रदेश सन्तर्पयन्त्यौ**' (सायणः)। '**पयसा पिन्वमानाः** (मन्त्र ४)—**पयसा सन्तर्पयन्त्यः**' (सा०)। अर्थात् नदियां अपने जल से परिसरप्रदेश खेती आदि को सन्तृप्त करती हुई चलती हैं। अर्थात् राजा वा उनके हितैषी पुरोहित (शिल्पी) अपनी प्रजा के सर्वविधसुखवृद्धयर्थं एवं अन्नादि की उत्पत्त्यर्थ नदियों तथा नहरों का निर्माण करायें और उन नहरों में सम्यक्तया जल के जाने का प्रबन्ध कर सभी को उचित लाभ पहुंचाना चाहिये। मन्त्र-१२ का भाष्य करते हुए सायण इसी को स्पष्टतया बताते हैं कि "**यूयं तु यथा पूर्वमिषयन्तीः कुल्यादिद्वारन्नं कुर्णाणा** ·······**यूयं वक्षणाः कृत्रिमसरितः कुल्याः प्रपिन्वध्वं प्रकर्षण तर्पयतश्च आपृणध्वं ताः सर्वतः पूरयत च शीभं शीघ्रं यात गच्छत च।**" इस प्रकार इन नदियों के द्वारा जीवों की रक्षा होती है अथवा जीवों के द्वारा तीरादि का निर्माण कर इनकी रक्षा की जाती है। इसीलिये इनका नाम 'अवनयः' है—'**अवन्ति जगत् स्वोदकेन, अव्यन्ते प्राणिभिस्तीरादिनिर्माणेन**' (देवराजयज्वा-नि० नि० १।१३।१)। ये नदियां माता के समान सबकी रक्षा करनेवाली होती हैं। अत एव इनका नाम 'मातरः' भी है—'**मातृवल्लोकस्य रक्षिका इति वा**' (वही १।१३।३६)। इतना ही नहीं इन नदियों के एक तीर से अपर तीर तक सभी जनों के एवं रथ, शकटादि के आने-जाने के लिये पुल का भी निर्माण कराना चाहिये—"**सुपाराः रथादीनां तीरात् सुखेनावरोहणारोहणे यथा स्यातां तथा शोभन रोधसश्चभवत**' (सायणः मन्त्र – ९)। इस प्रकार इस सूक्त में 'शिल्पविद्या' है। विश्वामित्र एवं उनका पौरोहित्य, सुदासादि शब्दों के विचार के समय 'पदार्थविद्या' का दिङ्निर्देश किया गया है। लिखित विवेचन से अन्ततः यही निष्कर्ष निकलता है कि इस सूक्त में आलङ्कारिक वर्णन के माध्यम से उक्त विद्याद्वय है न कि विश्वामित्र ऋषिविशेष का नदीविशेषों के साथ सम्भाषण है।

समाचार-संग्रह

सत्यार्थप्रकाश निबन्ध प्रतियोगिता—१९९९

श्रीमद्दयानन्द सत्यार्थप्रकाश न्यास, उदयपुर के तत्त्वावधान में प्रतिवर्ष आयोजित की जाने वाली निबन्ध प्रतियोगिता इस वर्ष भी आयोजित की जा रही है। निबन्ध का विषय है—गृहस्थाश्रम—वैदिक स्वर्ग का मूलाधार' (सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास के आधार पर)। पुरस्कार—प्रथम-२१०० रु०, द्वितीय-१५००, तृतीय-११०० रु०। पांच सन्त्वना पुरस्कार प्रत्येक १०० रु० (लेखिका वर्ग में दो विशिष्ट सान्त्वना पुरस्कार)। आर्य परिवार संस्था कोटा की ओर से विशेष पुरस्कार—प्रथम-१००० रु०, द्वितीय-६०० रु०, तृतीय-४०० रु०। प्रतियोगिता में सभी आयु वर्ग के स्त्री-पुरुष भाग ले सकते हैं। निबन्ध फुलस्केप आकार के १५ पृष्ठों में कागज की एक ओर टङ्कित या लिखित हो। निबन्ध की भाषा हिन्दी तथा लिपि देवनागरी होगी (अन्य भाषा के उद्धरण दिये जा सकते हैं)। पृथक् पृष्ठ पर लेखक या लेखिका का नाम और पूरा पता लिखा हो। निबन्ध प्राप्त होने की अन्तिम तिथि ३१ दिसम्बर १९९८ है।

पं० क्षितीश वेदालङ्कार स्मृति प्रतियोगिताएं-१९९८

पं० क्षितीश वेदालङ्कार न्यास की ओर से पण्डित जी की छठी पुण्य तिथि के अवसर पर ११, १२, १३ दिसम्बर १९९८ को दयानन्द वेद विद्यालय गौतम नगर, नई दिल्ली में प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जायेगा। प्रतियोगिताओं के विषय हैं—हिन्दी एवं संस्कृत भाषण, वेद-मन्त्र अन्त्याक्षरी, भजन और शास्त्र स्मरण (अष्टाध्यायी, निघण्टु, लिङ्गानुशासन, धातुपाठ) प्रतियोगिता में प्रत्येक गुरुकुल से दो-दो छात्र/छात्रा भाग ले सकेंगे।

ऋषि मेला समारोह सम्पन्न

महर्षि दयानन्द सरस्वती के ११५वें निर्वाण दिवस के अवसर पर परोपकारिणी सभा अजमेर के तत्त्वावधान में ९, १०, ११ अक्तूबर १९९८ को ऋषि उद्यान पुष्कर रोड, अजमेर में भव्य ऋषि मेला आयोजित किया गया। समारोह से पूर्व सामवेद पारायण यज्ञ और साधना-स्वाध्याय शिविर का आयोजन हुआ। 'वेद और विज्ञान' विषय पर वेदगोष्ठी आयोजित की गई।

आर्य विरक्त वानप्रस्थ साधनाश्रम की परियोजना

आर्यवन विकास ट्रस्ट रोजड़, पो० सागपुर जि० साबरकांठा (गुजरात)-३८३३०७ द्वारा प्रदत्त १२ एकड़ भूमि में आर्य विरक्त वानप्रस्थ साधनाश्रम की स्थापना पर विचार किया जा रहा है। एतदर्थ एक समिति का गठन किया जायेगा। परियोजना के अन्तर्गत ध्यानकक्ष, सभागार, यज्ञशाला, भोजनशाला, अतिथिशाला, पुस्तकालय, उद्यानादि का निर्माण होगा। इस विषय में रुचि रखनेवाले सज्जन संयोजक आर्य विरक्त वानप्रस्थ साधनाश्रम से सम्पर्क करें।

वैदिक धर्म सक्रिय प्रचार चिन्तन शिविर

आर्ष गुरुकुल होशङ्गाबाद (मध्यप्रदेश)में १५, १६, १७ दिस० ९८ को वैदिक धर्म के प्रचार हेतु चिन्तन शिविर का आयोजन किया जा रहा है। निष्ठावान् तथा प्रचार में तन-मन-धन से समर्पित कार्यकर्ता ही भाग ले सकेंगे। इच्छुक महानुभाव अपनी स्वीकृति के साथ दो सौ रुपये डाक द्वारा २० नव० ९८ तक भेज दें। १४ दिस० ९८ के सायं तक वस्त्र-विस्तर सहित अवश्य पहुंचें।

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित और प्रसारित ग्रन्थ

वेद-विषयक ग्रन्थ

१. ऋग्वेदभाष्य—भाग I (ऋ०भा०भू० सहित) ६०-००; II ४०-००; III ५०-००
२. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका—यु० मी० सम्पादित सटिप्पण । ५०-००
३. भूमिका-भास्कर—स्वा० विद्यानन्द सरस्वती। दो भागों में, प्रथम भाग २००/; द्वितीय १५०/
४. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका-परिशिष्ट— ५-००
५. ऋग्वेदानुक्रमणी-वेङ्कटमाधवकृत, व्याख्याकार पं० विजयपाल जी । ४०-००;राजसं०५०-००
६. कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी—षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृत टीका सहित १५०-००
७. ऋग्वेद की ऋक्संख्या—यु० मी० ५-००
८. ऋग्वेद-परिचय—पं० विश्वनाथ २५-००
९. यजुर्वेदभाष्य-विवरण—भाग I १५०-००; भाग II ७५-००
१०. माध्यन्दिनपदपाठः—(यजुर्वेद पदपाठ) १००/
११. तैत्तिरीय-संहिता-(मूल) मन्त्रसूचीसहित १ ,
१२ तैत्तिरीय-संहिता-पदपाठः—सजिल्द १५०-००
१३. अथर्ववेदभाष्य—पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय १-३ काण्ड ५०-००; ४-५ कांण्ड ५०-००; ६ काण्ड ५०-००, ७-८ काण्ड ५०-००, ९-१० काण्ड ५०-००; ११-१३काण्ड ५०-००; १४-१७काण्ड ५०-००; १८-१९ कांण्ड ५०-००; २० काण्ड ५०-०० ।
१४. (क) गोपथ-ब्राह्मण—(मूल) ८०-००
१४.(ख) वैदिक-निघण्टु-संग्रह—धर्मवीर १००-००
१५. वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा—यु० मी० लिखित वेदविषयक १७ निबन्धों का संग्रह । प्रथम भाग ७५-००; द्वितीय भाग १००-००
१६. वैदिक-साहित्य-सौदामिनी—सजिल्द ७०-००
१७. वेदश्रुतिआम्नायसंज्ञा-मीमांसा—यु०मी०३-००
१८. वैदिक-छन्दोमीमांसा— ,, ,, ५०-००
१९. वैदिक-स्वर-मीमांसा— ,, ,, ५०-००
२०. वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन प्रकार—युधिष्ठिर मीमांसक १०-००
२१. वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय-युधिष्ठिर मीमांसक २५-००
२२. देवापि और शन्तनु के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ८-००
२३. वेद और निरुक्त— ,, ,, ३-००
२४. निरुक्तकार और वेद में इतिहास— ,, ३-००
२५. त्वाष्ट्री-सरण्यू के आख्यान का वास्तविक स्वरूप—पं० धर्मदेव जी निरुक्ताचार्य ३-००
२६. वैदिक-जीवन—पं० विश्वनाथ । स० ४०-००
२७. वैदिक-गृहस्थाश्रम— ,, ,, सजिल्द ५०-००
२८. वैदिक-पीयूष-धारा—श्री देवेन्द्र कुमार कपूर। अजिल्द १०-००; बढ़िया जिल्द १५-००
२९. क्या वेद में आर्यों और आदिवासियों के युद्धों का वर्णन है? पं० रामगोपाल शास्त्री १२-००
३०. उरु-ज्योति—वासुदेवशरण अग्रवाल २५-००
३१. वेदों की प्रामाणिकता—श्रीनिवासजी ४-००
३२. Anthology of Vedic Hymns—स्वामी भूमानन्द सरस्वती १००-००

कर्मकाण्ड-विषयक ग्रन्थ

३३. बौधायन-श्रौत-सूत्रम्—(दर्शपूर्णमास) ६०-००
३४. बौधायन-श्रौतसूत्रम् (संस्कृत)—आधान प्रकरण की व्याख्या एवं पद्धति सहित ६०-००
३५. दर्शपूर्णमास-पद्धति—पं० भीमसेन ३०-००
३६. कात्यायन-गृह्यसूत्रम्—(मूल) २५-००
३७. श्रौतपदार्थ-निर्वचनम्—(संस्कृत) ५०-००
३८. श्रौतयज्ञ-मीमांसा—(संस्कृत-हिन्दी) ४०-००
३९. अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय— ३०-००
४०. यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा—सजिल्द २०-००; बढ़िया जिल्द २५-००
४१. शतपथ ब्राह्मणस्थ अग्निचयन समीक्षा—पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय ६०-००

४२. **संस्कार-विधि**—ऋषि दयानन्द कृत २०.००
—**संस्कार-भास्कर**—स्वामी विद्यानन्द सरस्वती कृत संस्कारविधि की व्याख्या १५०-००
४३. **संस्कारविधि-मण्डनम्** —रामगोपाल १२-००
४४. **वेदोक्त-संस्कार-प्रकाश**—पं० बाला जी विठ्ठल गांवस्कर कृत मराठी का हिन्दी अनु० २५-००
४५. **वैदिक-नित्यकर्म-विधि**—(पञ्च महायज्ञ के मन्त्रों की पदार्थ व भावार्थ व्याख्या) १२-००
४६. **वैदिक-नित्यकर्म-विधि**—(मूलमात्र) २-५०
४७ **पञ्चमहायज्ञविधि**—ऋ० द० कृत ५-००
४८. **सन्ध्योपासन-अग्निहोत्रविधि**—(हिन्दी-अंग्रेजी व्याख्या सहित) डा० विजयपाल १५-००
४९ **वैदिकयज्ञों का स्वरूप**–डा० कृष्णलाल १०-००

शिक्षा-निरुक्त-व्याकरण-छन्दःशास्त्र-ज्योतिष विषयक ग्रन्थ

५०. **वर्णोच्चारण-शिक्षा**—ऋषि दयानन्द ३-००
५१. **शिक्षासूत्राणि**-आपिशल-पाणिनीय-चान्द्र १०/
५२. **शिक्षा-शास्त्रम्**—जगदीशाचार्य १५-००
५३ **शिक्षा महाभाष्यम्** — ,, सजिल्द १५-००
५४. **वृद्धशिक्षा-शास्त्रम्** — ,, सजिल्द ३०-००
५५. **निघण्टु-निर्वचनम्**—देवराजयज्वाकृत मूल्य १५०-००
५६. **निरुक्त-श्लोकवार्त्तिकम्**—नीलकण्ठ १५०-००
५७ **निरुक्त-समुच्चय**—वररुचि कृत ३०-००
५८ **अष्टाध्यायीसूत्रपाठः**—शुद्ध संस्करण १०-००
५९ **अष्टाध्यायी-भाष्य**—(संस्कृत तथा हिन्दी) भाग I ८०-००; II ५०-००; III ७०-००
६०. काशिका—वामनजयादित्य कृत अष्टाध्यायी वृत्ति। पुस्त० सं० ५००/, साधा० सं० ३००/
६१. **भागवृत्तिसंकलनम्**—अष्टाध्यायी-वृत्ति २०-००
६२. महाभाष्य—यु० मी० कृत हिन्दी व्याख्या सहित भाग I प्रथम खण्ड ६५-००, द्वितीय खण्ड ६०-००; II ७५-००; III ७५-००
६३. **माहेश्वरव्याकरणम्**–जगदीशाचार्य। ३०-०० काशिका-महापरिष्कारः प्रथम भाग ७०-००
६४. **धातुपाठः**—(धातु सूची सहित) ८-००
६५ **क्षीरतरङ्गिणी**—(धातुपाठ-व्याख्या) ८०-००
६६. **धातुप्रदीप**—धातुपाठवृत्ति, मैत्रेयरक्षित ६०-००
६७. **संस्कृत-धातु-कोष**—यु० मी० २०-००
६८. **काशकृत्स्न-व्याकरणम्** २०-००
६९. **काशकृत्स्न-धातुव्याख्यानम्**— अप्राप्य
७०. **संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि**-भाग I ३०-००; भाग II ५०-०० प्रथम भाग का अंग्रेजी अनुवाद ५०-००
७१. **उणादिकोष**—ऋषि दयानन्द। २५-००
७२. **दशपाद्युणादिवृत्ति-संग्रह**-प्रथम भाग (माणिक्य-देवविरचित अतिप्राचीन वृत्ति, अनेक परि-शिष्टों के साथ) सं०—यु० मी०, चन्द्रदत्त शर्मा ६०-००; द्वितीय भाग में तीन प्राचीन वृत्तियों का संग्रह। सं०–चन्द्रदत्तशर्मा ६०-००
७३. **गणरत्नावली**—भट्टयज्ञेश्वर कृत पाणिनीय गणपाठ की व्याख्या। सं०-चन्द्रदत्तशर्मा ७५-००
७४ **वामनीयं लिङ्गानुशासनम्**— १५-००
७५. **दैवम् पुरुषकार-वार्त्तिकोपेतम्**— १५-००
७६. **अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः** —डा० विजयपाल विद्यावारिधि ५०-००
७७. **शब्दरूपावली**—विना रटे स्मरण योग्य ५-००
७८. **पिङ्गलनागछन्दोविचिति-भाष्यम्**——यादव-प्रकाशविरचित भाष्य ५०-००
७९ **प्रश्नोत्तर-मञ्जरी**— १०.००

अध्यात्म-विषयक ग्रन्थ

८०. **ईश-केन-कठ-उपनिषद्**–हिन्दी-अंग्रेजी। राम-गोपाल वैद्य। क्रमशः २-००; २-००; ४-००
८१ **गीता-भाष्यम्**—तुलसीराम स्वामी २५-००
८२ **तत्त्वमसि**—स्वा० विद्यानन्द सरस्वती। अद्वैत-द्वैत-त्रैतवाद विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ १००/
८३. **प्रपञ्च-हृदयम् तथा प्रस्थान-भेदः**—(संस्कृत) प्रथम अज्ञातकर्तृक है (इसमें वैदिक वाङ्मय के अनेक अनुल्लिखित ग्रन्थों का वर्णन है) मधुसूदन सरस्वतीकृत द्वितीयग्रन्थ में दार्शनिक का मतों वर्णन है २५-००

८४. ध्यानयोग-प्रकाश–स्वा० लक्ष्मणानन्द ३०-००
८५. पुरुषार्थ-प्रकाश–लेखक–स्वा० विश्वेश्वरानन्द ब्र० नित्यानन्द ४०-००
८६. अनासक्तियोग-मोक्ष की पगडण्डी— ४०-००
८७. आर्याभिविनय—ऋ० द०। सजिल्द १०-००
Aryabhivinaya-English translation and notes स्वा० भूमानन्द, सजिल्द १० ००
८८. वैदिक ईश्वरोपासना—ऋ० द० ३-००
८९. विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम्–चारों भाग २००-००
९०. अगस्त्य पन्थ के यात्री को आत्मदर्शन–१०-००
९१. मानवता की ओर–शान्तिस्वरूप कपूर ८-००
९२. विचार-सौरभ—ले०-श्रीमती शन्नो भाटिया प्रथम भाग १५.००, द्वितीय भाग १५.००

नीतिशास्त्र-इतिहास-विषयक ग्रन्थ

९३. वाल्मीकि-रामायण—(हिन्दी अनुवाद सहित) बाल काण्ड ६०००, अयोध्या काण्ड ६०.००, सुन्दर काण्ड ३०-००; युद्ध काण्ड ४०-००
९४. शुक्रनीतिसार—स्वा० जगदीश्वरानन्द १००/
९५. विदुर-नीति—यु० मी० कृत व्याख्या ८०-००
९६. सत्याग्रहनीतिकाव्य-भाषानुवाद सहित ३०-००
९७. ऋ० द० के ग्रन्थों का इतिहास— ४०-००
९८. संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास–यु० मी० (नया सं०१५०पृष्ठ बढ़े हैं)तीनोंभाग१५०-००
९९. विरजानन्द-प्रकाश—भीमसेन शास्त्री ८-००
१००. ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म-चरित—पं०भगवद्दत्त ३-००

दर्शन-आयुर्वेद-विषयक ग्रन्थ

१०१. मीमांसा-शाबर-भाष्यम्—(मूल) (संस्कृत) प्रथम भाग (३ अध्याय) ६०-००
१०२. मीमांसा-शाबर-भाष्य—यु० मी० कृत आर्ष-मत विमर्शिनी हिन्दी व्याख्या सहित। भाग १ से ७ तक ५०-०० रु० प्रति भाग
१०३. नाडी-तत्त्वदर्शनम्–सत्यदेव वासिष्ठ ६०-००
१०४. षट्कर्मशास्त्रम्—जगदीशाचार्य १५-००
१०५. स्वास्थ्य के मूलभूत सिद्धान्त— ४०-००
१०६. मनुष्यमात्र का परममित्र स्वायंभुव मनु—पं० भगवद्दत्त रिसर्चस्कालर ५-००
१०७. आहार-दर्पण—पं० राजगोपाल वैद्य ३-००
१०८. सिद्धान्त-शतकम्—जयदत्त शास्त्री १५-००

प्रकीर्ण-ग्रन्थ

१०९. ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन—(चार भागों में) सम्पूर्ण १४०-००
११०. भागवत-खण्डनम्—(भाषार्थ सहित) ८-००
१११. ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन—यु० मी०। विविध परिशिष्ट सहित ५०-००
११२. जगद्गुरु दयानन्द का संसार पर जादू—मेहता जैमिनि ३-००
११३. व्यवहारभानु—ऋषि दयानन्द ५-००
११४. आर्योद्देश्यरत्नमाला–ऋषि दयानन्द १-००
११५. कन्योपनयन-विधि-पं०महाराणो शङ्कर५-००
११६. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज से संबद्ध कतिपय महत्त्वपूर्ण अभिलेख १२-००
११७. मेरी दृष्टि में—स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके कार्य—यु० मी०। १००-००
११८. अथ शास्त्रार्थ और सद्धर्मविचार २-००
११९. स्व० पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु-जन्म-शताब्दी समारोह-स्मारिका— १००-००
१२०. जिज्ञासु-रचना-मञ्जरी— प्रथम भाग ८०-००; द्वितीय भाग १००-००
१२१. आर्यसमाज के दिग्गज विद्वानों का शास्त्रार्थ— २५-००
१२२. दयानन्द अंक (१-५) प्रत्येक अङ्क १२-००
१२३. दयानन्द-अङ्क(६)वेदवाणी १९८९)१५-००
आनन्दमय पथ की ओर–श्रीमती शन्नो भाटिया २०/

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान—

१. रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, जिला—सोनीपत (हरयाणा)

२. रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेन्ट्स—

२५९६ नई सड़क, देहली ✵ गुरु बाजार, अमृतसर ✵ बिरहाना रोड, कानपुर

ओं भूरिदा भूरि देहि नो मा दभ्रं भूर्या भर।
भूरि घेदिन्द्र दित्ससि॥ ऋ० ४।३२।२०॥

हे परमेश्वर! आप बहुत देनेवाले हैं, हमें बहुत धन-धान्य प्रदान कीजिये। अल्प नहीं, विपुल ऐश्वर्य से हमें सम्पन्न कीजिये। प्रभो! आप से याचना क्यों करें? आप तो स्वयं ही हमें प्रभूत धन देने के इच्छुक हैं।

ओं भूरिदा ह्यसि श्रुतः पुरुत्रा शूर वृत्रहन्।
आ नो भजस्व राधसि॥ ऋ० ४।३२।२१॥

हे विघ्न-बाधाओं को दूर करने वाले, सर्वव्यापक प्रभो! आप जन-जन में विख्यात हैं, क्यों कि आप सब को सब कुछ प्रदान कर रहे हैं। आप की कृपा से हम लौकिक-अलौकिक धनों का उपभोग करें।

सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा।
मर्य इव स्व ओक्ये ॥ (ऋ० १।९१।१३॥

(From Lectures on Yoga Meditation)

Cows move and graze joyfully, In pasture fields to njoy their feed,
So does a man move so freely, In his own house to fill all need.
In a similar manner, O Soma Lord, Do dscend in joy and freedom,
Reclining relaxing, O Divine Lord, Making our hearts your blissful kingdom.
May our hearts be your blessed abodes, Ever flowing with love and wisdom,
May you whisper and walk in our inner roads, Leading us on to your hilarious kingdom.

त्वं तं ब्रह्मणस्पते सोम इन्द्रश्च मर्त्यम् ।
दक्षिणा पात्वंहसः ॥ ऋ० १।१८।५॥

हे (ब्रह्मणस्पते) ब्रह्माण्ड के पालन करने वाले जगदीश्वर (त्वम्) आप (अंहसः) पापों से जिसकी रक्षा करते हैं (तम्) उस धर्मात्मा यज्ञ करने वाले (मर्त्यम्) विद्वान् मनुष्य की (सोमः) सोम लता आदि ओषधियों के रस (इन्द्रः) वायु (च) और (दक्षिणा) जिससे वृद्धि को प्राप्त होते हैं, ये सब (पातु) रक्षा करते हैं।

जो मनुष्य अधर्म से दूर रहकर अपने सुखों के बढ़ाने की इच्छा करते हैं, वे परमेश्वर की उपासना करके सोम इन्द्र और दक्षिणा इन पदार्थों का युक्ति के साथ सेवन कर।

धात्री-महत्त्वम्

आयमद्य सुकृतं प्रातरिच्छन्निष्टेः पुत्रं वसुमता रथेन।
अंशोः सुतं पायय मत्सरस्य क्षयद्वीरं वर्धय सूनृताभिः ॥ ऋ० १।१२५।३॥

(धाय का महत्त्व)

स्त्री-पुरुष पूर्ण ब्रह्मचर्य से विद्या का संग्रह करके और परस्पर की प्रसन्नता से विवाह करके धार्मिक व्यवहार से पुत्र आदि उत्पन्न करें। उनकी रक्षा के लिए उन्हें धार्मिक धायी को सौंप दें और वह इन्हें सुशिक्षा से सम्पन्न करे।

मातृस्तनदुग्धपान-महत्त्वम्

इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियं सदनमा विशस्व ॥ य० १७।८७॥

(माता के स्तन-दुग्ध का महत्त्व)

जैसे बालक और बछड़े स्तनों से दूध पीकर बढ़ते हैं अथवा जैसे घोड़ा शीघ्र दौड़ता है, वैसे मनुष्य उचित आहार विहार से बढ़ते हुए, वेग से चला करें। जैसे जलों से परिपूर्ण समुद्र में नौका में बैठकर जाते हुए लोग सुखपूर्वक परले पार और इस पार पहुंचते हैं, वैसे ही मनुष्य उत्तम साधनों से व्यवहार के इस छोर और उस छोर पर पहुंचें ॥

कृतज्ञता-महत्त्वम्

वयं मित्रस्यावसि स्याम सप्रथस्तमे।
अनेहसस्त्वोतयः सत्रा वरुणशेषसः ॥ ऋ० ५।६५।५॥

(कृतज्ञता का महत्त्व)

मनुष्यों को सदा कृतज्ञता अपनानी चाहिए और कृतघ्नता को दूर से ही त्याग देना चाहिए।

(दयानन्द-वेदभाष्य-भावार्थ-प्रकाश से साभार)

मित्राय पञ्च येमिरे जना अभिष्टिशवसे ।
स देवान्विश्वान्बिभर्त्ति ।। ऋ० ३।५६।८।।

हे मनुष्यो ये (पञ्च) पांच प्राण आदि के सदृश (जनाः) विद्वान् लोग जिस (अभिष्टिशवसे) अपेक्षितबलयुक्त (मित्राय) मित्र के सदृश सब को सुख देनेवाले परमात्मा के लिये (येमिरे) यमादि साधन साधते हैं। (सः) वह (विश्वान्) समस्त (देवान्) सूर्य आदिकों को (बिभर्त्ति) धारण तथा पोषण करता है ऐसा जानो।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे रोके गये प्राण वायु इन्द्रियों को रोकते हैं, वैसे ही योगीजन समाधि से परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

को अद्य नर्यो देवकाम उशन्निन्द्रस्य सख्य जुजोष।
को वा महेऽवसे पार्याय समिद्धे अग्नौ सुतसोम ईट्टे ॥ ऋ० ४।२५।१॥

हे विद्वन् (अद्य) इस समय (कः) कौन (देवकामः) विद्वानों की कामना करने वाला (इन्द्रस्य) अत्यन्त ऐश्वर्य से युक्त के (सख्यम्) मित्रत्व की (उशन्) कामना करता हुआ (नर्यः) मनुष्यों में श्रेष्ठ धर्म का (जुजोष) सेवन करता है, (कः वा) अथवा कौन (महे) बड़े (पार्याय) दुःख के पार उतारने वाले (अवसे) रक्षण आदि के लिये (समिद्धे) प्रसिद्ध (अग्नौ) अग्नि में (सुत-सोमः) सोमरस को उत्पन्न करने वाला हुआ ऐश्वर्य को (ईट्टे) प्राप्त होता है, यह हम लोग पूछते हैं।

जो विद्या और मित्रता की कामना करने वाला सम्पूर्ण जगत् का प्रिय आचरण करता और सब का रक्षण करता हुआ अग्नि में होम आदि से प्रजा का हित करे, वही जगत् का हित चाहने वाला है।

तमीळत प्रथमं यज्ञसाधं विश आरीराहुतमृञ्जसानम् ।
ऊर्जः पुत्रं भरतं सृप्रदानुं देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ॥ ऋ० १।९६।३॥

व्याख्या—हे मनुष्यो ! (तमीळत) उस अग्नि की स्तुति करो। कैसा है वह अग्नि ? (प्रथमम्) सब कार्यों से पहले वर्त्तमान और सब का आदि कारण है। तथा (यज्ञसाधम्) सब संसार और विज्ञानादि यज्ञ का साधक=सिद्ध करने वाला, सब का जनक है। हे (विशः) मनुष्य ! उसी को ही स्वामी मानकर (आरीः) प्राप्त होओ [(आहुतम्, ऋञ्जसानम्)]जिसको हम अपने पुकारते हैं, और जिसको विज्ञानादि से विद्वान् लोग सिद्ध करते हैं, और जानते हैं, [वही] (ऊर्जः पुत्रं भरतम्) पृथिव्यादि जगत् रूप अन्न का पुत्र अर्थात् पालन करनेवाला तथा भरत अर्थात् उसी अन्न का पोषण और धारण करने वाला है। (सृप्रदानुम्) सब जगत् को चलने की शक्ति देनेवाला और ज्ञान का दाता है। उसी को (देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्) देव=विद्वान् लोग अग्नि कहते, और धारण करते हैं। वही सब जगत् को द्रविण अर्थात् निर्वाह के सब अन्न जलादि पदार्थ और विद्यादि पदार्थों का देनेवाला है। उस अग्नि=परमात्मा को छोड़ के अन्य किसी की भक्ति वा याचना कभी किसी को न करनी चाहिये ॥

★ ★ ★ ★

सम्पादक—विजयपाल विद्यावारिधि के प्रबन्ध से रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस बहालगढ़ से मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय जी० टी० रोड़, बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) से १ नवम्बर १९९८ को प्रकाशित।